'सिंह'-जैन ग्रंथमाला:　　　　　　　　　　　　　पुष्प १४

मोक्ष शास्त्र कौमुदी

झालरापाटन सिटी.
JHALRAPATAN CITY

झालरापाटन सिटी.
JHALRAPATAN CITY

ब्रह्म. मुक्त्यानंद 'सिंह' जैन

प्राक्कथन

✻ नमोऽनेकान्ताय ✻

ग्रंथराज

ग्रंथराज 'मोक्षशास्त्र' में सर्वज्ञकथित जैनधर्म के चारों अनुयोगों में से प्रथमानुयोग(इतिहास-History)के अतिरिक्त शेष तीन अनुयोगों- करणानुयोग भूगोल, खगोल, गणित (Ceography, Astronomy, Mathmetics), चरणानुयोग (चारित्राचार Ethics), द्रव्यानुयोग (वस्तुवाद Metaphysics) का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। यदि हम मोक्षशास्त्र को जैनियों के तीनों वेदों का सार, जैनियों की कुरान अथवा जैनियों की बाईबिल कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी, तात्पर्य यह है कि यह ग्रंथ जैनियों की दिगंबर श्वेतांबर दोनों संप्रदायों को इतना ही मान्य है जितना किसी भी धर्मावलंबी को अपने अपने धर्मग्रंथ। इसके दश अध्यायोंमें तीनों अनुयोगोंका सूत्र रूप में इतना विशद वर्णन करके आचार्य महोदय ने 'गागर में सागर' की कहावत को पूर्ण रूपेण चरितार्थ कर दिखाया है।

प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का विशेष वर्णन है। दूसरे में मुख्यतया जीवद्रव्य का कथन है, इसमें जीव के निजभाव, उसका लक्षण, उसके भेद-प्रभेद, उसके शरीर जन्म वेद (लिंग) आदि का वर्णन बड़े ही दार्शनिक ढंग से किया है। तीसरे में जीव के रहने के स्थान तीन लोक में से अधोलोक और मध्यलोक का वर्णन है जिस में बहुत कुछ भूगोल तथा गणित का समावेश है। चौथे अध्याय में विशेषतया देवों का वर्णन है, इसी में ज्योतिष्क देवों के कथन के साथ खगोल विद्या का भी पूर्ण वर्णन आ गया है। पांचवें में छः द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल) का द्रव्य रूप से कथन है, यह अध्याय जैन वस्तुवाद का है। छटे अध्याय में श्री आचार्य ने 'आस्रव' तत्व का वर्णन किया है, आस्रव की परिभाषा, उसके भेद तथा आधार और क्या क्या करने से किस किस प्रकार का आस्रव होता है यह सभी बातें इसमें दिखाई हैं। सातवाँ अध्याय जैन आचार (Ethics) का है इसमें व्रत का लक्षण, उसके भेद, उनके दोष, पापों का स्वरूप तथा दान का स्वरूप आदि बतलाए हैं। आठवें में बंध तत्व का वर्णन है, यहाँ बंध के कारण बंध क परिभाषा और उसके भेदों का विवेचन बड़ा ही सुन्दर तथा हृदयग्राही है। नवें अध्याय में संवर और निर्जरा इन दो तत्वों का विशद वैज्ञानिक वर्णन है। दसवें में मोक्ष तत्व का कथन है।

ग्रंथराज के कर्त्ता

इस ग्रंथराज 'मोक्ष शास्त्र'सूत्र जी के कर्ता प्रातः स्मरणीय पूज्य श्रीमदुमास्वामि आचार्य महाराज हैं। आप भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के प्रमुख साक्षात शिष्यथे। भगवान कुंदकुंदाचार्यके बाद आप ही आपके पट्टपरपट्टा सीनहुएथे श्री युत पं० परमानन्द शास्त्री ने 'अनेकांत' में सिद्ध किया था कि मोक्ष शास्त्र के सब सूत्रों का आधार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के अष्टपाहुड़पंचास्तिकाय नियमसार आदि प्राकृत भाषा के ग्रंथ ही हैं। जैन वाङ्मय में सर्व प्रथम संस्कृत रचना यह ग्रंथराज मोक्ष शास्त्र ही है। दिगंबर ग्रंथों में आचार्य उमास्वामि के माता पिता जन्म स्थान, आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। हमारे लगभग सभी आचार्य अपने नाम तथा अपने संबंध में और कोई विवरण देने में इतने निस्पृही थे कि इधर उनका ध्यान तक भी न जाता था। किन्तु उन सब की इतनी निस्पृहता ने हम लोगों को उनके परिचय प्राप्त करने में बड़ी ही उलझन में डाल दिया है। अस्तु जो हो।

ग्रंथराज पर टीकाएं

१ सर्वार्थसिद्धि-श्री पूज्यपाद २ गंधहस्ति महाभाष्य-श्री समंतभद्राचार्य ३ राजवार्तिक-श्री अकलंक भट्टाचार्य ४ श्लोक वार्तिक-श्री विद्यानंदाचार्य ५ तत्वार्थ वृत्ति-भास्करानंदाचार्य ६ ७ तत्वार्थ सार ८ अर्थ प्रकाशिका इत्यादि

महान महान टीकाएं आचार्यों तथा धुरंधर विद्वानों ने रच रच कर जनता का अकथनीय उपकार किया है।

प्रस्तुत टीका—मोक्षशास्त्र कौमुदी की कुछ विशेषताएं

मोक्षशास्त्र-सूत्रजी मंथराजको भले प्रकार स्पष्ट समझाने दिखानेके लिए मोक्षशास्त्र कौमुदी कौमुदी—चाँदनी-प्रकाशिका ही है। यह अपने ढंग की निराली—अद्भुत टीका है। इसमें कौमुदीकारने प्रत्येक कथन आगमानुसार धवल जयधवल सर्वार्थसिद्धि राज वार्तिक गोमट्टसार त्रिलोकसार तिलोय पण्णति तत्वार्थसार समयसार प्रवचन-सार आदि आर्ष ग्रंथों के अनुकूल ही किया है। कथनप्रमाण में हवाले ग्रंथोंके नाम पृष्ठ सहित दिए हैं।

कौमुदी के प्रत्येक अध्याय की कुछ विशेषताएं निम्न प्रकार हैं—

प्रथम अध्याय में चार निक्षेप छः अनुयोग—आठ अनुगम द्वार को जो रत्नत्रय तथा सातों तत्वों में घटाकर दिखाया है उससे इनका समझना सहज और इनकी सार्थकता पूर्णरूपेण स्पष्ट हो गई है। 'केवल ज्ञान'का वर्णन तथा 'एक समयमें चार ज्ञान तक ही हो सकते पांचो नहीं' का विषय तो देखते ही बनता है। सूत्र ६ तथा ३३ में 'प्रमाण' और 'नय' का वर्णन अपना निराला ही स्थान रखता है।

दूसरे अध्याय में जीव के निजके ५३ भावों के बाद ही १४ गुणस्थानों का विशद वर्णन (श्रेणी के चित्र सहित) यथार्थता के लिये हुए एक अनोखी ही सूझ है। जीव के लक्षण 'उपयोग' का उसके वास्तविक लक्षण 'चेतना' के साथ मिलान तथा दर्शन ज्ञानोपयोग का इतना सरल स्पष्ट वर्णन अन्यत्र शायद ही देखने को मिले। अंतिम सूत्र ५३ के विशेष में अकाल मृत्यु का कथन अपने ढंग का विचित्र—सा किन्तु आगम अनुकूलही है।

अध्याय ३ में—१ तीन लोक २ चित्रा पृथ्वी ३ अकृत्रिम चैत्यालयों ४ सुमेरु ५ जंबूद्वीप ६ भरतक्षेत्र और उसके आर्यखंड में ही वर्तमान ज्ञात दुनिया ७ काल चक्र आदिके पैमाने सहित सुन्दर रंगीन चित्रोंने कौमुदीको वास्तवमें कौमुदी—चंद्रिका ही बना दी है। इसी अध्याय में तीनों लोकों का वायु मंडल के आधार स्थित रहने का प्रयोगात्मक हेतु बड़ा ही रोचक सरल एवं मर्मस्पर्शी है। इसीमें पृथ्वीके गोल चपटी होनेके कुछ प्रमाण एक अमेरिकन वैज्ञानिक के लेखानुसार दिए गए हैं जिससे बालकों की वर्तमान शिक्षालयों में बनी हुई पृथ्वी को गेंद अथवा नारंगी के आकार गोल मानने की मान्यता बिल्कुल निर्मूल हो जाती है। नरकों स्वर्गों के अस्तित्वके प्रमाण ऐसे सुन्दर ढंग से दिये हैं कि वे आजकल के युवकों की 'यहीं स्वर्गनरक की' भ्रमणा को क्षण मात्र में दूर करने को बड़े उपयोगी हैं।

अध्याय ४ में जैन दृष्टि से थाली के आकार पृथ्वी होने पर 'दिन रात' तथा 'ऋतुओंका वर्णन मय रंगीन चित्रोंके बड़ा ही आकर्षक वैज्ञानिक और निराला है। वर्तमान में ऐसे ही सत्-साहित्य प्रकाशनकी विशेष आवश्यकता है।

पांचवें अध्याय में जैन वस्तुवाद Metaphysics का विवेचन है। इसमें जीव के असंख्यात प्रदेशी होने का, अणुका, स्कंध-उत्पत्तिका अत्यंत रोचक विशेष वर्णन है। द्रव्यका, सत् का लक्षण, 'सत्' धातुके शब्दार्थ से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व की सिद्धि, सत् लक्षण से ही वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि साधारण गुणों की प्रसिद्धि यह सब कौमुदी की ही विशेषताएं हैं। सूत्र ३२ में स्याद्वाद्—अनेकांतवाद् सप्तभंगीके कथन ने तो कौमुदीमें चार चांद ही लगादिये हैं।

छटे अध्याय में 'आस्रव तत्व' का कथन है। 'योग' का आत्मा को ही शक्तिरूप विवेचन, शक्ति और स्वभाव का अन्तर तथा आस्रव संबन्धी और और बातें दिखाते हुए 'क्या क्या करनेसे कैसा कैसा आस्रव होता है

ऐसी उत्तमरीति से दर्शाया है कि अशुभ कार्यों से एकदम विरक्तता होने लगती है। तीर्थंकर कर्मप्रकृति के आस्रव में दो तीन पांच कल्याणकवाले तीन प्रकारके तीर्थंकरोंका सहेतुक विवेचन किया है और सोलह कारण भावनाओं का वर्णन तो ऐसा मन-मोहक एवं अद्भुत है कि पाठकका मन उन रूप प्रवृति करनेको सहसा ही लालायित हो उठता है।

अध्याय ७ में व्रत का लक्षण, उसके अहिंसा सत्य आदि महाव्रत अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत भेद प्रभेद, व्रतों में स्थिर रहने की भावनाएं, उनके संभवित दोष, हिंसा झूठ आदि पापोंका स्वरूप तथा दानका स्वरूप बताया गया है। हिंसादि पापोंमें 'प्रमत्तयोग' की व्याख्या तो इतनी उत्तम गंभीर एवं सरल वाक्योंमें है कि उससे कोई भी पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। आरंभिक, उद्योगी, विरोधी, संकल्पी चार प्रकारकी हिंसामें गृहस्थ कौन सी हिंसाका त्यागी हो सकता है यह बात व्यवहारिक ढंग से दिखाई गई है। माया मिथ्या निदान तीन शल्य-चुभन-फाँस का तथा मैत्री आदि भावनाओं का वर्णन भी अनोखा ही है।

अध्याय ८ में बंध के हेतुओं का वर्णन बड़ा ही गंभीर एवं युक्ति युक्त है, उसमें भी एकांत विनय आदि पांच मिथ्यात्व-गृहीत अगृहीत का कथन तो अपनी शान का निराला ही है। बंध के चारोंभेदों की सहेतुकता तथा प्रकृति बंध योग से बिना कषाय के कैसे? इसका उत्तर यह बातें पढ़ने और मनन करने से ही संबंध रखती हैं, इन सबमें कौमुदीकार की सूझ अनोखी अपितु आगमानुसार ही है। सूत्र २३ में फलोदय के बाद कर्मों की दशा पर विचार करते हुए 'अवश्य मेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभा-शुभम्' का असंगतपना कितने सुन्दर प्रमाण सहित दिया है! सूत्र२४में प्रदेश बंध के विवेचन में विस्रसोपचय रूप कर्म स्कंधों के बंध का सयुक्तिक वर्णन कौमुदी की अपनी ही विशेषता है।

अध्याय ९ में संवर के उपायों का वर्णन पढ़कर तो ऐसा प्रति भासित होने लगता है कि मानो सम्यग्दर्शन सहित आत्मा में आल्हाद स्वरूप सुख शांति की हिलोरें ही उठ रही हों। इसमें भी धर्म स्वरूप का मसलक्षणधर्म वेदानव धर्म की व्याख्या तो ऐसी विशद स्पष्ट सरल एवं सुन्दर है कि भादों की दस लाक्षणी पर्व के दस दिनों में यह प्रत्येक स्थान पर पढ़ी ही जानी चाहिए। दान के१ पात्र दान२ दयादान३ अन्नभदान४ सयदानऔर ५सकलदान भेद बताकर इनमेंही आहार औषधि ज्ञान और अभयदान का सूत्र ही समन्वय किया है। 'एकादश जिने॥११॥' के विशेष में केवली के कवलाहार का निराकरण बड़ा ही युक्तियुक्त और आकर्षक है। ध्यानमें पृथ्वी जल आदि धारणाओं का सचित्र वर्णन तो देखते ही बनता है।

दसवें अध्याय में दस प्रकार के केवलियों का विवेचन एवं सिद्धशिला का चित्र अपनी खास विशेषता के साथ सुशोभित है।

उपरोक्त प्रस्तावना पर से ऐसा प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि हमने कौमुदी की प्रशंसात्मक आलोचना ही की और वह भी बहुत बढ़ा चढ़ाकर। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है हमतो इसकी अच्छाइयों को कुछ भी नहीं दिखा सके और इन चार पाँच पृष्ठों में दिखाई भी कैसे जा सकती हैं यह सब तो स्वाध्याय प्रेमियों को इसकी स्वाध्याय करने पर ही अवगत होंगी। हमारा तो यहां इतना कहना ही बस है कि इस एक ही ग्रंथराज की स्वाध्याय करने से लगभग ऊंचे ऊंचे ग्रंथों जैसे धवल जयधवल महाधवल गोमट्ट सार समय आदि की स्वाध्याय सार प्रवचनसार नियमसार पंचास्तिकाय परमात्म प्रकाश-रत्नकरंडश्रावकाचारद्रव्य संग्रह मोक्षमार्ग प्रकाशक हो जावेगी। इस सब के लिए कौमुदीकार वास्तव में बधाई के पात्र हैं। कौमुदी में सूत्रों के भाव के शब्दशः हिंदी दोहे तो सोने में सुगंध का का ही काम कर रहे हैं।

कौमुदी का संशोधन कार्य पूज्य ब्रह्म पंडित हुकमचन्द जी सलावा निवासी, और सिद्धांत मर्मज्ञ श्रीयुत् पं० रतनचन्द जी मुख्तार सहारनपुर प्रकांड विद्वानों द्वारा तथा दोहों का संशोधन ब्रह्म, धर्मरत्नबाबू ऋषभदास जी मेरठ निवासी द्वारा हुआ है इसी-लिए इसमें त्रुटियों का पाया जाना असंभव-सा ही था।

कौमुदीकार का संक्षिप्त परिचय

मोक्ष शास्त्र कौमुदी के रचयिता ब्रह्म. कविवर मास्टर मुक्त्यानंद 'सिंह' जी जैन ग्रेजुएट तथा साहित्यालंकार हैं। जैसा कि प्रशस्ति से ज्ञात होता है आप का जन्मस्थान ग्राम बावली जिला मेरठ है। आप की माता का नाम श्रीमती मनसा देवी और पिता का श्री मुन्शीलाल जैन है। आप सिंहल-संगल गोत्री बीसा अग्रवाल हैं। आपने उत्तर प्रदेश के राजकीय नार्मल एवं उच्चतर शिक्षालयोंमें ३१ वर्ष तक पवित्र शिक्षण का कार्य किया है और अब सन् १६५१ से पेन्शन पाकर मुजफ्फरनगर में ही विशेषकर स्वाध्याय सामायिक ध्यान पूजन पठन पाठन में रत रहते हैं। कौमुदीकार के व्यक्तित्वमें प्रकर्ष और प्रमाणिक ज्ञान के साथसुन्दर सदाचार के समन्वय ने जो 'सोने में सुगंधि की कहावत को चारितार्थ किया है उसके संबंध में हम विशेष क्या लिखें-

उपसंहार

मैं अधिकार पूर्वक इस बात को कह सकता हूँ कि इस कौमुदी में जो विषय की सुस्पष्टता,विशदता मौलिकता तथा सहेतुकता है वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। बस मैं तो कौमुदी को एक अद्भुत ही टीका कहूँगा।

इस प्राक् कथन का संक्षिप्त सार यही है कि प्रस्तुत ग्रंथ सर्व साधारण के हितार्थ प्रत्येक मंदिर, शास्त्र भंडार पुस्तकालय में अवश्य ही होना चाहिए। पर्यूषण पर्व में तो उपरोक्त टीका द्वारा साधारण व्यक्ति भी पांडित्य पूर्ण विवेचन कर सकते हैं— शुभं भूयात—

न्याय भूषण चिदानंद शर्मा
'जैन शास्त्री'
भूत पूर्व महोपदेशक,
भारत दिगंबर जैन महासभा

तिथि जगाधरी
मार्गसिर शुक्ला ८ मी, सं० २४८४

दो शब्द

यह 'सिंह'-जैन ग्रंथमालाका १४ वाँ पुष्प है। सन् १६५० वी. सं. २४७७ में कविवर ब्र. मुक्त्यानंद 'सिंह' रचित हा हिंदी दोहों सहित मोक्षशास्त्र (सूत्र जी) की छोटी टीका इसी ग्रंथ माला के पुष्प ३के रूप में प्रकाशित हुई थी। वह तथा उसके हिंदी दोहे इतने प्रिय व सरल सिद्ध हुए कि वह पांच छः बार अलग अलग व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित कराये जाकर समाज में वितरण किये जा चुके हैं। इस बड़ी टीका—कौमुदी के विषय में हम क्या कहें, यह तो वास्तव में एक अद्भुत महान ग्रंथराज बन गया है। इसकी कुछ विशेषताएं इसकी प्रस्तावना-प्रकथन पर से जानी जा सकती हैं, फिर भी इसके अनूठेपन का पूर्ण रहस्य तो इसकी मनन पूर्वक स्वाध्याय से ही खुल सकता है।

इसके प्रकाशन में जो योग श्रीयुत् माननीय मित्रसैन जी रिटायर्ड मुन्सरिम तथा श्री. ब्रह्म. बदामी लाल और आत्मानन्द जी ने दिया है और जो उत्साह इसके पेशगी ग्राहक बन बन कर अन्य जिन जिन स्वाध्याय प्रेमियों ने दिखाया है, हम उन सब के बड़े आभारी हैं।

प्रकाशन में देरी लगने का कारण कागज की इस वर्ष विशेष कमी तथा महगाई और प्रेस की धीमी चाल ही है जिसके लिए हम विवश थे।

कौमुदी में कुछ प्रेस की तथा कुछ संशोधन की अशुद्धियाँ रही होंगी, इसके लिए हम पाठकों से विनीत भाव से क्षमा याचना करते हैं,

दिनांक ६८ अमृपुरा
मुजफ्फरनगर
२. २. ६६-६६.

विनयी प्रकाशक—
कीर्ति प्रसाद जैन
व्यवस्थापक 'सिंह' जैन ग्रन्थमाला

कौमुदीकार के कुछ

उद्गार

—:सब जीव सुखी हो:—

प्रियपाठक बन्धुओं ! मैं न तो कोई लेखक हूँ और न कवि ही। मैं तो अप्रैल १९५१ तक उत्तर प्रदेशीय राजकीय तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षालयों में शिक्षणविधि, गणित तथा आंग्ल व हिन्दी भाषाका एक साधारण सा शिक्षक-अध्यापक था। हां, स्वाध्याय में पहलेसे ही रुचि थी, पेन्शनपानेके पश्चात अवकाश विशेष मिलनेपर तो यह अभिरुचि इतनी बढ़ी कि प्रतिदिन दस बारह घण्टे स्वाध्याय चलती रहती है। पद्म पुराण, आदि-महापुराण, हरिवंश पुराण, श्रेणिक पुराण, पार्श्वपुराण, रत्नकरंड श्रावकाचार*, अमितगति श्रावकाचार, लाटी संहिता भगवती आराधना: द्रव्यसंग्रह* गोमट्टसार: त्रिलोकसार, तिलोयपण्णति, परमात्म प्रकाश,* योगसार,* समयसार*, समयसार नाटक, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, अष्ट पाहुड, समाधिशतक*, धवला-प्रथम १२ पुस्तक, जय धवला खंड २, मोक्ष मार्ग प्रकाशक, मोक्षशास्त्र-* सूत्र जी और इसपर सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक, तत्वसार टीका आदि शास्त्र बड़े उत्साह और लग्न के साथ अध्ययन किए। इनमें से पुष्पांकितों पर तो सरल हिंदी दोहे और टीकाएं भी लिखी गई।

स्वाध्याय करते करते ग्रंथराज सूत्रजीपर प्रस्तुत कौमुदी भी लिखी गई। श्रीयुत पूज्य ब्रह्म, पं० हुकम चन्द जी सलावा तथा श्रीयुत पं० रत्नचन्द जी मुख्तार सहानपुर मुजफ्फरनगर पधारते रहे हैं। जब उन्होंने मेरा प्रतिदिन नोट्स ले लेकर स्वाध्याय करने का ढंग देखा और यह कौमुदी सुनी तो बड़े ही प्रसन्न हुए, साथ ही संशोधन व परिवर्धन कराते रहे। पूज्य ब्रह्मचारीजीने हर्ष प्रकट करतेहुए यहाँ तक कहा कि मैं तो इसढंगको सूत्रजीकी टीका जिसमें धवला आदि नवीन प्रकाशित ग्रंथों की बातोंका समावेश हो लिखने की भावना – इच्छा ही करता रह गया और आपने वैसी ही लिख भी डाली। आपने इस कौमुदी को कई बार ध्यान पूर्वक सुना और अनेक स्थानों पर अपनी बहुमूल्य सम्मति शास्त्रोंके हवाले सहित दे देकर संशोधन कराया। अध्याय ८ तक तो श्रीयुत् रत्नचन्द जी मुख्तार सिद्धान्त-मर्मज्ञने भी न केवल बड़े ध्यान पूर्वक सुना अपितु बहुत कुछ ठीक कराई, केवल इतना ही नहीं अध्याय ८ का अधिकांश तो आपका ही लिखाया हुआ है। मैं और अधिक क्या कहूँ, जो कुछ कौमुदीमें अद्भुतता नवीनता अथवा अच्छापन है वह सब आप दोनों विद्वान महानुभवों की ही कृपा और उदारताका फल है, मैं तो केवल लेखकमात्र रहा हूँ। हां यह स्वीकार करने में भी मैं न हिचकूंगा कि कौमुदीमें जो कुछ त्रुटियां हैं और वह अवश्य होंगी सो सब मेरी अल्पज्ञता असावधानीके कारण है. उनकेलिए मैं विद्वत् जनों से अथवा अन्य सब प्रिय पाठकों से सविनय प्रार्थना करूंगा कि मुझे वे क्षमा करें, मैं उनके क्षमाका पात्र हूँ क्योंकि मैंने

जानबूझ कर ऐसा नहीं किया। मुझे तो इस बातका सदा भय बना रहता है कि मुझसे कोई शब्द जिन वाणी के विरुद्ध न लिखा जाये। फिर भी सज्जनों का काम क्षमा करनेका ही होता है, 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'।

अब रही कौमुदीके प्रकाशन की बात। गुरुवर पूज्य ब्रह्म पं० हुकमचन्द जी ने कई बार मुझसे कहा कि इसे आप श्रीगोयलीय जी के पास बनारस भेजदें वह अवश्यही उसे प्रकाशित करादेंगे। मैं ठहरा महा आलसी,ऐसा नहींकरसका। मैं तो इसकी एक शास्त्राकार प्रति अपनी धर्मपत्नि बुगलीदेवी जैनके कहनेपर लिखकर तीर्थ क्षेत्र श्री हस्तिनापुर के मन्दिर में स्थापन करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठा था किन्तु मित्रमंडलियां १ मुजफ्फरनगर (श्री मित्रसेन जी मुन्सरिम, बा० मिट्ठनलालजी वकील, ब्रह्म, छुट्टनलालजी आदि) २ खतौली (स्व. पं० धर्मदास जी, श्री बाबू लाल जी, श्री विशम्भर दास जी, श्री भाई त्रिलोकचन्द जी, श्री नानक चन्द जी आदि) ३ कैराना (श्रीरामदासजी वा ओमप्रकाश जी,श्री ताराचन्दजी श्रीभूपर सेनजी आदि)४बड़ौत(श्री दीप चन्द भगत जी, श्री ज्ञानानंद जी, श्री धर्मदासजी, श्री हरिश्चन्द जी, श्री युत भाई विशम्भर सहाय जी रिटायर्ड स्टेशन मास्टर आदि) (मुझे बुलाती कौमुदीको सुनती और छपवानेकी बार बार प्रेरणा करती थीं। माननीय श्री मित्रसेन जी रिटार्ड मुन्सरिम मुजफ्फरनगर ने तो इस वर्ष एक ऐसी योजना बना ही डाली कि जो सज्जन कौमुदी के पेशगी ग्राहक दीवाली तक बन जावेंगे उनको बजाय ८) लागत मूल्य के ५) में ही दी जायेगी। इस समय मुजफ्फरनगर में ब्रह्म बदामीलाल जी पधारे हुए थे उन्होंने पेशगी ग्राहक बनाने का कार्य फौरन् आरम्भ भी कर दिया और बहुत शीघ्र लगभग ५०० के पेशगी ग्राहक बन गए। यदि ये दोनों महानुभाव अर्थात् श्री मित्र सेन मुन्सरिम जी और ब्रह्मचारी बदामी लाल जी इसका बीड़ा न उठाते तो आज यह कौमुदी प्रकाश में न आती। ब्रह्म० आत्मानंद जी ने जिन्होंने हस्तलिखित कौमुदी का कुछ भाग पढ़ा था ज्योंही सुना कि कौमुदीके छपवाने की स्कीम बन गई है त्यों ही बड़ी लग्नपूर्वक कई गावों से ग्राहक बना बनाकर भेजे।

जीव मात्र को सुखी देखने का
महत्वाकांक्षी,
ब्रह्म० मुक्तयानन्द 'सिंह' जैन,
बी. ए. सी. टी. साहित्यालंकार

तिथी बृस्पतिवार:
अगहन शुक्ला ८ वि० सं० २०१५

समर्पण

दोहा मेरा मुझपर कुछ नहीं, जो कछु है सो तोर !
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर !!

जिन गुरुवर की महान कृपादृष्टि तथा सहायताके बिना मैं तुच्छबुद्धि मोक्षशास्त्र ग्रंथराजकी टीका–कौमुदी रचनेके गुरुतम भारको उठानेमें नितांत असमर्थ था, जिन्होंने कई बार इस कौमुदी को सुनने व संशोधन करानेमें कभी भी आनाकानी न करते हुए बड़े प्रेम व परिश्रम पूर्वक सामयिक शुद्धि व वृद्धि कर करके इसे पूर्ण करने में मुझे बार बार प्रोत्साहन दिया मैं अपने उन परम कृपालु गुरु सलावा निवासी श्रीयुत ब्रह्म. पंडित हुकम चद जी के कर कमलों में वास्तव में उन्हीं की यह कृति पूर्ण श्रद्धा–भक्ति तथा नम्रता पूर्वक समर्पण करता हूँ:–

भवदीय आज्ञाकारी

शिष्य,

मुक्तयानंद

दिनांक मुज्फ्फरनगर

१२-११-१९-५७

शास्त्रपठनकाप्रांरिभकमंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्य ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः ?! ॐ नम सिद्धेभ्य !!?

ओंकारं विंदुसंयुक्तं नित्यं ध्यायं ति योगिनः कामदं मोक्षद चैव ओंकाराय नमोनमः ।१। अविरलशब्दघनौघ प्रक्षालितसकलभूतलमल–कलंका मुनिभिरुपासिततीर्थां सरस्वती हरतु नो दुरितान् ।२। अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः परमगुरुवे नमः परम्पराचार्य श्रीगुरुवे नमः ।३।

सकल कलुषविध्वंशकं श्रेयसां परिवर्धकं धर्मसर्बधकं भव्यजीवमनः प्रति बोधकारकं पुण्यप्रकाशकं इदं शास्त्रं श्री मोक्षशास्त्र कौमुदी नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्त्तारःश्री सर्वज्ञदेवास्तमुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधर देवाःप्रति गणधर देवास्तेषां वचोनुसारमासाद्य श्रीमदुमास्वामि आचार्येणतथा श्रीयुत् कविवर मुक्तकस्यनंद 'सिंह' ब्रह्मचारिणा विरचितं ।

मंगलं भगवान ,वीरो मंगलं गौतमो गणी । मंगलं कुंद कुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्व मंगलमांगल्यं सर्वकल्याण कारकम् ।
प्रधानं सर्व धर्मानां जैनं जयतु शासम् ॥
श्रोतारः सावधानतया श्रृणवंतु ।

श्री पन्नालाल ... सरस्वती भवन
झालरापाटन सिटी.
JHALRAPATAN CITY

श्री वीतरागाय नमः

श्री पन्नालाल ... सरस्वती भवन
झालरापाटन सिटी.
JHALRAPATAN CITY

मोक्ष शास्त्र–कौमुदी

श्रीमदुमास्वामि विरचित मोक्ष शास्त्र टीका

❋ हिन्दी दोहों सहित ❋

अध्याय १

मंगलाचरण

दोहा–'सिंह'–चिन्ह युत वीर के, चरण नमों हर्षाय।
मोक्ष–शास्त्र कौमुदि रचों, भाषा सुगम बनाय॥

अर्थ–मैं (कौमुदीकार– ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन 'सिंह') सिंह–चिन्ह युत श्री महावीर भगवान के चरणों को प्रसन्नचित्त हो नमस्कार करता हूं, तथा श्रीमदाचार्य उमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र की कौमुदी–चंद्रिका–प्रकाशिका सरल भाषा में लिखता हूं।

मोक्ष मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, वंदे तद्गुण लब्धये॥

दो–शिव–मग के नेता भए, कर्म शैल किय रेत।
विश्व–तत्त्वों को जानते, वंदों तिन गुण हेत॥

अर्थ–मोक्ष मार्ग के नेता, कर्म रूप पर्वतों के भेदने वाले और विश्व के सब तत्वों को जानने वाले परमात्मा को इन्हीं गुणों की प्राप्ति के लिए वंदना करता हूं।

मोक्ष—सच्चे सुख का उपाय

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

शब्दार्थ—सम्यक्—सच्चा, यथार्थ। दर्शन=श्रद्धा, रुचि, विश्वास, मान्यता, श्रद्धान। मोक्ष=बंध का अभाव, स्वतंत्रता, आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास, अतः अनाकुल सच्चा सुख। मार्ग-राह, उपाय।

अर्थ-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों मिल कर अर्थात् इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग अर्थात् सच्चे अनाकुल सुख का उपाय है।

विशेष—एक शब्द के कई कई भी अर्थ होते हैं। 'दर्शन' शब्द के तीन अर्थ हैं १ श्रद्धा-विश्वास-रुचि, यहाँ इस सूत्र में यही अर्थ है २ वस्तु का सामान्य ग्रहण—अंतर्मुख चित्प्रकाश, दूसरे अध्याय के सूत्र ९ में यह अर्थ लिये है ३ नेत्रों आदि द्वारा देखना मात्र, इंद्रियों के वर्णन अध्याय २ सूत्र १९,२० में। अब प्रश्न यह होता है कि यहाँ 'दर्शन' के अर्थ श्रद्धा-विश्वास ही क्यों, अन्य क्यों नहीं?

उत्तर-वस्तु का सामान्य ग्रहण अथवा चक्षु आदि द्वारा देखना मात्र तो सम्यक्—दृष्टि, मिथ्यादृष्टि दोनों के समान ही होता है किंतु सच्ची श्रद्धा सम्यग्दृष्टि के ही होती है, इसी से मोक्ष मार्ग चलता है, अतः यहां 'दर्शन' का अर्थ श्रद्धा ही है।

तत्त्वों के सच्चे श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं (सूत्र२)। प्रयोजनभूत तत्त्वों का विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है (धवला)। सम्यग्दर्शन आत्मा का वह आल्हाद स्वरूप स्वभाविक गुण है जिसके विकास से सत्य की प्रतीत होकर हेय-छोड़ने योग्य और उपादेय-ग्रहण करने योग्य के यथार्थ विवेक की रुचि होती है।

वस्तु स्वरूप का संशय, विभ्रम और मोह रहित जैसा का तैसा यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। यह भी आत्मा का स्वभाविक गुण है।

संसार के बढाने वाली अंतरंग (रागद्वेष आदि) व बहिरंग (हिंसा आदि) सब क्रियाओं से विरक्त होकर आत्मा का अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना-ठहर जाना सम्यक् चारित्र है।

जीवादि पदार्थों का सम्यक् प्रकार यथार्थ श्रद्धान और आत्मा का उस यथार्थ श्रद्धान रूप परिणमन-होना सम्यग्दर्शन, जीवादि पदार्थों का यथार्थ जानना और आत्मा का उस यथार्थ जाननरूप परिणमन—होना सम्यग्ज्ञान तथा रागादि का त्यागना और आत्मा का उस त्याग रूप होना सम्यक् चारित्र है।

आचार्य कल्प पंडित श्री टोडर मल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार पृ०३१३ पर कहते हैं 'तातैं बहुत कहा कहिए, जैसें राग आदिक मिटावने का श्रद्धान होय, सोही श्रद्धान

सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसे रागादिक मिटावने का जानना होय सो ही जानना सम्यक् ज्ञान है बहुरि जैसे रागादिक मिटे सो ही आचरण सम्यक् चारित्र है। ऐसा ही मोक्ष मार्ग मानना योग्य है।

विशेष व्याख्या—श्रद्धान-विश्वास, ज्ञान-जानना, और चारित्र-आचरण इन तीनों के बिना तो संसार में कोई कुछ करता ही नहीं। यदि किसी काम के होने का विश्वास ही न हो तो उसके करनेमें लगे ही कौन? किसी कार्य के ज्ञान—जानने केबिना कोई करने ही क्या लगे? और करना सो आचरण है ही। अतः चाहे कोई हिंसा आदि बुरा कार्य हो अथवा ईश्वर-भक्ति आदि शुभ कार्य, सब में श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की आवश्यकता होती ही है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि जीव को झूठी श्रद्धा आदि हितकर और ग्रहण योग्य है अथवा सच्ची श्रद्धा आदि? यदि कोई व्यक्ति सांप को रस्सी विश्वास करके उसको पकड़े तो प्रत्यक्ष है कि उसे हानि ही उठानी पड़ेगी, लाभ कुछ भी न होगा। इस से सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही सर्व प्रकार हितकर हैं मिथ्यादर्शन आदि नहीं।

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता और सदा सुख के ही साधन जुटाया करता है। इच्छा-कामना की पूर्ति में सुख का आभास होता है। इच्छाओं की कभी तृप्ति नहीं होती किंतु यह सदा बढ़ती ही रहती है। राजभोग आदि संपत्ति मिल जाने पर भी जीव दुखी ही देखे जाते है। वास्तव में सच्चा स्वाधीन सुख तो वह है कि जिस में फिर किसी प्रकार की इच्छा ही न रहे, यहां तक कि मोक्ष की भी इच्छा रहते हुए स्वाधीन सुख-मोक्ष नहीं मिल सकता। बस इच्छाओं का सर्वथा नाश ही मोक्ष है। पराधीन सुख काम-भोग विलास हैं जिसका साधन अर्थ-धन है और स्वाधीन सच्चा सुख मोक्ष है जिस का साधन धर्म है।

श्री समंतभद्राचार्य ने 'सुदृष्ज्ञान चारित्र ही धर्म कहें धर्मश' सम्यक दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र को ही धर्म कहा है। अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रत्नत्रय ही मोक्ष का साधन—उपाय ठहरा। इस रत्नत्रय की पूर्णता ही मोक्ष है, जब तक तीनों में से एक भी अपूर्ण रहेगा मोक्ष नहीं होगा।

रत्नत्रय में से सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के साथ ही साथ जीव के मति आदि कुज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश और ताप दोनों गुण एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते उसी प्रकार आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गुण भी एक दूसरे के बिना नहीं रहते। सम्यग्दर्शन होने के प्रारंभ में ही अनंतानुबंधी कषाय के अप्रशस्त उपशम (देखो अध्या: २ चौथा गुण स्थान वर्णन) होने से चारित्र स्वरूपाचरणरूप सम्यक् चारित्र हो जाता है, फिर भी सम्यक् चारित्र का यह नियम है कि जब यह होता है तब उसके पहले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य होते है।

सम्यग्दर्शन का ज्ञान की वृद्धि के साथ विशेष संबंध नहीं है, यह बात नहीं कि विशेष ज्ञानी के ही सम्यग्दर्शन हो, हाँ, यह दूसरी बात है कि सम्यग्दर्शन होने से सब ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। एक आत्मज्ञानी मंदज्ञानी भी सम्यग्दृष्टि है परन्तु आत्म बोध शून्य विशेष ज्ञानी भी मिथ्यादृष्टि रहता है, जैसे आजकल के वैज्ञानिक आदि—

दोहा—शुद्ध आत्म के बोध बिन, होता है जो ज्ञान।
कारजकारी कुछ नहीं, दुख कारण ही जान ॥ 'सिंह'

जीव अज्ञान वश दुःख भोगता चला आ रहा है। इसका कारण उसकी निज स्वरूप की भूल है। इस भूल-भ्रम को ही मिथ्यात्व अथवा मिथ्या दर्शन कहते हैं। दर्शन के एक अर्थ 'मान्यता' के भी हैं, इसी से मिथ्या दर्शन के अर्थ खोटी-झूठी मान्यता है। जब अपने स्वरूप की झूठी मान्यता होती है तब ज्ञान और चारित्र भी झूठा—खोटा ही होता है और यही मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र कहलाते हैं। जीव अनादि काल से अपने इन्हीं मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या चारित्र के कारण दुःख भोग रहा है।

जीव ने अपनी यह दशा स्वयं ही कर रक्खी है अतः इसे ठीक भी स्वयं ही कर सकता है। इसे ठीक करने अथवा दुःख से निकलने का उपाय केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही है। इससे सिद्ध है कि जीव सुख प्राप्ति के जो दूसरे उपाय करता है वह सब झूठे हैं। उसे सच्चे उपाय का ज्ञान न होने से वह झूठे उपायों में ही लगा रहता है। अतः यदि कोई सच्चा सुख प्राप्त करना चाहता है तो उसका सब से पहला काम यह है कि वह इस महान भूल को दूर करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करे; इसके प्राप्त किए बिना और तो क्या धर्म का प्रारंभ भी नहीं होता।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

शब्दार्थः- तत्त्वार्थ=तत्=वही, जो है, यथार्थ (Real) जिसका अस्तित्व है, त्व=भाव, तत्त्व=यथार्थ वस्तु का भाव स्वरूप, अर्थ=पदार्थ अतः तत्त्वार्थ=यथार्थ वस्तु स्वरूप सहित पदार्थों का। श्रद्धान=हित अहित रूप मानने रूप रुचि श्रद्धा विश्वास।

अर्थ—यथार्थ वस्तु स्वरूप सहित पदार्थों (जीव अजीव आदि प्रयोजनभूत—मतलब के पदार्थ) की श्रद्धा—हित अहित मानने रूप रुचि सम्यग्दर्शन है।

विशेष-प्रत्येक वस्तु में रुचि विश्वास से होती है। विश्वास रुचि-प्रतीत का जन्म दाता है। यदि किसी को यह विश्वास न हो कि यह मेरे माता पिता, मित्र बंधु अथवा हितैषी है

तो उनके प्रति उसका न तो प्रेम होन, भक्ति हो । धर्म की रुचि–भक्ति भी विश्वास से होती है । सब कर्त्तव्यों का मूल–मंत्र विश्वास है, विश्वास बिना कोई काम नहीं बनता । रोगी को औषधि पर विश्वास न होने से प्रायः हानि ही उठानी पड़ती है । तत्वों का यथार्थ विश्वास किए बिना सच्चा आत्म विश्वास नहीं हो सकता ।
सच्चा आत्म–विश्वास ही आत्म कल्याण का मुख्य हेतु है । अतः सर्व प्रथम तत्त्वों का यथार्थ विश्वास करना चाहिए ।

संसार के सब पदार्थों को ठीक ठीक जानने की रुचि तो प्रायः सभी मनुष्यों में पाई जाती है, किंतु धन, प्रतिष्ठा आदि सांसारिक आकांक्षा के कारण पदार्थों के जानने की रुचि सम्यग्दर्शन नहीं है क्यों कि उस का फल तो मोक्ष न होकर संसार ही होता है बस आत्म विकास के लिये तत्त्व निश्चय की रुचि ही विपरीत अभिप्राय रहित बनती है । अतःआत्म विकासके कारण तत्त्व निश्चय की रुचि जो केवल आत्मिक तृप्ति के लिए होती है वही सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्दर्शन के मुख्य चार बाह्य चिन्ह है १ प्रशम २ संवेग ३ अनुकंपा और ४ आस्तिक्य ।

कषायों का शिथिल–मंद होना, झूठे पक्षपात का न होना, बदला लेने की बुद्धि का न होना-प्रशम,संसारके दुःखों से भयभीत हो सांसारिक भोगो से विरक्ति तथा धर्मऔर धर्म के फल मेंप्रीति होना संवेग, दुःखी प्राणियो के प्रति दया,उनके दुःख दूर करने की इच्छा व भावना-अनुकंपा, और आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग आदि परोक्ष किंतु युक्ति–सिद्ध पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करना आस्तिक्य है । यह चारों चिन्ह कषायों की मंदता से किसीकिसी मिथ्यादृष्टि में भी पाए जा सकते है किंतु सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्दृष्टियों के तो सब ही के होते है । मिथ्यादृष्टियों में यह चारों चिन्ह प्रशमाभास आदि रूप ही होते है ।

सच्चे सुख की प्राप्ति और धर्म का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से ही होता है । तत्वों का स्वरूप समझे बिना किसी भी जीव को सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता । अतः जो जीव तत्त्वों का स्वरूप ठीक ठीक जानते है उन्हीं के सम्यग्दर्शन होता है,अन्य के नहीं । बस तत्वों के यथार्थ स्वरूप के जानने के प्रयत्न में लगना ही सच्चे सुख के इच्छुक का मुख्य कर्त्तव्य ठहरा ।

दोहा–सम्यग्दर्शन ज्ञान अरु, चारित शिवमग होय ।
तत्त्वार्थ श्रद्धान जो, सम्यग्दर्शन सोय ॥१॥

यहाँ तत्-तिस वस्तु (जीव अजीव आदि जो है) के त्व-भाव ही का नाम 'तत्त्व' कहा है, भाव भासे बिना तत्त्वार्थ श्रद्धान नही हो सकता । अतः 'भाव भासना' क्या सो उदाहरण सहित कहते हैं:—

जैसे कोई पुरुष संगीत सीखने को संगीत शास्त्रानुसार रागों के सुर, ताल, तान आदि के भेद सीखकर भी उनके स्वरूप को नहीं पहचानता, अन्य सुर आदिक को अन्य सुर आदिक रूप मानता है, कभी कभी ठीक भी मानता, जानता है किंतु निर्णय रूप ठीक नहीं मानता, जानता तो उसे संगीत का ज्ञाता नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कोई जीव सम्यक्ती होने के लिए शास्त्रानुसार जीवादिक तत्त्वों के स्वरूप को सीख लेता है किंतु उनके स्वरूप को नहीं पहचानता । स्वरूप पहचाने बिना अन्य तत्त्वों को अन्य तत्त्व रूप मान लेता है, अथवा कभी कभी ठीक भी मानता है पर निर्णय रूप ठीक नहीं मानता इसलिए उसके सम्यक्त होना नहीं कहा जा सकता । एक दूसरा व्यक्ति है जिसने संगीत शास्त्र पढा है अथवा नहीं पढा है वह सुर आदिक के स्वरूप को निर्णय रूप ठीक ठीक पहचानता है तो वह संगीत का जानने वाला ही कह-लावेगा । इसी प्रकार किसी ने शास्त्र पढा है अथवा नहीं किंतु वह जीवादिक का स्वरूप निर्णय रूप से पहचानता है तो वह सम्यग्दृष्टि ही है । जैसे हिरण, साँप सुर ताल आदिक का नाम नहीं जानते किंतु उनके स्वरूप को पहचानते है, इसी प्रकार जो तुच्छ बुद्धि व्यक्ति जीवादिक का नाम नहीं जानते हुए भी उनका स्वरूप पहचानता है अर्थात् यह निर्णय रूप से जानता है कि 'यह मैं हूँ' 'यह पर हैं' 'यह भाव बुरे हैं' 'यह भाव अच्छे हैं' वह सम्यग्दृष्टि है और इसी का नाम भाव भासना है । शिवभूति मुनि जीवादिक का नाम नहीं जानता था, 'तुषमाषभिन्न, ऐसे रटन से ही जब उसे आपा पर का भाव भासन रूप ध्यान हुआ तो सम्यग्दृष्टि हो केवली बन गया, किंतु जीवादिक का विशेष भेद जानने वाला ग्यारह अंग का पाठी भी बिना भाव भासे मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है । यह है भाव भासना की महिमा ।

सम्यग्दर्शन के भेद (उत्पत्ति अपेक्षा)

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

शब्दार्थ -तत्=वह (सम्यग्दर्शन) ! निसर्गात्=स्वभाव से । अधिगमात्= उपदेश से, 'अधिगम' का शाब्दिक अर्थ 'ज्ञान' है फिरभी यहां उपदेश पूर्वक होने वालेज्ञान से तात्पर्य है ।

अर्थ—वह सम्यग्दर्शन स्वभाव से स्वयमेव अथवा किसी गुरु या विद्वान के उपदेश तथा

सत् शास्त्र के निमित्त से उत्पन्न होता है।

विशेष—जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेश बिना स्वयमेव जिनबिंब दर्शन, जातिस्मरण आदि से प्रकट हो उसे निसर्गज (ध.६पृ.४३१) तथा जो पर के उपदेश और सत् शास्त्र पठन आदि से हो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। निसर्गज सम्यग्दर्शन भी पूर्व उपदेश आदि के संस्कार से ही होता है, पहला उपदेश मिला हुआ ही अब स्वभाव से सम्यग्दर्शन प्रकट हो आता है, जिस जीव को वर्तमान पर्याय में या पूर्व पर्याय में कभी भी जीवादिक पदार्थ विषयक उपदेश नहीं मिला उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो नहीं सकती।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में उपदेश आदि तो बाह्य कारण है, अंतरंग कारण तो मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय है। इसी लिए सम्यग्दर्शन के १ उपशम सम्यग्दर्शन २ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन और ३ क्षायिक सम्यग्दर्शन तीन मुख्य भेद कहे गए है। मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है १ दर्शन मोहनीय २ चारित्र मोहनीय— दर्शन मोहनीय एक प्रकार अर्थात् मिथ्यात्व और चारित्र मोहनीय दो प्रकार १ कषाय २ नो-किंचित कषाय है। कषाय के १६ भेद—अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान माया लोभ, और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। नो-किंचित कषाय के ९ भेद—हास्य,रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, पुरुष वेद।

दर्शन मोहनीय का जो एक भेद मिथ्यात्व है वह बंध और उदय दोनों की अपेक्षा से है। सम्यक्त्व होते समय इसके तीन रूप होकर तीन भेद हो जाते हैं १ मिथ्यात्व २ सम्यक् मिथ्यात्व ३ सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व किंतु मिथ्यात्व के सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व यह दो भेद केवल उदय में आने की अपेक्षा से है, बंध तो केवल मिथ्यात्व का ही होता है।

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को घातने वाली सात प्रकृतियां है, तीन तो दर्शन मोहनीय की अर्थात् १ मिथ्यात्व २ सम्यक् मिथ्यात्व और ३ सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व तथा चार चारित्र मोहनीय की अर्थात् अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ। इस का यह तात्पर्य हुआ कि अनंतानुबंधी की चौकड़ी आत्मा के सम्यक्त्व गुण को भी घातती है और चारित्र गुण को भी। यहां एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि अनंतानुबंधी जिस प्रकार

दो—सम्यग्दर्शन उपजि है, उपदेश अरु स्वयमेव।
अधिगमज अरु निसर्गज, सोई याके भेव ॥२॥

सम्यक्त्व के घात में मिथ्यात्व प्रकृति का काम करती है उस प्रकार वह मिथ्यात्व की उत्पत्ति में मिथ्यात्व प्रकृति का काम नहीं करती। यही कारण है कि सासादन गुण स्थान में अनंतानुबंधी के उदय में अनंतानुबंधी जन्य ही विपरीत अभिप्राय होता है मिथ्यात्व जन्य नहीं, (धवला१ पृ.१६)।

इन सात प्रकृतियों के उपशम होने पर उपशम सम्यग्दर्शन, इन के सर्वथा क्षय—नाश होने पर क्षायिक सम्यग्दर्शन और छः का तो उदयाभावी क्षय व सदवस्थारूप उपशम और एक अर्थात् सम्यक् प्रकृति के उदय होने पर क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

अनादि काल से सांसारिक दुःखों का अनुभवन करते करते योग्य (भव्य) आत्मा के परिणाम [कारण] कभी ऐसे शुद्ध हो जाते हैं कि जैसे उसके उससे पहले कभी नहीं हुए थे। इस परिणाम शुद्धि को करण लब्धि कहते हैं। इससे उस भव्य आत्मा में रागद्वेष की वह तीव्रता नहीं रहती जो तत्वों के यथार्थ सच्चे रूप के निर्णय करने में बाधक है। रागद्वेष की पक्षपात रूप ऐसी तेजी मिटते ही आत्मा सत्य का खोजी बन जाता है। इस प्रकार की आध्यात्मिक जागृति ही सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व है!

सम्यग्दर्शन की महिमा

मिथ्यात्व में जीव को अपने वास्तविक भले बुरे का ज्ञान नहीं हो पाता, अतः मिथ्या दृष्टि के ठीक ठीक व्रत तप आदि भी नहीं बनते। उस के जो भी व्रत पूजादि होंगे वह सब बनावटी और झूठे ही रहेंगे। इसीलिए वह सच्चा सुख प्राप्त करने में असमर्थ है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र भी मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र ही रहते हैं, इसके बिना धर्म किसी प्रकार बन ही नहीं सकता। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से तिर्यंच पामर प्राणी कुत्ता भी देव हो जाता और मिथ्यात्व से देव भी कुत्ता बन जाता है। सम्यग्दर्शन के माहात्म्य पर रत्नकरंडश्रावकाचार के निम्न दोहे उल्लेखनीय हैं—

दो०—राख ढके अंगार सम, दर्शन युत चण्डाल।
देव, कहें देवेश जो, जाननहार त्रिकाल ॥१॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान ने सम्यग्दर्शन सहित चांडाल का राख से ढके हुए अंगारे के समान देवता बतलाया है ॥१॥

दो०—दर्शन खेवटिया सदश, मोक्ष-मार्ग में जान।
तत् चरित्र अरु ज्ञान से, दर्शन मुख्य प्रमान ॥२॥

अर्थ--जीव को संसार समुद्र से मोक्ष पहुँचाने वाले रास्ते में सम्यग्दर्शन नाव के खेने

वाले नाविक के समान है। अतः सम्यग्दर्शन को ज्ञान और चारित्र से प्रधान समझो ॥२॥

दोहा–सम्यग्दर्शन के बिना, विद्या व्रत रहाय।
बीज बिना तरु के सदृश, उगै बढ़ै न फलाय ॥३॥

अर्थ–सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र बिना बीज के पेड़ के समान है अर्थात्‌कुछ नहीं हैं, हैं ही नहीं, जैसे बीज के बिना पेड़ न उग सकता है,न बढ़ सकता है और न फल ही दे सकता है अर्थात् पेड़का अस्तित्वही नहीं बनता वैसेही सम्यग्दर्शन केबिना ज्ञान और चारित्र भी नहीं बनते।

दोहा–दर्शन युत व्रत हीन भी, सुरपति पूजित होय।
नारि क्लीव पशु नारकी, दरिद न कम वय होय ॥४॥

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीव व्रत रहित होने पर भी इंद्र से पूजा जाता है, वह मर कर स्त्री, नपुंसक, तिर्यंच, नारकी नहीं बनता और न दरिद्र तथा कम आयु वाला ही होता है।

दोहा–सम्यक् धारी जिन भगत, चक्री अरु अहमेंद्र।
तीर्थंकर पद पाय कर, होवे अवसि जिनेंद्र ॥५॥

अर्थ–जिन भक्त सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती, अहमेंद्र, तीर्थंकर महान महान पदवी पाकर अवश्यमेव स्वयं भी जिनेंद्र बन जाता है।

दोहा–तीन लोक तिहुं काल में, सम्यक् सम हित नाहि।
अरु मिथ्या सम जगत में, अहित जीव को नाहि ॥६॥

अर्थ–जीव के लिए तीन लोक और तीन काल में सम्यक् दर्शन जैसा हितकारी और मिथ्यात्व जैसा अहितकर अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है।

भगवान श्री कुंद कुंदाचार्य मोक्ष पाहुड़ में कहते हैं।
सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
समत्त परिणदो उ ण खवेइ दुट्ठट्ठ कम्माणि ॥८७॥

भावार्थ–सम्यक्त्व का ध्यान ऐसा है कि जो पहले सम्यक्त्व न हुआ हो तो इसका स्वरूप जानकर जो इसका ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फल यह होता है कि फिर वह सम्यग्दृष्टि संसार के कारण दुष्ट अष्ट कर्मों का नाश कर डालता है।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया जाणह तं सम्ममाहप्पं ॥८८॥

अर्थ–आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या जो मनुष्य भूत काल में सिद्ध हुए हैं और आगे सिद्ध होंगे–वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य समझो।

जब यह जीव अपना अथवा जीवादि तत्वों का सच्चा स्वरूप समझने की जिज्ञासा करता है तब कहीं इसे किसी आत्म-ज्ञानी पुरुष के उपदेश का योग मिलता है। उस उपदेश से किसी को आत्म स्वरूप का सच्चा निर्णय तुरंत ही और किसी को फिर कभी किसी दूसरे भव में होता है। अतः सच्चे सुख के इच्छुक प्राणी को आत्मज्ञानी सद्गुरु अथवा सत् शास्त्र का समागम मिलाने में सदा प्रयत्न शील रहना चाहिए।

तत्त्वों के नाम

जीवाजीवास्रवबंध संवर निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

शब्दार्थ—जीव=देखने जानने वाला चेतन पदार्थ, आत्मा। अजीव=अचेतन,जड़ पदार्थ। आस्रव=आना,कर्मों का आना,कर्मों के आने का द्वार। बंध=बँधना,संबंध होना,कर्मों का आत्मा के साथ संबंध होना, अथवा नए कर्म परमाणुओं का पुराने कर्म परमाणुओं के साथ बँधना। संवर=रुकना, रोक, डाट, आस्रव का रुकना। निर्जरा=झड़ना, अलग होना, आत्मा से कुछ कर्मों का संबंध हटना। मोक्ष=सब कर्मों से छूट जाना। तत्त्व=जो है Real यथार्थ और तंत के पदार्थ, होने रूप मतलब के, कारजकारी, प्रयोजनभूत पदार्थ।

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्व अर्थात् होने रूप--यथार्थ प्रयोजनभूत पदार्थ है।

विशेष—वैसे तो जीव और अजीव में ही सबपदार्थ आ जाते है,परंतु यहां पर विषय जीव को मोक्ष (सच्चे सुख) की प्राप्ति का है। अतः जीव किस से (अजीव-पुदगल कर्मों से)बँधा है, कैसे (आस्रव, बँध से) बंधा है,कैसे छुटकारा (संवर, निर्जरा, मोक्ष) अर्थात् मुक्ति हो सकती है ? यही बातें काम की है। इसीलिए जीव, अजीव,आस्रव आदि तत्त्वों को प्रयोजनभूत-कारजकारी पदार्थ कहा है, देखो मोक्ष मार्ग प्रकाशक,चौथा अधिकार—प्रयोजन अप्रयोजनभूत पदार्थ पृ. ११२ से ११४ तक।

इन सात तत्त्वों में से जीव और अजीव दो तो द्रव्य है तथा वे परिणामी हैं। शेष पाँच इन दोनों के परिणाम हैं। इनमें आस्रव और बंध तो जीव तथा पुद्गल के संयोग से होते है अतः 'संयोजक परिणाम' हैं। संवर,निर्जरा और मोक्ष जीव पुद्गल के विभाग- अलग अलग होने से होते हैं इसलिए इन्हें 'विभाजक परिणाम' कहते है। ये पांचों परिणाम भी जीव और अजीव के भेद से दो दो प्रकार के है १ जीव(भाव) आस्रव इत्यादि २ अजीव

दो०—जीवाजीवास्रव बंध अरु, संवर निर्जर मोक्ष।
सात तत्त्व श्रद्धान कर, निश्चय पावै मोक्ष ॥३॥

(द्रव्य) आस्रव इत्यादि।

यह सातों पदार्थ हैं, इनका अस्तित्व है, यह यथार्थ हैं कोई काल्पनिक पदार्थ नहीं है, और मतलब के हैं, काम के हैं, मोक्ष-सच्चे सुख की प्राप्ति में कार्यकारी हैं। जीव और अजीव–पुद्गल दो तो प्रत्यक्ष हैं ही किंतु इनसे मिले हुए आस्रव बंध और इनके विभाजक परिणाम भी है,इन सब का अस्तित्व है औरयह सब मोक्षमार्गमें कामके है इसलिए'तत्त्व'हैं।

इस सूत्र में 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' में आए हुए तत्त्वों (प्रयोजनभूत पदार्थों-के नाम बताए हैं। आगे दसों अध्यायों में इन्हीं का विशेष वर्णन है।

निक्षेप

(पदार्थों का लोक व्यवहार)

नाम स्थापना द्रव्य भावतस्तन्न्यासः॥५॥

शब्दार्थ–नाम-पदार्थ में वह गुण न होने पर भी लोक व्यवहार के लिए उसे उस रूप कहनेलगना, जैसे किसी ने लोक व्यवहार के लिए अपने लड़के का नाम 'राजा' रक्खा,उस में राजा–नृप-भूपति के गुण नहीं हैं (सर्वार्थसिद्धि)। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया के अतिरिक्त अन्य निमित्तों की अपेक्षा बिना नाम रखना, संज्ञा करना नाम निक्षेप है [धवला १ पृ.१७]। किसी वस्तु की उस संज्ञा को नाम कहा है कि जिस संज्ञा रखने का उसवस्तु की केवल पहचान हो जाना ही प्रयोजन हो,दूसरा कुछभी प्रयोजन न हो। अर्थात् जहां नामनिक्षेप माना जाता है वहां क्रिया-अर्थ तथा गुण-अर्थ नहीं देखा जाता,केवल यह बात देखी जाती है कि इस शब्द का संकेत किस अर्थ (वस्तु) के साथ है (तत्वार्थ सार अधि. १)

स्थापना–एक वस्तु की दूसरे में कल्पना करना, जैसे काष्ठ चित्रादि के तदाकार व अतदाकार में यह 'राजा' है कल्पना करके काष्ठ चित्रादिक के बने आकार को राजा कहना। स्थापना निक्षेप का कारण मनोभावना है न कि सदृशता।

द्रव्य-किसी वस्तु को उसकी भूत या भविष्यत पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमानमें कहना; जैसे गद्दी से उतरे हुए राजा को अथवा राजपुत्र को 'राजा' कहना। अथवा आगे होने वाली पर्यायको ग्रहण करने के सम्मुख हुए द्रव्य को,अथवा वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को ही द्रव्य निक्षेप कहते हैं (ध.१पृ.२०)। द्रव्य निक्षेप अनुपस्थित विषय काबतलाने वाला माना गया है।

भाव–पदार्थ की वर्तमान पर्याय मात्र को कहना,जैसे राज्य करते हुए व्यक्ति को ही 'राजा' कहना, वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं (ध. १ पृ. २९)।

तः=से, द्वारा। तत्–उनका,जीवादि तत्त्वों तथा रत्नत्रयका। न्यासः=लोक व्यवहार।

अर्थ–उन (ऊपर कहे हुए) तत्त्वों तथा रत्नत्रय का संसार में नाम, स्थापना, द्रव्य,

और भाव द्वारा व्यवहार होता है ।

विशेष—मनुष्य का अपनी इच्छानुसार कार्य वश नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से पदार्थ का व्यवहार करना निक्षेप है (गो० क० गा० ५२) ।

नाम, स्थापना आदि निक्षेपों द्वारा तत्वों तथा रत्नत्रय का लोक-व्यवहार कैसे होता है सो यहां अलग अलग दिखाते हैं—

नाम निक्षेप--चेतन द्रव्य को ' जीव ' संज्ञा देना, उसी का मनुष्य, गाय, धनेंद्र, मैना, देव आदि नाम रखना । अचेतन द्रव्य को 'अजीव' पुकारना; उसी को पुद्गल, धर्म अधर्म, नभ, काल, मेज, घड़ी आदि संज्ञा देना । कर्मों के आने का 'आस्रव' नाम रखना, उसी को योग-मन वचन काय कहना । आत्मा से कर्मों के संबंध को 'बंध' संज्ञा देना, मोह, कषाय, क्रोधादि पुकारना । इसी प्रकार अन्य तत्वों तथा रत्नत्रय को भी समझ लेना चाहिए ।

नोट—पदार्थों का नाम कारक 'शब्द मात्र' नाम निक्षेप है ।

स्थापना निक्षेप—ढेले में गणेश 'जीव' की कल्पना अतदाकार स्थापना, पाषाण की मूर्ति में महावीर भगवान की कल्पना तदाकार स्थापना । भारतवर्षके मान चित्र नकशेमें'भारतवर्ष-अजीव' की कल्पना । किसो यंत्र में आस्रव, बंध, सम्यग्दर्शन इत्यादि की स्थापना ।

द्रव्य निक्षेप—स्वर्ग से आए हुए अथवा वहाँ जाने वाले 'जीव' को देव कहना । सूखी लकड़ी 'अजीव' को पेड़ अथवा कोयला पुकारना । 'आस्रव' को आत्मा के परिणाम व बंध कहना । करण लब्धि को सम्यग्दर्शन कहना, इत्यादि ।

भाव निक्षेप--पढ़ाते समय ही अध्यापक 'जीव' को अध्यापक कहना, लिखते हुए ही लेखनी 'अजीव' को लेखनी पुकारना, इत्यादि ।

नोट--निक्षेप से वस्तु का उसके नाम आदि द्वारा निश्चय होता है (ध०१ पृ० १०) । अनुभव निश्चित पदार्थ-आत्मा आदि का होता है, अतः अनुभव में निक्षेप की आवश्यकता ही नहीं रहती । इसीलिये कहा है—

'प्रमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखे' । यहां 'अनुभव' के अर्थ तजुर्बा-Experience नहीं किन्तु निम्न प्रकार है--

दो०—वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावे विश्राम ।
रस स्वादत 'सुख' ऊपजे, 'अनुभव' याको नाम ॥

दोहा—निक्षेप नाम स्थापना, द्रव्य भाव तिन द्वार ।
तत्व अरु दर्शन आदि का, होय लोकव्यवहार ॥४॥

सभी व्यवहार या ज्ञान के लेन देन का मुख्य माध्यम-साधन भाषा है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजन अथवा प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। उपरोक्त निक्षेपों के समझ लेने पर ही वक्ता अथवा लेखक का तात्पर्य भली प्रकार समझा जा सकता है। मुख्य रूप से शब्दात्मक व्यवहार का आधार नाम निक्षेप, ज्ञानात्मक का आधार स्थापना निक्षेप, तथा अर्थात्मक के आधार द्रव्य और भाव निक्षेप हैं (जय ध० १ प्रस्तावना पृ० १०१, अकलंक लघीयस्त्रय श्लो ७०)।

अप्रकृत विषय के निवारण करने के लिए, प्रकृत विषय के प्ररूपण के लिए, संशय विनाश के लिए और तत्वार्थ निश्चय के लिए निक्षेपों का कथन होता है, बिना निक्षेपों के वर्णित-सिद्धांत संभवहै कि वह वक्ता तथा श्रोता दोनोंको कुमार्गमेंले जावे (ध०१ पृ० ३१)।

रत्नत्रय तथा तत्त्वों को जानने के उपाय

१ प्रमाण, नय

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

शब्दार्थ—प्रमाणनयैः=प्रमाण और नयों से-द्वारा। अधिगमः=ज्ञान।

अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय तथा जीवादि तत्वों का ज्ञान प्रमाणों और नयों द्वारा होता है।

विशेष-पदार्थों के स्वरूप का निश्चय कराने वाला सच्चा-निर्दोष ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है। प्रमाण वस्तु के एक गुण द्वारा समस्त वस्तु का ज्ञान कराता है गुणों या धर्मों के समुदाय रूपस्व का तथा पर का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है।

प्रमाण के दो भेद हैं १ प्रत्यक्ष प्रमाण २ परोक्ष प्रमाण।

प्रत्यक्ष प्रमाण—अपने विषय के पदार्थों का पूर्ण स्पष्ट निर्मल ज्ञान; इसके दो भेद १ सकल प्रत्यक्ष-बिना इंद्रिय तथा मन आदि की सहायता के पूर्ण विशद 'केवल ज्ञान' २ एक-देश प्रत्यक्ष-बिना इंद्रिय तथा मन की सहायता के मर्यादा सहित विशद ज्ञान-'अवधि तथा मनः पर्यय ज्ञान'।

परोक्षप्रमाण-अविशद ज्ञान अथवा जो ज्ञान इंद्रिय तथा मन की सहायता से हो-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान।

यह पांचों ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, केवल ज्ञान—प्रमाण है। इन में चार

दोहा—प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण अरु, नय निश्चय व्यवहार।
रत्नत्रय जीवादि का, होय ज्ञान इन द्वार ॥५॥

ज्ञान अर्थात् मति, अवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान तो प्रमाण रूप ही है किंतु श्रुत ज्ञान प्रमाण और नय दोनों रूप है।

नय—सापेक्ष कथन की शैली को नय कहते हैं अथवा वक्ता व ज्ञाता के अभिप्राय-दृष्टिकोण को नय कहते हैं। वैसे तो वक्ता तथा ज्ञाता के अभिप्राय अनुसार नय बहुत बहुत-अनेकों प्रकार की हो सकती हैं फिर भी आचार्यों ने नय के मुख्य दो भेद बताए हैं १निश्चय नय (Permanent View) २ व्यवहार नय—उपनय (Practical View)।

निश्चय नय—अखंड द्रव्य को अखंड रूप से कहने की शैली, यह नय द्रव्यों को, उनके भावों को-गुण पर्यायों को. एवं कारण कार्य आदि को यथावत निरूपण करती है, किसी को किसीमें नहीं मिलाती, जैसे कहनाकि जीव-आत्मा अनंत गुण समुदाय रूप एक चैतन्य द्रव्य है, अथवा मिट्टी के घड़े को मिट्टी का ही कहना इत्यादि। निश्चय नय दो प्रकार की है १ द्रव्यार्थिक निश्चय २ पर्यायार्थिक निश्चय—

इसी अध्यायके सूत्र ३३ में वर्णित १ नैगम २ संग्रह ३ व्यवहार द्रव्यार्थिक निश्चय नय और १ ऋजुसूत्र २ शब्द ३ समभिरूढ ४ एवंभूत पर्यायार्थिक निश्चय के भेद उपभेद है, इनकी विशेष व्याख्या वहीं देखिए।

व्यवहार—उपनय-अखंड द्रव्य में गुण गुणो के भेद कल्पना करने की शैली, तथा उनके भावों-गुण पर्यायों को एवं कारणकार्य आदि किसी को किसीमें मिलाकर निरूपण करने की शैली, जैसे दर्शन ज्ञान सुख आदि अभेद गुणों में से जीव का कोई एक एक 'दर्शन', 'ज्ञान' आदि गुण कहना अथवा मिट्टीके घड़े को घीका घड़ा कहना इत्यादि। इस का नाम व्यवहार-प्रयोग में आने वाली शैली व्यवहार नय अथवा उप-पास (समीप) की शैली उपनय है। इसके मुख्य तीन भेद हैं-

१ सद्भूत व्यवहार नय-किसी द्रव्य के अभेद रूप गुणों का उसी द्रव्य में भेद रूप से कहने की शैली, जैसे जीव के ज्ञान दर्शन आदिक अभेद गुणो में से जीव का 'ज्ञान' गुण कहना,

२ असद्भूत व्यवहार नय—मिले हुए भिन्न पदार्थों का अभेद रूप कहने की शैली जैसे कहना कि 'शरीर मैं हूं',

३ उपचरित व्यवहार नय—अत्यंत भिन्न पदार्थों को अभेद रूप कहने की शैली जैसे यह कहना कि 'हाथी' मकान, स्त्री, पुत्र मेरे हैं'।

नोट--प्रत्यक्ष परोक्ष आदि प्रमाण असिद्ध वस्तु को सिद्ध करते हैं और नय वस्तु के गुण सिद्ध करती है। अनुभव सिद्ध-वस्तु का होता है, अतः अनुभव में प्रमाण तथा नय की भी आवश्यकता नहीं है।

२ छः अनुयोगद्वार (व्याख्या प्रश्न)

निर्देश स्वामित्वसाधनाधिकरणस्थिति विधानतः ।७।

शब्दार्थ—निर्देश=वस्तु स्वरूप का कथन। स्वामित्व=वस्तु का अधिकारीपन—मालिकपन । साधन=उत्पत्ति का कारण । अधिकरण=आधार । स्थिति=काल की मर्यादा । विधान=भेद, प्रकार ।

अर्थ-स्वरूप, अधिकारी, कारण, आधार, काल की मर्यादा, भेद के कहने से जीवादि तत्त्वों तथा रत्नत्रय का बोध होता है।

विशेष—किसी वस्तु की जानकारी प्राप्त करने का उसके विषय में विविध प्रश्न करना है। प्रश्नों का जितना ही अच्छा खुलासा उत्तर मिलेगा वस्तु की उतनी ही अधिक जानकारी होगी। अतः प्रश्न किसी वस्तु की तह तक पहुँचने के द्वार हैं। शास्त्रों में उनको अनुयोग-व्याख्या-द्वार, अनुगम—अवबोध द्वार (प्रश्न) कहा है।

छोटा या बड़ा कोई भी जिज्ञासु क्यों न हो जब पहले पहल किसी वस्तु को देखता अथवा उसका नाम सुनता है तो उसकी जिज्ञासा—जानने की इच्छा-Inquisitiveness जाग उठती है। वह उस वस्तु के विषय में विविध प्रश्न करने लगता है: वह उसके स्वभाव, मालिक, रूप रंग इत्यादि के संबंध में अनेक प्रश्न करता है। इसी प्रकार अंतर्दृष्टि आत्मा भी तत्त्व आदि के विषय में सुनकर उनके संबंध में विविध प्रश्नों द्वारा अपना ज्ञान बढाता है। ऐसे ही छः प्रश्न इस सूत्र में और आठ अगले सूत्र में हैं जिन से मुमुक्षु को तत्वों और रत्नत्रय का विशेष बोध होता है।

इस सूत्र में ६ प्रश्न यह हैं-१ तत्त्वों आदि का स्वरूप क्या है ? २ इनका मालिक-अधिकारी कौन है ? ३ इनका कारण क्या है अर्थात् यह कैसे उत्पन्न होते हैं ? ४ इनका आधार क्या है अर्थात् ये कहाँ, किस स्थान व किस व्यक्ति में हैं ? ५ यह कितने समय तक रहते हैं ? और ६ यह कितने कितने प्रकार के हैं ? इनका संक्षिप्त उत्तर निम्न प्रकार है—

निर्देश—जीव-चैतन्य, जो जीवे। अजीव-बिना जीव के, जड़। आस्रव—आना,कर्मों का आना इत्यादि।

स्वामित्व-जीव अजीव का स्वामी—स्वतंत्र, जीव, अजीव। आस्रव, बंध आदि तथा रत्नत्रय का स्वामी-जीव।

दो०—निर्देश ईश साधन अधि;—करण भेद थिति शोध।
तत्त्व अरु दर्शन आदि का, इनसे भी हो बोध ॥६॥

साधन-जीव अजीव का-अनादि, जीव, अजीव। आस्रव का-आत्म परिस्पदन, मन वचन काय तथा बाह्य निमित्त। बंध का-योग,कषाय, मोह। संवर का—सम्यग्दर्शन, तथा सम्यक्त्व सहित गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा,परिषह-जय। निर्जरा का—तप,कर्मों का उदय। मोक्ष का—रत्नत्रय की पूर्णता तथा समस्त कर्मों की पूर्ण निर्जरा। सम्यग्दर्शन का—करण लब्धि, दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम, उपदेश, जातिस्मरण,वेदना,जिनदर्शन,सद्शास्त्र स्वाध्याय। सम्यक् चारित्र का—सम्यग्दर्शन, संवर, तप।

अधिकरण—जीव का आधार-तीनों लोक। अजीव का-तीनों लोक और अलोक। आस्रव बंध आदि तथा रत्नत्रय का-जीव।

स्थिति—सामूहिक रूप से सातों तत्वों तथा रत्नत्रय की-अनादि अनन्तकाल। भिन्न भिन्न-संसारी जीव की-जघन्य-सब पर्यायों में अन्तर्मुहूर्त,उत्कृष्ट-मनुष्य पर्याय की-तीन पल्योपम और पूर्वकोटि पृथकत्व, तिर्यंच पर्याय की-असंख्यात पुद्गल परावर्तन, देव, नारकी की-३३ सागर। अजीव-लकड़ी की-कोयला अथवा मिट्टी होने से पहले पहले, पत्थर की-रेत होने तक इत्यादि, इनमें भी निमित्त मिलने पर जघन्य-अन्तर्मुहूर्त,, उत्कृष्ट-भिन्न भिन्न। आस्रव की जघन्य, उत्कृष्ट दोनों समय मात्र। बंध की-भिन्न भिन्न कर्मों की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अध्याय ८ सूत्र १४-२० तक देखिये। संवर,अविपाक निर्जरा की-जघन्य-समय मात्र, उत्कृष्ट-संवर की-६६ सागर, अविपाक निर्जरा की-कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष, सविपाक निर्जरा की-अनादि अनन्त, अनादि सांत। मोक्ष की-नाना जीवों की अपेक्षा-अनादि अनन्त एक जीव की अपेक्षा-सादि, अनन्त। सम्यग्दर्शन ज्ञान की-जघन्य-अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट-कुछ अधिक ६६ सागर। सम्यक् चारित्र की-जघन्य १ समय, उत्कृष्ट-कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष।

नोट:—काल का सबसे छोटा भाग जिसके फिर और भाग न हो सकें 'समय'। असंख्यात समय की १ आवली। २ घड़ी–४८ मिनट का १ मुहूर्त। १ समय अधिक १ आवली से ४८ मिनट के बीच का अथवा ४८ मिनट के लगभग-कम अधिक (धवला) काल अन्तर्मुहूर्त।

७०५६००००, ००००० (सात नील पांच खरब साठ अरब) वर्ष का एक पूर्व, ७०५६०००००,००००, ००० ०,०० वर्ष का १ पूर्व कोटि–करोड़, ४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००,०००००,००००६ ००००.०००००,००००० ००००० वर्ष का एक सागर होता है।

विधान--जीव-संसारी, मुक्त; भव्य, अभव्य; संसारी-स्थावर, त्रस इत्यादि। अजीव-पुद्गल-परमाणु, स्कन्ध; धर्म अधर्म नभ, काल। आस्रव-ईर्यापथ, सांपरायिक इत्यादि (

बंध-प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग इत्यादि। संवर-गुप्ति, समिति आदि। निर्जरा-सविपाक, अविपाक आदि। मोक्ष-द्रव्यमोक्ष, भावमोक्ष। सम्यग्दर्शन-औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक इत्यादि। सम्यग्ज्ञान-प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि। सम्यक्चारित्र-यथाख्यात, स्वरूपाचरण, एक देश, सकल देश आदि।

३ आठ अनुगम द्वार (अवबोध प्रश्न)

सत्संख्याक्षेत्र स्पर्शन कालांतर भावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

शब्दार्थ-सत्=अस्तित्व, होना, वजूद (Existence)। संख्या=गिनती। क्षेत्र= वर्तमान निवास स्थान। स्पर्शन=तीनों काल संबधी निवास स्थान। काल=रहने-ठहरने की मर्यादा। अंतर-- विरहकाल, जैसे 'रात्रि' सूर्य के प्रकाश का विरहकाल है। भाव--अवस्था विशेष। अल्पबहुत्व=थोड़ा-बहुतपन। च=और।

अर्थ—और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुगम द्वारों से भी तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शन आदि का बोध होता है।

विशेष—सत्-'जीव' के अस्तित्व में सबसे प्रबल प्रत्यक्ष प्रमाण 'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूँ' रूप स्वसंवेदन है जो घट पट आदि पदार्थों में नहीं पाया जाता, इससे अपनी आत्मा-जीव के अस्तित्व का बोध होता है, अनुमान, युक्ति आदि से भी मनुष्य आदि के मरने पर इसके अस्तित्व का पता चलता है। जीव-आत्मा का स्वभाव चित् अर्थात् ज्ञान है। चित् का कार्यउपयोग-जानना देखना है, यह जानने देखने की शक्ति प्रत्येक जीव में प्रतिक्षण पाई जाती है। प्रतिक्षण के ज्ञान को पूर्व क्षण का ज्ञान कारण होता है अर्थात् आदि के ज्ञान से मध्य का, मध्य के ज्ञान से अन्त का और अन्त के ज्ञान से आदि का ज्ञान होता है। जब इस प्रकार प्रत्येक क्षण के ज्ञान को पूर्व पूर्व ज्ञान कारण है तो उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। जब 'ज्ञान' गुण का अभाव नहीं है तब उसके स्वामी (गुणी) का अर्थात् जीव का अस्तित्व स्वयं सिद्ध हो जाता है।

अजीव—पुद्गल-स्कंध तो स्पष्ट ही प्रत्यक्ष है, धर्म अधर्म आकाश काल अजीव द्रव्य भी बुद्धि (अनुमान) के द्वारा जानने में आते हैं। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तो जीव और अजीव के तथा रत्नत्रय जीव के ही परिणाम हैं।

संख्या—जीव और पुद्गल-अनंतानन्त। धर्म, अधर्म, आकाश-एक एक अखंड द्रव्य। काल-कालाणुओं की अपेक्षा-असंख्यात, और भूत, वर्तमान, भविष्यत की अपेक्षा-अनंतानंत अखंड

दोहा—संख्या खेत अधार सत, भाव अल्पबहु मान।
काल अंतर के कहन से, तत्त्व आदि हों भान ॥७॥

(धाराप्रवाह) । आस्रव आदि शेष तत्वों तथा सम्यग्दर्शन आदि की उनके भेद तथा परिणामों के अनुसार ।

क्षेत्र—जीव, आस्रव, बंध, निर्जरा का त्रिलोक । अजीव में पुद्गल, धर्म,अधर्म, काल का-त्रिलोक,नभ का लोक अलोक दोनों। मोक्ष का-४५ लाख योजन । संवर तथा रत्नत्रयका—त्रस नाड़ी, केवल समुद्घात की अपेक्षा-लोकाकाश ।

इसी भांति स्पर्शन, काल, अन्तर आदि में भी घटा लेना चाहिए।

इस सूत्र में आठ और प्रश्न हैं—१ इनका अस्तित्व है सोकैसे ? यह कितने हैं? इनका वर्तमान निवास स्थान क्या है ? ४ तीन काल संबंधी निवास स्थान क्या है ? ५ कितने काल रहते हैं ? ६ इन में विरह काल क्या है ? ७ इनकी अवस्था-विशेष क्या क्या है ? और ८ इनमें तथा इनके भेदों में कौन किससे कितना कम अथवा कितना अधिक है ?

इन प्रश्नों के उत्तर से तत्व आदि की विशेष जानकारी के साथ साथ निम्न आठ प्रकार की मान्यताओं का निषेध भी हो जाता है—

१ नास्तिक कहते है कि 'कोई वस्तु है ही नहीं,' सत् से उनका खंडन,
२ कोई कहते है कि 'वस्तु एक ही है,' संख्या-सिद्धी से उनका निरसन,
३ कुछ मानते है कि 'वस्तु के प्रदेश-आकार नहीं है', क्षेत्र से उनका खंडन,
४ कोई कहते है 'कि वस्तु क्रिया रहित है', स्पर्शन में उनका निरसन, क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन का नाम 'क्रिया' है ।
५ कुछ मानते है कि 'वस्तु का प्रलय (सर्वथा नाश) होजाता है',काल से उनकाखंडन,
६ कोई कहते है 'वस्तु क्षणिक है,' अंतर उनकी मान्यता का निषेध करता है,
७ कोई कहते है 'वस्तु कूटस्थ-सर्वथा नित्य है', भाव से उनका निरसन;
८ कुछ कहते है 'सब वस्तुएँ एक समान है,अल्पबहुत्व की सिद्धि से उनका खंडन ।

सूत्र ७,८ के १४ प्रश्नों द्वारा 'सम्यग्दर्शन' और 'जीव' का संक्षिप्त विवरण-

सम्यग्दर्शन

१ निर्देश—स्वरूप- 'तत्त्व रुचि' अथवा 'भूल का मिटना' ।
२ स्वामी 'जीव' क्योंकि सम्यग्दर्शन जीव का ही गुण है अजीव का नहीं ।
३ साधन-कारण-करणलब्धि तथा दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम तो अंतरंग कारण और शास्त्र-स्वाध्याय, जाति स्मरण,प्रतिमा दर्शन, वेदना, सत्संग, सदुपदेश आदि बाह्य कारण।
४ अधिकरण—आधार-'जीव',सम्यग्दर्शन जीव का ही परिणाम होने से जीव में ही रहता है । यह अर्थात् आत्मा या जीव सम्यग्दर्शनका अंतरग अधिकरण, बाह्यदृष्टि से इस

का अधिकरण १३ राजू ८ह.यो. प्रमाण त्रसनाली है।

५ स्थिति—जघन्य-अंतर्मुहूर्त; उत्कृष्ट-सादि, सांत,अनंत-तीनों प्रकार के सम्यक्त्व अमुक समय में उत्पन्न होते हैं अतः सादि—आदि सहित, औपशमिक और क्षयोपशमिक उत्पन्न होकर छूटते ही हैं अतःसांत—अंत सहित और क्षायिक एक बार उत्पन्न होकर फिर कभी छूटता नहीं अतः अनंत—अंत रहित।

औपशमिककी स्थिति जघन्य उत्कृष्ट दोनों अंतर्मुहूर्त। क्षयोपशमिक की जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट—६६ सागर से कुछ अधिक।

६ विधान-(क) दोप्रकार १ निसर्गज २ अधिगमज अथवा १ निश्चय २व्यवहार(ख)तीन प्रकार १ औपशमिक २ क्षयोपशमिक३क्षायिक,(ग)पांच प्रकार-(ख)में ४ द्वितीयोपशम और ५ कृतकृत वेदक मिलाकर,(घ) दस प्रकार-१आज्ञोद्‌भव२मार्गोद्‌भव ३ सूत्रोद्‌भव ४ बीजोद्‌भव ५ संक्षेपार्थोद्‌भव ६ उपदेशोद्‌भव, ७विस्तारार्थोद्‌भव८ अर्थोद्‌भव ९ अवगाढ १० परमावगाढ।

७ सत्-जीव का स्वभाविक गुण होनेसे शक्ति रूप तो सभी जीवों मेंहैंकिंतु इस का विकास भव्य जीवों में ही संभव है अभव्यों में नहीं।

८ संख्या-भेदों की अपेक्षा उपरोक्त भाँति २,३, ५,१०; स्वामित्व की अपेक्षा-अनंत क्यों कि अनंत जीव सम्यक्त्व लाभ कर चुके और अनंत ही आगे प्राप्त करेंगे।

९ क्षेत्र-त्रसनाडी में कुछ स्थान अर्थात् उसका असंख्यातवां भाग और केवलसमुद्घात की अपेक्षा-लोकाकाश।

१० स्पर्शन-त्रस नाडी का बहुभाग और केवलसमुद्घात की अपेक्षा-सर्वलोक।

११ काल—एक जीवकी अपेक्षा सादिसांत-जघन्य-अंतर्मुहूर्त,उत्कृष्ट-६६ सागर से कुछ अधिक,या सादि अनंत,नाना जीवों कीअपेक्षा-अनादि अनंत(निरंतर)क्यों कि भूतकाल का कोई ऐसा समय नहीं जब सम्यग्दष्टि न रहे हों अतःअनादि और न कभी भविष्यत काल में ऐसा होगा कि जब सम्यग्दृष्टि न होंगे अतः अनंत।

१२ बिरहकाल—अंतर-उपशमसम्यक्दर्शन का-एकजीवअपेक्षा-जघन्य-पल्यका असंख्यातवां भाग या असंख्यात वर्ष, उत्कृष्ट—कुछ कम अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन, नाना जीवों की अपेक्षा- जघन्य-१ समय, उत्कृष्ट— ७दिन—रात (ध.७ पृ.४९२)। क्षायिक-निरंतर। क्षयोपशम का जघन्य—अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट-कुछ कमअर्द्ध पुद्गलपरावर्तन।

१३ भाव—उपशम में औपशमिक, क्षयोपशम में मिश्र और क्षायिक में क्षायिक।

१४ अल्पबहुत्व-सब से कम औपशमिक सम्यक्त्व,ससार अवस्था में क्षायिक इससे असंख्यात गुणा,इससे असंख्यात गुणा क्षयोपशमिक और मुक्तावस्था को मिलाकर क्षयोपशमिकसे नंत गुणा क्षायिक सम्यक्त्व है।

जीव

१. निर्देश-चैतन्य, जो जीवै। २. स्वामित्व-स्वतंत्र, जीव, अजीव।
३. साधन-अनादि, जीव, अजीव। ४. अधिकरण-तीन लोक।
५. स्थिति-समष्टि रूप से अनादि अनंत, व्यष्टि रूप से-जघन्य-मनुष्य, तिर्यंच-क्षुद्रभव (एक सांस के १८ वें भाग), देव नारकी-१०हजारवर्ष;उत्कृष्ट-मनुष्यपर्याय-तीनपल्योपम और पूर्व कोटिपृथकत्ववर्ष, तिर्यंच पर्याय-असंख्यातपुद्गलपरावर्तन, देवनारकी-३३ सागर।
६. विधान-संसारी, मुक्त; संसारी-त्रस, स्थावर; भव्य, अभव्य इत्यादि।
७. सत्-'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं'-रूप स्वसंवेदन। ८ संख्या-अनंतानंत।
९. क्षेत्र-त्रिलोक। १० स्पर्शन-त्रिलोक ११ काल-त्रिकाल, अनादि अनंत।
१२. अंतर-निरंतर। १३ भाव-औपशमिक क्षायिक मिश्र, औदयिक, पारिणामिक।
१४. अल्पबहुत्व-सब से कम त्रस, त्रसोंसे अनंत गुणे सिद्ध,सिद्धोंसे अनंत गुणे स्थावर।

प्रमाण—सम्यग्ज्ञान के भेद

मतिश्रुतावधिमनः पर्यय केवलानि ज्ञानम् ॥९॥

अर्थ-मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल यह पाँच ज्ञान हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञान—प्रमाण के भेद हैं।

विशेष—'सम्यग्ज्ञान प्रमाणम्' (न्याय दीपिका) समीचीन ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, यह प्रमाण का, जैसे अग्नि का उष्णता, आत्मभूत लक्षण है। अतःसम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण मानकर उसके मति ज्ञान श्रुतज्ञान आदि भेद किये गएहैं जो निम्न प्रकार हैं—

१ मतिज्ञान-जो ज्ञान इंद्रियों तथा मन की सहायता से पदार्थों को जाने अर्थात् जीव-आत्मा जिस ज्ञानमें इंद्रियों तथा मन की सहायता ले। यह ज्ञान अभिमुख-स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्र में अवस्थित,नियमित-इंद्रियके निश्चित-विषय पदार्थको ही जानता है (गो.जी.गा. ३०५)।

२ श्रुतज्ञान-जो ज्ञान मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थसे संबंधित किसी अन्यपदार्थ को जाने

३ अवधिज्ञान—जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित रूपी पदार्थों को मात्र आत्मा से प्रत्यक्ष जाने।

४ मनःपर्ययज्ञान जो ज्ञानअन्यके मन द्वाराचिंतित पदार्थोंकोमात्र आत्मासे प्रत्यक्ष जाने।

५ केवल ज्ञान-जो ज्ञान त्रिकालवर्ती सब पदार्थों,द्रव्यों तथा उनकी समस्त पर्यायों और गुणों को एक साथ स्पष्ट जाने।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण जैसा कि पहले ही सूत्र के विशेष में बताया गया है संशय, विभ्रम (विपर्यय), मोह (अनध्यवसाय) रहित ज्ञान-जानना है; सो यह मति श्रुत आदि पाँचों ज्ञान प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञान होने से संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित है।

परस्पर-विरुद्ध अनेक विषयों-पक्षों-कोटियों का अवलबंन करने वाला ज्ञान 'संशय' है जैसे किसी स्थाणु (पेड़ के ठूँठ) या पुरुष में यह ठूँठ है अथवा पुरुष ऐसा ज्ञान होना, यहाँ पर दोनों (ठूँठ, पुरुष) में से किसी भी पक्ष का निश्चय नहीं है दोनों में ही सदेह है; अतः इस ज्ञान को संशय कहते हैं।

जिसमें विपरीत एक कोटि का निश्चय हो उसे 'विपर्यय' कहते है जैसे रस्सी में यह साँप है ऐसा ज्ञान होना। यहां पर रस्सी में साँप का निश्चय है।

यह क्या है, इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह 'अनध्यवसाय' कहलाता है, जैसे रास्ता चलने वाले को तिनके या काँटे आदि के स्पर्श मात्र से यह कुछ पदार्थ है ऐसा ज्ञान। इस ज्ञान में विरुद्ध दो या तीन आदि कोटियों का अवलंबन नहीं है अतः इसे न तो संशय ही कह सकते है और न विपर्यय ही क्योंकि इसमें किसी विपरीत कोटि का निश्चय भी नही है। इसलिए यह दोनों से विलक्षण एक तीसरा ही अनध्यवसाय नामक ज्ञान है।

इन (सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) तीनों में ही अपने अपने विषय का यथार्थ ज्ञान नहीं होता अतः इन तीनों ज्ञानों को मिथ्या कहते हैं। परन्तु सम्यग्ज्ञान ऐसा नहीं है अर्थात् उसमें यथार्थ प्रतिभास होता है। इसलिए ज्ञान के साथ जो 'सम्यक्' पद लगाया है इससे तीनों मिथ्याज्ञानों का निराकरण हो जाता है।

यहां सम्यग्ज्ञान का लक्षण न बताकर उसके भेद कहे हैं। लक्षण न बताने का कारण यह है कि जीव कभी सम्यग्दर्शन रहित तो होता है पर वह ज्ञान रहित कभी भी नहीं होता, सम्यग्दर्शन होते ही पहले से विद्यमान ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दर्शन में ऐसी क्या विशेषता है कि उसके अभाव में कितना भी ज्ञान क्यों न हो सब मिथ्याज्ञान ही रहता है और सम्यक्त्व होते ही कितना ही कम तथा अस्पष्ट ज्ञान हो सब सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है ?

बात यह है कि दृष्टिकोण अनेक होतेहैं उनमें एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण है और दूसरा विषय दृष्टि कोण। न्याय शास्त्र में जिस ज्ञानका विषय यथार्थ हो वही प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञान है और जिसका विषयअयथार्थहोवह प्रमाणाभास अथवा मिथ्याज्ञान—असम्यग्ज्ञान।

दो०—मति श्रुत अवधि मनः पर्यय, केवल ज्ञान प्रमाण।
पहले दोय परोक्ष हैं, शेष प्रत्यक्ष हि जान ॥८॥

आध्यात्मिक शास्त्र में जिस ज्ञानसे आत्मिक विकास हो वह सम्यग्ज्ञान और जिससे आत्मिक पतन हो वह असम्यक् अथवा मिथ्याज्ञान। अतः आध्यात्मिक शैली में सम्यग्दर्शन होने से पहले अधिक और स्पष्ट ज्ञान को भी मिथ्याज्ञान ही कहा है। सम्यग्दृष्टि थोड़ा ज्ञानी होने पर भी सत्य का खोजी और हठ रहित होने से अपनी भूल—कमी को सुधार लेने का उत्सुक रहता है और उसे सुधार भी लेता है। वह अपने थोड़े ज्ञान का प्रयोग आत्म विकास में ही करता है। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन के बिना जीव को अधिक और स्पष्ट ज्ञान होने से वह अपने हठ और घमंड से विशेष ज्ञानी के विचारों को तुच्छ समझता है, न उसे अपने में कोई त्रुटि प्रतीत होती है और वह अपने ज्ञान का प्रयोग भी सांसारिक विषय वासनाओं की सामग्री बढ़ाने में ही किया करता है।

नोट—सूत्र में 'ज्ञानम्' एक वचन यह बताता है कि ज्ञान गुण तो एक है किन्तु इसकी पर्याय के ५ भेद है उनमें से एक समय एक प्रकार का ज्ञान ही उपयोग रूप होता है।

तत्प्रमाणे ॥१०॥

शब्दार्थ—तत्=वह (सम्यग्ज्ञान)। प्रमाणे=दो प्रमाण ('प्रमाण' का द्विवचन)।

अर्थ—वह (ऊपर कहा हुआ पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान दो प्रकार का प्रमाण है अर्थात् सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है और वह दो प्रकार का है १ परोक्ष २ प्रत्यक्ष।

विशेष--सम्यग्ज्ञान से ही हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है मिथ्याज्ञान से नहीं, अतः सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।

मति, श्रुत, अवधि ज्ञानों को जो प्रमाण कहा है वह सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से है। सम्यग्दर्शन होने से पहले जीव को जो मति, श्रुत, अवधि ज्ञान होते हैं वे कुज्ञान ही हैं, अतएव वे प्रमाण नहीं कहला सकते। सम्यग्दर्शन के बाद ही ज्ञान में प्रमाणता आती है।

संतोष--आनंद, वीतरागता और अज्ञानका नाश सम्यग्ज्ञानका फल है- सर्वार्थपृ३४.

कुछ ने ज्ञान को, किन्हीं ने इंद्रियों को और किन्हीं ने सन्निकर्ष को प्रमाण माना है किंतु सर्वज्ञ-जैन धर्म में 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण कहा है।

ज्ञान में विषय-प्रतिबोध के साथ साथ यदि अपना स्वरूप भी प्रतिभासित हो तभी ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान में विषय-मात्र ही भासता है, वेदांत कहता है कि ज्ञानमय ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं अतः इतर पदार्थों का प्रतिभास उसमें कहां से आया ! जिसमें विषय का प्रतिभास न हो उसमें होगा ही क्या ? उसको ज्ञान कैसे कहें। इसी प्रकार जिस ज्ञानमें स्वबोध नहीं होता वह दूसरेका ही बोध कैसे करावेगा।

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

शब्दार्थ—आद्ये='आदि'का द्विवचन,पहले दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान। परोक्षम्=परोक्ष, अविशद,अक्ष के 'आत्मा' और 'इंद्रिय'दोनों अर्थ हैंकिंतु यहां ११वें १२ वें सूत्र में अक्ष के अर्थ, 'आत्मा' लिये है, पर + अक्ष,अक्ष-आत्मा से परे, अविशद। आत्मा के अतिरिक्त और भी दूसरे कारण जिस ज्ञान की उत्पत्ति में लगते हों वह परोक्ष ज्ञान है। यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष की तरह वास्तविक पदार्थों का ही होता है परंतु अन्य निमित्त-कारणों के अधीन होने से यह पूरा विशद नहीं हो पाता, यही इसकी परोक्षता है। इतर कारणों के उदाहरण-अनुमान जनित अग्निज्ञान के समय—धुआँ, इंद्रिय जन्य ज्ञानों में इंद्रियां। इद्रियों को उपात्त कारण और धुआं आदि को अनुपात्त कारण कहा है। जानने वाले के साथ से जुदे न रहने वाले का नाम उपात्त या मिलित अथवा संगृहीत कारण है,शरीर व आत्मा से जुदा रह कर ज्ञानोत्पत्ति में सहायता दे वह अनुपात्त या असंगृहीत कारण है।

अर्थ—पहले दो-मति ज्ञान और श्रुतज्ञान अविशद अथवा परोक्ष प्रमाण है।

विशेष—मन सहित जीवों के ज्ञान में इंद्रिय व मन की जरूरत तो होती ही है फिर भी अनुमान आदि कुछ ज्ञान ऐसे हैं कि वे मन व इंद्रियां सहायक होते हुए भी नहीं होते;उनमें इंद्रिय व मन के अतिरिक्त धुआँ आदि देखने की और भी जरूरत पड़ती है,ये ज्ञान अति पराधीन होने के कारण केवल परोक्ष कहे जाते हैं। और जो चाक्षुष आदि ज्ञान केवल मन व इद्रियों से ही उत्पन्न होते हैं वे भी वास्तविक या योगियों की दृष्टि से तो परोक्ष ही है,परंतु हम लोग उन्हें व्यवहार दशामें प्रत्यक्ष भी-सांव्यवहरिक प्रत्यक्ष कहते है।

अत्यंत स्पष्ट दिव्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। हमें इंद्रिय-जन्य ज्ञान के अतिरिक्त दिव्य ज्ञान का स्वप्न में भी अनुभव नहीं होता।

मतिज्ञान में प्रत्यक्ष जानना सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है,यह आध्यात्मिक शास्त्र में परोक्ष ही है, क्यों कि प्रथम तो वह इंद्रिय और मन की सहायता से होता है दूसरे वह पूर्ण रूपेण स्पष्टभी नहीं होता।

मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान के होने में मतिज्ञानावरण,श्रुत ज्ञानावरण तथा वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम अंतरंग कारण हैं।

मति श्रुत ज्ञान पर-पदार्थों के जानने में परोक्ष किंतु अपने आत्मा का अनुभव करने में प्रत्यक्ष भी है, क्योंकि आत्मा का अनुभव दर्शनमोहनीय के उपशम, क्षय वा क्षयोपशम से होता है। आत्म प्रत्यक्ष होने में दर्शन मोहनीय कर्म ही बाधक है बाधक का अभाव होने से उसका स्वयं प्रत्यक्ष हो जाता है,अतः बाधक के दूर होने पर यही दोनों ज्ञान प्रत्यक्ष भी है—लाटी संहिता पृ.१०६।

इस दोनों ज्ञानों के उपयोग में इंद्रिय और मन का निमित होता है इसलिए पर की

अपेक्षा इन्हें परोक्ष कहा है, स्व-अपेक्षा तो पांचों प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष है

प्रश्न-इस सूत्र में तो मति श्रुत ज्ञान को परोक्ष कहा है, फिर परोक्ष प्रत्यक्ष दोनों रूप क्यों कहते हो ?

उत्तर- सूत्र में आध्यात्मिक रूप से सामान्य कथन है,उन्ही को परोक्ष प्रत्यक्ष दोनों रूप कहना विशेष कथन है, सामान्य से विशेष बलवान होता है।

प्रत्यक्षमन्यत ॥१२॥

शब्दार्थ-प्रत्यक्ष=प्रत्यक्ष, विशद, स्पष्ट। अन्यत्=शेष, बाकी।

अर्थ—शेष अर्थात् अवधि,मनः पर्यय और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

विशेष—इन में से अवधि और मनः पर्यय मात्र रूपी पदार्थों की कुछ पर्यायों को जानने के कारण देश प्रत्यक्ष और केवल ज्ञान लोकालोक के त्रिकालवर्ती रूपी अरूपी सब पदार्थों की समस्त पर्यायों तथा गुणों को युगपत् जानने के कारण सकल प्रत्यक्ष कहलाता है।

मतिज्ञान

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

शब्दार्थ-इत्यनर्थान्तरम्=इति-इत्यादि+अन्-रहित+अर्थातरम्-अर्थ भेद=इत्यादि अर्थ भेद रहित।

अर्थ-मति,स्मृति, संज्ञा,चिंता,अभिनिबोध इनको आदि लेकर स्वसंवेदन् प्रतिभा,प्रज्ञा,बुद्धि: उपलब्धि के अर्थ में भेद नहीं है,यह सब मतिज्ञानके पर्यायवाची हैं अर्थात् मतिज्ञान ही हैं।

विशेष—मति, स्मृति आदि यह सब ही मतिज्ञानावरण कर्मकेक्षयोपशम से प्रकट होते हैं अतः इन सब का अंतरंग कारण एक ही होने से इन सब को पर्यायवाची कह दिया है किंतु वास्तव में इन सबके अर्थ भिन्न भिन्न है,पर्यायवाची का अर्थ यहाँ केवल यही है कि यह सब मति ज्ञान ही है।

मति-मन और इंद्रियों द्वारा वर्तमान काल संबधी पदार्थों को जानना मतिज्ञान है;इस को ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है।

स्मृति-पहले जाने हुए पदार्थों का वर्तमान में याद आना स्मृति मतिज्ञान है।

संज्ञा-किसी वस्तु को देखकर 'यह वही 'है अथवा 'वैसी ही है' इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़ रूप ज्ञान होना संज्ञा मतिज्ञान है, इसे प्रत्यभिज्ञान' भी कहते हैं।

स्मरण-स्मृति पहले धारणा रूप अनुभव-प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थ का ही होता है अतः

दो०—संज्ञा चिंता मति स्मृतिः, प्रतिभा अभिनिबोध।
बुद्धि उपलब्धी सभी, मतिः ज्ञान प्रतिबोध ॥६॥

स्मृति का निमित्त प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान में स्मरण और फिर प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है क्यों कि जिस पदार्थ को पहले देखा था उसी को फिर देखकर 'यह वही है अथवा वैसा ही है जिसे मैंने पहले देखा था', ऐसे ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

चिंता-चिंतवन-ऐसा चिंतवन-विचार कि जहाँ चिन्ह का अस्तित्व है वहां चिन्ह वाला अवश्य होता है चिंता मति ज्ञान है, इसी को ऊह, ऊहा, तर्क अथवा व्याप्ति भी कहते हैं। इसमें तीनों की अर्थात् मति-प्रत्यक्ष, स्मृति-स्मरण और संज्ञा-प्रत्यभिज्ञान की आवश्यकता होती है वह ऐसे—एक पहाड़ में धुवां दिखाई देता है, पहले धूम का प्रत्यक्ष हुआ सो प्रत्यक्ष, पीछे रसोई घर के धुएं का स्मरण हुआ सो स्मृति-स्मरण और फिर सादृश्य प्रत्यभिज्ञान हुआ कि यह धुआँ भी रसोई घर के धुएँ जैसा ही है। इसके बाद यह चिंतवन—विचार होता है कि जहांजहाँ धुआँ होगा वहां वहां अवश्य ही अग्नि होगी। इस चिंतवन—चिंता का नाम ही तर्क, व्याप्ति उह, उहा है।

अभिनिबोध—चिन्ह को देखकर चिन्ह वाले का, साधन से साध्य का, अथवा कारण से कार्य का निर्णय रूप ज्ञान अभिनिबोध मतिज्ञान है, इसीका दूसरा नाम मतिज्ञान अनुमान अथवा स्वार्थानुमान है, जैसे धुएं से अग्नि का अनुमान। यह तर्क के बाद होता है, इसमें तर्क तक के चारों कारणों की आवश्यकता होती है।

अनुमान दो प्रकार है १ मतिज्ञान अनुमान-स्वार्थानुमान २ श्रुतज्ञान अनुमान-परार्थ अनुमान। साधन देखकर अभयस्थ साध्य का स्वयं ज्ञान हो जाना अथवा चिन्ह आदि से स्वय पदार्थ का अनुमान मतिज्ञान अथवा स्वार्थ अनुमान है, दूसरे के हेतु तथा तर्क वाक्य से अनश्यस्थ साध्य का ज्ञान अथवा चिन्ह आदि से दूसरे पदार्थ का अनुमान श्रुत अनुमान या परार्थ अनुमान है।

बुद्धि, बोधन-मात्र, प्रतिभा, प्रज्ञा आदि हीन—अधिक सूचक मतिज्ञान के ही भेद हैं।

स्वसंवेदन—सुख दुख, क्रोधादि अंतरंग विषयों का ज्ञान स्वसंवेदन मतिज्ञान है।

नोटः—अंतचित्प्रकाश रूप स्वसंवेदन 'दर्शन' है। अनुभव रूप स्वसंवेदन सम्यग्दर्शन' है अनुभव-आत्मा का विचार ध्यान करते हुए जब मन स्थिर हो जावे, तब आत्म-रस—स्वादन से जो 'सुख'-आल्हाद—आनंद होता है उसे अनुभव या सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन तीनों स्वसंवेदन को भली प्रकार समझ कर एक को दूसरे में नहीं मिलाना चाहिए।

मतिज्ञान दो प्रकार १ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष २ परोक्ष (देखिए विशेष सूत्र ११)।

इन मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिंता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान इत्यादि (बुद्धि, प्रतिभा, प्रज्ञा, स्वसंवेदन) आदि मति ज्ञानों में से मति, बुद्धि, प्रतिभा, प्रज्ञा, स्वसंवेदन) तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं क्यों कि इनके होने में मन और इंद्रिय ही कारण हैं अर्थात् यह

उपात्त (मिलित, संगृहीत)कारण से ही हो जाते हैं। संज्ञा(प्रत्यभिज्ञान) चिंता(तर्क), और अभिनिवोध (अनुमान) यह परोक्ष क्यों कि इनके होने में मन व इंद्रियों के अतिरिक्त अन्य वाह्य कारण (अनुपात्त अर्थात् असंगृहीत कारण) भी आवश्यक हैं।

मति ज्ञान के साधन तथा भेद

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

शब्दार्थ-तत्=वह(मतिज्ञान)। इंद्रिय=इंद्र-परम ऐश्वर्य रूप आत्मा+इय-ज्ञान कराने वाला=आत्माका ज्ञान कराने वाले स्पर्शन आदिक चिन्ह। अन् इंद्रिय=मन। निमित्तम्=कारण।

अर्थ—वह मतिज्ञान पांचों इंद्रिय और मन के निमित्त से होता है।

विशेष—जैसे नेत्र-दृष्टिमें विकार होने से चश्मे के सहारे की आवश्यकता होती है वैसे ही आत्मा की चेतना शक्ति को पराधीनता (कर्मों से ढकी होने) के कारण बाहरी सहारे की आवश्यकता पड़ती है। वह बाहरी सहारा इंद्रियांऔर मन हैं। यहां पर केवल सांव्यवहारिक मति ज्ञान से ही तात्पर्य है।

मति ज्ञान की उत्पत्ति के छः साधन—कारण होने से इसके १ स्पार्शन २ रासन ३ घ्राणज ४ चाक्षुष ५ श्रावण और ६ मानस मतिज्ञान यह छः भेद हो जाते हैं।

यहां प्रश्न—मतिज्ञान के साधन इंद्रिय और मन तो कहे,प्रकाश और पदार्थ को भी क्यों नहीं कहा?

उत्तर=(क) उल्लू, बिल्ली आदि जानवर अंधेरे में ही भले प्रकार देखते जानते हैं, दूसरे प्रकाश को ज्ञान का कारण मानने वाले को रात्रि में कुछ भी ज्ञान नहीं होगा वह यह भी न कह सकेगा कि यहां अंधकार है अतः प्रकाश को ज्ञान का कारण नहीं कहा,

(ख) यदि पदार्थ को ज्ञान का कारण मानें तो मौजूदा पदार्थों का ही ज्ञान होगा, जो उत्पन्न नहीं हुए हैं अथवा जो नष्ट हो गए हैं उनका ज्ञान नहीं होगा क्योंकि जो है ही नहीं वह कारण कैसे हो सकता है।

जिन पदार्थों में अन्वय व्यतिरेक होता है उन्ही में कारण कार्य का विधान लग सकता है। कारण के होने पर कार्य के होने को अन्वय और कारण के अभाव में कार्य के अभाव को व्यतिरेक कहते हैं!

प्रकाश-उल्लू पक्षी को प्रकाश के होने पर ज्ञान नहीं होता और प्रकाश के न होने पर भी रात्रि में होता है,

पदार्थ-केश(बाल) के होते हुए केश का ज्ञान नहीं होता और मच्छर के अभाव में भी मच्छर का ज्ञान होता है!

इस प्रकार ज्ञान का प्रकाश तथा पदार्थ के साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं बनता अपितु उलटी ही बात पड़ती है,इससे सिद्ध होता है कि प्रकाश और पदार्थ ज्ञानके साधन-कारण नहीं है।

मतिज्ञान की उत्पति में इंद्रिय और मन को पर-द्रव्यों के ज्ञान की अपेक्षा निमित्त कहा है। आत्म-अनुभव में मन और इंद्रिय निमित्त नहीं है,क्योंकि इंद्रिय तो स्पर्श रस गंध वर्ण को जनावने में निमित्त है, आत्मा में स्पर्श आदि हैं नहीं अतः स्व अनुभव मे इंद्रिय निमित्त नहीं है। मन विकल्पों में निमित्त होता है, आत्म-स्वानुभव में कोई विकल्प नहीं, अत:आत्मानुभव में मन भी निमित्त नहीं है,हां आत्म-अनुभव भाव मन (आत्मा)स पेक्ष अवश्य है अर्थात् आत्मानुभव सैनी पंचेंद्री के ही हो सकता है।

मतिज्ञान के क्रम अपेक्षा भेद

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

अर्थ—मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह क्रम अपेक्षा ४ भेद हैं।

विशेष—पदार्थ की महासत्ता (सामान्य अर्थात् आत्मा) मात्र अवलोकन को दर्शन कहते हैं विषय-पदार्थ और विषयी आत्मा का संबंध दर्शन है।

दर्शन के अनंतर जो सर्व प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है (ध.९ पृ.१४४) जैसे किसी धनेंद्र बालक को मात्र अवलोकन के पश्चात् यह जानना कि यह छोटा आदमी सा 'कोई बालक है' अवग्रह है।

किसी विषय-वस्तु का प्रथम ही विशेष ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रथम समय में जीव का किसी वस्तुकी तरफ लक्ष जाता है उस समय जीव में एक साधारण परिणाम उत्पन्न होता है, उस परिणाम को दर्शन कहते हैं। विशेष, आकृति, विकल्प, विशेषण शब्दों का एक ही अर्थ है। विशेषण, विशेष, आकृति से जो उलटा हो उसे साधारण,निर्विकल्प अथवा सामान्य कहते हैं। वस्तु-पदार्थ का प्रथम समय में होनेवाला दर्शन केवल साधारण स्वरूप को पकड़ता है अतः उसे निर्विकल्प ज्ञान कहना भी ठीक ही है। परंतु जैन सिद्धांत में ऐसा माना है कि जब तक पदार्थ का विशेष आकार कुछ भी न भासाहो तबतक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, विशेष आकार का भासना ही ज्ञान कहलाता है। इसीलिए ज्ञान को साकार और दर्शन को निराकार कहा है। जिसका आकार कहा या ठहराया न जा सके वही सामान्य होता है, सामान्य को विषय करने वाली चेतना (दर्शन) भी निराकर होती है।

दोहा—मितः ज्ञान के निमित्त हैं, मन अरु इंद्रिय पाँच।
अवग्रह ईहावाए क्रम, भेद धारणा साँच ॥१०॥

दर्शन हो जाने पर दूसरा समय लगते ही चेतना में कुछ विशेषाकार भासने लगता है बस यही प्रथम होने वाला ज्ञान है। जैन सिद्धांत में इस प्रथम ज्ञान को अवग्रह कहा है।

अवग्रह से जाने हुये पदार्थ के विषय में उत्पन्न हुए संशय को दूर करते हुए अभिलाप रूप ज्ञान को 'ईहा' कहते हैं; जैसे 'यह बालक है' इस प्रकार अवग्रह रूप जाने हुए ज्ञान के अनंतर 'यह तो धनेंद्र होना चाहिए' इस रूप ज्ञान। अवग्रह के द्वितीय समय में संशय व तीसरे समय में ईहा होती है (तत्वार्थ सार अधि.१)।

ईहा से जाने हुए पदार्थ में यह वही है अन्य नहीं है, ऐसे दृढ़ ज्ञान को अवाय कहते हैं, जैसे यह धनेन्द्र ही है और कोई नहीं है। अवायसे जाने हुए पदार्थ में संशयनहीं रहता।

जिन ज्ञानसे जाने हुए पदार्थ का कालांतरमें विस्मरण-भूलना न हो उसे धारणा कहते हैं।

अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थ में विशेष की आकांक्षारूप ज्ञान को 'ईहा', निर्णयात्मक ज्ञान को 'अवाय' और कालांतर में न भूलनेके कारण संस्कार-आत्मक ज्ञान को 'धारणा' कहते हैं (जयध १ पृ.१५)।

राजवार्तिक अध्या १ पृ३०३ पर बताया है कि ईहा, अवाय और धारणा रूप मतिज्ञान मन आश्रय बिना नहीं होते, किंतु श्लोक वार्तिक में कहा है कि यह तीनों असैंनी के भी सामान्य रूप से होते हैं, शिक्षा, क्रिया, आलाप आदि में सहायक होने वाले नहीं होते।

इन सब की उत्पत्ति का क्रम भी यही है अर्थात् सब से पहले दर्शन, फिर अवग्रह, फिर ईहा, फिर अवाय और फिर धारणा रूप ज्ञान होता है।

स्पार्शन आदि छः प्रकार के मतिज्ञान के एक एक के अलग अलग अवग्रह आदि भेद होने से मतिज्ञान ६×४=२४ प्रकार का हो जाता है। यह अवग्रह, ईहा आदि सांव्यवहारिक मतिज्ञान के ही भेद हैं और स्मृति से पहले पहले ही होने वाले हैं।

अवग्रहादि ज्ञान के विषयभूत पदार्थों के भेद

बहुबहुविध क्षिप्रानिःसृतानुक्त ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

शब्दार्थ—बहु=बहुत, एकजाति—भाँति की परिणाम अथवा संख्या में बहुत या अनेक वस्तु। बहुविध=बहुत-अनेक प्रकार। क्षिप्र=शीघ्रगामी पदार्थ। अनिःसृत=नहीं निकला, छिपा हुआ। अनुक्त=बिना कहा। ध्रुव=स्थिर, अचल। सेतराणां=उलटों का।

अर्थ—१ बहुत, अनेक २ बहुत प्रकार ३ क्षिप्र ४ अनिःसृत ५ अनुक्त ६ ध्रुव और इन से

दो:—बहु बहु विध अनिःसृत क्षिप्र, अनुक्त ध्रुव विपरीत।
अवग्रह ईहा आदि मति, ज्ञान होय हे मीत ॥२१॥

उलटे ७ अल्प, एक ८ एक प्रकार ९ अक्षिप्र १० निसृत ११ उक्त १२ अध्रुव इन बारह रूप पदार्थों का अवग्रह, ईहा आदि मति ज्ञान होता है।

विशेष—एक साथ बहुत अथवा अनेक का अवग्रह आदि रूप ग्रहण बहुग्राही अवग्रह आदि हैं। इनका उलटा अल्प अथवा एक पदार्थ का अवग्रह आदि रूप जानना अल्प अथवा एक ग्राही अवग्रह आदि है। 'बहु' शब्द परिमाण तथा संख्या दोनों प्रकट करता है।

बहुत—अनेक प्रकार (जाति रूप-रंग,आकार आदि से) के पदार्थों का अवग्रह आदि रूप ग्रहण बहुविधग्राही अवग्रह आदि है। इसका उलटा एक प्रकार के पदार्थों का अवग्रह आदि रूप जानना एक विधग्राही अवग्रह आदि हैं। यहाँ 'बहु' शब्द केवल संख्यावाचक है।

शीघ्रगामी पदार्थ का—जैसे तेजी से बहते पानी का अवग्रह आदि रूप जानना क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि है। इसका उलटा मंद पदार्थ-चलतेकछुए आदि का अवग्रह आदि होना अक्षिप्र-ग्राही अवग्रह आदि हैं।

नोट—शीघ्रता से पदार्थ का अवग्रह आदि होना भी क्षिप्रग्राही आदि है। इसका उलटा देरी से पदार्थ का अवग्रह आदि होना भी अक्षिप्रग्राही अवग्रह आदि है। किंतु केवल शीघ्र ग्रहण और मंद ग्रहण की अपेक्षा यह भेद नहीं हैं क्योंकि उक्त अवग्रहों के इस प्रकार मानने पर बारह प्रकार के पदार्थों का ग्रहण नहीं बनता (जय ध.१पृ.१५)।

वस्तु के एक देश को देखकर समस्त वस्तु का ग्रहण जैसे जल में डूबे हाथी की सूंड को देख उसी समय जलमग्न हाथी का ज्ञान, अथवा एक वस्तु के निमित्त से किसी दूसरी वस्तु का ग्रहण; जैसे सुन्दर मुख को देख उससे भिन्न चंद्रमा का ज्ञान अनिसृत अवग्रह आदि है (गो.जी.गा. ३११–१२। प्रकट पदार्थ का अवग्रह आदिरूप ज्ञान निःसृत अवग्रह आदि है।

बिना कहे हुए (अभिप्राय,इशारे आदि से) अथवा कुछ कहे हुए पदार्थ का अवग्रह आदि रूप ग्रहण अनुक्त अवग्रह आदि है। साफ पूर्ण रूप से कहे हुए पदार्थ का अवग्रह आदि रूप ज्ञान उक्त अवग्रह आदि है।

स्थिर पदार्थों जैसे पहाड़ आदि का अवग्रह आदि ध्रुव अवग्रह आदि है। अस्थिर पदार्थों-बिजली की चमक आदि का अवग्रह आदि अध्रुव अवग्रह आदि हैं।

सूत्र में बहु बहुविध आदि पहले कहे हुए मतिज्ञानावरण कर्मकेक्षयोपशम की अधिकता से उत्पन्न होते हैं, और एक, एकविध आदि मतिज्ञानावरण कर्मके थोड़े क्षयोपशम से, इस लिए इनका बाद में 'सेतराणां शब्द से कथन किया गया है। बहु बहुविध, आदि एक एक विध आदि से प्रधान होने के कारण भी पहले कहे हैं (सर्वार्थसिद्धि)।

सूत्र १४, १५ में बताए हुए मतिज्ञान के २४ भेदों में इन १२ का गुणा करने से २४+१२=२८८ मतिज्ञान के भेद हो जाते हैं।

अर्थस्य ॥१७॥

शब्दार्थ—अर्थस्य=वस्तु के, ज्ञेय पदार्थ के।

अर्थ--ऊपर कहे हुए बहु आदि भेद वस्तु अर्थात् ज्ञेय पदार्थ के हैं।

विशेष—कुछ दार्शनिक चाक्षुष आदि ज्ञान रूपादि गुणों का ही मानते हैं द्रव्य का नहीं,इस मान्यता का खंडन करके यथार्थता प्रकट करने के लिए ही श्री आचार्य ने यह सूत्र रचा है।

स्पार्शन, अवग्रह, बहु आदिक मतिज्ञान द्रव्य-ज्ञेय पदार्थ का होता है अर्थात् मतिज्ञान का विषय द्रव्य—ज्ञेय पदार्थ है। यहां प्रश्न होता है कि मतिज्ञान द्रव्य रूप वस्तु को ग्रहण करता है अथवा पर्याय रूप वस्तु को?

उत्तर-स्पार्शन, अवग्रह, बहु आदिक मतिज्ञान मुख्यतया पर्याय को विषय करते है! द्रव्य को तो यह पर्याय द्वारा ही जानते हैं क्योंकि इंद्रिय और मन का मुख्य विषय पर्याय ही है। पर्याय द्रव्य का ही अंश है, द्रव्य को छोड़ पर्याय नहीं रहती और द्रव्य भी कभी पर्याय रहित नहीं होता। अतः अवग्रह आदि द्वारा जब मन या इंद्रिय अपने अपने विषय-भूत पर्याय को जानते है तब वे उस उस पर्याय रूप से अंशतः द्रव्य को ही जान लेते हैं,जैसे नेत्र का विषय रूप और आकार है तथा रूप और आकार पुद्गल द्रव्य की ही पर्याय हैं-पुद्गल से कोई भिन्न चीजें नहीं हैं। पर्याय, गुणविकार (परिणमन) का ही नाम है और गुणों के समूह को द्रव्य कहते है।

अवग्रह ज्ञान में विशेषता

व्यंजनस्यावग्रहः ॥१८॥

शब्दार्थ—व्यंजन=अव्यक्त, अप्रकट; व्यंजनस्य=अप्रकट पदार्थों का।

अर्थ—अप्रकट अथवा अव्यक्त शब्द, स्पर्श, रस,गंध आदि पदार्थो का मात्र अवग्रह मति-ज्ञान होता है, ईहा आदि नहीं।

विशेष-वह पदार्थ जिनका बोध (जानना) इंद्रियों से भिडकर हो ग्राह्य अथवा प्राप्य-कारी पदार्थ कहलाते हैं, जैसे 'शब्द' कान के पर्दे से लगकर, 'स्पर्श' शरीर से छूकर, 'रस' जीभ पर लगकर और 'गंध' नाक में लगकर ही जाने जाते हैं अतः शब्द, स्पर्श आदि ग्राह्य अथवा प्राप्यकारी पदार्थ है वह जिनका बोध इंद्रियोंसे बिना भिड़े हो अग्राह्य अथवा अप्राप्य-कारी पदार्थ हैं जैसे आंख और मन के विषय।

दोहा—बहु आदिक जो भेद हैं, अर्थ-द्रव्य के साथ।
प्राप्यकारी अप्रकट अर्थ,—ही व्यंजन कहे होय ॥१२॥

इंद्रियों से बद्ध होने पर भी अर्थात् प्राप्यकारी पदार्थ जब तक प्रकट न हो तब तक उसे 'व्यंजन' कहते हैं और प्रकट होने पर 'अर्थ' कहते हैं (गो.जी.गा. ३०६)। जिस प्रकार जल की दो तीन बूंद से सींचा हुआ मिट्टी का नया शकोरा गीला नहीं होता, बार बार सींचा हुआ धीरे धीरे गीला होता है इसी प्रकार कान, नाक, जीभ स्पर्शन में शब्द गंध रस स्पर्श रूप हुए पुद्गल-स्कंध दो तीन आदि समयों में ग्रहण किये हुए प्रकट नहीं होते, बार बार ग्रहण करने पर ही प्रकट होते हैं। अतः कान आदिक् के द्वारा प्रथम अव्यक्त अर्थात् प्रकट होने से पहले पहले शब्द आदिक् का ग्रहण व्यंजनअवग्रह है और पीछे वही प्रकट रूप से ग्रहण होने पर अर्थावग्रह। यही कारण है कि अप्रकट के ग्रहण से ईहा, अवाय, धारणा नहीं होते (सर्वार्थसिद्धि)।

यद्यपि अवग्रह आदि ज्ञान क्रम से होते हैं तथापि यह आवश्यक नहीं कि अवग्रह हुए पीछे ईहा आदि होवें ही, अथवा ईहा हुए पीछे अवाय आदि होवें ही इत्यादि।

चक्षु और मन अप्राप्त अर्थ को ही जानते हैं, शेष चार इंद्रियां प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकार के पदार्थों को जान सकती हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत इंद्रियां प्राप्त अर्थ को जानती हैं, यह तो स्पष्ट है, पर युक्ति से उनके द्वारा अप्राप्त अर्थ का जानना भी सिद्ध हो जाता है। पृथ्वी में जिस ओर निधि (जल) पाई जाती है, एकेंद्रियों में वनस्पतिकायिक जीवों का उस ओर जड़ों का छोड़ना देखा जाता है. इत्यादि हेतुओं से जाना जाता है कि स्पर्शन आदि चार इंद्रियों में भी अप्राप्त अर्थ के जानने की शक्ति रहती है (जयध.१ पृ.१५), कौन नहीं जानता कि 'नींबू' शब्द सुनने मात्र से जीभ खट्टा स्वाद अनुभव करके पानी देने लगती है?

इस सूत्र से यह सिद्ध हुआ कि अवग्रह, ईहा आदि में से मात्र अवग्रह दो तरह का होता है १ व्यंजनावग्रह अप्रकट अथवा अव्यक्त पदार्थों का ग्रहण २ अर्थावग्रह-प्रकट अथवा व्यक्त पदार्थों का ग्रहण/जानना।

पहले व्यंजनावग्रह पीछे अर्थावग्रह इस क्रम से होते हैं (गो.जी.गा.३०६)। ऊपर यह भले प्रकार बताया जा चुका है कि अप्राप्त पदार्थों को और प्रकट होने पर प्राप्य पदार्थों को भी व्यक्त-प्रकट पदार्थ अथवा अर्थ कहते हैं किंतु केवल प्राप्य पदार्थों का और वह भी प्रकट होने से पहले पहले ही अव्यक्त-अप्रकट पदार्थ अथवा व्यंजन।

व्यंजनावग्रह किस से नहीं होता?

नचक्षुरनिंद्रियाभ्याम ॥१९॥

दोहा—व्यंजन रस शब्द आदि का, केवल अवग्रह होय।
नेत्र अरु मन से सो नहीं, उमास्वामि कहँ सोय ॥१३॥

शब्दार्थ—चक्षु:+अनिन्द्रियाभ्याम्=नेत्र और मन दो से ।

अर्थ—व्यंजनावग्रह नेत्र और मन दो से नहीं होता, शेष इंद्रियों से ही होता है ।

विशेष—नेत्र और मन अप्राप्यकारी-अप्राप्त अर्थ को ही ग्रहण करते हैं प्राप्त-अर्थ को नहीं । आँख में लगे हुए अंजन तथा उसमें गिरे हुए तिनके को आँख नहीं देख सकतीं, हाँ, उन्हीं को दर्पण द्वारा दूर करके देख लेती है अतः व्यंजनावग्रह स्पार्शन, रासन, घ्राणज और श्रावण चार ही प्रकार का रहा ।

मतिज्ञान के ३३६ भेद-

२ अर्थ के-- ५ इंद्रिय+ १ मन=६ से× अवग्रहादि ४× बहु आदि १२=२८८

१ व्यंजन के--इंद्रिय ४ से × मात्र अवगृह १ × बहु आदि १२=४८

जोड़ =३३६

श्रुत ज्ञान, उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक द्वादश भेदम् ॥२०॥

शब्दार्थ--श्रुतं=श्रुत ज्ञान । पूर्व=पूर्वक, सहित, निमित्त से, पहले, उत्पन्न । द्व्यनेक=द्वि+अनेक=दो और अनेक । द्वादश=बारह ।

अर्थ--श्रुत ज्ञान मति ज्ञान पूर्वक अथवा सहित या मतिज्ञान के निमित से या मतिज्ञान के पश्चात् या मतिज्ञान से उत्पन्न होता है । उसके दो, अनेक तथा १२ भेद हैं ।

विशेष--व्याकरण अनुसार 'श्रुत' शब्द का अर्थ सुनना है तो भी यहाँ रूढ़ी से 'श्रुत' एक ज्ञान का नाम है । जैसे 'कुशल' शब्द का अर्थ कुश+ल=दूबका काटना है फिर भी रूढ़ी से 'कुशल' बहुत चतुर पुरुष के अर्थ मे प्रयोग होता है ।

श्रुत ज्ञान का सामान्य लक्षण यद्यपि शब्द जनित अर्थ-ज्ञान या अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान है फिर भी 'श्रुत' शब्द द्वादशांग आगमों में रूढ है । यहां आचार्य श्री ने 'श्रुत' शब्द के द्वादशांग आगमों के अर्थ लेकर ही श्रुतज्ञान के दो, अनेक, बारह भेद किए हैं । यह द्वादशांग आगमों के अर्थ में रूढ श्रुत ज्ञान १ अगंबाह्य और २ अगं प्रविष्ट के भेद से दो प्रकारका है । इनमें से अगंबाह्य श्रुतज्ञान अनेक प्रकार का और अंगप्रविष्ट १२ प्रकार

अंग बाह्य के अनेक भेदों में १४ प्रकीर्णक १ सामायिक २ चतुर्विंश-स्तव ३ वंदना ४ प्रतिक्रमन ५ वैनयिक ६ कृतिकर्म ७ दशवैकालिक ८ उत्तराध्ययन ९ कल्पव्यवहार

दोहा—मति:ज्ञान के निमित से, होता है श्रुत ज्ञान ।
अँग बहि अंतर भेद दो, अनेक अरु बारह जान ॥१४॥

१० कल्याकल्प ११ महाकल्प १२ पुंडरीक १३ महापुंडरीक १४ निषिद्धिका तथा गणधरों के शिष्य परशिष्य और अन्य अन्य पीछे होने वाले आचार्यों से रचे हुए आगम रूप अनेक शास्त्र है। यह सब अंगबाह्य अर्थात् १२अंगों से बाहर के किंतु अंगों के अभिप्रायानुसार हैं। ऊपर वर्णित १४ प्रकीर्णक भी गणधरों,उनके शिष्य परशिष्यों तथा अन्त पीछे होने वाले आचार्यों द्वारा ही रचे हुए है।

अंग प्रविष्ट-गणधर द्वारा रचित-ग्रथित द्वादशांग है। इसके १२ भेद रूप १२ अंग निम्न प्रकार हैं-१ आचारांग २ सूत्रकृतांग ३ स्थानांग ४ समवायांग ५ व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग ६ ज्ञातृधर्म का थांग ७ उपासका ध्ययनांग ८ अंतकृद्दांग ९ अनुत्तरौप पादिकदशांग १० प्रश्न व्याकरणांग ११ विपाक सूत्रांग और १२ दृष्टि प्रवाद अंग।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण है अर्थात मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य, पर मतिज्ञान श्रुतज्ञान का बहिरंग कारण है (किंतु यह बहिरंग कारण इतना जबरदस्ती है कि यदि यह न हो तो श्रुतज्ञान हो नहीं सकता) इसका अंतरंग कारण तो श्रुत ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि तत्संबधी श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं हो सकता, जैसे मनुष्य को देखने पर 'यह मनुष्य है' यह ज्ञान तो मतिज्ञान है किंतु जब तक वैसा श्रुत ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न होगा तब तक मनुष्य के पुद्गल शरीर और आत्मा को भिन्न भिन्न जानना नहीं बनेगा।

मतिज्ञान वर्तमान विषय में प्रवृत्त होता है किंतु श्रुतज्ञान भूत भविष्यत वर्तमान तीनों काल संबंधी विषयो में। मतिज्ञान में शब्द-उल्लेख नहीं होता, श्रुत ज्ञान में होता है। यद्यपि यह दोनों ज्ञान इंद्रिय और मन की अपेक्षा रखने में समान है फिर भी मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान का विषय अधिक है क्योंकि श्रुतज्ञान में मनोव्यापार कीप्रधानता होने से विचारांश अधिक होता है।

मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ से भिन्न पदार्थ का ज्ञान कराने वाला ज्ञान 'श्रुतज्ञान' है, जैसे किसी ने 'पुस्तक' शब्द सुना सो तो मतिज्ञान और उससे पुस्तक पदार्थ का ज्ञान सो श्रुतज्ञान है। इस प्रकार का अर्थ से अर्थांतर का श्रुतज्ञान तो सब ही संसारी जीवों के होता है। यह श्रुतज्ञान १ लिंगजन्य२शब्द जन्य के भेद से दोप्रकार का है। एकेंद्रिय से चौइंद्रिय जीवों तक केवल लिंगजन्य श्रुतज्ञान ही होता है। शब्द जन्य दो प्रकार १ अक्षरात्मक। पंचेंद्रिय संनी असंनी के लिंगजन्य और शब्द जन्य दोनों प्रकार का ही श्रुतज्ञान हो सकता है।

नोट—शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक संबध है, शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य; ऐसे शब्द का जानना सो मति-ज्ञान और उसके निमित्त से पदार्थ का अस्तित्व जानना सो श्रुत-

ज्ञान है। अक्षरात्मक 'शब्द' को भी अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहा, यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया है, निश्चय से ज्ञान अक्षर रूप नहीं है (गो.जी.गा.३१४ का अर्थ बड़ी टीका)।

श्रुत ज्ञान के मुख्य दो भेद है १ भावश्रुत २ द्रव्य श्रुत। भगवान की दिव्य वाणी, शास्त्र तथा उपदेश द्वारा जो ज्ञान होता है सो भावश्रुत है, ग्रंथों अथवा शास्त्रों में ग्रथित जो ज्ञान है सो द्रव्यश्रुत।

भाव श्रुत=आत्म अनुभूति, द्रव्यश्रुत=द्वादशांग वाणी। अनुभूति ज्ञान है और द्रव्य श्रुत से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी ज्ञान है, द्रव्यश्रुत के ज्ञान से जीवादि छः द्रव्यों के स्वभावों का ज्ञान होता है और उससे अनादि काल से मिले हुए चेतन और अचेतन पदार्थों का पृथक करण किया जा सकता है,। इस पृथक-करण के बाद ही शुद्ध आत्म-तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है अतः भावश्रुत रूप साध्य की प्राप्ति केलिए द्रव्यश्रुत साधक है।(सम सार गा.९.१० का भावार्थ)।

सूत्र में जो दो आदि भेद किए है वह मुख्यतया द्रव्य श्रुत के है, यहाँ मतिज्ञान निमि कारणकी अपेक्षासे आचार्यवर्यने द्रव्य श्रुत का ही कथन किया है, इसका दूसरा कार यह भी है कि श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका और द्रव्यश्रुत का अन्योन्य संबंध क्षयोपशम के अनुसार होनेवालेश्रुत ज्ञान को ध्यानमें रखकर ही द्रव्य श्रुत कावभाग कि गया है।

श्रुतज्ञान की महिमा—ज्ञान की अपेक्षा श्रुत ज्ञान और केवल ज्ञान दोनों समान परंतु अंतर मात्र इतना है कि श्रुत ज्ञान परोक्ष है और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष (गो.जी.गा.३६८) अतः श्रुत ज्ञान का अथवा सद् शास्त्रोंकी स्वाध्यायका निरंतर अभ्यास करते रहना चाहि

नोट—चूंकि 'अनेक' शब्द बहुत का द्योतक है अतः इस'अनेक' शब्द में लिंगजन्य श्रुत ज्ञान भी गर्भित हैं (धवला) ?।

अवधिज्ञान

[क] भव प्रत्यय अवधिज्ञान के स्वामी

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

शब्दार्थ—प्रत्यय=कारण। भवप्रत्यय=जिस का कारण भव हो। अवधिः=अवधिज्ञा देवनारकाणाम्=देवों और नारकियों के।

अर्थ-भवप्रत्यय अवधि ज्ञान देवों और नारकियों के होता है।

[ख] क्षयोपशमिक, अवधिज्ञान के भेद, उनके स्वामी

... निमित्तः षड् विकल्पः शेषाणाम ॥२२॥

षड्विकल्पः=छः प्रकार। शेषाणाम्=शेष अर्थात् मनुष्यों और तिर्यञ्चों के।

अर्थ—क्षयोपशमिक अवधिज्ञान छः प्रकार का है १ अनुगामी २ अननुगामी ३ वर्द्धमान ४ हीयमान ५ अवस्थित ६ अनवस्थित। यह मनुष्यों और तिर्यंचों के होता है।

विशेष—इंद्रिय,मन आदि किसी सहारे के बिना जो रूपी पदार्थों का आत्मा के द्वारा साक्षात ज्ञान हो वह अवधिज्ञान है। महास्कंधसे लेकर परमाणु तक समस्त पुद्गल द्रव्योंको, असंख्यात लोक प्रमाण क्षेत्र,काल,और भावों को तथा कर्म के संबंध सेपुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं (जय ध.१पृ.४३)।

अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है १ भवप्रत्यय २ क्षयोपशमिक।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान—जो ज्ञान किसी विशेष भव—गति में जन्म लेते ही प्रकट हो अर्थात् जिसके प्रकट होने में तप व्रत् नियमआदि की अपेक्षा न हो। अवधिज्ञानावरणीय तथा वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम तो भवप्रत्यय अवधि में भी रहता ही है किंतु इतना विशेष है कि वह क्षयोपशम नरक तथा देवगति में उत्पन्न होते ही होजाता है। यह ज्ञान सपूर्ण अंग से उत्पन्न होता है (गो.जी.गा३७०) इसी गाथा में तीर्थंकरों के अवधिज्ञानको भी भवप्रत्यय अवधि ही कहा है।

क्षयोपशमिक (गुण प्रत्यय) अवधिज्ञान—जो ज्ञान किसी भव विशेष की अपेक्षा न रखते हुए अवधिज्ञानावरणीय और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से हो। यह ज्ञान नाभि के ऊपर शंख, पद्म स्वस्तिक आदि शुभ चिन्हों युत आत्म-प्रदेशों में तप, व्रत, नियम आदि गुणों के अनुष्ठान से स्फुरायमान होता है। इसलिए इसका नाम गुण प्रत्यय अवधिज्ञान भी है। यह पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पचेंद्रिय तिर्यंचों के होता है

भव प्रत्यय अवधिज्ञान में भी सम्यग्दर्शन आदि गुणों का सद्भाव है तथापि उन गुणों की अपेक्षा नहीं करनेसे भवप्रत्यय कहलाता है और गुणप्रत्यय में मनुष्यातिर्यंच भवका सद्भाव है तथापि इन पर्यायों की अपेक्षा नहीं करने से गुणप्रत्यय कहा है।

इस (गुणप्रत्यय) के छः भेद हैं—

१ अनुगामी—जो अवधिज्ञान क्षयोपशम बने रहने से मनुष्य का साथ बहुत समय तक न छोड़े, दूसरे भव या क्षेत्र में भी उसके साथ—साथ जावे।

२ अननुगामी-जो उत्पन्न होकर जल्दी ही छूट जावे।

३ वर्द्धमान—जो अवधिज्ञान केवल ज्ञान होनेतक शुक्लपक्ष के चंद्रमा की तरह बढ़ता रहे

दो०—भव प्रत्यय जो अवधि है, देव नारकहिं होय।
छः विध क्षयोपशमिक से, नर तिर्यंचहि सोय ॥१५॥

४ हीयमान—जो कृष्ण पक्ष के चंद्रमा की तरह घटता रहे,

५ अवस्थित—जो अवधिज्ञान एकसा रहे,न घटे न बढ़े,केवलज्ञान होने तक एकसाबना रहे,

६ अनवस्थित—जो अवधिज्ञान घटता बढ़ता रहे ।

जय धवला १ पृ.१८ पर गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के उपरोक्त६ भेदों के अतिरिक्त ७ एक क्षेत्र ८ अनेक क्षेत्र ९ प्रतिपाती १० अप्रतिपाती और भी भेद कहे हैं। परन्तु इन चारों का समावेश ऊपर के छः भेदों में ही हो जाता है, एक क्षेत्र-अननुगामी मे, अनेक क्षेत्र-अनुगामी में,प्रतिपाती-अननुगामी हीयमान और अनवस्थित में, अप्रतिपाती—अवस्थित वर्द्धमान और अनुगामो में ।

यहाँ प्रश्न यह है कि जब सब हो अवधिज्ञान वाले देहधारी हैं तब ऐसी क्या बात है कि किसी (देव नारकी) को तो यह बिना प्रयत्न जन्म से ही प्राप्त हो जाता है और किसी (नर-तिर्यंच] को इसके लिए विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं ?

उत्तर—सब कोई जानते हैं कि कबूतर आदि पक्षियों में जन्म लेने से ही नभ में उड़ने की तथा मछलो में तैरने की शक्ति होती है किंतु मनुष्य विमान आदि के सहारे बिना आकाश में तथा अभ्यास के बिना पानी में गमन नहीं कर सकता । कितनों में ही काव्य शक्ति जन्म सिद्ध होती है और बहुतों में तो यह प्रयत्न से भी नहीं आतो । यह सब स्वभाव विचित्रता का कारण है, स्वभाव में तर्क नहीं चलता ।

आशंका-केवल ज्ञान के अतिरिक्त शेष चारों ज्ञान सावधि-मर्यादा सहित हैं, इसलिए मात्र अवधिज्ञान का लक्षण सावधि करने पर इस लक्षण के मति-ज्ञान आदि शेष तीन ज्ञानों में चले जाने से अतिव्याप्ति दोष आता है [जय ध.१पृ.१६] ।

समा.—यद्यपि मतिज्ञान आदि चार ज्ञान सावधि हैं फिर भी रूढ़ी वश 'अवधि' शब्द का प्रयोग द्रव्य क्षेत्र काल भाव का आश्रय लेकर मूर्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान विशेष में हो किया है [गो.जी.पृ.१४१] । अतः अतिव्याप्ति दोष नही आता।

आशंका—अवधिज्ञान में, 'अवधि' शब्द का प्रयोग किस लिए किया है ?

समा:—'इससे नीचे के सभी ज्ञान सावधि हैं और ऊपर का केवल ज्ञान निरवधि,' इस बात का ज्ञान कराने के लिए अवधिज्ञान में 'अवधि' शब्द का प्रयोग है । यदि कहा जाय कि इस प्रकार कहने पर मनः पर्यय ज्ञान से व्यभिचार-दोष आता है, सो भी बात नहीं है क्योंकि मनःपर्ययज्ञान भो अवधिज्ञान से अल्प विषय वाला है, इसलिए विषय की अपेक्षा उसे अवधिज्ञान से नीचे का माना है । फिर भी संयम के साथ रहने के कारण मनःपर्यय ज्ञान में जो विशेषता आतो है उसे दिखाने के लिए मनः पर्यय को अवधि ज्ञान से नीचे न रख कर ऊपर ही रक्खा है, इसलिए कोई दोष नहीं है ।

जिस प्रकार मतिश्रुत केवलज्ञान का विषय द्रव्य क्षेत्र आदि से अपरिमित है तिस प्रकार अवधि ज्ञान का विषय अपरिमित नहीं। आत्मा श्रुत ज्ञान द्वारा शास्त्र के बल से अलोक व अनंत काल आदि को जानता है, अवधिज्ञान से द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा सहित मूर्त द्रव्य को ही प्रत्यक्ष जानता है (गो.जी.टीका बड़ी) पृ.७६७)।

अवधिज्ञान के द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा की न्यूनाधिक की अपेक्षा तीन भेद है १ देश (कुछ—थोड़ी) अवधि २ परम (बड़ी-बहुत अवधि ३ सर्व (कुल) अवधि।

भवप्रत्यय अवधि देशावधि ही होता है क्यो कि देव,नारकी,और गृहस्थतीर्थकर के परमावधि सर्वावधि नहीं होता, किंतु गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमिक तीनों प्रकार का हो सकताहै। गुणप्रत्यय-जघन्य देश अवधिज्ञान संयत तथा असंयत दोनों ही प्रकार के मनुष्य तथा तिर्यचों के होता है,(जघन्य देश अवधि देव नारकियों के नहीं होता—बड़ी टीका गो.जी. गा.३७३), उत्कृष्ट देशावधि संयत जीवों के ही, किंतु परमावधि तथा सर्वावधि चरमशरीरी और महाव्रतो के ही होता है (गो.जी.गा.३७३)।

मनः पर्यय ज्ञान के भेद

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

शब्दार्थ-ऋजु=सरल, सीधा। विपुल=कुटिल, टेढामेढा, बहुत।

अर्थ-मनः पर्यय ज्ञान दो प्रकार का है १ ऋजु मति २ विपुल मति।

विशेष—जो ज्ञान पर के सरल विचारों वाले मन में स्थित रूपी पदार्थों को द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा सहित प्रत्यक्ष जाने उसे ऋजुमति मनः पर्यय और जो ज्ञान पर के सरल तथा कुटिल विचारों वाले मन में स्थित रूपी पदार्थों को द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा सहित प्रत्यक्ष जाने उसे विपुल मति मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

पंचेंद्रिय संज्ञी अर्थात् मन वाले जीव किसी भी वस्तु अथवा बात का चिंतन मन से करते हैं। चिंतन करते समय मन भी भिन्न भिन्न वस्तुओं के अनुसार भिन्न-भिन्न आकृतियां धारण करता रहता है। मनःपर्यय ज्ञान द्वारा दूसरे मन की इन आकृतियों को जाना जाता है। यह आकृतियां वस्तु तथा चिंतन की विधि के अनुसार सरल तथा कुटिल रूप होने से सरल और कुटिल रूप हो जाती है। इसीलिए इस ज्ञानके उपरोक्त दो भेद हो गए है।

वीर्यांतराय कर्म के तथा मनःपर्यय ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से और अंगोपांग

दो०—ऋजुः विपुल मति मनपर्यय, विपुल पूज्य द्वै हेतु।
इक परिणाम विशुद्धता, अपतन दूजा हेतु ॥१६॥

(मन) नामा नाम कर्म के उदय से आत्मा के अपने मन से पर के मन में ठहरे हुए पदार्थ का चिंतवन करके जो ज्ञान होता है सो मनःपर्यय ज्ञान है।

प्रश्न-मनःपर्यय ज्ञान भी मन द्वारा उत्पन्न होता है और मानस मतिज्ञान भी मन द्वारा ही, अतः मनःपर्यय ज्ञान को मानस मतिज्ञान ही क्यों न कहें ?

उत्तर--मनःपर्यय ज्ञान में अपने और पर के मन का संबंध अपेक्षा (कहने) मात्र है, जैसे 'आकाश में चंद्रमा को देखो इस में देखने रूप कार्य चंद्रमा है 'आकाश' शब्द तो अपेक्षा (कहने) मात्र है वैसे ही मनःपर्यय ज्ञान में तिष्ठे हुए रूपी पदार्थों का जानना ही कार्य है, स्व और पर के मन तो अपेक्षा मात्र हैं। जिस प्रकार मन का कार्य मानस मतिज्ञान है उस प्रकार मनःपर्यय ज्ञान मन का कार्य नहीं (सर्वार्थसिद्धि), यह तो प्रत्यक्ष आत्मा का कार्य है।

दोनों मनःपर्यय ज्ञानों में विशेष अंतर

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

शब्दार्थ—विशुद्धि=परिणामों की शुद्धता। अप्रतिपाताभ्यां=फिर नहीं गिरने से। तद्विशेषः= उन दोनों में विशेषता—अंतर।

अर्थ--ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में आत्मा के परिणामों की शुद्धता अधिक होती है। ऋजुमतिज्ञान होकर गिर-छूट भी जाता है किंतु विपुलमति फिर नहीं छूटता अर्थात् केवल ज्ञान होने तक बराबर बना रहता है। इन बातों का ही दोनों में अंतर है।

विशेष-ऋजुमति प्रतिपाती है क्योंकि ऋजुमति वाला उपशमक तथा क्षपक दोनों श्रेणियों पर चढता है, यद्यपि क्षपक की अपेक्षा उसका पतन नहीं होता तथापि उपशमक की अपेक्षा पतन संभव है (गो.जी.गा.४४६)।

यहां विपुल मति का विशुद्धतर होने से यह भी तात्पर्य है कि यह ऋजुमति की अपेक्षा सूक्ष्मतर और अधिक विशेषों को स्पष्टतया जान सकता है। त्रिकाल-संबंधी पुद्गल द्रव्य को वर्तमान काल में कोई जीव चिंतवन करे उस पुद्गल द्रव्य को ऋजुमतिज्ञान जानता है और त्रिकाल संबंधी पुद्गल द्रव्य को भूतकाल में चिंतवन किया हो अथवा जो भविष्यत में चिंतवन किया जावेगा अथवा वर्तमान में जिसका चिंतवन हो रहा है ऐसे तीनों ही प्रकार के पदार्थ विपुल मति ज्ञान जानता है।

ऋजु मति वाला दूसरे के मन में सरलता के साथ स्थित पदार्थ को पहले ईहा मति ज्ञान द्वारा जानता है अर्थात् पहले ऐसा विचारता है कि इसके मन में क्या है, पीछे प्रत्यक्ष नियम रूप से ऋजुमति ज्ञान द्वारा जानता है, किंतु विपुलमतिवाला चिंतित, अचिंतित अर्द्ध-चिंतित अनेक भेद रूप दूसरे के मनोगत पदार्थ को पहले जान अर्थात् इसके मनमें यह है ऐसा जान पीछे अवधि की तरह प्रत्यक्ष रूप से जानता है (गो.जी.गा.४५४-४५६)।

अवधि और मन पर्यय की तुलना

विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्योऽवधि मनःपर्ययो ॥२५॥

शब्दार्थ—अवधि मनः पर्ययोः = अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में।

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में १ विशुद्धता २ क्षेत्र ३ स्वामी तथा ४ विषय इन चार बातों की अपेक्षा से अन्तर है।

विशेष—अवधि और मनःपर्यय ज्ञान दोनों विकल-अपूर्ण प्रत्यक्ष होने की अपेक्षा तो समान हैं, फिर भी इनमें निम्न बातों की अपेक्षा से अन्तर है—

(१) मनःपर्यय ज्ञान अवधि की अपेक्षा अधिक विशुद्ध है, इसके दो पक्ष हैं, प्रथम तो यह कि मनःपर्यय ज्ञान का धारी अवधिज्ञान वाले से अधिक विशुद्ध परिणाम वाला होता है क्योंकि मनःपर्यय ज्ञान संयमी साधु के ही होता है, दूसरे यह कि मनःपर्यय अपने विषय को अधिक विशद-स्पष्ट रूप से जानने के कारण अवधिज्ञान से अधिक विशुद्ध है।

(२) अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है किंतु मनः पर्यय का क्षेत्र घनप्रतर रूप ४५ लाख योजन मनुष्य लोक प्रमाण है।

(३) अवधिज्ञान के धारी चारों गति वाले जीव हो सकते हैं किंतु मनःपर्यय ज्ञान उत्तम संयमी ऋद्धिधारी मुनि के ही होता है; अतः अवधिज्ञानियों की संख्या असंख्यात है और मनःपर्यय के स्वामी अल्प संख्यक थोड़ी संख्या वाले हैं।

(४) अवधिज्ञान का विषय कुछ पर्याय सहित रूपी द्रव्य है किंतु मनःपर्यय विषय उसका अनंतवां भाग है (सूत्र २७-२८)।

प्रश्न होता है कि मनःपर्ययज्ञान कम विषय वाला होकर भी अधिक विषय वाले अवधिज्ञान से अधिक विशुद्ध कैसे है?

उत्तर—यह कोई बात नहीं क्योंकि विशुद्धता विषय के कम-अधिक होने पर निर्भर नहीं है किंतु विषय की सूक्ष्म बातों को कम-अधिक जानने पर है, जैसे किसी व्यक्ति को बहुत से विषयों गणित, भूगोल, ज्योतिष आदि का ज्ञान है किंतु उनकी सूक्ष्म बातों को वह नहीं जानता और एक दूसरा व्यक्ति है जो जानता तो केवल एक ही विषय—ज्योतिष है किंतु उसकी ऊंच-नीच सभी बातों को जानता है तो विशुद्ध ज्ञान तो दूसरे व्यक्ति का ही कहा जायगा। इसी प्रकार अल्प विषय होने पर भी उसकी सूक्ष्मताओं को अधिक जानने के

दो०—अवधिज्ञान से मनपर्यय होय विशुद्ध विशेष।
क्षेत्र स्वामि अरु विषय में, अवधिज्ञान सविशेष ॥१७॥

कारण मनःपर्यय ज्ञान को अवधि ज्ञान से अधिक विशुद्ध कहा है। दूसरा कारण जानने वाले के न्यूनाधिक विशुद्ध परिणामों का है।

इस सब का तात्पर्य यह है कि मनःपर्यय ज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अधिक विशुद्ध अल्पक्षेत्र को जानने वाला, अल्प स्वामी और सूक्ष्म विषय वाला होता है।

अवधिज्ञान भी मर्यादित और मनःपर्यय भी मर्यादित है फिर भी इन दोनों में मौलिक भेद है और वह यह है कि मनःपर्यय मन की पर्यायों द्वारा ही मूर्तीक पदार्थों को जान सकता है सीधे नहीं जबकि अवधिज्ञान उनको सीधे जान लेता है।

अवधि व मनःपर्यय की लब्धि प्राप्त होने के लिए आवरण के क्षयोपशम की आवश्यकता होते हुए भी उपयोगात्मक ज्ञान होने में किसी का भी सहारा नहीं लेना पड़ता इसलिए इनकी प्रत्यक्षता बनी ही रहती है उसमें कुछ अन्तर नहीं आता।

मति श्रुत ज्ञान का विषय

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्व पर्यायेषु ॥२६॥

शब्दार्थ—मतिश्रुतयोः = मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का। निबंधः = विषय। द्रव्येषु=द्रव्यों में (की)। असर्व = सब नहीं अर्थात् कुछ। पर्यायेषु = पर्यायों में।

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय द्रव्यों की कुछ ही पर्यायों में है अर्थात् यह दोनों ज्ञान रूपी तथा अरूपी सब द्रव्यों की कुछ ही पर्यायों को जानते हैं।

विशेष—यह दोनों ज्ञान सब ही (जीव पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल) द्रव्यों की कुछ ही पर्यायों को जानते हैं, मोटे रूप से इस बात में दोनों समान हैं। परन्तु मतिज्ञान मात्र वर्तमान काल के विषयों को ग्रहण करता है अतः वह द्रव्यों की कुछ वर्तमान पर्यायों को ही जानता है, पर श्रुतज्ञान त्रिकालग्राही होने से थोड़े बहुत परिमाण में तीनों काल की पर्यायों को जान सकता है।

मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा होता है और इन्द्रियां केवल मूर्त-रूपी द्रव्य को ही जान सकती हैं फिर इनके रूपी अरूपी दोनों प्रकार के द्रव्यों को जानने का कारण यह है कि मतिज्ञान मन से भी होता है और मन स्व (आत्मा-अमूर्त) और पर (अजीव-धर्म अधर्म नभ काल-अमूर्त तथा पुद्गल-मूर्त) द्रव्यों का चिंतन करता है। अतः मानस मतिज्ञान की अपेक्षा से मतिज्ञान को रूपी और अरूपी सभी द्रव्यों की कुछ कुछ पर्यायों का जानने वाला कहा गया है।

दो०—कुछ पर्यय सब द्रव्य की, जाने मतिश्रुत ज्ञान।
मात्र पुद्गल द्रव्य की, पर्यय अवधि: ज्ञान ॥१७॥

अवधिज्ञान का विषय

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—रूपिषु (असर्वपर्यायेषु)=रूपी (रूप रस गंध स्पर्श वाले द्रव्यों की कुछ पर्यायों में) अवधेः=अवधिज्ञान का।

अर्थ—अवधिज्ञानका विषय रूपी द्रव्यों की कुछ ही पर्यायों में है अर्थात् यह ज्ञानरूप रस गंध स्पर्श वाले पुद्गल तथा इनसे संबंधित संसारी जीवों की कुछ ही पर्यायों के विषय में जानता है।

विशेष—पुद्गल द्रव्य की अनंत पर्यायें अवधिज्ञान के विषय भूतपदार्थ नहीं हैं किंतु उसकी कुछ ही पर्यायों को और जीव के औदयिक औपशमिक तथा क्षयोपशमिक परिणामों को ही अवधिज्ञान जानता है क्योंकि रूप रस गंध स्पर्श वाले पदार्थ ही इसके विषय हैं। अतः जीव के क्षायिक और पारिणामिक भाव तथा धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य अरूपी पदार्थ होने से अवधिज्ञान के विषय नहीं हो सकते।

देशावधिज्ञान वाला व्यक्ति स्थूल—पुद्गलस्कंध, परमावधिवाला पुद्गल वर्गणा और सर्वावधिवाला पुद्गल परमाणु तक के विषय को जान सकता है। सर्वावधिज्ञान असंख्यात लोकों को जानने की शक्ति रखता है पर वह भी केवल मूर्त—रूपी द्रव्यों को ही जान सकता है और उनकी भी सब पर्यायों को नहीं।

मनः पर्यय ज्ञान का विषय

तदनंत भागे मनः पर्ययस्य ॥२८॥

शब्दार्थ—तद्=उसके अर्थात् इससे पहले कहे हुए अवधि ज्ञान के सब से बड़े भेद सर्वावधि के। अनंत भागे=अनंतवें भाग में।

अर्थ—मनःपर्यय ज्ञान का विषय सर्वावधि ज्ञान के अनंतवें सूक्ष्म भाग में है अर्थात् सर्वावधि ज्ञान जिस रूपी पदार्थ को जानता है उससे अनंतवें भाग सूक्ष्म रूपी द्रव्य को मनःपर्यय ज्ञान में जानने की शक्ति है।

विशेष—उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषय 'परमाणु' है और परमाणु का अनंतवां भाग हो नहीं सकता क्योंकि परमाणु अविभागी है परंतु परमाणुमें जो गुण हैं उन में से प्रत्येक गुण के शक्ति रूप अनंत अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। सर्वावधि ज्ञान तो परमाणु को स्थूल रूप से जानता है किंतु मनःपर्यय उसको उसके अविभाग प्रतिच्छेदों सहित, जैसे कि एक परमाणु से दूसरे परमाणु में स्निग्धता के चार अविभाग प्रतिच्छेद अधिक हैं, इस अंतर को अवधि ज्ञानी नहीं जान सकता पर मनःपर्यय ज्ञानी जान लेता है। इसीलिए कहा है कि मनःपर्यय ज्ञान का विषय सर्वावधि ज्ञान के अनंतवें सूक्ष्म भाग में है।

केवल ज्ञान का विषय

सर्व द्रव्य पर्यायेषु केवलस्य ॥२६॥

शब्दार्थ—सर्व द्रव्य पर्यायेषु=सब द्रव्यों की सभी पर्यायों में।

अर्थ—केवल ज्ञान का विषय सब द्रव्यों की सभी पर्यायों में है, अर्थात् केवल ज्ञान लोकालोक के समस्त द्रव्यों की भूत वर्तमान भविष्यत तीनों काल संबंधी सब ही पर्यायों को एक साथ जानता है।

विशेष—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय चारों क्षयोपशमिक ज्ञान कितने भी अधिक क्यों न हों किंतु वे चेतना शक्ति के अपूर्ण विकसित होने से एक भी वस्तु के समस्तभावों अथवा पर्यायों को नहीं जान सकते। जो ज्ञान किसी एक भी वस्तु की संपूर्ण पर्यायों को जान सकता है वह सब वस्तुओं की सभी पर्यायों को जान सकने की सामर्थ्य रखता है,वही ज्ञान पूर्ण ज्ञान है और उसी को केवलज्ञान कहते हैं। यह केवलज्ञान आत्मा की चेतना शक्ति के पूर्ण विकसित होने पर ही प्रकट होता है। इस ज्ञान में किसी भी प्रकार की अपूर्णता न रहने से इसके भेद—प्रभेद भी नहीं बनते। कोई भी द्रव्य अथवा किसी भी द्रव्य की कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जो केवल ज्ञान द्वारा पूर्ण प्रत्यक्ष न जानी जावे। यही कारण है कि केवलज्ञान का विषय सब द्रव्यों तथा उनकी समस्त पर्यायों में कहा गया है।

जीव में मूलतः एक केवल—मात्र 'ज्ञान' है, इसे 'सामान्यज्ञान भी कहते हैं! इसी ज्ञान सामान्य के आवरण भेद से मतिज्ञान आदि पांच (अवस्था—पर्याय रूप) भेद हो गए हैं।

जिस प्रकार सघन मेघों से आच्छन्न होने पर भी सूर्य चन्द्र की प्रभा कुछ न कुछ आती ही रहती है उसी तरह सामान्य ज्ञान (केवल—मात्र ज्ञान) को आवर करने वाले केवलज्ञानावरणीय (सर्वघाति) कर्म से ज्ञान का खूब आवरण होने पर भी ज्ञान की मंद मंद प्रभा-आभा अपने प्रकाश-स्वभाव के कारण बराबर प्रकट होती रहती है। इसी मंद प्रभा के मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय यह चार भेद योग्यता और आवरण के कारण हो जाते हैं। मेघों से आवृत होने पर सूर्य की जो धुंधली किरणें बाहर आती हैं उनमें भी पेड़, झोंपड़ी,मकान, गुफा आदि आवरणों से जैसे अनेक छोटे बड़े खंड हो जाते हैं उसी प्रकार मत्यावरण, श्रुतावरण आदि आवरणों से वे मात्र ज्ञानावरण आवृत्त ज्ञान की मंद किरणें मतिज्ञान आदि चार विभागों में बंट जाती है।

यहां सूर्य चन्द्र पर मेघ पटल के तथा उनकी कुछ कुछ धुंधली किरणों रूप प्रभा पर पेड़,

---

दोहा—भाग अवधि का ऽनंतवां, अपि मनपर्यय ज्ञान।
द्रव्यों की पर्याय सब, जाने केवल ज्ञान॥ १६ ॥

झोंपड़ी आदि के दृष्टांतों का भाव मात्र इतना ही दिखाना है कि ज्ञान के छोटे बड़े इस प्रकार पांच भेद हो जाते हैं और यह कि जिस प्रकार मेघ पटल, पेड़ आदि रहते हुए सूर्य प्रकाश प्रकट नहीं होता इसी प्रकार कर्म उदय रहते हुए केवलज्ञान आदि नहीं होते। यहां यह न समझना चाहिए कि जैसे सूर्य चन्द्रमा में प्रकाश रहता है तैसे आत्मा में केवल-पूर्णज्ञान रहता है, क्योंकि दृष्टांत सर्व प्रकार नहीं मिला करते। हाँ परिणामिक भाव रूप सामान्य ज्ञान की सत्ता अवश्य सदा काल रहती है।

"बहुरि आपकै केवल ज्ञानादिक का सद्भाव मानै सो आपकै तो क्षयोपशमरूप मति श्रुत आदि ज्ञानका सद्भाव है, क्षायिक भाव तो कर्म का क्षय भए होइ है। यह भ्रम तैं कर्म का क्षय भए बिना ही क्षायिक भाव माने, सो यह मिथ्यादृष्टि है। शास्त्र विषैं सर्वजीवनि का केवलज्ञान स्वभाव कह्या है सो शक्ति अपेक्षा कह्या है, सर्वजीवनि विषैं केवलज्ञानादि रूप होने की शक्ति है वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त भए ही कहिए।

कोऊ ऐसा मानैं हैं: आत्मा के प्रदेशनिविषैं तौ केवलज्ञान ही है, ऊपरि आवरण तैं प्रकट नहीं है, सो यहु भ्रम है। जो केवलज्ञान होय तौ वज्रपटल आदि आड़े होतैं भी वस्तु कौं जानैं। कर्म को आड़े आएँ कैसे अटकै। तातैं कर्म के निमित्त तैं केवलज्ञान का अभाव ही है। जो याका सर्वदा सद्भाव रहै है, तौ याकौं पारिणामिक भाव कहते, सो यहु तौ क्षायिक भाव है। जो सर्व-भेद जामैं गर्भित ऐसा चैतन्य भाव सो पारिणामिक भाव है याकी अनेक अवस्था मतिज्ञानादि रूप वा केवल ज्ञानादि रूप हैं, सो ये पारिणामिक भाव नाहीं। तातैं केवलज्ञान (अवस्था) का सर्वदा सद्भाव न मानना। जैसे पुद्गल विषैं वर्णगुण है, ताकी हरित पीतादि अवस्था है। सो वर्तमान विषैं कोई अवस्था होतैं अन्य अवस्था का अभाव ही है। तैसे आत्म विषैं चैतन्य गुण है, ताकी मतिज्ञान (केवलज्ञान) आदि रूप अवस्था है। सो वर्तमान कोई अवस्था होतैं अन्य अवस्था का अभाव है (मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृ. २८४-८५)"।

केवल ज्ञान का अनंतवां भाग जो अक्षर के अनंतवें भाग के नाम के नाम से प्रसिद्ध है सदा अनावृत्त-सा रहता है, यदि यह भाग भी कर्म से आवृत्त हो (ढक) जाय तो जीव अजीव हो जाय। इस अनावृत्त-से ज्ञान का नाम पर्यायज्ञान है, यह ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इंद्रिय जन्य मतिज्ञान पूर्वक लब्ध्यक्षर रूप श्रुत ज्ञान होता है। इसको अनावृत्त कहने का तात्पर्य इतना ही है कि इसको आवरण करने वाले कर्म का कभी भी उदय नहीं होता वह सदैव क्षयोपशम रूप ही रहता है। अतः यह ज्ञान भी क्षयोपशमिक ज्ञान है, बिलकुल अनावृत्त कहने पर यह ज्ञान क्षायिक—केवलज्ञान जैसा हो जावेगा, किंतु ऐसा है नहीं।

केवल ज्ञानावरणीय कर्म के तीन कार्य हैं; जिस प्रकार यह (१) पूर्ण ज्ञान का आवरण करता है वैसे ही यह (२) मंदज्ञान को उत्पन्न भी करता है और इसी ने उस मंदज्ञान को (३) क्रमवर्ती बना रक्खा है। जब केवलज्ञानावरण हटकर पूर्णज्ञान ज्योति प्रकट हो जाती है तब इन चार मंद क्रमवर्ती ज्ञानों की सत्ता ही नहीं रहती और ज्ञान-सामान्यज्ञान केवलज्ञान जैसा का तैसा युगपत् सर्व प्रकाशक रह आता है। मतिज्ञान आदिकों के आवरण केवलज्ञानावरण के नाश के साथ ही पूरे नष्ट होते हैं।

एक जीव के एकसाथ ज्ञानों की संख्या

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

शब्दार्थ—एकादीनि=एक को आदि लेकर। भाज्यानि = विभाग किए हुए; बांटे हुए। युगपत् = एक साथ। एकस्मिन = एक (जीव) में। आचतुर्भ्यः = चार (ज्ञान) तक।

अर्थ—एक जीव में एक साथ एक को आदि लेकर अर्थात् एक, दो, तीन, चार ज्ञान तक हो सकते हैं।

विशेष—यदि किसी जीव में एक ज्ञान हो तो वह केवलज्ञान होगा; दो हों तो मति, श्रुत होंगे, तीन हों तो मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, मनः पर्यय होंगे, और चार हों तो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय होंगे। यह चारों ज्ञान क्षयोपशमिक ज्ञान हैं, क्षायिक-केवलज्ञान के होते ही क्षयोपशमिक ज्ञानों की सत्ता ही नहीं रहती। अतः एक जीव में एकसाथ पांचों ज्ञान हो ही नहीं सकते।

जीव में उसके अनंत गुणों में से 'ज्ञान' एक प्रधान गुण है, वह ज्ञान सामान्यता से एक रूप है किंतु आवरण के न्यूनाधिक की अपेक्षा से उस ज्ञान के भेद हो गए हैं। भेद तभी तक ठहर सकते हैं जब तक कि आवरणों की सत्ता है। आवरणों के हट जाने पर कोई भेद ही नहीं रहता-जैसे एक कमरे की चारों दीवारों में चार खिड़कियां हैं, उस कमरे में बैठा हुआ मनुष्य जितनी खिड़कियां खुली होंगी उन्हीं द्वारा बाह्य पदार्थों को देख सकता है, परन्तु क्रम से एक समय में एक ही खिड़की में। यदि चारों खिड़की खुली हों तो इन चारों के द्वारा क्रमवार ही देखेगा। परन्तु सब दीवारों (आवरणों) के हट जाने पर खिड़कियों (क्षयोपशमिक ज्ञानों) की सत्ता ही न रहेगी।

आशंका—जैसे जिस समय आकाश में सूर्य का प्रकाश होता है उस समय तारों का प्रकाश दब जाता है तब यह नहीं कहा जा सकता कि वहां तारे हैं ही नहीं वैसे ही जिस समय आत्मा में अत्यन्त जाज्वल्यमान केवल ज्ञान का प्रकाश होगा उस समय मति, श्रुत आदि का प्रभाव दब जावेगा न कि इनका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा; फिर यह कहना

कि केवल ज्ञान क्षायिक और असहाय ज्ञान है, इससे पांचों ज्ञान नहीं होते, ठीक नहीं।

समा—जैसे जब कोई स्थान सर्वथा और सर्व प्रकार से शुद्ध हो चुका है तब उसका कोई भाग भी अशुद्ध नहीं कहा जा सकता वैसे ही जब ज्ञानावरणीय कर्म की सब प्रकृतियों का सब प्रकार नाश हो चुका है तब उनका क्षयोपशम भी कहना और सर्वथा नाश भी कहना एक दूसरे के विरुद्ध है; अतः आत्मा में एकसाथ चार तक ज्ञानों का नियम निर्बाध और निर्दोष है।

दो, तीन अथवा चार ज्ञानों की युगपत् सभावना शक्ति की अपेक्षा से है न कि प्रवृत्ति की अपेक्षा। मति श्रुत दो ज्ञान वाला कोई जीव जिस समय मतिज्ञान द्वारा किसी विषय को जानने में प्रवृत्त होता है उस समय वह अपने श्रुतज्ञान की शक्ति होने पर भी उसका उपयोग करके उसके द्वारा उसके विषयों को नहीं जान सकता। ऐसे ही अन्य ज्ञानों के विषय में भी समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि एक जीव में भले ही युगपत् चार शक्तियां (ज्ञान) विकसित हुई हों तब भी एक समय में कोई एक ही शक्ति अपना जानने का काम करती है, उस समय शेष शक्तियां निष्क्रिय क्षयोपशम रूप रहती हैं।

मतिश्रुत अवधिज्ञान में उलटापन

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

शब्दार्थ—विपर्ययः च = उलटे (अर्थात् मिथ्या भी।

अर्थ—मति, श्रुत और अवधि यह तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं।

विशेष—पहले मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्यग्ज्ञान कहे हैं, इनमें से पहले तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं जिसका मूलकारण दर्शन मोहनीय तथा अनंतानुबंधी का उदय अथवा सम्यग्दर्शन का अभाव है। जैसे विष के संयोग से भोजन भी विष रूप हो जाता है वैसे ही मिथ्यात्व के सम्बन्ध से ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाने लगता है। इस प्रकार पांच सम्यग्ज्ञान और तीन मिथ्याज्ञान-कुमति, कुश्रुत, कुअवधि (विभंगावधि) ज्ञान के कुल आठ भेद हुए।

दूसरे के उपदेश बिना जो विष यंत्र कूट (चूहे पकड़ने का) पंजर-जाल तथा बंध आदि के विषय में जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसे मत्यज्ञान-मति अज्ञान अथवा मति कुज्ञान-कुमतिज्ञान कहते हैं। (गो. जी.गा.३०२)।

नोट—उपदेश पूर्वक होने से वह कुमतिज्ञान कुश्रुत ज्ञान हो जायगा।

चौरशास्त्र, कामशास्त्र, भारत, रामायण आदि के परमार्थ-शून्य अतएव अनादरणीय उपदेशों को मिथ्या श्रुतज्ञान-कुश्रुतज्ञान कहते हैं (गो.जी.गा ३०३)।

विपरीत अवधिज्ञान को विभंग—कुअवधि ज्ञान कहते हैं। इसके दोभेद हैं १क्षयोपशमिक २ भवप्रत्यय। मनुष्य और तिर्यंचों के विपरीत अवधिज्ञान को क्षयोपशमिक विभंग और देव तथा नारकियों के विपरीत अवधिज्ञान को भव प्रत्यय विभंग कहते हैं (गो.जी. गा. ३०४)

नोट—यहां हिंसादिक के उपाय के कुमति ज्ञान, अन्य मतादिक के शास्त्राभ्यास को कुश्रुत-ज्ञान, बुरा दीसै भला न दीसै ताको विभंग ज्ञान कहा सो इनको छुड़ाने के अर्थ उपदेश करि ऐसे कहा। तारतम्य तें मिथ्यादृष्टि के सर्व ही ज्ञान कुज्ञान सम्यग्दृष्टि के सब ही ज्ञान सुज्ञान हैं (मोक्षमार्ग प्रकाशक अधि. ८ पृ.४०७)

प्रश्न—मति, श्रुत, अवधि यह तीन ज्ञान ही मिथ्या क्यों मनःपर्यय तथा केवलज्ञान क्यों मिथ्याज्ञान नहीं हो सकते ?

उत्तर स्पष्ट है--पहले तीन ज्ञान सम्यग्दर्शन के बिना भी होते अथवा हो सकते हैं किंतु मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्यक्त्व के बिना हो ही नहीं सकते, अतः यह दोनों मात्र सम्यक्त्व के साथ होने से मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकते।

यहां दूसरा प्रश्न यह होता है कि यह ज्ञान का प्रकरण है और कुमति आदि मिथ्या ज्ञानों का मूल कारण दर्शन मोहनीय कर्म बतलाया, इसका कारण ज्ञानावरणी कर्म क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—ज्ञानावरणी के उदय से तो ज्ञान का अभाव रूप अज्ञान और क्षयोपशम से कुछ ज्ञान रूप मतिज्ञान आदि ज्ञान होते हैं। ज्ञानावरणी का उदय और क्षयोपशम तो मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्दृष्टि दोनो के पाए जाते हैं। यदि इन में किसी को मिथ्याज्ञान और किसी को सम्यग्ज्ञान कहेंगे तो सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनों के मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान का सद्भाव हो आवेगा, किंतु ऐसा हो नहीं सकता, यह सिद्धांत के विरुद्ध है। अतः कुज्ञानों का मूल कारण मोहनीय कर्म ही ठहरा।

यह बात नहीं है कि केवल सम्यग्दृष्टि जीव—आत्मा ही ठीक ठीक व्यवहार चलाते हों और मिथ्यादृष्टि न चलाते हों, यह भी नहीं कि सम्यग्दृष्टि को संशय-भ्रम रूप ज्ञान बिल्कुल न होता हो, यह भी आवश्यक नहीं कि इन्द्रिय आदि साधन सम्यग्दृष्टि के तो पूर्ण और निर्दोष ही हों और मिथ्यादृष्टि के अपूर्ण और सदोष, यह बात भी नहीं कि विज्ञान,भूगोल आदि विषयों में अनोखी खोज करके उनका वर्णन करने वाले सम्यग्दृष्टि ही हों फिर क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टि का तो सभी ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टिका सभी ज्ञान मिथ्या कहलाता है ?

समा:-आध्यात्मिक शास्त्र का अधार आध्यात्मिक दृष्टि है, लौकिक नहीं। संसारी आत्माएं दो प्रकार की है १ मोक्षाभिलाषी जो बाह्य सांसारिक संपति में सुख न मानकर केवल

दो०—एक आदि अरु चार तक, होवें युगपत् ज्ञान।
मतिश्रुत और अवधि यें, मिथ्या भी हों जान ॥२०॥

आत्मिक गुणों की उन्नति तथा प्राप्ति में ही सुख मानते हैं और उसी के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं. ऐसी आत्माएं मोक्षाभिमुख कही जाती है २ संसाराभिमुख-जो बाह्य सांसारिक संपत्ति, भोग विलास में ही सुख मानते हैं। मोक्षाभिमुख आत्मा में समभाव और आत्म-विवेक होता है इसलिए वह अपने ज्ञान का उपयोग समभाव की पुष्टि में ही करता है सांसारिक वासनाओं की पुष्टि में नहीं। यही कारण है कि लौकिक दृष्टि से चाहे सम्यग्दृष्टि का ज्ञान कम ही क्यों न हो पर वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसके विपरीत संसाराभिमुख प्राणी का ज्ञान कितना ही अधिक क्यों न हो पर वह समभाव का पोषक न होकर सांसारिक वासना को ही बढ़ाता है, अतः उसका ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से कुज्ञान ही है।

इन तीन ज्ञानोंको कुज्ञान कहने का सदृष्टांत हेतु

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत ॥३२॥

शब्दार्थ—सदसतोः—सत् और असत् का अर्थात् होने और नहीं होने रूप पदार्थ का। अविशेषात्=विशेष ज्ञान न होने से। यदृच्छोपलब्धेः—अपनी इच्छानुसार जैसा तैसा जानने के कारण। उन्मत्तवत्=उन्मत (पागल, बावले) के समान।

अर्थ—सत् और असत् रूप पदार्थों का विशेष ज्ञान न होने तथा अपनी इच्छानुसार जैसा तैसा (उलटा-सीधा) जानने के कारण पागल पुरुष के ज्ञान की तरह ज्ञान मिथ्या भी होते हैं।

विशेष—जिस प्रकार मदिरा से उन्मत्त पुरुष जब स्त्री को माता और माता को स्त्री समझता है तब उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है, परतु किसी समय वह स्त्री को स्त्री और माता को माता भी कहता है तो भी उसका वह जानना मिथ्या ज्ञान ही कहलाता है क्योंकि उसके लिए स्त्री और माता के बीच में कोई स्थिर अंतर नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन रूपी मदिरा से मतवाले पुरुष का ज्ञान पदार्थों को ठीक-ठीक जानते हुए भी उनके सत् और असत् का यथार्थ निर्णय न होने से विपर्यय ज्ञान-विपरीत ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टिका ज्ञान अनिश्चित होता है। सम्यग्दृष्टिके समान पदार्थोंको जानते हुए भी उसके ज्ञानमें पदार्थों के वास्तविक स्वरूपके जाननेमें कमी रहती है। उसके ज्ञानमें तीन प्रकार का विपर्यय-उलटापन होता है—१ कारण विपर्यय २ स्वरूप विपर्यय ३ भेदाभेद विपर्यय।

१ कारण विपर्यय-जिसको जाने उसके मूल कारणको न पहचानकर उसका अन्य ही कारण मानना, जैसे दुःख को जाने परंतु उसका मूल कारण अपने कर्म न जानकर उसे ईश्वर

दोहा—सत् असत के भेद बिन, यदु-तदु रूप जो ज्ञान।
उन्मतवत जो जानना, तातैं ह्वै कुज्ञान ॥२१॥

अथवा अन्य किसी व्यक्ति पर थोपना।

२ स्वरूप विपर्यय—जिसको जाने उस वस्तु का मूल स्वरूप न जान उसका अन्यथा ही स्वरूप मानना, जैसे आत्मा का असली स्वरूप चेतना न पहचान शरीर आदिक को ही आपा—आत्मा मानना,

३ भेदाभेद विपर्यय—जिसको जाने उसको यह इनसे भिन्न है और इनसे अभिन्न है ऐसा न पहचाने, अथवा कारणसे कार्यको सर्वथा अन्य मानना अथवा सर्वथा अन्य नहीं मानना। वास्तव में उपादान रूप से कारण के समान ही कार्य होता है इससे तो अभेद है तथापि पर्याय-अवस्था बदलने की अपेक्षा कारण से कार्य भेद रूप-अन्य है, इस प्रकार भेदाभेद को न समझना भेदाभेद विपर्यय है।

नय [View-Standpoint] उसके भेद प्रभेद

नैगम संग्रह व्यवहारर्जुसूत्र शब्द समभिरूढैवंभूतानयाः ॥३३॥

अर्थ-१ नैगम २ संग्रह ३ व्यवहार ४ ऋजुसूत्र ५ शब्द ६ समभिरूढ और ७ एवंभूत यह सात नय है।

विशेष-आप किस दृष्टि से अथवा दृष्टिकोण से ऐसा कहते हैं ? आप किस अभिप्राय से ऐसा कहते है ? आप यह किस अपेक्षा से-किस नय से वर्णन करते है ? इन प्रश्न-वाक्यों से ज्ञात होता है कि 'दृष्टि' 'दृष्टिकोण' 'अभिप्राय' 'अपेक्षा' और 'नय' यह सब शब्द एक ही अर्थ के द्योतक अर्थात् एकार्थवाची हैं; अतएव वक्ता के दृष्टिकोण, अभिप्राय अथवा सापेक्ष कथन शैली का नाम ही 'नय' ठहरा। नय के (जैसा कि सूत्र ६ के विशेष में बता आए हैं) मुख्य दो भेद हैं १ निश्चयनय Permanent View २ व्यवहारनय Practical View. यहां इस सूत्र में श्री आचार्य महोदय ने निश्चयनय के ही नैगम आदि भेद बताए हैं।

सब पदार्थों में दो प्रकार के गुण होते हैं १ सामान्य-साधारण जो उसकी जाति Genus को बताते हैं--साधारण General २ विशेष—मुख्य Specific जो उसे उस जाति के-प्रकार के अन्य पदार्थों से भिन्न बताते हैं; जैसे 'घड़े' पदार्थ में 'घड़ापन' तो सामान्य गुण और पीतल का, मिट्टी का, छोटा, बड़ा, पोला, काला इत्यादि उसके विशेष गुण हैं। 'सामान्य' को द्रव्य और 'विशेष' को पर्याय कहते हैं। अतः वह कथन—शैली जो पर्याय विशेष को

दोहा—गम संग्रह व्यवहार ऋजु,—सूत्र समभिरूढ।
शब्द अरु एवंभूत नय, जाने सोइ अमूढ ॥२२॥

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र अध्याय १ के कविवर मास्टर मुक्तियार सिंह जैन, मुक्तयानंद 'सिंह' बी. ए. सी. टी. साहित्यालंकार-कृत दोहे समाप्त।

गौण करती हुई उदासीन रूप से देखती हुई–का वर्णन छोड़ती हुई द्रव्य-सामान्य को ही मुख्यता से जाने-कहे वह द्रव्यार्थिकनय जैसे कहना कि 'यह पेड़ है', और जो कथन शैली द्रव्य-सामान्य को गौण करती हुई पर्याय–विशेष को ही मुख्यता से जाने-कहे सो पर्यायार्थिक नय है जैसे कहना कि 'यह आम्र वृक्ष है'।

'अर्थ' शब्द का अर्थ–प्रयोजन, विषय, धन, वस्तु इत्यादि है। द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक शब्दों में 'अर्थ' का तात्पर्य प्रयोजन अथवा विषय लेना उचित है, द्रव्यार्थिक-द्रव्य ही प्रयोजन अथवा विषय जिसका।

द्रव्यार्थिकनय तीन प्रकार है–१ भेदाभेद (उभय) रूप द्रव्यार्थिक–जो सत् है वह दोनों अर्थात् भेद और अभेद को छोड़कर नहीं रहता, इस प्रकार जो केवल एक को ही अर्थात् अभेद या भेद को ही प्राप्त नहीं होता किंतु मुख्य और गौण भाव से भेद अभेद-दोनों को ग्रहण करता है उसे भेदाभेद (उभय) रूप द्रव्यार्थिक कहते हैं, यही सूत्र में कथित नैगम=न+एक+गम (केवल एक पर ही न जाने वाली) नय है।

२ अभेद रूप द्रव्यार्थिक–जो मुख्यता से द्रव्य का कथन करती हुई उस–द्रव्य को उसमें बिना भेद किये वर्णन करे जैसे कहना कि 'द्रव्य सत् रूप है' इसमें सूत्र कथित केवल संग्रहनय Genus View आती है।

३ भेदरूप द्रव्यार्थिक–जो मुख्यता से द्रव्य का कथन करती हुई द्रव्य को उसके भेद करके वर्णन करे जैसे कहना कि 'द्रव्य के जीव और अजीव दो भेद हैं', इसमें सूत्र कथित व्यवहारनय Particular View आती है।

पर्यायार्थिकनय में सूत्र कथित चार प्रकार की अर्थात् ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनय आती हैं।

आगे सूत्र कथित नैगम आदि सब नयों का विशेष विवेचन किया जाता है–

१ नैगमनय– न+एक+गम= नैगम अर्थात् जिस कथनशैली में संग्रह तथा व्यवहार दोनों नयों द्वारा कथित अभेद और भेद दोनों को मुख्य और गौण भाव से ग्रहण किया जाता है, वस्तु के सामान्य और विशेष गुणों में से किसी एक पर नहीं ठहरा जाता, कभी एक गुण को मुख्य दूसरे को गौण, कभी दूसरे को मुख्य पहले को गौण कर दिया जाता है क्योंकि वस्तु उभय रूप है ही और उसके सामान्य तथा विशेष गुण एक दूसरे से सम्बंधित हैं एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। इसके दो भेद हैं (क) शुद्ध नैगमनय (ख) उपचार नैगमनय।

शुद्ध नैगमनय का विषय 'अर्थ' है।

'पर्याय तो प्रतिक्षण वर्तना रूप है–विनाशीक है। एक वस्तु में अनेक सहभावी परिणमन पाये जाते हैं उनकी शक्तियों का नाम 'गुण' है, गुण ध्रौव्य होते तथा त्रैकालिक-

सर्व अवस्थाओं में एकरूप-गुणरूप रहते हैं, इसी से गुण सामान्य कहलाते हैं। इन सर्व गुणों का अभेद एक पिंड जो सामान्य रूप रहता है वह 'द्रव्य' है इसमें पर्यायें अंतर्लीन हैं अतः 'गुणपर्ययवत्द्रव्यम्' भी इसका लक्षण है।

द्रव्यगुण पर्याय में व्यवस्थित किंतु किसी एक दृष्टि से रहित समग्र अनुभवनीय जो वस्तु है वह 'अर्थ' है, यही परम भूतार्थ है, इसके अतिरिक्त जो भी दृष्टि है वह सब अंश है। यहाँ 'अर्थ' का अर्थ वस्तु है।

अर्थ के समक्ष 'द्रव्य' विशेष है, 'द्रव्य' के समक्ष 'गुण' विशेष है, 'गुण' के सामने 'पर्याय' विशेष है। अर्थ कभी भी विशेष रूप न हुआ, न है और न कभी होगा ही। 'द्रव्य' अभेद सामान्य है, वह भी अर्थ के समक्ष विशेष है अर्थात् वह (द्रव्य) अभेदपन से तो भेद किया ही गया है।

उपचार नैगमनय के तीन भेद हैं (१) अतीत-भूत (२) भावी भविष्यत (३) वर्तमान।

(१) अतीत नैगम—भूतकालकी बात वर्तमानमें संकल्प करना जैसे कहना कि 'भगवान आदिनाथ आज माह बदी १४ को मोक्ष गए हैं', 'राम वन जाते हैं' (Historic Present)।

(२) भावी नैगम—भविष्य में होने वाली बात का वर्तमान में हुई जैसी संकल्प करना, जैसे किसी परीक्षार्थी के पर्चे अच्छे होने पर कहना 'तुम पास हो गए'।

(३) वर्तमान नैगम—वर्तमान संकल्पित या आरम्भ की हुई बात का वर्तमान में हुई सी संकल्प करना, जैसे कोई स्त्री दाल धो रही है वह पूछे जाने पर कहे 'रोटी बनाती हूँ'।

२ संग्रहनय—Genus-General View जो नय जाति विरोध न करते हुए समस्त पदार्थों को एकपन से ग्रहण करे जैसे कहना 'द्रव्य सत् रूप है'। यह नय द्रव्य को अभेद रूप से ग्रहण करती है। संग्रहनयका काम एक सामान्य धर्म द्वारा अवांतर सब भेदोंका संग्रह करना है, इस नय में अभेद की प्रधानता होती है (ध० १० पृ० १५)।

३ व्यवहारनय—Particular View जिसमें संग्रह रूप से ग्रहण किये हुए पदार्थों को विशेष अथवा भेद रूप से व्यवहार किया जावे, जैसे कहना कि अजीव के पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल पांच भेद हैं।

नोट—संग्रहनय की प्ररूपणा को विषय करना द्रव्यार्थिकनय की शुद्ध प्रकृति है और वस्तु के प्रत्येक भेद के प्रति शब्दार्थ का निश्चय करना उसका व्यवहार है अर्थात् व्यवहार-नय की प्ररूपणा को विषय करना द्रव्यार्थिकनय की अशुद्ध प्रकृति है। यहां ध्यान रखने योग्य बात यह है कि वस्तु में चाहे जितने भेद किये जावें परन्तु वे कालकृत नहीं होने चाहिएं, क्योंकि वस्तु में कालकृत भेद की प्रधानता से ही पर्यायार्थिकनय होता है।

द्रव्यार्थिकनय की अशुद्ध प्रकृति में द्रव्य भेद अथवा सत्ता भेद ही इष्ट है, कालकृत भेद इष्ट नहीं (धवला १ पृ० १२, १३)।

४ ऋजुसूत्रनय—जिस कथन शैली में पदार्थ की वर्तमान पर्याय मात्र ग्रहण की जावे, जैसे कहना कि 'गाय लाल है' इसके दो भेद हैं :—

(क) सूक्ष्मऋजुसूत्र-जो पदार्थ की अत्यंतसूक्ष्म-एक समयमात्र की पर्याय का ग्रहण करे,

(ख) स्थूलऋजुसूत्र-जो पदार्थ की अनेक समयवर्ती स्थूल पर्याय का ग्रहण करे।

नोट—सूक्ष्म पर्याय को कहना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है क्योंकि जब तक उसका कथन होगा तब तक वह पर्याय पलट ही जावेगी, अतः लोक व्यवहार में स्थूल पर्याय का ही कथन होता वा हो सकता है जैसे 'गाय लाल है' इत्यादि।

५ शब्दनय-यह नय पर्यायवाची शब्दों Synonyms को एक ही अर्थ के द्योतक लेता है जैसे कुम्भ, कलश, घट शब्दों से एक 'घड़े' का हो बोध होना, पर्यायवाची शब्दों में जो अन्तर होता है वह इस नय में गौण होता है अर्थात् नहीं लिया जाता।

६ समभिरूढनय—जो नय शब्द के अनेक अर्थों को छोड़कर एक रूढ अर्थ को ही ग्रहण करे जैसे 'गो' शब्दके गाय, बैल, स्वर्ग, भूमि, वाणी गमन इत्यादि अनेक अर्थ हैं किंतु प्रकरण वश 'गाय' आदि एक ही अर्थ ग्रहण करना समभिरूढनय है। इस नय में पर्यायवाची शब्द नहीं पाये जाते क्योंकि यह नय प्रत्येक पद-शब्द का भिन्न अर्थ स्वीकार करता है अर्थात् 'एक पद एक ही अर्थ का वाचक है' ऐसा मानता है (जय ध० भाग १ पृ० २४०)। यह नय कहता है कि किसी वस्तु को बताने वाले शब्दों के अंतर से उस वस्तु के भाव में भी अन्तर आ जाता है। जिस प्रकार घट और पट भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं उसी प्रकार घट, कुंभ, कलश भी भिन्न-भिन्न हैं।

७ एवंभूतनय--जिस काल में जो क्रिया करता हो उसको उस काल में उसी क्रिया रूप नाम (शब्द) से कहना, जैसे लड़के को उसके पढ़ते समय ही 'विद्यार्थी' तथा खेलते समय ही 'खिलाड़ी' कहना।

नोट—वर्तमान समयवर्ती पर्याय को विषय करना ऋजुसूत्रनय है। इसलिए जब तक द्रव्यगत भेदों की मुख्यता रहती है तब तक व्यवहारनय चलता है और जब कालकृत भेद आरंभ हो जाता है तभी ऋजुनय हो जाती है! शब्द, समभिरूढ, एवंभूत नयों का विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है परन्तु उस विषय में ऋजुसूत्र के विषयभूत अर्थ के वाचक शब्दों की मुख्यता है अतः उनका विषय ऋजुसूत्र से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है।

ऋजुसूत्र के विषय में लिंग आदि से भेद करने वाला 'शब्दनय', शब्दनय से स्वीकृत लिंग वचन वाले शब्दों में व्युत्पत्ति भेद से अर्थभेद करने वाला 'समभिरूढनय', पर्याय शब्द

को उस शब्द से ध्वनित होने वाले क्रियाकाल में हीं वाचक मानने वाला 'एवंभूतनय' है। इसतरह शब्द आदिक नय ऋजुसूत्र की ही उपशाखा है। इसीलिए ऋजुसूत्र को ही पर्यायार्थिक नय का मूल आधार माना गया है (ध. १ पृ. १३)।

पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उपजते विनशते है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायें उत्पन्न होती और पूर्व पूर्व पर्यायों का नाश होता है; किंतु द्रव्यार्थिक की अपेक्षा वे (पदार्थ) सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाव वाले है, वे सदा स्थित-स्वभाव रहते है (ध. १ पृ. १३)

पहले तीन द्रव्यार्थिकनय व एक ऋजुसूत्र पर्यायार्थिकनय-यह चार नय सीधे वस्तुओ को ग्रहण करते है इसलिए इन्हें अर्थनय' कहते है; यहां 'अर्थ' शब्द का अर्थ वस्तु है। आगे के तीन पर्यायार्थिकनय शब्द द्वारा अर्थ को दिखाते हैं अतः वे 'शब्दनय है (तत्त्वार्थसार अधि० १)

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंका जय धवला अनुसार कुछ और विशेष वर्णन

मनुष्य जो कुछ बोलता या विचार करता है उसमें से कुछ विचार या वचन तो अभेद की ओर झुके होते हैं और कुछ भेद की ओर। अभेद की ओर झुके विचार और तद्रूप कही गई वस्तु संग्रह-सामान्य कही जाती है, और भेद की ओर झुके विचार तथा तद्रूप कही गई वस्तु विशेष कही जाती है; अवांतर भेदों का या तो सामान्य में अंतर्भाव हो जाता है या विशेष में। इसलिए मूल राशि दो ही हैं। सामान्य वचन राशि का व्याख्यान करने वाली जो अभेदगामीदृष्टि है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते है और विशेष वचन राशि का व्याख्यान करने वाली भेदगामीदृष्टि को पर्यायार्थिक नय।

द्रव्यार्थिकनय तीन प्रकार का है १ नैगम २ संग्रह ३ व्यवहार। इनमें से जो पर्याय कलंक से रहित होता हुआ अनेक भेदरूप संग्रहनय है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक है और जो पर्याय कलंक से युक्त द्रव्य को विषय करनेवाला व्यवहारनय है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है, अर्थात् संग्रह नय अभेद का कथन करता है और पदार्थ के प्रत्येक भेद के प्रति शब्दार्थ का निश्चय करना उसका व्यवहार है, और व्यवहारनय भेद का कथन करता है। व्यवहारनय यद्यपि सामान्य धर्म की मुख्यता से ही वस्तु को ग्रहण करता है फिर भी वह सामान्य अर्थात् अभेद में भेद मानकर प्रवृत्त होता है।

जो सत् है वह दोनों अर्थात् भेद और अभेद को छोड़कर नहीं रहता, इस प्रकार जो केवल एक को ही अर्थात् अभेद या भेद को ही प्राप्त नहीं होता किंतु मुख्य और गौण भाव से भेद अभेद दोनों को ग्रहण करता है उसे नैगम=न+एक+गम नय कहते हैं।

पर्यायार्थिकनय पर्याय को विषय करता है, द्रव्य को नहीं। पर्यायार्थिक के इस लक्षणानुसार ऋजुसूत्र आदि सभी पर्यायार्थिक नयों का विषय वर्तमानकालीन एक समयवर्ती पर्याय होता है फिर भी ऋजुसूत्रनय में लिंग आदि के भेद से होने वाला पर्याय भेद अविवक्षित (नहीं लिया) है अतः शब्दनय की अपेक्षा ऋजुसूत्र का विषय सामान्य रूप हो जाता है और शब्दनय का विशेष रूप। शब्दनय में पर्यायवाची शब्दों के भेद से होने वाला पर्याय भेद अविवक्षित है अतः समभिरूढनय की अपेक्षा शब्दनय का विषय सामान्यरूप हो जाता है और समभिरूढ का विशेष रूप। इसी प्रकार समभिरूढनय वर्ण (अक्षर—अ, क,) भेद से होने वाला पर्यायभेद अविवक्षित है अतः एवंभूत की अपेक्षा समभिरूढ का विषय सामान्य हो जाता है और एवंभूत का विशेषरूप। इसलिए एवंभूत की दृष्टि में एक ही वर्ण—अक्षर एक अर्थ का वाचक है, अतः घट आदि पदों में रहने वाले घ्, ट् और अ, अ आदि वर्णमात्र अर्थ ही एकार्थ हैं, इस प्रकार के अभिप्राय वाला एवंभूतनय समझना चाहिए।

यह सात नय उत्तरोत्तर अल्प विषय वाले हैं अर्थात् नैगम के विषय में संग्रह आदि छहों नयों का विषय समा जाता है, संग्रहनय के विषय में व्यवहार आदि पांचों नयों का, इत्यादि। इन सातों नयों में से नैगमनय द्रव्य और पर्यायगत भेद अभेद को गौण मुख्यभाव से ग्रहण करता है अतः संग्रहनय के विषय से नैगमनय का विषय महान है और नैगम के विषय से संग्रह का विषय अल्प। संग्रहनय अभेदरूप से द्रव्य को ग्रहण करता है अतः व्यवहारनय से संग्रह का विषय महान है और संग्रह से व्यवहार का विषय अल्प। व्यवहारनय भेदरूप से द्रव्य को विषय करता है अतः ऋजुसूत्रनय के विषय से व्यवहार का विषय महान है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान कालीन एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है अतः शब्दनय के विषय से ऋजुसूत्र का विषय महान है। शब्दनय लिंग आदि के भेद से वर्तमान-कालीन पर्याय को भेदरूप से ग्रहण करता है अतः समभिरूढ के विषय से शब्दनय का विषय महान है। समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दों के भेद से वर्तमान-कालीन पर्याय को भेदरूप से स्वीकार करता है अतः वर्ण (अक्षर) भेद से पर्याय के भेद को माननेवाले एवंभूतनय से समभिरूढ का विषय महान है।

यह सातों नय परस्पर सापेक्ष हैं। इसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि प्रत्येक नय अपने ही विषय को ग्रहण करता है फिर भी उसका प्रयोजन दूसरे दृष्टिकोण को—नय का निराकरण करना नहीं है। इस से अनेकान्तात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है और तभी सातों नय समीचीन कहे जाते हैं नहीं तो यही दुर्नय-नयाभास हो जाते हैं।

सवैया

साधि निज नैगम तें वर्तमान भाव करि, संग्रह स्वरूप तें स्वरूप को गहीजिए।
गुण गुणी भेद व्यवहार तें सरूप साधि, अलख अराधि कै अखंड रस पीजिए॥

होय कै सरल ऋजुसूत्र तें स्वभाव लीजे, 'अहं अस्मि' शब्द साधि स्वसुख करीजिए।
अभिरूढ आप में अनूप पद आप कीजे, एवंभूत आप पद आप में लखीजिए॥

ज्ञान दर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम्।
ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम्॥

अर्थ—इस अध्याय में ज्ञान, दर्शन, तत्व और नय का स्वरूप बतलाया गया है और ज्ञान की प्रमाणता दिखाई गई है।

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र, अध्याय १ की ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन मुक्त्यानंद 'सिंह', बी. ए. ,सी. टी., साहित्यालंकार-कृत कौमुदी समाप्त ॥१॥

अंतमंगल

दो०—आदि अजित संभव नमों, अरु अभिनंदन नाथ।
सुमति पद्म सुपार्श्व नम, नमों चंद्र जिन नाथ॥१॥

श्री वीतरागाय नमः

अध्याय २

मंगलाचरण

दोहा—समयसार सर्वज्ञ जो, सत् चित् रूप स्वभाव।
विकसे निज अनुभूति से, नमों भाव कर चाव ॥

जीव तत्व

जीव के पाँच निजभाव

औपशमिकक्षायिकौभावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

शब्दार्थ—औपशमिकक्षायिकौभावौ = औपशमिक और क्षायिक दो भाव। मिश्रः च = और मिश्र-क्षयोपशमिक। जीवस्य = जीव के। स्वतत्त्वम् = निजभाव।

अर्थ—जीव के औपशमिक, क्षायिक, मिश्र-क्षयोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक यह पांच निज-अपने ही भाव हैं।

विशेष यहां आचार्य श्रीका मुख्य उद्देश्य 'आत्म-तत्व' की जैनमान्यताको दूसरे दर्शनों की मान्यतासे भिन्न दिखलाना है—

सांख्य और वेदांत आत्माको कूटस्थ-बिल्कुल नित्य मानकर उसमें कोई परिणाम-परिणमन नहीं मानते; वह ज्ञान, सुख, दुख आदि परिणामोंको प्रकृतिके ही कहते हैं। वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक ज्ञान आदिको तो आत्माका गुण मानते हैं किंतु वे भी आत्माको अपरिणामी ही कहते हैं। बौद्ध किसी भी अखंड स्थिर तत्वको स्वीकार न करके आत्माको बिल्कुल क्षणिक अर्थात् परिणामों—भावोंका प्रवाह मात्र बतलाते हैं।

दोहा—उपशम क्षायिक मिश्र अरु, औदयिक जे भाव।
अरु पारिणामिक भाव हैं, जीव हि के निज भाव ॥१॥

जैनदर्शनका कथन है कि जैसे प्राकृतिक जड़ पदार्थ न तो बिल्कुल नित्य और न बिल्कुल क्षणिक (अनित्य) हैं किंतु उनमें नित्यता और अनित्यता दोनों एक साथ पाई जाती हैं वैसे ही आत्मा भी एक साथ नित्य और अनित्य परिणामी है। अतः ज्ञान सुख आदि परिणाम-पर्याय आत्माके ही हैं। आत्माके परिणामों-पर्यायोंकी हो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ उसके 'भाव' हैं। यह भाव पांच हैं—१ औपशमिक २ क्षायिक ३ मिश्र ४ औदयिक ५ पारिणामिक।

औपशमिक भाव—कारण विशेषसे कर्मकी शक्तिका प्रकट न होना 'उपशम' है, उपशम केवल मोहनीय कर्मका ही होता है अतः मोहनीय कर्मके उपशमसे आत्माके जो भाव हों वह औपशमिक भाव हैं। यह भाव ऐसे विशुद्ध होते है कि जैसे गदले पानीमें निर्मली डालने पर मिट्टी नीचे बैठ जाने से पानीकी विशुद्धता।

क्षायिक भाव—कर्मोंका जड़मूल नाश होना 'क्षय' है। अतः कर्मोंके क्षयसे आत्माके जो भाव हों वह क्षायिक भाव हैं, यह भाव बिल्कुल शुद्ध जल जैसे शुद्ध होते हैं।

मिश्र (क्षयोपशमिक) भाव—इसके साधारण शाब्दिक अर्थ हैं 'मिले हुए भाव' अर्थात् ऐसे भाव जो कुछ कर्मोंके क्षय और कुछ कर्मोंके उपशमसे हों। इसके गहरे तथा शास्त्रीय अर्थ है वह भाव जो वर्तमान समयमें सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयाभावी क्षय (सर्वघाती स्पर्द्धकोंकी वर्गणाओंका निमित्तके अभावमें बिना फल प्रकट किये झड़ जाने अथवा वर्तमानमें उदयमें आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदयके समयसे एक क्षण पहले अपने सजातीय देशघाती स्पर्द्धकोंमें संक्रमण हो-सर्वघाती रूप फल न देकर सजातीय देशघाती प्रकृति रूप बदल—तथा तद्रूप (देशघाती रूप) फल देकर खिर जानेसे) से, भविष्यतकालमें उदय आने वाले सर्वघाती निषेकोंका सदवस्था रूप उपशम, और वर्तमानमें ही देशघाती निषेकोंके उदयसे उत्पन्न हों। यह विशुद्धि ऐसी ही मिश्रित होती है जैसी मैले वस्त्रको बिना साबुन पानी द्वारा धोने पर कुछ मैल निकल जाने और कुछ उसीमें रह जाने पर वस्त्रकी।

औदयिक भाव—द्रव्य क्षेत्र काल भावके निमित्तसे कर्मोंका फल देना 'उदय' है अतः कर्मोंके उदयसे आत्माके जो परिणाम हों वह औदयिक भाव हैं।

आशंका--आत्मामें औपशमिकसे औदयिक तकके भावोंकी सिद्धि नहीं बनती क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है, अमूर्तिकके साथ कर्मोंका बंधन बनता नहीं और यह सब कर्मबंधकी अपेक्षासे ही हैं।

समा-अनेकांत से आत्मा प्रत्येक अवस्था में अमूर्तिक ही नहीं है; कर्म बंधन रूप पर्याय की अपेक्षा कर्म प्रवेशसे कथंचित मूर्तिक है और शुद्ध स्वरूपकी विवक्षासे कथंचित अमूर्तिक।

परिणामिक भाव-कर्मों की अपेक्षा बिना ही जीवके स्वभाव मात्रसे उत्पन्न हुए भाव पारिणामिक भाव हैं।

संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो उसके इन पांच भावोंमें से कोई न कोई भाव अवश्य होंगे। उक्त पांचों भाव सभी जीवोंमें एक साथ पाये जावें सो भी बात नहीं है। समस्त मुक्त जीवों में केवल दो क्षायिक और पारिणामिक भाव ही होते हैं। संसारी जीवों में कोई तीन भाव वाला कोई चार और कोई पांचों भाव वाला होता है, एक या दो भाव वाला कोई नहीं होता। संसारी भव्यके पांचों भाव उपशमश्रेणी वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टिके, उपशम सम्यग्दृष्टिके क्षायिक भावके अतिरिक्त चार और अभव्योंके क्षयोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक यह तीन भाव होते हैं।

औपशमिक आदि पहले चार भाव निमित्त (कर्मोंके निमित्त) की अपेक्षासे होते हैं, पांचवां पारिणामिक भाव जीवके स्वभाव अथवा उसकी निजी योग्यता से है।

नोट १--एक समयमें उदय आने वाले कर्म परमाणुओंके समूहको 'निषेक' कहते हैं।

२ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन कर्मोंकी उदय, क्षय और क्षयोपशमिक यह तीन, मोहनीयकी उदय, क्षय, क्षयोपशम और उपशम यह चार; तथा अघातिया कर्मोंकी उदय और क्षय यह दो ही अवस्थाएं हुआ करती हैं।

३ पुद्गल द्रव्यके औदयिक, पारिणामिक; धर्म अधर्म आकाश कालका केवल पारिणामिक और जीवके पांचों भाव होते हैं (ध० ५ पृ० १८६)।

४ पुद्गलके औदयिक भाव कर्म-पुद्गलके उदयसे होते हैं।

५ जीवके मोहनीय कर्मके उदयसे होने वाले औदयिक भाव संसारके, उपशम क्षायिक और क्षयोपशमिक सम्यक्त्व भाव, क्षयोपशमिक चारित्र भाव और क्षयोपशमिक संयमासंयम भाव मोक्षके तथा १८ क्षयोपशमिक भावोंमें से शेष १५ क्षयोपशमिक भाव संसारके कारण हैं। पारिणामिक भाव न तो संसारका ही कारण है और न मोक्षका ही।

अनादि मिथ्यात्वी भव्यको सबसे पहले औपशमिक सम्यक्त्व होता है और यहां पर सम्यक्त्वका ही प्रकरण है, अतः सबसे पहले औपशमिक भावका वर्णन है। इसीके अत्यंत समीप होनेसे तथा निर्मलतामें इसकी बराबरी-सी करनेसे उसके पास ही क्षायिक भावका कथन है। कुछ उपशम तथा कुछ क्षय होनेसे क्षयोपशम अथवा मिश्र बनता है अतः फिर मिश्र कहा गया है।

इन पाँचों भावोंके ५३ भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशति त्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

दोहा—दो नौ अठदश बीस-इक, त्रयक्रम इनके भेद।
उपशम समकित चरित दो, औपशमिक के भेद ॥२॥

अर्थ—ऊपरके पांच भावोंके क्रमशः दो २, नौ ९, अठारह १८, इक्कीस २१ और तीन ३ भेद हैं।

औपशमिकके दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

अर्थ—औपशमिक भावके १ औपशमिक सम्यक्त्व भाव और २ औपशमिक चारित्र भाव दो भेद हैं।

विशेष—उपशम केवल मोहनीय कर्मका ही होता है अतः अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य तथा किसी किसी सादि मिथ्यादृष्टिके दर्शन मोहनीय तो मिथ्यात्व और अनतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ पांच प्रकृतियोंके उपशमसे और किसी सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति तथा चार अनतानुबंधी सात प्रकृतियोंके उपशमसे और किसी सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व तथा सम्यक् मिथ्यात्व और चार अनतानुबंधी छः प्रकृतियोंके उपशमसे जो भाव होते हैं वह औपशमिक सम्यक्त्व भाव कहलाते हैं।

असंख्यात वर्षकी (पल्य अथवा इससे अधिक वर्षकी) आयु वाले जीवके ही एक भवमें दुबारा प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो सकता है किंतु संख्यात वर्षकी आयु वालेके एक भवमें केवल एक ही बार, क्योंकि मिथ्यात्वमें आए हुए जीवके जबतक सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिकी उद्वेलनघात द्वारा सागरोपम (एक सागर) या सागरोपम पृथक्त्व (३ से ९ सागर तक) की स्थिति नहीं रह जाती तब तक वह पुनः उपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता। उद्वेलन घात द्वारा उक्त क्रियाके होनेमें कमसेकम पल्योपम (१ पल्य) के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल लगता है (वह भी असंख्यात वर्षसे कम नहीं होता), (ध. ६ पृ. ४४५)।

चारित्र मोहनीयकी अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियोंके उपशमसे जो भाव होते हैं उन्हें 'औपशमिक चारित्र भाव' कहते हैं।

सम्यक्त्व तथा चारित्रके घातक कर्मोंका उदय सर्वथा थम जाने पर जो स्वभाव प्रकट होते हैं उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं (तत्वार्थसार अधि० २ पृ. ४८)। औपशमिक भावका यह नियम है कि जिसके यह प्रकट हो जाता है वह मुक्त हुए विना नहीं रहता।

प्रश्न—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवके कर्मोंकी कलुषताके उद्रेक (तेजी) में उपशम कैसे हो जाता है?

उत्तर—काललब्धि आदि के कारण अर्थात् कर्म सहित भव्य जीव संसार काल में अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन काल अवशेष रहने पर उपशम सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेके योग्य होता है। काललब्धि आदि वाक्यमें 'आदि' शब्द योग्य मंदकषाय, जातिस्मरण आदिका ग्रहण किया है।

सूत्रमें चारित्रसे पहले सम्यक्त्व कहनेका कारण यह है कि चारित्र सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है।

क्षायिक भाव के ६ भेद

ज्ञान दर्शन दान लाभ भोगोपभोग वीर्याणि च ॥४॥

शब्दार्थ—यहां 'च' से तात्पर्य ऊपर आए हुए सम्यक्त्व और चारित्रसे है।

अर्थ—क्षायिक भावके १ क्षायिक-केवल ज्ञान भाव २ क्षायिक-केवल दर्शन भाव ३ क्षायिक दान भाव ४ क्षायिक लाभ भाव ५ क्षायिक भोग भाव ६ क्षायिक उपभोग भाव ७ क्षायिक वीर्य भाव ८ क्षायिक सम्यक्त्व भाव और ६ क्षायिक चारित्र भाव यह नौ भेद है।

विशेष--चारों घातिया कर्मोंके क्षयसे ६ क्षायिक भाव होते हैं—ज्ञानावरणीके क्षयसे क्षायिक-केवल १ ज्ञान भाव, दर्शनावरणीके क्षयसे २ क्षायिक-केवल दर्शन भाव, अंतरायके पांचों भेदोंके क्षयसे ३ क्षायिक दान भाव ४ क्षायिक लाभ भाव ५ क्षायिक भोग भाव ६ क्षायिक उपभोग भाव ७ क्षायिक वीर्य भाव और दर्शन मोहनीयके क्षयसे ८ क्षायिक सम्यक्त्व भाव तथा चारित्र मोहनीयके क्षयसे ६ क्षायिक चारित्र भाव होता है।

६ क्षायिक भावोंमें से १ क्षायिक सम्यग्दर्शन तो चौथेसे सातवें तक के किसी गुणस्थान में, २ क्षायिक चारित्र बारहवेंमें और शेष सात तेरहवें गुणस्थानमें होते हैं।

क्षायिक भावोंका साधारण नियम है कि ये प्रकट हो जाने पर फिर नष्ट नहीं होते, मुक्त अवस्थामें भी सदा प्रकट रहते हैं।

यहां कोई कहे कि दान, लाभ, भोग, उपभोग तो करते नहीं सो ऐसे भाव कैसे होंय? उत्तर—यह कार्य तो रोगके उपचार थे, रोग रहा नहीं तब उपचार क्यों करें! अतः इन कार्योंका सद्भाव तो है नहीं किंतु इनको रोकने वाले कर्मका अभाव हो जानेसे ऐसे ऐसे भाव रूप शक्ति प्रकट हुई हुई कही जाती है। जैसे कोई कहीं जाना चाहता था, उसको किसी ने रोक रक्खा था तब दुखी था; उसका रोकना दूर होने पर वह जिस काम के लिए जाना चाहता था वह काम ही नहीं रहा इसलिए वह वहां जाता भी नहीं किंतु उसके वहां न जाते हुए भी वहां जाने रूप शक्ति प्रकट हुई कही जाती है। इसी प्रकार यह क्षायिक दान भाव आदि भी जानना।

इन ६ क्षायिक भावोंको ६ लब्धियाँ भी कहते हैं—

मुनि गणधर आदि सेवत महंत। नव केवल लब्धि रमाधरंत॥

दोहा—केवल दर्शन ज्ञान अरु, क्षायिक दान उपभोग।
समकित लोभ चरित्र औ, क्षायिक वीरज भोग॥३॥

नोट—यद्यपि सिद्धोंमें अघाति कर्मों के नाश—अभावसे क्षायिक अगुरुलघु आदि भी प्रकट हो जाते हैं पर वे अनुजीवी न होनेसे उनका यहां ग्रहण नहीं है क्योंकि वे जीवके असाधारण भाव न होनेसे दूसरे द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं और क्योंकि इनका प्रभाव आत्मा-व्यंजन (द्रव्य) पर होता है न कि गुणों पर अतः यह आत्माके भाव नहीं बनते।

क्षयोपशामक भावके १८ भेद

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ।५।

शब्दार्थ—अज्ञान = कुज्ञान। संयमासंयम = देशव्रत, अणुव्रत।

अर्थ—क्षयोपशमिक भावके मतिश्रुत अवधि मनःपर्यय ज्ञान रूप चार क्षयोपशमिक ज्ञान भाव, कुमति कुश्रुत कुअवधि कुज्ञान रूप तीन क्षयोपशमिक कुज्ञानभाव, चक्षु अचक्षु अवधि दर्शन रूप तीन क्षयोपशमिक दर्शनभाव, क्षयोपशमिक दान लाभ भोग उपभोग वीर्य ये पाँच क्षयोपशमिक लब्धियां रूपभाव, क्षयोपशमिक सम्यक्त्व भाव, क्षयोपशमिक चारित्र भाव और संयमासंयम-देशव्रत रूपभाव ये सब अठारह भेद हैं।

विशेष—घातिया कर्मों के क्षयोपशमसे १८ क्षयोपशमिक भाव होते हैं—ज्ञानावरणीके क्षयोपशमसे ४ क्षयोपशमिक ज्ञानभाव और ३ क्षयोपशमिक कुज्ञान भाव, दर्शनावरणीके क्षयोपशमसे ३ क्षयोपशमिक दर्शनभाव, अंतरायके क्षयोपशमसे ५ क्षयोपशमिक लब्धियां रूपभाव, तथा मोहनीयके क्षयोपशमसे क्षयोपशमिक सम्यक्त्वभाव क्षयोपशमिक चारित्रभाव और संयमासंयम रूप ३ भाव होते हैं।

घातिया कर्मोंमें दो प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं १ देशघाती २ सर्वघाती। अधिक देशघाति प्रकृतियां ऐसी हैं जिनमें देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकारके स्पर्धक होते हैं, केवल मोहनीय कर्मकी 'नोकषाय' और 'सम्यक् प्रकृति' में सर्वघाति स्पर्धक नहीं होते।

ज्ञानावरणकी देशघाति प्रकृति चार अतः इनके क्षयोपशमसे १ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ मनःपर्ययज्ञान चार क्षयोपशमिक ज्ञान प्रकट होते हैं। मिथ्यादृष्टिके तीन कुज्ञान और सम्यग्दृष्टिके चार सम्यग्ज्ञान-सुज्ञान इस प्रकार क्षयोपशमिक ज्ञान सात प्रकार का हो जाता है।

इन सब भावोंमें देशघाति स्पर्धकों का उदय होता है इसलिए इन्हें वेदक भाव भी कहते हैं।

सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय-कालसे एक समय पहले उदयरूप सजातीय देशघाति स्पर्धकोंमें

दोहा—लब्धिज्ञान अज्ञान दर्श, पाँच चार ते तीन।
समकित चरित संयमासंयम, मिश्रभेद गिन लीन ।४।

बदलना 'स्तिवुक' संक्रमण है और उनका देशघाति रूप फल देकर खिर जाना सर्वघाति स्पर्धकोंका 'उदयाभावी क्षय' है। द्रव्य क्षेत्र काल भावके निमित्त बिना, सर्वघाति स्पर्द्धकोंका बिना फल प्रकट किये खिर जाना भी उदयाभावी क्षय कहलाता है।

क्षयोपशमिक सम्यक्त्व भाव—दर्शन मोहनीयकी सर्वघाति प्रकृतियों—मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व—के उदयाभावी क्षय (उदयमें आनेवाले सर्वघाति स्पर्धकों का उदयके समयसे एक क्षण पहले अपने सजातीय उययरूप देशघाति-सम्यक् प्रकृति-स्पर्धकोंमें बदल तद्रूप फल दे खिरना अथवा उनका बिना फल प्रकट किये ही खिर जाना) तथा उन ही के भविष्यमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्था रूप उपशम और देशघाति सम्यक् प्रकृतिका उदय होने पर तथा अनंतानुबंधीकी चार प्रकृतियोंके विसंयोजन या अप्रशस्त उपशम होने पर जो भाव होते हैं वह 'क्षयोपशमिक सम्यक्त्व भाव' हैं, ऐसे भाव चौथेसे सातवें गुणस्थान तक क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके होते हैं।

क्षयोपशमिक चारित्र भाव—चारित्र मोहनीयकी प्रत्याख्यानावरणी के सर्वघाति स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे और आगामी कालमें उदय आनेवाले सत्तामें स्थित उन्हींके उदयमें न आने रूप उपशमसे तथा संज्वलन कषायके उदयसे जो भाव हों वह 'क्षयोपशमिक चारित्र भाव' है; यह भाव ६ टे ७ वें गुणस्थानमें होते है (ध. १ पृ. १७६)।

संयमासंयम भाव—चारित्र मोहनीयकी अप्रत्याख्यानावरणी कषायों के वर्तमान कालिक सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय और उन्हींके आगामी कालमें उदयमें आने योग्य निषेकों का सदवस्था रूप उपशम तथा प्रत्याख्यानावरणी कषायके देशघाति स्पर्धकोंका उदय होने पर जो भाव हों वह 'संयमासंयम भाव' हैं, यह भाव ५ वें देशव्रत नामक गुणस्थानमें होते हैं (ध. १ पृ. १७४—७५)।

औदयिक भाव के २१ भेद

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध
लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक षड्भेदाः ॥६॥

अर्थ—४ गति-मनुष्य देव नरक तिर्यंचगति-भाव, ४ कषाय-क्रोध मान माया लोभ कषाय भाव, ३ लिंग (भावलिंग)-पुरुष स्त्री नपुंसक लिंग-भाव, १ मिथ्यादर्शन-अतत्व श्रद्धान-भाव, १ अज्ञान-ज्ञानावरणीके उदयसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होने रूप-भाव, १ असंयम-संयम न होने

दोहा:—गति कषाय चउलिंगत्रय, मिथ्यादर्श अज्ञान।
असंयम असिद्धत्व छः—लेश्या उदयिक जान ॥५॥

रूप-भाव, १ असिद्धत्व-संसार-भाव और ६ लेश्या-कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल लेश्या-भाव इस प्रकार २१ औदयिक भाव हैं अर्थात् कर्मों (आठों कर्मों) के उदयसे ऐसे ऐसे २१ प्रकारके भाव होते हैं।

विशेष—गतिभाव-मनुष्य देव नरक तिर्यंच गतियोंमें गमन करनेके कारण रूप भावको अथवा गति नाम कर्मके उदयसे होने वाली जीवकी पर्यायके अनुकूल भावको 'गतिभाव' कहते हैं। मनुष्य गतिनामा नामकर्मके उदयसे मनुष्यगति रूप अल्पआरम्भ, अल्पपरिग्रह, विनय, भद्रता, सरलताके भाव होते हैं सो मनुष्य गतिनामके औदयिक भाव हैं, इत्यादि।

कषायभाव-जीवके सुख दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करने वाले संसार रूपी खेतको जो कर्षण करे, बढ़ावे, बोवे अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्र रूपी परिणामोंको जो कषे, घाते, न होने दे ऐसे भावको 'कषाय भाव' कहते है (गो. जी. गा. २८१-८२)। क्रोध कषाय (चारित्र मोहनीय) कर्मके उदयसे क्रोध रूप भाव सो क्रोध कषाय नामका औदयिक भाव है, इत्यादि।

लिंग-वेद भाव—वेद नामक नो (ईषत्) कषायके उदयसे पुरुष-स्त्री नपुंसक रूप रमने के भाव 'लिंग-वेद' औदयिक भाव है। स्त्रीसे रमनेके भाव पुरुष लिंग भाव, पुरुषसे रमनेके भाव स्त्रीलिंग भाव और पुरुष-स्त्री दोनोंसे एक साथ रमनेके भाव नपुंसकलिंग भाव है।

वेद दो प्रकार १ भाववेद, २ द्रव्यवेद; वेद नामक नो (ईषत्) कषाय कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके उदयसे पुरुष-स्त्री नपुंसक रूप रमनेके भाव 'भाव वेद', यह जीवके एक भवमें एक ही पुरुष अथवा स्त्री अथवा नपुंसक वेद ही रहता है (पंच संग्रह पृ० ६६)। अंगोपांग नामक नामकर्म रूप पुद्गल द्रव्यके उदयसे द्रव्य वेद-पुरुष स्त्री नपुंसकका शरीरमें लिंग-चिन्ह होता है जिससे जीव संसारमें पुरुष स्त्री अथवा नपुंसक रूप पहचाना जाता है।

भाववेद तथा द्रव्यवेद देवों और नारकियोंके तो समान ही होता है, मनुष्य और तिर्यंचोंमें भी अधिकतर तो समान ही होता है किंतु कहीं-कहीं विषमता भी हो जाती है अर्थात् भाववेद दूसरा और द्रव्यवेद दूसरा।

मिथ्यादर्शन भाव—मोहनीय कर्म मिथ्यात्वके उदयसे अतत्वश्रद्धान रूप भाव।

अज्ञानभाव—ज्ञानावरणी कर्म के उदयसे (पदार्थका) ज्ञान नहीं होने रूप भाव।

असंयत भाव—चारित्र मोहनीयके सर्वघाति स्पर्धकोंके उदयसे संयम न होने रूप भाव।

असिद्धभाव—आठों ही कर्मोंके उदयसे असिद्ध-संसारीके भाव; अष्ट कर्मोंके सामान्य उदयको असिद्धत्व कहते हैं (ध० ५ पृ० १८९)।

लेश्या—मन वचन कायकी कषाय सहित प्रवृत्ति अर्थात् योग और कषाय इन दोनोंका जोड़ रूप परिणमन, जिसके द्वारा जीव अपनेको कर्मोंसे लेहसे-लिप्त करे उसे लेश्या कहते है

(गो. जी. गा. ४८८-८६)। लेश्या दो प्रकार १ भाव लेश्या २ द्रव्यलेश्या, योगकी कषाय सहित प्रवृत्ति भाव लेश्या और वर्णनामकर्मके उदयसे देहका रंगरूप द्रव्यलेश्या है। ये दोनों ही प्रकाको लेश्याएं छः छः प्रकारकी होती हैं १ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ पीत ५ पद्म ६ शुक्ल। संसारी जीव इन्हींके द्वारा कर्म बांधते हैं।

जीवोंकी कापोत लेश्याको तीव्र, नीलको तीव्रतर तथा कृष्णको तीव्रतम परिणाम कहा है और पीतको मंद, पद्मको मंदतर तथा शुक्लको मंदतम माना है।

फलकी इच्छासे ६ लेश्या वाले मनुष्योंके भाव-- १ कृष्णवालेके-समूल वृक्ष छेदनेके, २ नील वालेके-वृक्षस्कंध (तना) छेदनेके, ३ कापोत वालेके शाखा छेदनेके, ४ पीतवालेके उपशाखा (टहनी) छेदनेके, ५ पद्मवालेके केवल फल तोड़नेके और ६ शुक्लवालेके-बिना कुछ तोड़े स्वयं टपके हुए फल ग्रहणके।

१ कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति--रागद्वेष रूप ग्राहसे ग्रसित रहता है, दुराग्राही, दुष्ट-अभिप्राय वाला होता है, तीव्र क्रोधादिके चक्करमें रहता है, निर्दयी, मद्यमांसमें लंपटी सर्वदा अभक्ष्य भक्षणमें आसक्त होता है।

२ नील लेश्या वाला-क्रोधी, मानी, मायाचारी, लोभी, रागी, द्वेषी, मोही, शोक करने वाला, हिंस्र चोर, क्रूर, मूर्ख, ईर्षालु, कामी, सुस्त, कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका विचार न करने वाला, महा कारुवत, बहुपरिग्रही, बहु आरंभी होता है।

३ कापोत लेश्या वाला-शोक भय मत्सर परनिंदा आत्मप्रशंसामें तत्पर, कोई उसकी प्रशंसा करे तो बड़ा प्रसन्न-प्रशंसा करने वालेको सब कुछ दे डालने वाला, हानि लाभ न समझने वाला, रणमें मरनेका इच्छुक और पराये यशका नाश चाहने वाला होता है।

४ पीतलेश्या वाला-समदृष्टि, उदार, दयालु, चतुर, किसीसे द्वेष न करने वाला और हिताहितका जानने वाला होता है।

५ पद्मलेश्या वाला-पवित्र, दानशील, भद्र, विनयशील, प्रियभाषी, इष्ट-अनिष्ट उपद्रवोंको सहने वाला, साधुजनोंका पूजक और स्वतः साधु होता है।

६ शुक्ल लेश्यावाला-निदान नहीं करता, अहंकार पक्षपात रहित, रागद्वेषसे विमुख और सब जीवोंमें समदर्शी होता है।

चौथे गुणस्थान तक छहों लेश्या होती हैं। पांचवें छटे सातवेंमें तीन शुभ लेश्याएं ही होती हैं। इसके आगे आठवें अपूर्व करणसे तेरहवें सयोगकेवली तक एक शुक्ल लेश्या होती है। अयोग केवली १४ वां गुणस्थान लेश्या रहित है। यह सब भाव लेश्याका कथन है।

अकषाय जीवोंके अर्थात् ११, १२, १३ वें गुणस्थानमें जो लेश्या बताई है वह मुख्य रूप से तो 'योगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं' इस अपेक्षासे है क्योंकि वहां पर योगका ही

सद्भाव है, अथवा यों कहिए कि इन गुणस्थानोंमें कषायके अभाव में लेश्याका उपचार मात्र किया गया है—कहने मात्र को है।

द्रव्य लेश्या (शरीर का वर्ण-रंग)—संपूर्ण नारकी कृष्ण वर्ण है। कल्पवासीदेवों की द्रव्यलेश्या भावलेश्याके सदृश होती है। विक्रियाके द्वारा उत्पन्न शरीरका वर्ण भी छः प्रकार मेंसे किसी एक प्रकारका होता है। उत्तम भोगभूमि वालोंका सूर्य समान, मध्यम् भोगभूमिज का चन्द्र समान तथा जघन्य भोगभूमिजका हरित वर्ण शरीर होता है।

बादरजलकायिककी द्रव्यलेश्या शुक्ल, बादरतेजकायिककी पीत होती है। वायुकायके तीन भेद हैं १ घनोदधिवात २ घनवात ३ तनुवात, इनमें से प्रथमका शरीर गोमूत्र वर्ण, दूसरेका मूंग समान और तीसरेके शरीरका वर्ण अव्यक्त है।

सब सूक्ष्म जीवोंकी देह कापोत वर्ण है। विग्रह गतिमें सब जीवोंका शरीर शुक्ल वर्ण होता तथा अपनी अपनी पर्याप्तिके प्रारम्भ समयसे शरीर पर्याप्ति पर्यंत समस्त जीवोंका शरीर नियमसे कापोत वर्ण होता है।

लेश्याएं कषाय और योग दोनोंसे उत्पन्न हुई परणति विशेष हैं फिर भी इनमें कर्मोदय की मुख्यता होनेसे इन्हें औदयिक भावोंमें लिया है।

कर्मोंकी जातियां और उनके उत्तरोत्तर भेद अनेक हैं इसलिए उनके उदयसे होने वाले भाव भी अनेक हैं, पर यहां मुख्य-मुख्य २१ ही औदयिक भाव लिये हैं।

इन सब भावोंमें कर्मोंका उदय निमित्त है अतः ये भाव औदयिक भाव कहलाते हैं।

ज्ञानावरणी कर्मके उदयसे अज्ञान रूप भाव; मोहनीयके उदयसे कषाय रूप, लिंगरूप असंयमरूप, मिथ्यादर्शन रूप भाव; नामकर्मके उदयसे गतिरूप भाव; और आठों कर्मोंके उदयसे १३वें गुणस्थान तक लेश्यारूप भाव तथा १४ वें तक असिद्धत्व रूप औदयिक भाव होते हैं।

नोट—जीवके कुछ औदयिक भाव ही बंधके कारण हैं, सब औदयिक भाव नहीं—जैसे १४ वें गुणस्थानके ८५ प्रकृतियोंके असिद्धत्व रूप औदयिक भाव नहीं, मात्र मोहनीयकर्म के उदयसे होने वाले औदयिक भाव ही बंधके कारण हैं।

पारिणामिक भावके ३ भेद

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

शब्दार्थ-जीवत्व=चैतनत्व। भव्यत्व=सम्यक्त्व प्रकट करने की योग्यता। अभव्यत्व= सम्यक्त्व प्रकट करने की अयोग्यता।

अर्थ—१ जीवत्व भाव २ भव्यत्व भाव ३ अभव्यत्व भाव जीवके असाधारण (अन्य द्रव्य

में नहीं पाए जाने वाले) तीन पारिणामिक भाव हैं।

विशेष-जीवत्वके दो भेद १ जीवनक्रिया अर्थात् प्राण-सापेक्ष जो संसारी जीवोंमें इन्द्रिय विकासके अनुसार असमान होता है २ चैतन्यगुण-सापेक्ष जो संसारी और सिद्ध सभी जीवों में समान है; यहां नं २ को ही जीवत्व भावमें लिया है।

जीवत्वका अर्थ जीवन है। ज्ञानादि गुणयुक्त रहनेको जीवन कहते हैं। एक शरीर छूट जाने पर दूसरा शरीर जब तक नहीं मिलता तब तक संसारी जीवको मरा हुआ कहते हैं। इसका भी यही अर्थ है कि विग्रहगतिके क्षेत्रमें जीव ज्ञान दर्शन रहित-सा हो जाता है। ज्ञान होनेकी केवल क्षयोपशम रूप योग्यता रह आती है परंतु उपयोगी ज्ञान वहां कुछ भी नहीं रहता (निरुपभोगमन्त्यम्'—सूत्रकी व्याख्यामें कार्मण शरीरको इंद्रिय ज्ञान कराने केलिए असमर्थ बताया है)। शरीर नाश होनेसे नवीन ज्ञान तो होता ही नहीं परंतु पूर्वके संस्कार भी शरीरके साथ ही छूट जाते हैं, क्योंकि संस्कार भी उपयोगी ज्ञान है। यही कारण है कि अगले जन्ममें पीछे जन्म संबंधी थोड़ा-सा स्मरण भी नहीं होता, (किसी किसीको सुनते हैं कि स्मरण हो आता है, कारण यह प्रतीत होता है कि जो जीव एक ही समयमें दूसरा शरीर धार लेते हैं वे अनाहारक नहीं हो पाते अतः संस्कार शून्य भी एक दम नहीं हो पाते, संभव है उन्हींको पिछले जन्मका स्मरण कुछ होता हो परंतु अनाहारक न होकर अगला शरीर धारण करने वाले विरले ही होते हैं) तत्वार्थ सार पृ. ५२।

भव्यत्व और अभव्यत्व भाव भी जीवके पारिणामिक भाव हैं, इनमें भी कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं होती केवल शक्तिके प्रकट होनेकी योग्यता अयोग्यताकी अपेक्षा ये पारिणामिक भाव हैं। सिद्धोंमें भव्यत्वका भी अभाव कहा है (देखो अध्याय १० सूत्र ३); इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि वहां यह निरुपयोगी हो जाता है इसलिए असत् के तुल्य ही है। यह दोनों गुण अर्थात् पारिणामिक भाव सब जीवोंमें नहीं होते, जिनमें एक होता है उनमें दूसरा नहीं होता।

प्रश्न—अस्तित्व, प्रदेशत्व आदिक भाव भी पारिणामिक हैं क्योंकि इनमें भी कर्मोंके उदय, उपशम आदिकी कोई अपेक्षा नहीं है फिर सूत्रमें इन्हें क्यों नहीं लिया?

उत्तर—जीवके असाधारण, असामान्य अथवा विशेष पारिणामिक भाव वे हैं जो केवल जीवमें ही पाए जावें अन्य किसी द्रव्यमें नहीं और वे मात्र जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व तीन ही हैं अधिक नहीं हैं, ये तीनों भाव अनादि सिद्ध हैं। साधारण, सामान्य अथवा विशेष

दोहा—पारिणामिक के भेद त्रय, भव्याभव्य अरु जीव।
उपयोग भेद द्वै अष्ट चउ, सो है लक्षण जीव ॥६॥

रहित पारिणामिक भाव वे हैं जो जीव और अजीवद्रव्य—पुद्गल धर्म आदिमें भी होते हैं, ऐसे साधारण पारिणामिक गुण अनेक हैं, यह भी अनादि सिद्ध हैं; आचार्यवर्य ने 'च' शब्दसे इनका ग्रहण किया भी है, फिर भी मुख्यता असाधारण इन तीन परिणामोंकी ही है।

गुणस्थान

जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक यह पांच प्रकारके भाव अर्थात् गुण हैं। इन गुणोंके साहचर्यसे आत्मा भी गुण संज्ञा को प्राप्त होता है, (ध. १ पृ. १६०-६१)। आत्माके इन भावों अथवा गुणोंकी तारतम्य अवस्था विशेषको 'गुणस्थान' कहते हैं। अथवा यों कहिए कि अशुद्धताको घटाते हुए व शुद्धता को प्राप्त करते हुए संसारी जीवके मोक्ष तक पहुँचनेके लिए जो पद, श्रेणियाँ, अथवा दर्जे—कक्षाऐं हैं उन्हें उसके 'गुणस्थान' कहते हैं। मोक्ष साधक गुणोंके उत्तरोत्तर प्रकर्ष का नाम गुणस्थान है।

संसारी जीवोंके यह गुणस्थान-दर्जे १४ हैं—१ मिथ्यात्व २ सासादन ३ मिश्र (सम्यक्मिथ्यात्व) ४ असंयत सम्यक्त्व ५ संयतासंयत ६ प्रमत्तसंयत ७ अप्रमत्तसंयत ८ अपूर्व-करण ९ अनिवृत्तिकरण १० सूक्ष्म सांपराय ११ उपशांत कषाय १२ क्षीणकषाय १३ सयोग-केवली और १४ अयोगकेवली। मोहनीयकर्म तथा योगोंकी अपेक्षा इनके यह नाम हैं। इनमें प्रथम चार गुणस्थान तो दर्शन मोहनीयके उदय, अनुदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षासे हैं। पांचवेंसे १२वें तकके आठ गुणस्थान चारित्र मोहनीयके उपशम, क्षयोपशम व क्षय की, और १३वें तथा १४वें में योग के सद्भाव और अभावकी अपेक्षा है।

१ मिथ्यात्व—मिथ्यात्व (दर्शन मोहनीय) कर्मके उदयसे तथा चारित्र मोहनीयकी अनंतानुबंधी चारों कषायोमेंसे किसीका उदय होनेसे 'मिथ्यात्व' होता है। इस गुणस्थानमें आत्मा जीवादि तत्त्वोंका उलटा ही श्रद्धान करता है, एकांतग्राही—हठी होता है, उसके अनंतानुबंधी (अनंत संसारके कारण) क्रोध मान माया लोभका ही विशेष प्राबल्य रहता है। जिस प्रकार पित्तज्वर वाले रोगी को दुग्धादि रस कड़वे लगते हैं वैसे ही उसको भी समी-चीन धर्म अच्छा नहीं लगता। औदयिक भावकी अपेक्षासे ही यह गुणस्थान है अर्थात् इसमें मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधीका ही विशेष उदय रहता है।

सबसे अधिक जीव (अनंतानंत) इस गुणस्थान में ही हैं—एकेन्द्रियसे असंज्ञीपंचेन्द्रिय तक तो सभी मिथ्यादृष्टि हैं, संज्ञी पचेंद्रियोंमें भी बहु भाग मिथ्यादृष्टियोंका ही है। यह गुण-स्थान चारों ही गतियोंमें होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थानसे कोई (सादिमिथ्यादृष्टि) तीसरेको, कोई चौथे पांचवें सातवेंको प्राप्त करता है किंतु अनादि मिथ्यादृष्टियोंमेंसे कोई चौथे, कोई पांचवें और कोई सातवेंको

ही। छटे अथवा छटेसे नीचे दूसरे गुणस्थान तकके जीव यदि गिरें तो एकदम भी इस पहले गुणस्थानमें आ सकते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थानमें मोक्षोपयोगी शक्तिका प्रादुर्भाव नहीं होता इसलिए यह जीव स्वभावका सबसे निकृष्ट स्थान है। इससे ऊपर जब कुछ परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे थोड़ा सा आत्मज्ञान हो आता है तब उसे मोक्षोपयोगी स्थान प्राप्त होता है; यह चौथा गुणस्थान है। उससे नीचे गिरते समय जो मलिन परिणाम होते हैं उनके तीन विभाग हैं। परिणाम अत्यंत मलिन हो गया हो तो प्रथम गुणस्थान (मिथ्यात्व) हो जाता है, उस समय मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी दोनोंका उदय हो आता है। यदि मिथ्यात्वका उदय न होकर केवल अनंतानुबंधीका उदय हुआ हो तो परिणाम कुछ कम मलिन होंगे, इसका नाम दूसरा सासादन गुणस्थान है। यदि परिणाम इससे भी कम मलिन हुए हों अर्थात् कुछ विशुद्धसे भी हों तो तीसरा मिश्र गुणस्थान हो जाता है।

२ सासादन-सम्यक्त्वकी विराधनाको आसादन कहते हैं। स+आसादन=सासादन अर्थात् जो सम्यक्त्वकी विराधना सहित हो।

मिथ्यात्वके उदय नहीं होते हुए ही अनंतानुबंधी किसी एक कषायके उदयसे जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, जो मिथ्यात्वकी ओर झुका हुआ है किंतु अभी मिथ्यात्व गुणस्थान रूप भावोंको प्राप्त नहीं हुआ है ऐसा जीव सासादन गुणस्थान वाला होता है। इसमें अनंतानुबंधीके उदयमें अनंतानुबंधीजन्य ही विपरीत अभिप्राय होता है मिथ्यात्वजन्य नहीं।

यह गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके बिना ही उत्पन्न होता है अतः दर्शन मोहनीयकी अपेक्षा इसमें पारिणामिक भाव है (ध.१ पृ. १६५)। अनंतानुबंधीका उदय गौण है। अनन्तानुबंधी रूप चारित्रमोहनीय कर्मका उदय होनेसे इस गुणस्थानमें चारित्रमोहनीय कर्मकी अपेक्षासे 'औदयिक भाव' भी कहे जा सकते हैं (जैन सिद्धांत प्रवे. प्रश्न ५६४)।

सासादन गुणस्थानका काल जघन्य १ समय, उत्कृष्ट ६ आवली है। आँखको टिमकार से भी कम कालकी १ आवली होती है। जीव अधिकसे अधिक ६ आवली इस गुणस्थानमें रह अवश्य ही पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें आ जाता है। उपशम सम्यक्ती जीव ही चौथे पांचवें छटेसे सासादनमें आता है। सासादन वाला ऊपरके गुणस्थानोंमें तो जाता ही नहीं।

सासादन गुणस्थान भी चारों ही गतियोंमें होता है; इसमें ५२ करोड़ मनुष्य और श्रावकोंसे असंख्यात गुणे शेष तीन गतियोंके जीव हैं।

३ मिश्र (सम्यक्मिथ्यात्व)—सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जीवके न तो केवल सम्यक्त्वरूप परिणाम होते और न केवल मिथ्यात्व रूप, किंतु मिले हुए दही गुड़ के स्वाद

की तरह एक भिन्न ही प्रकारके मिश्र भाव होते हैं, इसीलिए इसे 'मिश्र' गुणस्थान कहते हैं। इसमें क्षयोपशमिक भाव है, मारणांतिक समुद्घात अथवा मरण नहीं होता और न आयुबंध हो। यहां जीव की समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि-श्रद्धा-रुचि युगपत् होती है।

नोट—मिश्रगुणस्थानवाले जीवने इस गुणस्थानको प्राप्त करनेसे पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूपके परिणामोंमें से जिस जातिके परिणाम कालमें आयु कर्मका बंध किया हो उसही तरहके परिणामोंके होने पर उसका मरण होता है (गो.जी.गा.२४ छोटी टीका), कुछ आचार्योंका अभिप्राय इस नियम के विरुद्ध है वे कहते हैं कि कोई जीव सम्यक्त्वमें आयुका बंध करे फिर मिश्रको प्राप्त होवे पीछे सम्यक्त्वको वा मिथ्यात्वको प्राप्त होकर मरे, अथवा मिथ्यात्वमें परभवका आयु बांध मिश्रमें जा फिर सम्यक्त्वको वा मिथ्यात्वको प्राप्त होय मरे (देखो गो. जी. बड़ी टीका)।

शंका—एक जीवमें एकसाथ सम्यक् और मिथ्या रूप दृष्टि संभव नहीं, क्योंकि इन दोनों दृष्टियोंका एक जीवमें एकसाथ रहनेमें विरोध आता है; यदि कहा जावे कि ये दोनों दृष्टियां क्रमसे एक जीवमें रहती हैं तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नामके स्वतंत्र गुणस्थानों में ही अंतर्भाव मानना चाहिए; अतः यह गुणस्थान बनता ही नहीं!

समा—यह बात नहीं, क्योंकि आत्मा अनेक धर्मात्मक है इसलिए उसमें एकसाथ अनेक धर्मोंके रहनेमें कोई बाधा नहीं आती।

आशंका—जिन धर्मोंका आत्मामें एकसाथ रहनेमें विरोध नहीं है वे रहें किंतु सब धर्म तो एक आत्मामें एकसाथ रह नहीं सकते!

समाः—ठीक है, परस्पर विरोधी और अविरोधी सब धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहना असंभव है। अगर ऐसा मानलें तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व अभव्यत्व आदि धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहनेका दोष आवेगा; अतः अनेकांतका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि सब परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मामें एक साथ रहते हैं किंतु इसका तात्पर्य यह है कि जिन धर्मोंका जिस आत्मामें अत्यंत अभाव नहीं है वे धर्म उस आत्मामें किसी काल और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपत् भी पाए जा सकते हैं। इस प्रकार जबकि समीचीन और असमीचीन श्रद्धाओंका क्रमसे एक आत्मामें रहना सम्भव है तो कभी किसी आत्मामें एक साथ भी उन दोनोंका रहना हो सकता है! यह सब काल्पनिक नहीं है क्योंकि अन्य देवता और अर्हंतभगवानमें एक साथ श्रद्धा रखने वाले पुरुष देखे जाते हैं (ध.१५.१६६-६८)।

मित्रामित्र न्यायसे एक काल और एक ही आत्मामें मिश्ररूप परिणाम हो सकते हैं। जिस प्रकार देवदत्त नामक किसी मनुष्यमें यज्ञदत्तकी अपेक्षा मित्रपना और सोमदत्तकी अपेक्षा अमित्रपना ये दोनों (विरोधी) धर्म एक ही कालमें रहते हैं और उनके रहनेमें कोई

विरोध नहीं, उस ही प्रकार सर्वज्ञ कथित पदार्थके स्वरूपके श्रद्धानकी अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभास कथित अतत्व श्रद्धानकी अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनों ही धर्म एक काल और आत्मामें घटित हो सकते है, इसमें कोई भी विरोध आदि दोष नही (गो.जी.गा. २१ ।

तीसरे गुणस्थानसे दो मार्ग है—१ चढ़े तो ऊपर चौथेमें और २ गिरे तो पहलेमें। इसमें कोई (सादिमिथ्यादृष्टि) पहलेसे और कोई चौथे पांचवें छटेसे एक दम आ सकता है।

यह गुणस्थान भी चारों गतियोंमें होता है, इसमें १०४ करोड़ मनुष्य और सासादन वालोंसे संख्यात गुणे तीन गतिके जीव है।

४ असंयत सम्यक्त्व—दर्शन मोहनीयकी एक अथवा दो अथवा तीन और अनंतानुबंधी की चार इन पांच, छः अथवा सात प्रकृतियोंके उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशमसे और अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान माया अथवा लोभके उदयसे व्रतरहित सम्यक्त्वधारी चौथे गुणस्थानवर्ती होता है। यह इन्द्रियोंके विषयों-इन्द्रियअसंयमसे तथा त्रसस्थावरोंकी हिंसा प्राणअसंयम से विरक्त नहीं होता फिर भी बिना प्रयोजन किसी हिंसामें प्रवृत्त नहीं होता।

इस गुणस्थानमें मुख्यतया औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षयोपशमिक भाव रहते है। इस और इसके ऊपरके गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन और इसका अविनाभावी सम्यक्ज्ञान अवश्य होता है। यहां पर 'असंयत' शब्द अंतदीपक है अतः इस तथा इससे नीचेके तीनों गुणस्थान वाले जीव सब असंयत होते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारके है-१ क्षायिक सम्यग्दृष्टि २ उपशम सम्यग्दृष्टि ३ वेदकसम्यग्दृष्टि।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उपरोक्त सातों प्रकृतियोंके क्षय-सर्वथा विनाश करनेसे होता है, यह फिर कभी भी मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता, प्रयोजन भूत तत्वों तथा सच्चे देव शास्त्र गुरुमें किसी प्रकारका संदेह नहीं करता और न मिथ्यात्वजन्य अतिशयोंको देखकर विस्मय ही करता है; यहाँ भाव क्षायिक होते है।

उपशम सम्यग्दृष्टि उपरोक्त पाँच, छः अथवा सातों प्रकृतियोंके उपशम करनेसे होता है। यह भी क्षायिक जैसा ही होता है किंतु परिणामोंके निमित्तसे सम्यक्त्वको छोड़ कभी मिथ्यात्वमें, कभी सम्यक् मिथ्यात्व (मिश्र) में चला जाता है, कभी सासादनको प्राप्त करता है और कभी वेदक सम्यक्त्वसे भी मेल कर लेता है, इसमें भाव औपशमिक रहते हैं।

अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यआत्मा अथवा अनादि-जैसा ही सादि मिथ्यादृष्टि दर्शनमोहनीय की एक अर्थात् मिथ्यात्व और चारित्रमोहनीयकी अनंतानुबंधी चौकड़ी ऐसी पांच प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। सादिमिथ्यादृष्टि जिसने उद्वेलन घात द्वारा सम्यक् प्रकृतिका उद्वेलन कर दिया है अर्थात् सम्यक् प्रकृतिके परमाणुओंको मिथ्यात्व और मिश्रमें मिला दिया है और इनकी स्थितिको सागर पृथक्त्वमें ही कर दिया है उसको दर्शन मोहनीय

की १ मिथ्यात्व और २ सम्यक्मिथ्यात्व (मिश्र) तथा चारित्रमोहनीयकी अनंतानुबंधी चौकड़ी ऐसी छः प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है; और सादि मिथ्यादृष्टि ही जिसने अभी तक उद्वेलन घात क्रिया द्वारा सम्यक् प्रकृति अथवा मिश्रमेंसे किसी का भी उद्वेलन नहीं किया है किंतु इन तीनोंकी स्थिति सागर पृथक्त्वमें ही रह गई है वह दर्शन मोहनीयकी १ मिथ्यात्व २ मिश्र ३ सम्यक् प्रकृति और चारित्र मोहनीयकी अनंतानुबंधीकी चौकड़ी ऐसी सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यग्दृष्टि बनता है।

यह दोनों सम्यग्दर्शन अर्थात् क्षायिक और उपशम सम्यग्दर्शन १ निर्मल हैं २ निश्चल हैं और ३ गाढ़ है क्योंकि यहां इनमें देशघाती सम्यक्प्रकृतिका भी क्षय अथवा उपशम होजाता है

वेदक (क्षयोपशमिक) सम्यग्दृष्टि-उपरोक्त सात प्रकृतियोंमें से दर्शन मोहनीयकी दो (मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व) प्रकृतियोंका तो उदयाभावी क्षय और चारों अनंतानुबंधीका विसंयोजन अथवा अप्रशस्त उपशम तथा एक सम्यक्प्रकृतिके उदय होने पर होता है। यह शिथिल श्रद्धानी होता है। इसके परिणाम चल, मलिन, अगाढ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अंतर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट ६६ सागर तक कर्मोंकी निर्जराके कारण होते हैं, भाव क्षायोपशमिक हैं।

क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन एक योग्य जीवके एक भवमें कई बार भी हो सकता है।

मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व गुणस्थानसे सबसे पहले उपशम सम्यक्त्व होता है। सो संमूर्छन जीवोंके अतिरिक्त चारों ही गतिके अनादि अथवा सादि मिथ्यादृष्टियोंमें केवल संज्ञी, पर्याप्तक, मंदकषायी, भव्य जीवोंके जागृत ज्ञानोपयोग अवस्थामें तथा पांचवीं करणलब्धिमें उत्कृष्ट अनिवृत्तिकरणके अन्त समयमें 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व' प्रकट होता है; इनमें भी जिनके उत्कृट अथवा जघन्य स्थितिबंध और उत्कृष्ट अथवा जघन्य स्थिति अनुभाग प्रदेशका सत्व होगा उनके इसकी प्राप्ति नहीं होगी (रत्नकरंड श्रावका. पृ. १०१)।

१ क्षयोपशम २ विशुद्धि ३ देशना ४ प्रायोग्य और ५ करण यह पांच लब्धियां हैं। 'लब्धि' शब्दके अर्थ प्राप्ति है, यहां सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य सामग्रीकी प्राप्ति होना ही 'लब्धि' है।

तत्व विचार योग्य मतिश्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम 'क्षयोपशम लब्धि' है। कर्मोंके इस प्रकार क्षयोपशम होने पर ही तत्व विचार हो सकता है।

मोहके मंद उदयसे मंद कषाय रूप भावोंका होना जिनमें तत्व विचार हो सके 'विशुद्धि लब्धि' है, इसमें क्षयोपशम लब्धिके प्रभावसे धर्मानुराग रूप शुभ परिणाम होते हैं।

छः द्रव्यों और नौ पदार्थोंके उपदेशकी प्राप्ति 'देशना लब्धि' है। नरक आदि में जहां सद्शास्त्र, सद्गुरु आदिके उपदेशका निमित्त नहीं होता वहां पूर्व संस्कारसे देशना लब्धि काम कर जाती है।

कर्मोंकी पूर्व सत्ता घट कर अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जावे और नवीन बंध अंतःकोड़ाकोड़ी सागरके संख्यातवें भाग मात्र होवे सो भी इस लब्धिके समयसे क्रम से घटता घटता होवे, कितनी ही पाप प्रकृतियोंका बंध क्रमसे मिटता जावे इत्यादि अवस्थाका होना 'प्रायोग्य लब्धि' है। अथवा धवला ६ पृ. २०४-०५ परके शब्दोंमें सब कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभागको घात करके अंतः कोड़ाकोड़ी स्थितिमें और द्विस्थानीय अनुभागमें अवस्थान करने को 'प्रयोग्य लब्धि' कहते हैं।

घातिया कर्मोंकी अनुभाग शक्ति लता, दारू (लकड़ी), अस्थि (हड्डी), शैलके समान चार प्रकार को होती है, यह सब पाप रूप ही पड़ती है।

अघातिया कर्मोंमें १ पुण्यप्रकृति रूप २ पापप्रकृति रूप दो विभाग हैं। पुण्यरूप अघातिया कर्मोंकी अनुभाग शक्ति गुड़, खांड, शक्कर और अमृत समान तथा पाप रूप कर्मोंकी नींबू, कांजीर, विष और हलाहलके समान हीनाधिकता सहित होती है।

प्रायोग्यलब्धि द्वारा घातिया कर्मोंका अनुभाग घटकर लता और दारू इन दो स्थानोंमें तथा अघातिया कर्मोंकी पाप रूप प्रकृतियोंका अनुभाग नींबू और कांजीर इन दो स्थानोंमें अवस्थान होने को द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान कहते हैं।

यह चारों लब्धियां तो सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंके हो जाती हैं। अतः यह आवश्यक ही नहीं कि इनके होने पर सम्यक्त्व होवे ही, सम्यक्त्व हो भी जावे अथवा न भी हो। किंतु पांचवीं 'करणलब्धि' उन्हीं भव्य जीवोंके होती है जिनको उपरोक्त चार लब्धियोंके अंतर्मुहूर्त पीछे ही सम्यक्त्व होना होता है। इसीलिए नियम है कि करणलब्धिके होने पर सम्यक्त्व होय ही होय अर्थात् अवश्य होता है।

करणलब्धि प्राप्त वाले व्यक्तिके बुद्धि पूर्वक तो इतना ही उद्यम है कि वह तत्वविचारमें तद्रूप होकर उपयोगको लगाता है, इससे उसके परिणाम समय-समय निर्मल होते जाते हैं। करणलब्धिके तीन भेद हैं १ अधःकरण २ अपूर्वकरण ३ अनिवृत्तिकरण। इसके यह भेद त्रिकालवर्ती सब करणलब्धि वाले जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षासे हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है—

अधःकरण प्रायोग्य लब्धिके अनन्तर ही होता है, इसका काल अंतर्मुहूर्त है जिसमें असंख्यात समय होते हैं। यहां जैसे विशुद्ध परिणाम प्रथम समय में होते हैं वैसे ही (नाना जीवोंकी अपेक्षा) तथा उनसे अनंत गुणे निर्मल (एक अथवा नाना जीवोंकी अपेक्षा) दूसरे समयमें होते हैं, जैसे विशुद्ध परिणाम दूसरे समयमें होते हैं वैसे ही (नाना जीवोंकी अपेक्षा) तथा उनसे अनंतगुणे निर्मल [एक अथवा नाना जीवोंकी अपेक्षा] तीसरे समयमें; इसी प्रकार अधःकरणके अंतिम समय तक चलते हैं। अथवा किसी जीवके दूसरे तीसरे आदि समयमें

जैसे परिणाम हों वैसे ही परिणाम कसी दूसरे जीवके पहले ही समयमें हो जाते हैं। इस भांति अधःकरणमें ऊपरके समयोंके परिणाम नीचले समयों संबंधी परिणामोंके समान भी हो जाते हैं, इसीलिए इसका अधः-नीचे-जैसे, करण=परिणाम-भाव='अधःकरण' नाम सार्थक ही है।

अधःकरणके परिणामोंके प्रभावसे चार आवश्यक होते हैं १ समय-समय अनंतगुणी विशुद्धता २ स्थिति बंधापसरण [इसके अंतर्मुहूर्त काल तक नवीन बंधकी स्थिति कमकम] ३ प्रतिसमय प्रशस्त प्रकृतियोंमें अनंतगुणा अनुभागका बढ़ना ४ अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग [फलदान शक्ति] समय समय अनंतवें भाग होना। अधःकरणके अंतर्मुहूर्त कालके अनंतर अपूर्वकरण होता है।

अपूर्वकरणका काल भी अंतर्मुहूर्त मात्र किंतु अधःकरणके कालका असंख्यातवां भाग है इस करणके परिणाम नीचे समय संबंधी परिणामोंके समान न होकर उनसे अनंतगुणे निर्मल ही होते हैं। प्रथम समयकी उत्कृष्ट विशुद्धतासे दूसरे समयकी जघन्य विशुद्धता भी अनंतगुणी होती है। अपूर्वकरण के प्रथम समयसे अंत समय तक अपने जघन्यसे अपना उत्कृष्ट और पूर्व समयके उत्कृष्टसे अगले समयका जघन्य परिणाम क्रमशः अनंतगुणी निर्मलताके साथ सर्प की चालवत चलता है; इसी से इसका नाम अपूर्वकरण है।

अपूर्वकरणके परिणामोंसे इसमें तीन और आवश्यक होते हैं—१ स्थितिकांडक घात (सत्तारूप पहले कर्मोंकी स्थिति घटना) २ अनुभागकांडक घात (सत्तारूप पूर्व कर्मोंका अनुभाग घटना) ३ गुणश्रेणीनिर्जरा (प्रतिसमय असंख्यात गुणे कर्म निर्जरने योग्य होने)। अपूर्व करणके अनन्तर अनिवृत्तिकरण होता है।

अधःकरणके परिणामों-भावोंकी संख्या असंख्यातलोक प्रमाण अर्थात् लोकप्रदेशोंके प्रमाणसे असंख्यात गुणी है। अपूर्वकरणके परिणाम अधःकरणके परिणामोंसे असंख्यात लोक गुणित हैं। अनिवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्या उसके कालके समयोंके समान है अर्थात् अनिवृत्तिकरणके कालके जितने समय हैं उतने ही उसके परिणाम हैं (नाना जीवोंकी अपेक्षा)।

अनिवृत्तिकरणका काल भी अंतर्मुहूर्त मात्र किंतु अपूर्वकरणके कालका असंख्यातवेंभाग है। यहां समान—समयवर्ती अनेक जीवोंके परिणामोंमें निवृत्ति-भेद नहीं होता, एक समयवर्ती सब जीवोंके परिणाम एक-से निर्मल होते हैं। इसमें पूर्वोक्त आवश्यकों सहित इस करणका बहुभाग बीतने पर 'अंतर करण' तथा' उपशम विधान होता है।

दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधीचतुष्कके नीचे व ऊपरके निषेकोंको छोड़ उनके बीचके कितने ही निषेकोंका द्रव्य नीचे व ऊपरके निषकोंके द्रव्यमें पड़ कर बीचके निषेकोंके अभाव होने को 'अंतरकरण' कहते हैं। और इसी अनिवृत्तिकरणके अंत समयमें अंतरकरण द्वारा

ऊपरके निषेकोंमें मिलाए हुए निषेकोंका अथवा पहले स्थित ऊपरके निषेकोंका उपशम सम्यक्त्वके लिए खाली हुए कालमें उदीरणासे उदयमें न आने योग्य होना 'उपशमविधान' है।

उपशम दो प्रकार १ करण उपशम २ अकरण-अनुदयरूप उपशम। कर्मोंका अंतरकरण होकर जो उपशम हो सो करण उपशम; ऐसा उपशम दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दो का ही होता है इसीलिए औपशमिक भावके दो भेद हो जाते हैं। किंतु इतनी विशेषता है कि अनंतानुबंधी चतुष्कका अंतरकरण उपशम नहीं होता अतः इसके उपशम को अकरणोपशम ही समझना चाहिए। औपशमिक सम्यग्दृष्टिके दर्शनमोहनीयका तो अंतरकरण उपशम अर्थात् करणोपशम और अनंतानुबंधीका अनुदय रूप उपशम अर्थात् अकरणोपशम होता है।

अनिवृत्तिकरणके काल पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्व कर्मके अंतर्मुहूर्त मात्रके निषेक अन्य स्थितिरूप और अनंतानुबंधीके अनुदय रूप उपशम अथवा विसंयोजित रूप हो जाते हैं। अब इस करणके अन्त समयके अनंतर उन अन्यस्थिति रूप हुए निषेकोंका उदयकाल आता है किंतु वहां पर उस समय वे निषेक हैं नहीं अतः उदय किनका आवे अर्थात् फल कौन दे! इसीलिए अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व व अनंतानुबंधीका उदय न होने से 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व' की प्राप्ति हो जाती है। इसके साथ ही साथ दर्शनमोहनीय रूप कर्म-स्कंधके अर्थात् मिथ्यात्व के तीन रूप-खंड हो जाते हैं १ मिथ्यात्व २ मिश्र मोहनीय—सम्यक् मिथ्यात्व ३ सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व-सम्यक्त्व मोहनीय। मिथ्यात्वके अनुभागका अनंतवां भाग मिश्र मोहनीयका अनुभाग और मिश्रमोहनीयके अनुभागसे अनंतवाँ भाग सम्यक्त्व मोहनीयका अनुभाग होता है। इनमें सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति देशघाति है अर्थात् इसके उदयमें सम्यक्त्वका घात नहीं होता, हां सम्यक्त्वमें कुछ मलिनता अवश्य आ जाती है।

मिथ्यात्वसे जब भी उपशमसम्यग्दर्शन होता है चाहे वह पांच प्रकृतियों (१ मिथ्यात्व +४ अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ) के उपशमसे हो अथवा छः (१ मिथ्यात्व २ मिश्र मोहनीय+४ अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ) या सात प्रकृतियों (१ मिथ्यात्व २ मिश्र-मोहनीय ३ सम्यक्त्व मोहनीय+४ अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ) के उपशम से हो वह 'प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन' कहलाता है। यह संख्यातवर्षकी आयु वाले जीवके एक भवमें केवल एक ही बार हो सकता है, (देखो इसी अध्यायके सूत्र ३ का विशेष)।

अध्याय १ सूत्र २ के विशेषमें वर्णित प्रशम आदि चार बाह्य चिन्होंके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टिमें [१] अपनेमें ही आत्म स्वरूपका परिचय [२] प्रयोजनभूत तत्वोंमें संदेहका न होना तथा [३] छल कपट रहित वैराग्य भाव ऐसे तीन अंतरंग चिन्ह भी हो आते हैं।

करुणा, मैत्री, सज्जनता, स्वलघुता, समता, श्रद्धा, उदासीनता और धर्मानुराग यह सम्यक्त्वके आठ गुण हैं।

चौथे गुणस्थानसे पांच मार्ग हैं—यदि ऊपरको चढ़े तो एकदम १ पांचवेंमें २ सातवेंमें, यदि गिरे तो एकदम ३ तीसरेमें ४ दूसरे अथवा ५ पहले में। इस गुणस्थानमें कोई जीव १ पहलेसे २ कोई तीसरे ३ कोई पाँचवें और ४ कोई छटेसे एक दम आ जाताहै। यह गुण-स्थान चारों गतियोंमें होता है। असंयतसम्यक्ती जीवोंमें ७०० करोड़ मनुष्य और मिश्र गुण-स्थान वालों से असंख्यात गुणे शेष तीन गतिके जीव हैं।

५ संयतासंयत—जो सम्यग्दृष्टि जीव त्रस हिंसाके त्यागसे संयत होते हुए भी स्थावर हिंसाके अत्यागसे असंयत होते अर्थात् एक देश-श्रावक चारित्र तो पालते हैं किंतु सर्वदेश-मुनि चारित्र नहीं पालते उन्हें संयतासंयत अथवा देशव्रती कहते हैं। यहाँ चारित्र मोहनीयकी अपेक्षा भाव क्षयोपशमिक होते हैं। इसमें अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण रूप ८ कषायोंके अनुदय रूप उपशमसे, प्रत्याख्यानावरण कषायोंके देशघाती स्पर्धकोंका उदय होने तथा सर्व-घाति स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे क्षयोपशमिक रूप देश संयम होता है (बड़ी टीका गो.जी)।

पाँचवें गुणस्थानसे भी पांच ही मार्ग हैं यदि गिरे १ चौथेमें २ तीसरे ३ दूसरे ४ पहलेमें, यदि चढ़े तो सातवेंमें। इस गुणस्थानमें कोई जीव पहलेसे, कोई चौथे और कोई छटेसे एक दम आ जाता है। इस गुणस्थानके ११दर्जे-कक्षाएँ हैं जो श्रावककी ग्यारह प्रतिमा (अध्याय७ सूत्र २१ का विशेष देखिए)के नामसे प्रसिद्ध हैं। यह गुणस्थान केवल मनुष्य और तिर्यंच दो ही गतियोंमें होता है; इसमें १३ करोड़ मनुष्य और पल्यके असंख्यातवें भाग तिर्यंच हैं)।

६ प्रमत्तसंयत—जो सम्यग्दृष्टि जीव महाव्रतरूप मुनि चारित्र (सकल संयम) पालते हैं किंतु व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारके प्रमत्त [प्रमाद] सहित होते हैं उन्हें प्रमत्त संयत कहते हैं। यहां पर संयममें मल उत्पन्न करने वाला ही प्रमाद होता है संयमका नाश करने वाला नहीं। भाव चारित्र मोहनीयकी अपेक्षा क्षयोपशमिक [ध. १ पृ १७६-७७]। इस में संज्वलनकषायके सर्वघाति स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय, १२ अनंतानुबंधी आदि कषाय उदय को न प्राप्त तिनका तथा संज्वलनकषाय और नोकषाय इनके निषेकोंका सदवस्था रूप उपशम और संज्वलन और नोकषायके देशघाति स्पर्धकोंके तीव्र उदयसे सकल संयम और मलको उपजाने वाला प्रमाद दोनों होते हैं। अतः इस गुणस्थानका प्रमत्तसंयत नाम सार्थक ही है बड़ी टीका (गो. जी.)।

महाव्रत रूप सकल संयमको जीव अधिकसे अधिक ३२ बार ही धारण करता है फिर अवश्य ही मोक्षको प्राप्त कर लेता है (गो.क.गा. ६१९)।

छटे गुणस्थानसे छः मार्ग हैं गिरे तो ५वें, ४थे, ३ रे, २ रे, १ ले में, चढ़े तो ७ वें में इसमें केवल ७ वें गुणस्थानवर्ती मुनि ही आते हैं। यह गुणस्थान मात्र मनुष्य गतिमें कर्मभूमि के मनुष्यके ही होता है, इसमें ५९३९८२०६ मुनि होते हैं।

७ अप्रमत्तसंयत—जो सम्यग्दृष्टि मुनि व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रमादोंसे रहित शीलयुक्त, शरीर-आत्माके भेदज्ञानमें तथा मोक्षके कारणभूत धर्मध्यानमें लवलीन है वह अप्रमत्तसंयत कहलाता है। जब संज्वलन और नोकषायका प्रमाद-जनन-शक्ति हीन मंद उदय होता है तब अंतर्मुहूर्त तक सकल संयमसे युक्त मुनिके प्रमादका अभाव हो जाता है, इसीलिए इस गुणस्थानको अप्रमत्तसंयत कहते हैं। यह गुणस्थान छटेकी भांति क्षयोपशमिक और सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक, क्षयोपशमिक और औपशमिक भाव वाला भी है।

इस गुणस्थानके दो भेद हैं १ स्वस्थान अप्रमत्त—इसमें मुनि हजारों बार सातवेंसे छटे और छटेसे सातवें गुणस्थानमें आता जाता रहता है अर्थात् उसके परिणामोंमें ऐसा उतार चढाव होता रहता है, २ सातिशय अप्रमत्त—जब मुनि श्रेणी अर्थात् ८वें ९वें आदि गुण. स्थानों में चढ़नेके सम्मुख होता है, मात्र सम्मुख होता है।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि ही श्रेणी चढ़ते अर्थात् ८ वें ९ वें इत्यादि गुणस्थानोंको प्राप्त होते हैं, प्रथमोपशम सम्यक्ती तथा क्षयोपशमी नहीं।

प्रथमगुणस्थानसे जो उपशम सम्यग्दर्शन होता है वह प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है और सातवें गुणस्थान वाला मुनि यदि उपशम सम्यग्दृष्टि है तो क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि होकर और अनंतानुबंधीका विसंयोजन करके, यदि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि है और जिसने अनंतानुबंधीका विसंयोजन अभी नहीं किया है यहां अनंतानुबंधीका विसंयोजन करके सम्यक् प्रकृतिका उपशम कर देता है तब उसका सम्यग्दर्शन 'द्वितीयोपशम' सम्यग्दर्शन कहलाता है। इसकी सत्ता सप्तमादि ग्यारवें गुणस्थान तक रहती है, गिरते हुए किसी किसीके छटे, पांचवें, चौथे गुणस्थानमें भी पाई जाती है।

प्रतिसमय मंदकषाय रूप अनंतगुणी विशुद्धताके द्वारा सप्तम गुणस्थानवर्ती वेदक (क्षयोपशमिक) सम्यग्दृष्टि पहले तो अधःकरण आदि तीन करण करके अनन्तानुबंधी चतुष्क के कर्म परमाणुओंको अप्रत्याख्यानादि १२ कषाय और ९ नोकषाय रूप परिणमाकर अनंतानुबंधीका विसंयोजन करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त विश्राम करके दर्शन मोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंको फिर तीन करण करके उपशमा अथवा क्षय कर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है, फिर अंतर्मुहूर्त काल तक हजारों बार छटे सातवेंमें झूलता है। तदनंतर प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धताकी वृद्धिके साथ चारित्र मोहनीयकी २१ प्रकृतियोंके उपशमाने अथवा क्षय करनेको उद्यमवंत होता है, सो अब सातवें सातिशयमें तीन करणोंमें से प्रथम अधःकरण को करता है।

श्रेणीका अधःकरण सातवेंके सातिशय गुणस्थानमें ही हो लेता है। सातवें गुणस्थानसे सातिशय वाला श्रेणीके आठवेंमें और स्वस्थान वाला छटेको प्राप्त होता है।

इस गुणस्थानमें कोई जीव पहलेसे, कोई चौथे, पांचवें, छटेसे प्रवेश करते हैं। यह गुण-स्थान भी मनुष्य गतिमें ही होता है, छटा और उससे ऊपरके सब गुणस्थान केवल मनुष्य गतिमें मनुष्यों (पुरुषों) के ही होते हैं। इसमें २९९९९१०३ मुनि होते हैं।

८ अपूर्वकरण—'करण' परिणाम-भावोंको कहते हैं। यहां सम्यग्दृष्टि साधुके परिणाम अपूर्व अपूर्व ही होते जाते हैं अर्थात् प्रतिसमय ऐसे निर्मल होते जाते हैं कि जैसे उसके पहले कभी नहीं हुए थे। जब योगी सातवें गुणस्थानमें धर्मध्यानी होकर और भी अधिक विशुद्धता उत्पन्न करनेके लिए तत्पर होता है तब शुक्लध्यान प्रकट होता है, यही आठवें गुणस्थानका प्रारंभ है। शुक्लध्यान युक्त परिणाम इससे पहले नहीं होते इसीलिए इसे 'अपूर्व करण' कहते हैं। इसमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदा विसदृश-भिन्न भिन्न ही रहते हैं, एक समयवर्तियों के सदृश भी हो सकते हैं और विसदृश भी। भाव-क्षपक श्रेणी वालेके क्षायिक, उपशमिकमें औपशमिक।

आठवें गुणस्थान में मुनि चारित्र मोहनीयकी शेष रही २१ प्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय करने को उद्यमी होता है। श्रेणीके दो भेद हैं १ उपशम श्रेणी-जिसमें इन २१ प्रकृतियोंका उपशम किया जाता है २ क्षपक श्रेणी-जिसमें इनका क्षय किया जाता है। इन दोनों श्रेणियोंके चार-चार गुणस्थान हैं, उपशम श्रेणीके ८ वां ९ वां १० वां ११ वां और क्षपक श्रेणीके ८ वां ९ वां १० वां १२ वां।

केवल ज्ञान

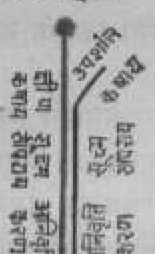

श्रेणि-सीढ़ी

क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो दोनों ही श्रेणी चढ़ सकता है, किंतु द्वितीयोपशमी केवल एक उपशम श्रेणी ही चढ़ सकता है, क्षपक श्रेणी नहीं। उपशम श्रेणी पर जीव अधिकसे अधिक एक जन्ममें दो बार और कुल चार बार ही चढ़ता है, पीछे कर्मोंके अंशोंको क्षय करता हुआ क्षपक श्रेणी चढ़ मोक्षको ही जाता है (गो. क. गा. ६१९)। श्रेणीका चढ़ना श्रुत केवल ज्ञानके बिना नहीं होता (तत्वार्थ सार अधि० १)।

प्रथमोपशमसे पहले अपूर्वकरणमें जो तीन आवश्यक १ स्थितिकांडक घात २ अनुभाग कांडक घात ३ गुण श्रेणी निर्जरा बताए थे यहां अपूर्व करण नाम आठवें गुणस्थानमें वे तीनों और चौथा गुणसंक्रमण नाम का आवश्यक भी होता है जिसका अर्थ है कि यहां प्रतिसमय विवक्षित प्रकृतिके परमाणु पलट कर अन्य हलकी प्रकृति रूप होते रहते हैं।

९ अनिवृत्तिकरण—इस गुणस्थानमें परिणाम और भी निर्मल होते हैं। अनिवृत्तिकरण का जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं इसलिये यहां पर प्रत्येक समयमें एक ही परिणाम होता है अतएव यहां एक समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही और भिन्न भिन्न

समयवर्तियोंके विसदृश ही होते हैं। इन परिणामोंसे ही आयु कर्मके अतिरिक्त शेष सात कर्मोंकी गुणश्रेणिनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन, अनुभागकांडखंडन होता है और मोहनीयकर्मकी बादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि आदि होती हैं; (अनेक प्रकारकी अनुभाग शक्ति सहित कार्मणवर्गणाओंके समूह को स्पर्धक कहते हैं। जो स्पर्धक अनिवृत्तिकरणके पहले पाये जांय उनको पूर्वस्पर्धक और जिनका अनिवृत्तिकरणके निमित्तसे अनुभाग क्षीण-कम हो जाता है उनको अपूर्व स्पर्धक कहते हैं। जिनका अनुभाग अपूर्व स्पर्धकसे भी क्षीण हो जाय उनको बादरकृष्टि और जिनका अनुभाग बादरकृष्टि की अपेक्षा भी क्षीण हो जाय उनको सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं)। इसमें भी उपशमक और क्षपक दोनों प्रकारके मुनि होते हैं। यहां २१ प्रकृतियोंमें से एक लोभके अतिरिक्त २० प्रकृतियोंका क्षय अथवा उपशम हो जाता है। भाव-क्षायिक अथवा औपशमिक।

१० सूक्ष्मसांपराय—अत्यंत सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त लोभ कषायके उदयको अनुभव करते हुए जीवके सूक्ष्मसांपराय नामका दसवां गुणस्थान होता है। इसमें भी उपशमक और क्षपक दोनों ही होते हैं। यहां 'अपूर्व' और 'अनिवृत्ति' दोनों विशेषणोंकी अनुवृत्ति रहती है—यदि ऐसा न हो तो यहां पर प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी और न एक समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें समानता तथा कर्मोंके क्षपण और उपशमनकी योग्यता सिद्ध होगी, (ध. १ पृ. १८७). और यहाँ होता ऐसा अवश्य है। जो जीव सूक्ष्मलोभके उदयका अनुभव कर रहा है ऐसा दसवें गुणस्थानवर्ती जीव (उपशमक अथवा क्षपक) सामायिक छेदोपस्थापना संयमकी विशुद्धतासे अति अधिक विशुद्धता सहित यथाख्यात चारित्रसे कुछ ही न्यून रहता है। भाव-क्षायिक और औपशमिक।

११ उपशांतकषाय—चारित्रमोहनीयकी २१ प्रकृतियोंके उपशमसे यथाख्यात चारित्र वाले मुनिके यह गुणस्थान होता है। इसका काल समाप्त होने पर मोहनीयके उदयसे जीव क्रमसे नीचले किंतु मरणकी अपेक्षा एक दम चौथे गुणस्थान में आ जाता है। इस गुणस्थान में सब कषायोंके उपशांत हो जानेसे भाव औपशमिक सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों। इसका उत्कृष्ट काल स्वस्थ पुरुषकी नाड़ीके एक फड़कन कालका ९ वाँ अर्थात् एक मिनटका लगभग ७०५ वां भाग है, सो भी अंतर्मुहूर्त ही है; जघन्य काल एक समय मात्र (मरण अपेक्षा) है।

११ वें गुणस्थानसे गिरनेका कारण इस गुणस्थानके कालकी समाप्ति है अथवा यों कहिए कि जीव ११वें गुणस्थानसे स्वभावसे ही गिरता है, यहां भावों-परिणामोंकी संक्लेशता से गिरना नहीं होता क्योंकि यहां पर यथाख्यात चारित्र होनेसे इसके कालमें सब कषायोंका उपशम रहता है। हां, अन्य गुणस्थानोंसे गिरनेका कारण परिणामोंकी संक्लेषता भी है।

१२ क्षीणकषाय—मोहनीयकर्मके अत्यंत क्षय होनेसे स्फटिकके बर्तनमें रक्खे हुए जलके समान अत्यंत निर्मल अविनाशी यथाख्यात चारित्रके धारी मुनिके क्षीण कषाय गुणस्थान होता है; इसमें भाव-क्षायिक।

१३ सयोगकेवली—घातियाकर्मोंकी सब ४७ प्रकृतियां और अघातियामें नाम कर्मकी १३ और आयु कर्मकी ३ कुल ६३ प्रकृतियोंके क्षयसे (वास्तवमें क्षय तो ६०का ही होता है आयुकी तीन प्रकृतियोंका क्षय तो उनके वहाँ पहलेसे ही सत्तामें न होनेके कारण कह दिया है) लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान तथा मन वचन काय योगके धारक अरहंत भट्टारकके १३ वाँ गुणस्थान होता है; यहां भाव-क्षायिक।

यही केवली भगवान अपनी दिव्यध्वनिसे भव्योंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं।

१४ अयोगकेवली—मन वचन कायके योगोंसे रहित केवलज्ञान सहित अरहंत भगवानके १४ वां गुणस्थान होता है। इस गुणस्थानका काल अ इ उ ऋ लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरोंके उच्चारण काल जितना होता है; भाव-क्षायिक।

यहां कोई यह समझे कि योगोंके अभावसे अयोगी केवली भगवानके बलका अभाव है क्योंकि हम-जैसे जीवोंके योगोंके आश्रयसे बल देखिए है उनको कहते हैं कि वे अनुपम और अनंत बल युक्त होते हैं, योगोंका बल तो कर्माधीन है इसलिए प्रमाण सहित है अनंत नहीं, अनुपम नहीं हो सकता (गो.जी. बड़ी टीका गा. २४२)।

बारहवें, तेहरवें, चौदहवें गुणस्थानोंका कुछ विशेष वर्णन अध्याय ९ के शुक्लध्यानके वर्णन में देखिए।

इसके पश्चात् जीव सिद्ध हो जाता है और लोकके अग्रभाग (तनुवातवलयके अंतिम भाग) में जा विराजता है, वहीं पर वह हमेशा हमेशा सदा काल निवास करता रहता है। यहां भाव-पारिणामिक और उपचारसे क्षायिक भी।

एकेंद्रियसे लेकर असैनी पंचेन्द्रिय जीवों तक पहला 'मिथ्यात्व' गुणस्थान ही होता है। सैनी पंचेन्द्रिय-मनुष्य श्रावकों व सैनी पशुओं (तिर्यंचों) के पांचवें गुणस्थान तक हो सकता है। देव और नारकी पहले चार गुणस्थानोंमें ही होते हैं। छटे से १२ वें तक छः गुणस्थान संयमी साधुओंके ही संभव है। अंतके दो गुणस्थान अरहन्त केवलीके होते हैं। सिद्धोंके कोई गुणस्थान नहीं होता।

मिश्र गुणस्थानके अतिरिक्त अप्रमत्त पर्यंत ६ गुणस्थानोंमें जीव आयुके बिना सात अथवा आयु सहित आठोंप्रकारके कर्मोंको बांधते हैं। मिश्र, अपूर्व और अनिवृत्ति तीन गुणस्थानों में आयु बिना सात प्रकारके ही कर्म बांधते हैं। सूक्ष्म सांपरायमें आयु और मोहनीयके बिना छः प्रकारके कर्मोंका बंध होता है। उपशांत-कषाय आदि तीन गुणस्थानोंमें एक वेदनीय कर्म

का ही बंध है । अयोगी १४ वां गुणस्थान बंध रहित होता है (गो.क.गा. ४५२) ।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ– उपयोग=चेतनाका परिणमन, आत्माका परिणाम, जानने देखने रूप व्यापार । लक्षणम्=पहचान–बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमें से किसी एक पदार्थको भिन्नदिखाने वाला हेतु ।

अर्थ-जीवका लक्षण–की पहचान 'उपयोग_उसका देखने जानने रूप व्यापार' है ।

विशेष–संसारमें जीव शरीर, द्रव्यकर्म और भावकर्मसे मिला हुआ एकमेक-सा हो रहा है, और यहीं पर धर्म अधर्म आकाश काल भी है । इन बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमें से एक 'जीव' द्रव्यको पहचान करानेके लिए उसका लक्षण 'उपयोग' बतलाया है ।

'जीव', 'चेतन', 'चेतक' और 'आत्मा' एकार्थवाची शब्द है । 'जीव' एक अनादि स्वतंत्र द्रव्य है । अरूपी होनेके कारण इसका ज्ञान इंद्रियों द्वारा नहीं होता । हां, यह अनुमान तथा स्वसंवेदनसे जाना जा सकता है । जीवका वास्तविक लक्षण 'जीवत्व' अथवा 'चेतना' है किंतु यह लक्षण सबकी पकड़में–समझमें एक दम सरलतासे नहीं आ जाता । इसीलिए दयालु आचार्यश्रीने, साधारण मनुष्योंके लिए जीवका ऐसा लक्षण बताया है जो चेतना रूप अथवा चेतनाका हो परिणमन है और जिससे जीवकी पहचान आसानीसे हो जाती है । जीवका यह लक्षण 'उपयोग'-चेतनाका परिणमन-जीवका जानने देखने रूप व्यापार है । उपयोग' हीनाधिक रूपसे सभी जीवोंमें पाया जाता है । उपयोगका कारण 'चेतनाशक्ति' है, यह शक्ति चेतन-चेतक-आत्मा-जीवमें ही है, जड़में नहीं । आत्मा जो 'सुख दुखका अनुभव करता है', 'यह है, यह नहीं है—जानता है', क्या है ? कैसे है ? इत्यादि कहता है' सो सब अपने उपयोग से ही ।

जीव जब तक कर्मोंसे लिप्त है तब तक निराला सूझने या देखनेमें नहीं आता । निराला होने पर भी हम उसे प्रत्यक्ष देख नहीं सकते, क्योंकि संसारी प्राणियों की प्रत्यक्ष देखनेकी शक्ति केवल मूर्तिक वस्तुमें ही रहती है, परन्तु सूक्ष्म-दर्शक शक्ति दबी हुई रहती है । ऐसी अवस्थामें जीव जब तक शरीर आदि नोकर्म कर्मोंसे लिप्त है तब तक शरीरादिके अतिरिक्त कुछ भी दिखाई न पड़ना उचित ही है । तो भी उसके किसी चिन्ह द्वारा उसकी पहचान तो होनी ही चाहिए । यदि जीव सिद्धि न हो तो धर्मादिके उपदेशका परिश्रम निष्फल हो जाय । यह जीवसिद्धि उसके इस उपयोग (दर्शन ज्ञान) रूप चिन्ह लक्षण से होती है ।

'उपयोग' यह जीवका असाधारण लक्षण है अर्थात् यह सभी जीवोंमें मिलता है और जीवके अतिरिक्त और किसीमें भी नहीं पाया जाता ! कर्म नोकर्म आदिसे मिले रहने पर भी 'उपयोग'—दर्शनज्ञान के द्वारा जीव निराला अनुभव किया जाता है ।

उपयोग के भेद

स द्विविधो ऽष्ट चतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ-वह (उपयोग) दो प्रकार का है १ ज्ञानोपयोग २ दर्शन उपयोग। ज्ञान उपयोग के आठ और दर्शनोपयोगके चार भेद हैं।

विशेष-ज्ञानोपयोगके १ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ कुमतिज्ञान ५ कुश्रुत ज्ञान ६ कुअवधि-विभंग ज्ञान ७ मनःपर्यय ज्ञान और ८ केवलज्ञान यह आठ भेद हैं।

दर्शनोपयोग के १ चक्षुदर्शन-नेत्रों द्वारा संवेदन मात्र अर्थात् नेत्रों द्वारा किसी पदार्थ को जाननेसे पहले उस पदार्थके जाननेमें उपयोगी उपयोगकी पूर्व अवस्था, २ अचक्षुदर्शन-नेत्रों के अतिरिक्त और किसी इंद्रियअथवा मनसे संवेदन मात्र अर्थात् नेत्रके अतिरिक्त और किसी इंद्रिय अथवा मनसे किसी पदार्थको जाननेसे पहले उस पदार्थके जाननेमें उपयोगी उपयोग की पूर्व अवस्था ३ अवधि दर्शन-अवधि लब्धि द्वारा संवेदन मात्र अर्थात् अवधिसे मूर्त पदार्थों को जानने से पहले उन पदार्थोंके जाननेमें उपयोगी उपयोगकी पूर्व अवस्था, और ४ केवल-दर्शन केवललब्धि द्वारा संवेदन अर्थात् केवललब्धिसे समस्त पदार्थोंको जाननेके साथ साथ उनके अवलोकनमें साथ साथ होने वाला उपयोग, यह चार भेद हैं।

तीनों काल (भूत, भविष्यत, वर्तमान) विषयक अनंत पर्यायों सहित आत्म स्वरूप के संवेदनको केवलदर्शन कहते हैं (ध.१० पृ. ३१९)।

जो अवलोकन करता है उसे 'आलोकन' या 'आत्मा' कहते हैं। आलोकन-वृत्ति प्रकाश-वृत्ति अथवा 'अंतर्चित्प्रकाश' दर्शन है। प्रकाश ज्ञानको कहते हैं, ज्ञानके लिए आत्माका जो व्यापार होता है वह प्रकाश-वृत्ति-अंतर्चित्प्रकाश ही दर्शन है।

अंतर्मुख चित्प्रकाश 'दर्शन' और बहिर्मुख चित्प्रकाश 'ज्ञान' है (ध.१ पृ. १४५)। सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करने वाला 'ज्ञान' और सामान्य विशेषात्मक आत्मरूप को ग्रहण करने वाला 'दर्शन' है (ध. १ पृ. १४७)

ज्ञानको साकार और दर्शनको निराकार कहा है। यदि किसीकी आकृति अथवा आकार कहा जा सकता है तो वह विशेष पदार्थोंका ही होगा। सामान्य पदार्थका आकर अनियत होने से कहने व समझनेमें नही आ सकता। ज्ञान पदार्थोंको विशेष विशेष करके जानता है इसलिए उसे साकार कहते हैं। ज्ञानका स्वरूप जिन्होंने ठीक ठीक जानलिया है वे रूपि ज्ञान को इस कारण साकार नहीं कहते कि वह पदार्थके विशेष आकारके तुल्य स्वयं होता हो; ज्ञान तो अमूर्त आत्माका गुण है उसमें ज्ञेय पदार्थोंके आकार उतरनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल विशेष पदार्थ उसमें भासने लगते हैं—यही उसके आकार मानने का मतलब है। सारांश यह

है कि ज्ञानमें आकार वास्तविक नहीं माना जा सकता किंतु ज्ञान ज्ञेय सम्बंधके कारण ज्ञेय का आकार-धर्म ज्ञानमें उपचारसे कल्पित किया जाता है। इसका कुल तात्पर्य इतना ही है कि पदार्थोंकी विशेष आकृति निश्चय कराने वाले चैतन्य परिणामको हम ज्ञान कहें (तत्वार्थसार अधि. २ गा. ११ पृ. ५४-५५)।

ज्ञान दर्शनके बाद होता है व ज्ञानके उत्तरोत्तर भी होता है किंतु दर्शन सबके आरम्भ में ही होता है। एक विषयका कुछ भी ज्ञान हो जाने पर जब तक उसकी शृङ्खला नहीं टूटती तब तक फिर बीचमें दर्शन नहीं होता (तत्वार्थसार अधि० २ गा. १२)।

ज्ञानोपयोगके ८ भेदोंमें सुज्ञान और कुज्ञानका अन्तर केवल उसके सम्यग्दर्शन सहित और रहित होनेसे है अर्थात् सम्यग्दृष्टिके मतिश्रुत अवधि ज्ञान सुज्ञान और मिथ्यादृष्टिके वही ज्ञान कुज्ञान है। अब प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो शेष दो ज्ञानोंके विरुद्ध कुज्ञान अर्थात् कुमनःपर्यय तथा कुकेवलज्ञान और चारों दर्शनोंके प्रतिपक्षी कुदर्शन क्यों नहीं है?

उत्तर—मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान सम्यक्त्वके बिना होते ही नहीं, अतः इनके प्रतिपक्षी कुज्ञानोंका होना असम्भव ही रहा। दर्शनोंमें केवलदर्शन तो बिना सम्यक्त्वके होता नहीं किंतु चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन सम्यक्त्वके अभावमें भी होते हैं फिर भी उनके प्रतिपक्षी कुदर्शन न होने अथवा न कहनेका कारण यह है कि दर्शन 'निर्विकल्पक' होता है अतः सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके दर्शनमें विकल्परूप कोई अन्तर बनता ही नहीं। इसमें दूसरी विशेष बात यह है कि दर्शन 'अंतचित्प्रकाश' अथवा केवल 'होने रूप' संवेदन मात्र होनेके कारण सबको एक-सा और यथार्थ-सा ही होता है।

इन १२ उपयोगोंमें से एकेंद्रिय दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय जीवोंके १ कुमतिज्ञान २ कुश्रुतज्ञान और ३ अचक्षुदर्शन केवल तीन ही उपयोग सम्भव है, चौइन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियके १ कुमतिज्ञान २ कुश्रुतज्ञान ३ चक्षुदर्शन और ४ अचक्षुदर्शन चार उपयोग, संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच नारकी तथा देवोंके १ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ कुमतिज्ञान ५ कुश्रुतज्ञान ६ कुअवधिज्ञान ७ चक्षुदर्शन ८ अचक्षुदर्शन और ९ अवधिदर्शन यह नौ उपयोग तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यके सभी बारह उपयोग सम्भव है। ध्यान रहे कि किसी भी छद्मस्थ संसारी जीवके किसी एक समयमें उपयोग रूप तो कोई एक ही उपयोग होता है, किन्तु केवलीके दो उपयोग अर्थात् केवलदर्शन और केवलज्ञान एकसाथ होते हैं।

ज्ञानोपयोग दो प्रकार १ स्वभाव ज्ञान २ विभावज्ञान।

अमूर्तीक, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अविनश्वरज्ञान आत्माका निजज्ञान स्वभावज्ञान है। यह स्वभावज्ञान भी दो प्रकार है १ कार्य स्वभावज्ञान—समस्त प्रकारसे निर्मल केवलज्ञान २ कारण स्वभावज्ञान—केवलज्ञानका कारण रूप परम पारिणामिक भावमें स्थित तीन काल

सम्बन्धी सर्व उपाधि विभाव रहित आत्माका सहजज्ञान (नियमसार गा. १०)।

विभावज्ञान दो प्रकार १ संज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय चार प्रकार २ कुज्ञान कुमति, कुश्रुत, कुअवधि तीन प्रकार (नियमसार गा. ११, १२)।

दर्शनोपयोग भी दो प्रकार १ स्वभावदर्शन २ विभावदर्शन।

स्वभावदर्शन बिल्कुल स्वभावज्ञान की भाँति, ज्ञान की जगह दर्शन पलट दो।

विभावदर्शन केवल एक प्रकार—वह भी चक्षु, अचक्षु अवधि तीन भेद रूप।

दर्शन के अनन्तर अवग्रह तथा ईहा ज्ञान तक हो जाने पर मनःपर्यय ज्ञान होता है (गो. जी. गा. ४४७), इसलिए मनःपर्यय ज्ञान प्रथम ही सीधा नहीं होता. अतएव अवधि-दर्शनकी भांति मनःपर्यय नामका दर्शन नहीं माना। श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक होता है अतः श्रुतदर्शन भी नहीं बनता। एक मतिज्ञानके पहले होने वाले दर्शनके चाक्षुष व अचाक्षुष ऐसे दो भेद किये हैं। केवलज्ञान व अवधिज्ञान सम्बन्धी केवल व अवधि नामके दो दर्शन मिलकर दर्शन चार प्रकारका ही होता है, (तत्वार्थसार अधि. २ पृ. ५६)।

जीव के भेद

संसारिणोमुक्ताश्च ॥१०॥

अर्थ—और वे जीव जिनका लक्षण ऊपर उपयोग बताया है दो प्रकारके हैं १ संसारी २ मुक्त--सिद्ध।

विशेष-जीव अनंत हैं, चैतन्य रूपसे सब समान हैं। यहाँ उनके दो विभाग पर्याय विशेष की अपेक्षासे किये गए हैं। १ संसारी—संसार रूप पर्याय वाले अर्थात् कर्म सहित जीव जो कर्मोंके वश जन्म मरण करते हुए संसारमें परिभ्रमण करते हैं; २ मुक्त—संसार रूप पर्यायसे रहित सिद्ध पर्याय वाले जीव अर्थात् कर्म रहित जीव जो समस्त कर्मोंका नाश करके संसार से मुक्त हो गए हैं।

मोक्षका उपदेश संसारीको ही हो सकता है; जो संसार न होता तो मोक्ष, मोक्षमार्ग अथवा उनका उपदेश भी न होता। इसीलिए सूत्रमें पहले संसारी और फिर मुक्तजीवका क्रम है। सूत्रमें आया हुआ 'च' शब्द यह भी बतलाता है कि ऊपर जिनका लक्षण 'उपयोग' कहा है उनमें संसारी जीव प्रधानतासे उपयोगवान और मुक्तजीव गौण रूपसे उपयोगवान हैं। संसारीके भेद प्रभेद बहुत हैं और मुक्त जीवोंके कोई भेद नहीं है, तथा संसारी जीव अनुभव

दोहा—संसारी अरु मुक्त दो, कहे जीव के भेद।
त्रसथावर समनः अमन, संसारी के भेद ॥ ७ ॥

गोचर है और मुक्तजीव अत्यंत परोक्ष, इन दो कारणोंसे भी पहले संसारी और फिर मुक्त जीवोंका कथन है ।

जीव पर्याय दो प्रकार १ स्वभाव पर्याय २ विभाव पर्याय ।

स्वभाव पर्याय दो प्रकार १ कारण शुद्ध पर्याय—इस लोकमें शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे आदि और अंत दोनोंसे रहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावसे शुद्ध स्वभाविक ज्ञान स्वभाविक दर्शन स्वभाविक चारित्र तथा स्वभाविक परम वीतराग सुखमय शुद्ध अंतरंग तत्व रूप स्वभावमय अनंतचतुष्टय जो निज स्वरूप है उसके साथ विराजमान जो पचम पारिणामिक भावकी परणति-परिणमन है वह कारण शुद्ध पर्याय है; इसका मनन कार्यशुद्ध पर्यायकी उत्पत्तिका साधन है ।

२ आदि सहित और अतरहित जो अमूर्तीक अतींद्रिय स्वभावसे शुद्ध ऐसे सद्भूत व्यवहारनयके द्वारा केवलज्ञान केवलदर्शन केवल सुख केवल वीर्य सहित फलरूप अनंत चतुष्टय के साथमें परम उत्कृष्ट क्षायिक भावकी जो सिद्ध स्वरूप शुद्ध परणति-परिणमन है वही कार्यशुद्ध पर्याय है ।

नर नारक पशु देव यह चार विभाव पर्याय है (नियमसार गा. १५) ।

पंच परावर्तन रूप संसार

संसार परिभ्रमण पांच प्रकार है १ द्रव्य परिभ्रमण—पुद्गल ग्रहण तजन रूप २ क्षेत्र परिभ्रमण—आकाशके प्रदेशोंको स्पर्शने रूप ३ काल परिभ्रमण—कालके समयोंमें उपजने विनशने रूप ४ भवपरिभ्रमण—देवनरक आदि भवोंका ग्रहणतजनरूप ५ भाव परिभ्रमण-कषाय और योगोंका स्थानक रूप जो भेद ,तनका पलटने रूप परिभ्रमण ।

१ द्रव्यपरिवर्तन दो प्रकार है, एक कर्मपुद्गल परिवर्तन और दूसरा नोकर्मपुद्गल परिवर्तन । मिथ्यात्व और कषायके उदयसे यह संसारी जीव ज्ञानावरण आदि कर्मोंका समय प्रबद्ध (अभव्य राशिसे अनंतगुण अथवा सिद्धराशिके अनंतवें भाग) पुद्गल परमाणुओं के स्कंध रूप कार्माण वर्गणाओंको प्रति समय-समय ग्रहण करता है और पहले ग्रहण किये हुए जो सत्तामें है उनमेंसे इतने-समयप्रबद्ध ही समय-समय खिरते रहते हैं, इसी प्रकार औदारिक आदि शरीरोंकी समयप्रबद्ध वर्गणाओंको बराबर ग्रहण करता व छोड़ता रहता है; सो अनादि कालसे अनंतवार ग्रहण करना व छोड़ना होता है । एक परिवर्तनके आरम्भके प्रथम समयके समय प्रबद्धमें जितने ग्रहीत, अग्रहीत अथवा मिश्र पुद्गल परमाणु जैसे भी स्निग्ध रूक्ष, वर्णगंध रस तीव्र मंद मध्यम भावसे ग्रहण किये थे उतने ही और वैसे ही किसी समयमें फिर ग्रहण करनेमें आवें तब एक कर्मपरावर्तन तथा नोकर्मपरावर्तन होता है । बीचमें अनंतवार और और तरहके परमाणु ग्रहणमें आवें वे गिनतीमें नहीं आते; जैसे के तैसे फिर ग्रहणमें

अनंता समय लगता है तब कहीं एक द्रव्यपरावर्तन होता है।

२ क्षेत्र परिवर्तन—लोकाकाशके असंख्य प्रदेश हैं। उनमें (लोकके मध्य सुमेरु के बीचों बीचके आठ प्रदेश छोड़ जिनमें जीवकी उत्पत्ति नहीं है) निगोद लब्धि अपर्याप्तक जघन्य अवगाहना वाला उपजता है, उसकी अवगाहना भी असंख्यात प्रदेश है सो जितने प्रदेश उसके हैं उतनी बार अर्थात् असंख्यात बार तो वही अवगाहना वहां ही पाता है, बीचमें और जगह और और अवगाहनामें पैदा होता रहता है सो गिनतीमें नहीं। इस प्रकार महामच्छ तक की उत्कृष्ट अवगाहना पूरी करे। उसी भाँति क्रमवार लोकाकाशके मध्यके आठ प्रदेशों के अतिरिक्त सब प्रदेशोंको परसे-छूवे-स्पर्शन करे तब एक क्षेत्र परिवर्तन होता है।

३ काल परिवर्तन-जीव उत्सर्पिणी (१० कोड़ाकोड़ी सागर) कालके प्रथम समयमें जन्मे फिर दूसरे उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें ऐसे ही तीसरेके तीसरे समयमें जन्मे; इसी प्रकार अनुक्रम से १० कोड़ाकोड़ी सागरके अंतके समयतक उपजे। बीच बीचमें अन्य समयमें बिना अनुक्रम जन्मे सो गिनतीमें नहीं। ऐसे ही अवसर्पिणीके १० कोड़ाकोड़ी सागर पूर्ण करे और ऐसे ही मरण करे। यह अनंतकाल होता है; इसको एक काल परिवर्तन कहते हैं। यह जीव ऐसे अनंत परिवर्तन कर चुका है।

४ भव परिवर्तन—नरकगतिकी जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष, इसके जितने समय हैं उतनी ही बार तो जघन्य स्थितिकी आयु लेकर पैदा होता है, फिर एक समय अधिक आयु लेकर, फिर दो समय अधिक आयु ले जन्मता है; ऐसे ही अनुक्रमसे ३३ सागर तककी आयु पूर्ण करता है: बीच बीचमें कम अधिक आयु ले जन्मे सो गिनतीमें नहीं। ऐसे ही तिर्यंच गति की जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त, उसके जितने समय उतनी ही बार जघन्य आयुका धारक होय, फिर एक एक समय अधिक करके क्रमसे तीन पल्य पूरे करे; बीच बीच में हीनाधिक आयु पावे सो गिनतीमें न आवे। ऐसे ही मनुष्यकी जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त से ले उत्कृष्ट ३ पल्य पूरे करे। इसी प्रकार देवगतिकी जघन्य १० हजार वर्षसे ले ग्रैवेयकके उत्कृष्ट ३१ सागर तक एक एक समय अधिक क्रमसे पूर्ण करे। इस भांति एक भवपरिवर्तन होता है।

ग्रैवेयकसे आगे पैदा होने वाला जीव नियमसे एक या दो भवले मोक्ष चला जाता है।

५ भाव परिवर्तन-कर्मकी एक स्थितिबंध बंधके कारण कषायोंके स्थानक-भाव असंख्यात लोक प्रमाण हैं, एक स्थितिबंध स्थानमें अनुभागबंधके कारण कषायोंके स्थानक लोकप्रमाण हैं, फिर योगस्थानमें वे जगतश्रेणीके असंख्यातवें भाग हैं। जगतश्रेणी इन असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थानोंके हो जाने पर एक अनुभागबंध स्थान होता है और असंख्यातलोक प्रमाण अनुभागबंध हो जाने पर एक कषायस्थान होता है और असंख्यात लोकप्रमाण कषाय स्थानोंके हो जाने पर एक स्थितिस्थान होता है। इस क्रमसे ज्ञानावरणादि समस्त मूल वा

उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है।

इन पांचों प्रकारके परिवर्तनोंका काल उत्तरोत्तर अनंत अनंतगुणा है। नाना प्रकारके दुःखों से आकुलित पंच परिवर्तन रूप संसारमें यह जीव अनादिकालसे भ्रमण कर रहा है।

नोट—मुख्य रूपसे जीवका संसार सम्यग्दर्शन प्राप्तिसे पहले पहले माना गया है अतः यह पंच परिवर्तन जीवकी मिथ्यात्व अवस्थामें होते हैं।

संसारी जीवोंके भेद—(१) मन की अपेक्षा

समनस्कामनस्काः ॥११॥

शब्दार्थ—समनस्क=मन सहित, मन वाले सैनी-संज्ञी जीव। अमनस्काः=मन रहित, बेमन वाले असैनी-असंज्ञो।

अर्थ—संसारी जीव (मन की अपेक्षा) दो प्रकारके हैं १ समनस्क-सैनी-संज्ञी २ अमनस्क-असैनी-असंज्ञी।

विशेष—एकेन्द्रिय जोवसे चौइंद्रिय तक तो नियमसे सभी असैनी ही होते हैं, तिर्यंच पंचेंद्रियोंमें सैनी-असैनी दोनों और शेष तीन गतियोंके जोव(नर नारको देव) सैनी ही होते हैं।

जिससे हित अहित शिक्षाग्रहण रूप विचार किया जा सके ऐसी आत्मिक शक्तिका नाम 'मन' है। यह 'भाव मन' कहलाता है। आत्माको यह शक्ति अथवा विशुद्धि वीर्य-अंतराय तथा ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे होती है। पुद्गल विपाकीमन पर्याप्ति नामकर्म प्रकृतिके उदयसे अंगुलके असंख्यातवें भाग एक बहुत ही सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओंका बना हुआ अष्ट पांखुरीके खिले कमलके आकार हृदय स्थलके दाईं ओर स्थित 'द्रव्य मन' है। इसकी सहायतासे ही भावमन रूप आत्मिक शक्ति विचार करती है। मनके होने अथवा न होनेकी अपेक्षासे ही संसारी जोवके संज्ञी और असंगी ऐसे दो भेद किये गए हैं।

(२) त्रसत्व, स्थावरत्वकी अपेक्षा

संसारिणस्त्रस स्थावराः ॥१२॥

शब्दार्थ—संसारिणः=संसारी (जीव) के। त्रस=दो, तीन, चार, पाँच इंद्रिय जीव। स्थावराः=एकेंद्रिय जीव।

अर्थ—ससारी जीवके त्रस और स्थावरके भेद से दो प्रकार हैं।

विशेष—त्रस नामकर्मके उदयसे होने वाले 'त्रस' और स्थावर नामकर्मके उदयसे होने वाले 'स्थावर' होते हैं।

आशंका—डर कर भागें सो त्रस, स्थिर रहें सो स्थावर कहने चाहिए थे!

समा-शास्त्रके विरुद्ध पड़नेसे ऐसा नहीं कहा, शास्त्रमें दो इन्द्रियसे लेकर अयोगीकेवली

तक जीवोंको 'त्रस' कहा है और एकेंद्रियको 'स्थावर'। यदि चलने न चलने की अपेक्षा त्रस स्थावरपन कहेंगे तो एकेंद्रिय अप, तेज, वायु कायिक जीव भी त्रस और अयोगी केवली भी स्थावर हो जावेंगे।

स्थावर जीव

पृथिव्यप्तेजोवायु वनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

शब्दार्थः—पृथिव्यप्तेजो=पृथि=वि+अप+तेज=मिट्टी, पानी, आग।

अर्थः—स्थावर जीव पांच प्रकार के होते हैं १ पृथ्वीकायिक २ जलकायिक ३ अग्निकायिक ४ वायुकायिक और ५ वनस्पतिकायिक।

विशेषः—स्थावर नामा नामकर्मकी प्रकृतिके पृथ्वी आदि पाँच भेद है, इन्हीं प्रकृतियोंके उदयानुसार जीव पृथ्वीकायिक आदि होते हैं। जिन जीवोंकी काय-शरीर मिट्टी होवे 'पृथ्वीकायिक', जिनका शरीर जल होवे 'जलकायिक', जिनका शरीर अग्नि होवे 'अग्नि-तेज कायिक', जिनका शरीर वायु होवे 'वायुकायिक', और जिनका शरीर वनस्पति होवे 'वनस्पतिकायिक' कहलाते हैं।

पृथ्वी आदिकोंके ऋषियों रचित धर्मशास्त्रों में चार चार भेद कहे हैं-- १ पृथ्वी २ पृथ्वीकाय ३ पृथ्वीकायिक ४ पृथ्वीजीव; १ जल २ जलकाय ३ जलकायिक ४ जल जीव, १ अग्नि २ अग्निकाय ३ अग्निकायिक ४ अग्निजीव; १ वायु २ वायुकाय ३ वायुकायिक ४ वायु जीव; १ वनस्पति २ वनस्पतिकाय ३ वनस्पतिकायिक ४ वनस्पति जीव।

अचेतन, कठिनता आदि गुण सहित मिट्टी 'पृथ्वी', जिस पृथ्वीसे जीव अभी निकला है सो 'पृथ्वीकाय', पृथ्वीकाय सहित जीव 'पृथ्वीकायिक', विग्रहगतिमें पृथ्वीकायिक नाम कर्मके उदयवाला जीव 'पृथ्वीजीव' है, इसी प्रकार अन्य भी जानो।

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के होते हैं, १ साधारण वनस्पतिकायिक अथवा निगोदिया २ प्रत्येक वनस्पतिकायिक।

जिन अनंतानत जीवोंके साधारण नामकर्मके उदयसे आहार, उच्छ्वास, काय, आयु-जीना मरना साधारण—एक साथ समान रूपसे हों वे साधारण वनस्पति जीव है। यह दो प्रकारके हैं १ अनादि काला-नित्यनिगोदिया जिन्होने अभी तक कभी त्रस पर्याय नहीं पाई अथवा जो कभी भी त्रस पर्याय नहीं पावेंगे, २ सादिकाला-इतर निगोदिया-जिन्होंने

दो०—भूजल वायुः वनस्पति, अगनी थावर होंय।
वे ते चउ पंचेंद्रिय जो, त्रस कहलावें सोय ॥८॥

कभी त्रस पर्यायको प्राप्त कर लिया है और फिर निगोदमें गले गए हैं।

जिसके एक शरीरका एक जीव स्वामी मालिक हो उसे प्रत्येकवनस्पति कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं १ प्रतिष्ठित प्रत्येक--जिस एक शरीरमें एक जीवके मुख्य रूपसे रहने पर भी उस जीवके आश्रयसे अनेक निगोदिया जीव रहें, २ अप्रतिष्ठित प्रत्येक जिस प्रत्येक वनस्पतिके आश्रय कोई भी साधारण वनस्पति जीव न हो।

स्थावर जीवोंके १ स्पर्शन इन्द्रिय प्राण २ कायबल प्राण ३ श्वासोश्वास प्राण और ४ आयु प्राण यह चार प्राण होते हैं।

नोटः--इन्द्रिय, काय, आयु ये तीन प्राण पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही के होते हैं किंतु श्वासोश्वास पर्याप्तके ही होता है (गो० जी० गा० १३१)।

पर्याप्ति पूर्ण होते ही जो क्रियाएँ होने लगती हैं उन्हें 'प्राण' कहते हैं।

जैन धर्म में पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीवित शक्ति अर्थात् जीवका होना बतलाया गया है। 'वनस्पति में जीव है' यह बोस-सिद्धांत से सिद्ध है। पृथ्वीमें भी जीव है इस बातको लंदन के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'साइक' ने सिद्ध किया है, आप एक घन इंच पृथ्वी (Soil) में कमसे कम पाँच करोड़ पृथ्वीकायिक जीव बतलाते हैं। पानी की एक बूंद में ३६४५० सूक्ष्म जंतु होते हैं (सिद्ध पदार्थ विज्ञान-यू० पी० गवर्नमेंट प्रेस पृ० ६५)। इसी प्रकार अग्नि और वायु भी जीवोंसे खाली नहीं हैं।

त्रस जीव

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

शब्दार्थः--द्वीन्द्रियादयः=दो इन्द्रिय आदि अर्थात् दो इन्द्रियसे पंचेन्द्रिय जीव तक।

अर्थ--दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव 'त्रस' हैं।

विशेष-दो इन्द्रिय जीवके (एकेंद्रीके ४ प्राण+१ रसना इंद्रिय प्राण+१ वचन बल प्राण) ६ प्राण, ते इंद्रिय जीवके (दो इन्द्रीके ६+१ घ्राणइन्द्रिय प्राण) ७ प्राण, चौइन्द्रिय के (तेइंद्री के ७+१ चक्षु इंद्रिय प्राण) ८ प्राण, असंज्ञी पंचेंद्री के (चौइंद्रीके ८+१ कर्ण इंद्रिय प्राण) ९ प्राण, संज्ञी पंचेंद्रीके (असंज्ञी पचेंद्रीके ९+१ मनबल) १० प्राण होते हैं। वचनबल प्राण पर्याप्त दोइन्द्रियके तथा मनोबल प्राण संज्ञी पर्याप्त के ही होता है।

जीव अनादिसे प्रथम तो नित्यनिगोदमें रहता है, वहीं पर यह बारबार जन्मता मरता रहता है। इसके जीने और मरनेका हिसाब एक सांसमें १८ बार का आता है। इस प्रकार अनंतानंत जीव तो अनादि कालसे निगोदमें ही जन्म मरण के दुःख भोगते रहते हैं। इस नित्य निगोदसे प्रति ६ महीने ८ समय में ६०८ जीव निकलते हैं, वे पृथ्वी जल अग्नि वायु

और प्रत्येक वनस्पति रूप एकेंद्रिय स्थावर तथा दोइन्द्रिय आदि त्रसों में भ्रमण करते है। कुछ अधिक फिर निगोदमें ही चले जाते हैं, इसको 'इतर निगोद' कहते है।

जीवका त्रस पर्यायमें एक साथ लगातार रहनेका उत्कृष्ट काल केवल दो हजार सागर वर्ष है। जीवका अधिकांश काल तो एकेंद्रिय पर्यायमें और उसमें से भी अधिक तो निगोदमें ही बीतता है। पहले तो त्रस पर्यायका पाना ही चिंतामणि रत्न पानेके समान महा दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्य पर्यायका मिलना तो बड़े-बड़े ही सौभाग्य से बनता है। मनुष्य पर्यायसे ही प्रति ६ मास ८ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते रहते है जहां वे सदा काल अनंत सुख भोगते रहते है।

संसारमें जीवका मनुष्यभवमें रहनेका काल सबसे कम, मनुष्यभव कालसे असंख्यात गुणा काल नरकमें रहनेका, नरक कालसे असंख्यात गुणा स्वर्गमें रहनेका, स्वर्गकालसे अनंत गुणा काल तिर्यंच भवमें, उसमें भी मुख्यतासे निगोदमें रहनेका है।

इस प्रकार जीवकी मुख्य दो ही स्थिति है १ निगोद २ सिद्ध। बीचकी त्रस पर्यायका काल तो बहुत ही कम है और उसमें भी मनुष्यत्वका काल तो अत्यंत ही थोड़ा है।

जीवकी संसारी दशा रहनेका मुख्य कारण मिथ्यात्व-अपने स्वरूपकी भ्रमणा-भूल है। यह भूल अपने स्वरूपको समझ सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेसे ही मिट सकती है।

इंद्रियों की संख्या

पंचेन्द्रियाणि ॥१५॥

शब्दार्थ-पंच=पांच। इन्द्रियाणि=इन्द्रियाँ-जिनसे जीव पहचाना जावे।

अर्थ-इन्द्रियाँ पांच हैं।

विशेषः--जो अंग (१२ वें गुणस्थान तक) ज्ञान और दर्शन रूप उपयोगमें कारण हों उन्हीं को 'इंद्रिय' कहा है। आगे सूत्र १६ में वर्णित, स्पर्शन आदि पांच ही उपयोग में कारण है, वचन हाथ पांव गुदा लिंग नहीं। हाँ यह वचन आदि क्रियाओं के कारण अवश्य हैं, क्रियाके कारण तो फेफड़े मस्तक आदि सभी अंग उपांग है। यदि क्रिया के कारण होने से वचन आदि को 'इंद्रिय' कहेंगे तो अन्य अंग उपांगों को भी इन्द्रिय मानना पड़ेगा। अतः इंद्रिय का लक्षण 'क्रिया का साधन' ठीक न होनेसे और 'उपयोग में कारण लक्षण ही ठीक होने से इन्द्रिय पांच ही हो सकती हैं अधिक नहीं (सर्वार्थ सिद्धि)।

दोहा--पनइंद्रिय के भेद दो, कहे द्रव्य अरु भाव।
द्रव्यकरण निर्वृत्ति है, लब्धि उपयोग जु भाव ॥६॥

इंद्रियों के मूल भेद

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ—वे पाँचों इन्द्रियां दो दो प्रकारकी हैं १ भावइन्द्रिय २ द्रव्यइन्द्रिय। आत्माकी क्षयोपशम रूप शक्ति 'भावइन्द्रिय' और भावइन्द्रियकी जाननरूप क्रियामें सहायक सो 'द्रव्य इंद्रिय' हैं।

द्रव्य इंद्रियों के भेद

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थ-द्रव्य इन्द्रियां १ निर्वृत्ति और २ उपकरण दो दो भेद रूप हैं।

विशेष—निर्वृत्ति—नामकर्मके उदयसे रचना विशेष; इसके दो भेद १बाह्य निर्वृत्ति-पुद्गल परमाणुओंका इन्द्रिय रूप होना २ आभ्यंतर निर्वृत्ति-आत्माके प्रदेशोंका इंद्रियोंके आकार मसूर आदि रूप होना।

आगममें संसारी जीवके प्रदेश चलाचल कहे हैं, मध्यके ८ प्रदेश अचल होते हैं और शेष चल। ऐसी अवस्थामें नियत आत्म प्रदेश ही सदा किसी इंद्रिय रूप बने रहते हैं यह नहीं कहा जा सकता किंतु प्रदेश परिस्पंदनके अनुसार प्रतिसमय अन्य अन्य प्रदेश आभ्यंतर निर्वृत्ति रूप होते रहते हैं। जिसके जितनी इन्द्रियां होती हैं उसके उतने इन्द्रिय-आवरण कर्मोंका क्षयोपशम सर्वांग होता है, क्योंकि आत्मा तो एक अखंड द्रव्य है।

उपकरण—जो निर्वृत्तिकी उपकारक-सहायक व रक्षक हो; यह भी दो रूप १ बाह्य उपकरण-जैसे नेत्रमें पलक २ आभ्यंतर उपकरण-जैसे नेत्रमें काला सफेद मंडल।

भाव इंद्रियों के भेद

लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियम् ॥१८॥

अर्थ—भाव इंद्रिय लब्धि और उपयोग दो रूप है।

विशेष-लब्धि-मतिज्ञानावरण तथा वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशम रूप लब्धि-प्राप्ति होने पर आत्माकी शक्ति विशेष। उपयोग-लब्धिके निमित्तसे आत्माका जाननेमें वर्तना अर्थात् ज्ञेयके आकार परिणमन रूप ज्ञान, यहाँ कार्य (उपयोग) में कारण (इंद्रिय) के उपचारसे उपयोगको इंद्रिय कहा है।

लब्धि और उपयोगको भावइंद्रिय इसलिए कहते हैं कि ये द्रव्यपर्याय न होकर गुण पर्याय हैं, क्षयोपशम रूप लब्धि भी एक गुण या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है।

ज्ञानकी किसी पर्यायको प्रकट न होने देना उस ज्ञानावरणके सर्वघाति स्पर्धकोंके उदय

का काम है किंतु जिस जीवके जिस ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है उसके उस ज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय न होनेसे उस ज्ञानके प्रकाशमें आनेकी योग्यता होती है; बस इसी योग्यताको लब्धि कहते हैं। ऐसी योग्यता एकसाथ सभी क्षयोपशमिक ज्ञानोंको हो सकती है किंतु उपयोग-काममें एक कालमें एक ही ज्ञान आता है। इसका अभिप्राय यह है कि क्षयोपशमिक ज्ञानको पर्यायका नाम लब्धि न होकर क्षयोपशम-विशेषका नाम लब्धि है और उपयोग ज्ञानकी पर्यायका नाम है। यही कारण है कि लब्धि एकसाथ अनेक ज्ञानोंकी हो सकती है पर उपयोग एक कालमें एक ही ज्ञानका।

आशंका—मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है इससे ज्ञात होता है कि उपयोग स्वरूप ज्ञानका इन्द्रिय संज्ञा न होकर जो भी उपयोग रूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके होने में साधकतम कारण है उसीकी इन्द्रिय संज्ञा है इसलिए यहाँ निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धिको तो इन्द्रिय कहना ठीक है क्योंकि ये उपयोग रूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके होनेमें साधकतम कारण हैं पर स्वयं उपयोगको इन्द्रिय कहना ठीक नहीं क्योंक यह इन्द्रिय-व्यापारका फल है।

समा-१ कारणके धर्म इन्द्रियत्वका कार्यमें उपचार करके उपयोगको भी इन्द्रिय कहा है अर्थात् उपयोग स्वयं इन्द्रिय नहीं है किंतु इंद्रियके निमित्तसे वह होता है इसलिए यहां उसे उपचारसे इन्द्रिय कहा है।

२ जिससे इन्द्र अर्थात् आत्माकी पहचान हो वह इन्द्रिय कहलाती है और ऐसी पहचान कराने वाली वस्तु निज-अर्थ होनी चाहिए; यदि इस दृष्टिसे देखा जाता है तो इन्द्रिय शब्द का मुख्य वाच्य उपयोग ही ठहरता है क्योंकि उपयोग ही आत्माका निज अर्थ है। यही कारण है कि यहां उपयोगको भी इंद्रिय कहा है।

तात्पर्य यह है कि निमित्तकी अपेक्षा विचार करने पर निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धि को इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त होती है और निज-अर्थ-स्वार्थकी अपेक्षा विचार करने पर उपयोग को। पहले अध्यायमें निमित्तकी अपेक्षा 'इन्द्रिय' शब्दका व्यापार है और यहां निमित्त और मुख्यार्थ-निजार्थ दोनोंको ध्यानमें रखकर इन्द्रियके भेद कहे हैं; अतः कोई विरोध नहीं। दूसरे 'उपयोग' के अर्थ प्रयोग-काममें आने के हैं। यहां मुख्यतया यही अर्थ घटित होता है।

इन्द्रियों के नाम

स्पर्शन रसना घ्राण चक्षुः श्रोत्राणि ॥१९॥

शब्दार्थ—स्पर्शन = त्वचा, चमड़ा। रसना = जीभ। घ्राण = नाक। श्रोत्राणि = कान।

अर्थ—त्वचा, जीभ, नाक, आंख और कान यह पाँच इन्द्रियोंके नाम हैं।

विशेष—यह पाँचों इन्द्रियाँ १ भावइन्द्रिय और २ द्रव्यइंद्रिय दोनों प्रकारकी होती हैं।

द्रव्यइन्द्रियोंका आकार १ कानका जौं की नली जैसा २ आंखका मसूर जैसा ३ नाकका तिल के फूल जैसा ४ जीभका अर्द्धचन्द्र जैसा और ५ स्पर्शनका शरीरके आकार जैसा होता है; स्पर्शन इन्द्रिय सारे शरीरमें होती है।

इंद्रियों के विषय ज्ञेय

स्पर्श रस गंध वर्ण शब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

शब्दार्थ—वर्ण = रंग। तदर्थाः = उनके ज्ञेय अथवा विषय।

अर्थ-स्पर्श (ठंडा गर्म, रूखा चिकना, हलका भारी, कोमल कठोर) स्पर्शनत्वचाका, रस (खट्टा मीठा कड़वा कषायला चरपरा) जीभका, गंध (सुगंध दुर्गंध) नाकका, वर्ण-रंग (सफेद लाल पीला नीला काला) आंखका और शब्द-स्वर (षडज रिषभ गंधार मध्यम पंचम धैवत निषाध) कानका विषय है, अर्थात् इन पांचों इन्द्रियों द्वारा जीव-आत्मा इन इन रूप ज्ञेयों को जानता है।

विशेष—इन्द्रके समान जो हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। अतः जिस प्रकार नव ग्रैवेयकवासी देव अपने-अपने विषयोंमें दूसरेकी अपेक्षा न रखने अर्थात् स्वतन्त्र होनेसे अपनेको इंद्र मानते हैं उसी प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियां भी अपने अपने विषयोंमें दूसरेकी अपेक्षा न रखनेसे स्वतन्त्र हैं। इसलिए इनको इन्द्र (अहमिंद्र) के समान होनेसे 'इंद्रिय' कहते हैं।

यहां पांचों इन्द्रियोंके विषय जो अलग-अलग बताए हैं वे आपसमें सर्वथा भिन्न द्रव्य रूप नहीं हैं किंतु एक ही द्रव्य (पुद्गल) भिन्न भिन्न पर्याय हैं। एक नमककी डली को पांचों इन्द्रियां भिन्न भिन्न रूपसे जानती हैं—हाथसे छूकर उसका शीत और कठोर गुण, जीभसे उसका खारीपन, नाकसे उसकी सुगंध दुर्गंध, आंखसे उसका श्वेत लाल काला आदि रंग और कानसे उसके नाम रंग आदि शब्द सुनकर नमकको भिन्न भिन्न रूप से जाना जाता है। यह बात भी नहीं कि उस नमककी डलीमें स्पर्श रस आदि पांचों विषयोंका स्थान अलग अलग हो, वे सभी विषय उसके सब भागोंमें युगपत्--एकसाथ रहते हैं; उनका विभाग केवल भिन्न भिन्न इन्द्रियं द्वारा ही सम्भव है।

प्रत्येक पुद्गल द्रव्यमें स्पर्श रूप आदि सभी गुण होते हैं किंतु किसीमें एक गुण अथवा किसीमें अधिक गुण तेजीसे प्रकट होते हैं। फिर इंद्रियोंकी ग्रहण शक्ति भी सब प्राणियोंमें एकसी नहीं होती, एक जातिके प्राणियोंमें भी वह ग्रहणशक्ति भिन्न भिन्न प्रकारकी देखी

दोहा—त्वचा जीभ अरु नाक चख, कान इंद्रिय पांच।
छुव रस गंध वर्ण धुनि, विषय जु इनके सांच ॥१०॥

जाती है। अतः यदि किसी पदार्थमें विशेष व्यक्ति को कोई विशेषगुण ही मालुम होता है दूसरे गुण नहीं तो इसका यह अर्थ नहीं कि और गुण उसमें है ही नहीं, हैं तो अवश्य किंतु दूसरे गुण एक तो इतने व्यक्त-प्रकट नहीं, दूसरे उस व्यक्ति विशेषमें उनको ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं।

मन का विषय

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

शब्दार्थ—श्रुतम्=श्रुतज्ञान गोचर पदार्थ। अनिन्द्रियस्य=मनका।

अर्थ—मनका विषय श्रुतज्ञान गोचर पदार्थ है।

विशेष—मन भी ज्ञानका साधन है किंतु यह स्पर्शन रसना आदिकी तरह बाह्य साधन नहीं अपितु अंतरंग साधन है, इसीलिए मनको अंतःकरण भी कहते हैं। ज्ञानका साधन होनेसे मन भी इंद्रिय ही है परन्तु रूप आदि विषयोंको जाननेके लिए उसे नेत्र आदि इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है, इसी पराधीनताके कारण मनको 'अनिंद्रिय' 'नोइन्द्रिय'-कुछ इन्द्रिय कहा है।

स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियाँ केवल रूपी पदार्थको ग्रहण करती हैं और वह भी अंश रूपसे, अतः इनका विषय सीमित है। मन रूपी अरूपी सभी पदार्थोंको अनेक प्रकारसे ग्रहण करता है, इसलिए इसका विषय अपरिमित है। मनका कार्य विचार करनेका है। विचार इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण किये गए अथवा नहीं ग्रहण किये गए सभी विषयोंका हो सकता है, इस विचारका नाम ही 'श्रुत' है। अतः मनका विषय श्रुत अर्थात् रूपी अरूपी सभी पदार्थोंका स्वरूप चितवन है।

मनका विषय 'श्रुत ज्ञान गोचर पदार्थको' मुख्यतासे कहा है, गौण रूपसे तो मानस मतिज्ञान भी मनसे ही होता है। मन जो अंतर्गत इन्द्रिय है उसका मुख्य विषय, श्रुतज्ञानको उत्पन्न करना है और गौण विषय सभी इन्द्रियोंको सहायता देना है (तत्वार्थसार पृ. ६६)।

यहाँ श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान किया है और उसे अनिन्द्रिय-मन का विषय कहा है। आशय यह है कि श्रुतज्ञानकी उपयोग दशा पाँच इन्द्रियोंके निमित्त से न होकर केवल मनके निमित्तसे होती है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनके निमित्तसे केवल श्रुतज्ञान ही होता है किंतु इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय दोनोंके निमित्तसे

दोहा—श्रुतः ज्ञान मन का विषय, श्री जिन भाषें सोय।
एकेंद्रिय भूजल पवन, अग्नि वनस्पति होय ॥११॥

होता है उस प्रकार उपयोग रूप-काममें आने योग्य अथवा विचार रूप श्रुतज्ञान दोनोंके निमित्तसे न होकर केवल मनके निमित्तसे होता है।

एकेंद्रिय जीव

वनस्पत्यंतानामेकम् ॥२२॥

शब्दार्थ—वनस्पति+अंतानाम्=(तेरहवें सूत्रमें) जिनके अंतमें वनस्पति है उनके, अर्थात् पृथ्वीकायिकसे वनस्पतिकायिक तक के। एकम्=एक पहली स्पर्शन इंद्रिय।

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव एकेंद्रिय जीव है।

विशेष-वीर्यांतराय और स्पर्शन इन्द्रिय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर और रसना आदि अन्य इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्मके सर्वघाति स्पर्द्धकोंके उदयमें तथा शरीर नाम कर्म और एकेंद्रिय जातिनामा नामकर्मके उदयसे स्पर्शन इन्द्रिय प्रकट होती है(ध.१५.२४०)।

दो, तीन, चार, पांच इंद्रिय जीव

कृमि पिपीलिका भ्रमर मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३

शब्दार्थ-कृमि पिपीलिका (आदीनाम्)=लट आदिके चींटी आदिके। एकैक=क्रमसे एक एक।

अर्थ-लट-केंचुआ आदि, चींटी आदि, भौंरा आदि मनुष्य आदिके क्रमसे एक एक इंद्रिय बढती हुई (अधिक अधिक) है, अर्थात् लट-केंचुआ आदिके स्पर्शन रसना दो, चींटी चींटा आदिके स्पर्शन रसना घ्राण तीन, मक्खी भौंरा टिड्डी आदिके स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु चार और मनुष्य गाय आदिके स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु कर्ण पाँच इंद्रियां होती हैं।

विशेष--वीर्यांतराय और रसना इंद्रिय ज्ञान आवरण कर्मका क्षयोपशम, घ्राण आदि संबंधी सर्वघातिया स्पर्द्धकोंका उदय, शरीर नामकर्म एवं द्विइंद्रियजाति नाम कर्मके उदय होने पर रसना इंद्रियकी उत्पत्ति होती है; इसी प्रकार घ्राण इंद्रिय आदिकी उत्पत्ति समझ लेनी चाहिए।

संज्ञी जी

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

दोहा—इक इक इंद्रिय बढत लट, चींटी अलि नर आदि।
संज्ञी मनयुत जीव जे, उमास्वामि इम वाद ॥१२॥

शब्दार्थ-संज्ञिनः=विचार करनेवाले, संज्ञा वाले-संज्ञी-सैनी ।

अर्थ--मन वाले जीव संज्ञी, सैनी अथवा विचार करने वाले होते हैं ।

विशेष-'संज्ञा' शब्दके कई अर्थ हैं १ संज्ञा=नाम, यहां यह अर्थ लेने पर केवल मनवाले जीव ही नामवाले रह जावेंगे किंतु नामवाले तो सभी जीव हैं, २ 'संज्ञानंसंज्ञा' भला ज्ञान ही संज्ञा है, ज्ञान तो सभी जीवोंमें होता है और संज्ञान-सम्यग्ज्ञान मात्र सम्यग्दृष्टि जीवोंमें; ३ 'संज्ञा' वृत्तिको कहते हैं, वृत्तियां चार हैं १ आहार २ भय ३ मैथुन ४ परिग्रह, यह भी न्यूनाधिक रूपमें लगभग सभी ससारी जीवोंके होती हैं; किंतु ४ यहाँ 'संज्ञा' के अर्थ उस शिक्षा क्रिया आलाप विचार शक्तिके हैं जिससे हितकी प्राप्ति तथा अहितका त्याग हो सके। इस संज्ञा वाले ही संज्ञी-सैनी-मनवाले कहलाते हैं। असंज्ञी जीव तो इंद्रियों द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं।

पृथ्वीकायिकसे चौइंद्रिय जीवों तकके तो मन होता ही नहीं, अतः वे तो सब ही असंज्ञी असैनी हैं। पंचेंद्रिय जीवोंके ही मन होता है सो भी सबके नहीं; इसलिए उनमें कुछ संज्ञी और कुछ असंज्ञी होते हैं। पंचेंद्रिय जीवोंके चार वर्ग हैं १ देव २ नारक ३ मनुष्य ४ तिर्यंच। मनुष्य, देवों तथा नारकियोंके तो सभीके मन होता है अतः ये तो सब ही संज्ञी-सैनी ठहरे। पंचेंद्रिय तिर्यंचोंमें कुछके मन होता है और कुछके नहीं, जिन तिर्यंचोंके मन होता है वह संज्ञी और जिनके मन नहीं होता वे असंज्ञी कहलाते हैं।

प्रायः एकेंद्रिय आदि प्रत्येक जीव अपने इष्ट विषयमें प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति करता है। किंतु तुलनात्मक अध्ययन, लोक परलोकका विचार हिताहितका विवेक आदि ऐसे कार्य हैं जो मनके बिना नहीं हो सकते और यह कार्य होते हैं अवश्य, अतः मनकी स्वतंत्र सत्ता भी अवश्य ही है। यह मन जिन जीवोंके होता है वह 'संज्ञी' कहलाते हैं।

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

शब्दार्थ-विग्रह=शरीर, टेढा। गतौ=गतिमें। कर्मयोग=कर्मका योग।

अर्थ-नवीन शरीरके लिए गमन करनेमें कर्मका योग होता अर्थात् कर्म सहायक होते हैं।

विशेष-संसारी जीव मरने पर नए शरीर की प्राप्तिके लिए एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता ही है. तब प्रश्न होता है कि जब उसके कोई इंद्रिय अनिन्द्रिय नहीं होती तो वह गमन कैसे कर लेता है ? उत्तर है—कि उस समय जीवके गमन करनेमें उसके साथ लगे रहने वाले उसके कर्म सहायक पड़ते हैं। उस समय जीवकी गति दो प्रकारकी होती है

दोहा—विग्रह गति तो जीव की, कर्म योग से होय।
जीव अरु पुद्गल का गमन, गगन श्रेणि ही होय ॥१३॥

१ ऋजुगति २ वक्रगति। ऋजुगतिमें संस्थान नाम कर्मका उदय और वक्रमें आनुपूर्वी नाम कर्मका उदय निमित्त पड़ता है।

गमन–विधि

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

शब्दार्थ–अनु=अनुसार। श्रेणि=लोकके मध्य भागसे विदिशाओंके अतिरिक्त उत्तर पूर्व दक्खिन पश्चिम —|— तथा लंबाकार | ऊपर नीचे ६ दिशाओंमें स्थित आकाश प्रदेशोंकी पंक्ति। आकाश प्रदेशोंकी रचना दिशाओं के अनुकूल होती है (तत्वार्थसार पृ० ८५)।

अर्थ–जीवोंका तथा पुद्गल परमाणुका गमन श्रेणि के अनुसार होता है।

विशेष–मुक्त जीवोंका ऊर्ध्वगमन, मृत्यु होने पर संसारी जीवोंका नवीन शरीर धारण करनेके लिए गमन और पुद्गलके परमाणुका गमन श्रेणि के अनुकूल ही होता है। अन्य अवस्थाओंमें जीवों और पुद्गलोंके गमनमें श्रेणिके अनुकूल गमन का नियम नहीं है, श्रेणि के अनुकुल हो भी जावे अथवा न भी हो; चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क देवोंका मेरु प्रदक्षिणा के समय और विद्याधर आदिकोंका गमन श्रेणिके प्रतिकूल भी होता है।

आशंका–यहां प्रकरण तो जीवका है, सूत्रसे पुद्गलके गमनका प्रसंग कैसे?

समा–सूत्र २५ से ही गतिका विषय चलता है। गति जीव और पुद्गल दोनोंके होती है, इसी कारण 'अनुश्रेणिगतिः' में 'गति' शब्द लाये हैः यदि सूत्रका अभिप्राय केवल जीव की गतिसे ही होता तो यह सूत्र मात्र 'अनुश्रेणिः' इतना ही होता क्योंकि 'गति' शब्दकी अनुवृत्ति सूत्र २५ से हो जाती और सूत्र २७ भी केवल 'अविग्रहाः' ऐसा होता, 'जीवस्य' शब्द इसमें न होता। अतः तीनो सूत्रोंको मिलाकर पढ़ने और विचारनेसे मालूम होता है कि इस सूत्रमें 'गति' शब्दसे जीव और पुद्गल दोनोंकी गति ली है।

शुद्ध–मुक्त जीव की गति

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

शब्दार्थ-अविग्रहा-मोड़े रहित, सीधी। जीवस्य-शुद्ध–मुक्त जीवकी।

अर्थ-शुद्ध–मुक्त जीवकी गति मोड़े रहित–सीधी होती है अर्थात् मुक्त जीव एक समयमें सीधा ७ राजू ऊंचा गमन करता हुआ सिद्ध-क्षेत्रमें जा विराजता है।

संसारी जीव की गति और समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२८॥

शब्दार्थ—विग्रहवती=मोड़े वाली, टेढ़ी। च=और (सीधी)। प्राक् चतुर्भ्यः=चार समय से पहले पहले।

अर्थ—संसारी जीवोंकी गति चार समयसे पहले पहले टेढ़ी-मोड़े वाली और सीधी बिना मोड़े की दोनों प्रकार की होती है।

विशेष—एक समय वाली गति मोड़े रहित सीधी होती है इसे इषु—ऋजु गति कहते हैं। दो समय वाली गति में एक मोड़ा लगता है इसका नाम पाणिमुक्ता गति है। तीन समयकी गतिमें दो मोड़े होते हैं इसे लांगलिका गति कहते हैं। तीसरे समयके बाद तथा चौथे समय से पहले समाप्त होने वाली गति में 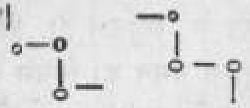 तीन मोड़े होते हैं इसको गोमूत्रिका गति कहते हैं।

इषुगति का काल

एक समयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थ—मोड़े रहित सीधी (ऋजु—इषु) गति एक समय मात्र ही होती है।

विशेष—गतिवान जीव और पुद्गलकी मोड़े रहित गति लोकके अग्रभाग के पर्यंत भी एक ही समय में हो जाती है।

जीव का अनाहारक काल

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥३०॥

शब्दार्थ—त्रीन्वा=अथवा तीन समय।

अर्थ—(टेढ़ो-विग्रह गति वाला जीव विग्रह गति में) एक दो अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है।

विशेष-औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरों तथा छः पर्याप्तियों १ आहार २ शरीर ३ इंद्रिय ४ श्वासोच्छ्वास ५ भाषा ६ मन-के योग्य पुद्गल परमाणुओंके ग्रहण को 'आहार' कहते हैं। जीव जब ऐसा आहार नहीं करता 'अनाहारक' कहलाता है।

दो—मुक्त जीव की गति सरल, एक समय में होय।
सरल वक्र संसारि की, चौ से पहले सोय ॥१४॥

संसारी जीव अविग्रह–ऋजुगतिमें आहारक ही रहता है। एक दो तीन मोड़े वाली विग्रहगतिमें वह क्रमसे एक दो तीन समय ही अनाहारक रहता है, चौथे समयमें अवश्य ही आहारक हो जाता है।

मुक्त जीव की ऋजुगतिके समयमें आहाक अनाहारकका प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह स्थूल सूक्ष्म आदि सब प्रकार के शरीरों से मुक्त होता है।

इस सूत्रमें नोकर्म-स्थूल-पुद्गल ग्रहणकी अपेक्षा अनाहारकपना कहा है; कर्म ग्रहण तथा तैजस परमाणुओंका ग्रहण तो १३वें गुणस्थान तक सभी संसारी जीवोंके सभी अवस्थाओंमें होता है क्योंकि इन जीवोंके विग्रहगतिमें भी तेजस और कार्मण शरीर तथा कार्मणकाय योग बना ही रहता है।

यहाँ 'आहार', 'अनाहार' तथा 'ग्रहण' यह तीनों शब्द निमित्त नैमित्तिक सम्बंध जताने के लिए प्रयोग किये गए हैं; निश्चयदृष्टिसे तो जीव-आत्माके किसी भी परद्रव्यका ग्रहण अथवा त्याग होता ही नहीं।

जन्म भेद

सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

अर्थ–जन्म-नया शरीर धारण १ संमूर्छन २ गर्भ ३ उपपाद तीन प्रकारसे होता है।

विशेष–पहले-वर्तमान स्थूल (औदारिक, वैक्रियिक) शरीर छोड़नेके बाद विग्रहगतिसे कार्मण तेजस शरीरके साथ आकर दूसरे स्थूल (औदारिक, वैक्रियिक) शरीरके लिए सर्व प्रथम योग्य पुद्गल परमाणुओंका ग्रहण 'जन्म' है। यह तीन प्रकार होता है–

१ सम्मूर्छन–मातापिताके रज वीर्य बिना ही योग्य पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण तथा देहकी रचना होने लगना 'सम्मूर्छन जन्म' है।

२ गर्भ–स्त्रीजातिके गर्भाशयमें माताके रज और पिताके वीर्य संयोग से जो सर्व प्रथम योग्य पुद्गल परमाणुओंका ग्रहण सो 'गर्भ जन्म' है।

३ उपपाद–लघु अंतर्मुहूर्तमें ही मातापिताके रज वीर्य बिना ही संपूर्ण शरीर सहित देवों का संपुट शय्यामें और नारकियोंका उष्ट्र (ऊंट) मुख आदि आकारके स्थान विशेषमें उत्पन्न होना (सर्व प्रथम योग्य पुद्गल परमाणुओंका ग्रहण) 'उपपाद जन्म' है।

निश्चयसे जीव अनादि अनंत होनेके कारण इसका उत्पन्न होना अथवा नाश-मरण होना बनता ही नहीं; तथापि अनादिसे ही मिथ्या-दर्शनके कारण विकार भाव होनेसे जीव

दोहा–समय एक दो तीन तक, निराहार जग जीव।
मूर्छ गर्भ उपपाद से, नव तन धरें सदीव ॥१५॥

को नए नए शरीरोंके साथ संबंध होता रहता है। नए शरीरके संयोग सम्बंधको जीवका 'जन्म' तथा वियोग सम्बंधको उसका 'मरण' कहते हैं। सम्यग्दर्शन हुए पीछे जब तक चारित्रकी पूर्णता नहीं होती तभी तक नए नए शरीरोंका संयोग होता है; चारित्रकी पूर्णता होने पर जीव 'सिद्ध-शुद्ध-अज-अजन्मा-अविनाशी' जैसाका तैसा रह जाता है।

योनि-उत्पत्ति-स्थान के भेद

सचित्त शीत संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

शब्दार्थ-सचित्त=जीव सहित। संवृताः=ढकी हुई। मिश्राः=मिली हुई। एकशः=क्रमसे। तद्=उन सम्मूर्छनादि जन्मोंकी। योनयः=योनियाँ, उत्पत्ति स्थान।

अर्थ-उन सम्मूर्छन आदि जन्मोंकी मुख्यतया ९ प्रकारकी योनियाँ हैं १ सचित्त २ शीत ३ संवृत, इनसे उलटी ४ अचित्त ५ उष्ण ६ विवृत, और क्रमसे मिली हुई ७ सचित्ताचित्त ८ शीतोष्ण ९ संवृतविवृत।

विशेष-जीवका स्थूल शरीरके लिए योग्य पुद्गलोंका प्राथमिक ग्रहण 'जन्म' और वह ग्रहण जिस जगह हो वह 'योनि' है। योनिके दो भेद हैं १ गुणयोनि २ आकारयोनि। सूत्रमें गुणयोनिके भेद संक्षेपमें दिए हैं, वे तीनों प्रकारके जन्मोंमें निम्न रूपसे हैं-

सम्मूर्छन-साधारण शरीर वालोंकी सचित्त योनि, क्योंकि इनमें एक जीव दूसरेके आश्रय से है; साधारणके अतिरिक्त कुछ सम्मूर्छन अचित्त योनि वाले क्योंकि उनके उपजनेके स्थान अचेतन पुद्गल स्कंध ही हैं; कुछ जैसे स्त्रीकी कुक्षि (कोख) आदिमें जन्म लेने वाले सचित्ताचित्त योनि वाले हैं। सम्मूर्छनोंकी शीत, उष्ण और शीतोष्ण तीनों प्रकारकी योनि होती है। एकेंद्रिय जीवोंकी योनि संवृत ही होती है किंतु विकलेंद्रिय तथा पंच-इंद्रिय सम्मूर्छनों की विवृत।

गर्भज-यह जीव वीर्य और रज (लोहू) दोनों अचित्तमें माताकी आत्माके मेलसे सचित्ताचित्त-मिश्र योनि वाले होते हैं। इनकी भी शीत, उष्ण और शीतोष्ण तीनों प्रकारकी योनि होती है। संवृत विवृतकी अपेक्षासे इनकी योनि मिश्र है।

उपपाद-जन्मवालोंकी अचित्त; शीत, उष्ण; तथा संवृत योनियाँ हैं।

आकार योनिके गर्भजकी अपेक्षा तीन भेद हैं-

१ शंखावर्त्त-जिसमें शंखके जैसे आवृत्त-घेरे हों, इसमें गर्भ नहीं ठहरता,

२ कूर्मोन्नत-जो कछुएके आकार-जैसी उठी हुई हो, इसमें तीर्थंकर, चक्री अर्द्धचक्री

दोहा-सचित्त शीत संवृत विमुख, क्रमः मिश्र तद् योन।
जर ज अण्डज पोतजा, गर्भ जन्म हों तोन ॥१६॥

बलभद्र और उनके भाइयोंके सिवाय कोई पैदा नहीं होता,

३ वंस पत्र--जो बांसके पत्तेके आकार-जैसी हों, इनमें शेष सभी गर्भ जन्म वाले पैदा होते है। विस्तारसे तो योनियां ८४ लाख कही हैं, वे संक्षेपमें निम्न प्रकार है–

७ लाख नित्य निगोद + ७ ला० इतर निगोद + १० ला० प्रत्येक वनस्पति + २८ लाख अन्य चार स्थावर-पृथ्वी अप तेज वायु प्रत्येककी सात सात ला०+६ ला० विकलेंद्रिय प्रत्येक दो दो ला० + ४ ला० पंचेंद्रिय तिर्यंच + ४ ला० नारक + ४ ला० देव + १४ ला० मनुष्य योनि=८४ लाख योनियाँ।

जन्म स्थानमें मातृपक्षके परमाणु ग्रहणका नाम 'जाति' है, यह ८४ लाख भेद भी इसी की अपेक्षासे हैं। पितृपक्षके परमाणु ग्रहणका नाम 'कुल' है, उनके एक सौ साढ़े निन्नानवें लाख करोड़ भेद है, सो निम्न प्रकार है–

६७ लाख करोड़ एकेंद्रीके (२२ ला० क० पृथ्वीकाय+७ ला० क० जलकाय + ३ ला० क० अग्निकाय + ७ ला० क० वायुकाय + २८ ला० क० वनस्पतिकाय = ६७ लाख करोड़) + २४ लाख करोड़ विकलत्रयके (७ ला० क० दो इंद्री + ८ ला० क० तेइंद्री+ ९ ला० क० चौइंद्री = २४ ला० क०) + ४३½ ला० क० पंचेंद्री तिर्यंचके (१२½ ला० क० जलचर + १९ ला० क० थलचर + १२ ला० क० नभचर = ४३½ ला० क०)+२५ ला० क० नारकीके + २६ ला० क० देवोंके + १४ ला० क० मनुष्यके = १९९½ लाख करोड़।

जिस स्थान अथवा पर्यायमें रहकर उत्पत्ति हो उस आधारको योनि कहते है और जो परमाणु स्वयं जीवके शरीरमय परिणमते है उन्हें कुल (तत्त्वार्थसार पृ० ८८)।

गर्भ जन्म धारी जीव

जरायुजाण्डज पोतानां गर्भः ॥३३॥

शब्दार्थ-जरायुज = जो जीव जेर-मांस और रुधिरकी जरायु–एक प्रकार की थैली-सी से लिपटे हुए उत्पन्न हों, जैसे मनुष्य गाय भैंस इत्यादि। अंडज = जो जीव अंडेसे पैदा हों जैसे मुर्गी कबूतर सांप इत्यादि। पोतज = जो जीव पैदा होते ही चलने फिरने लगें, उत्पन्न होते समय जिनके शरीर पर कुछ भी आवरण न हो, जैसे सिंह हिरण हाथी बंदर बिल्ली आदि।

अर्थ–जरायुज, अंडज और पोतज तीनोंका गर्भ जन्म होता है।

नोट-अंडज जीवोंके कान उनकी आंखोंके बाहर दोनों ओर एक एक छेद होते हैं।

उपपाद जन्मधारी

देव नारकाणामुपपादः ॥३४॥

अर्थ-देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है।

विशेष--स्वर्ग और नरकमें जन्मके लिए विशेष नियत स्थानको 'उपपात' कहते हैं। देव शय्याके ऊपरका भाग दिव्य वस्त्रसे ढका रहता है और नारकियोंका उपपात क्षेत्र वज्रमय भींत का गवाक्ष (खिड़की, छिद्र) आदि होता है। शरीर लघुअंतर्मुहूर्तमें ही संपूर्ण होकर उपपाद जन्म हो जाता है।

सम्मूर्छन जन्मधारी

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥३५॥

अर्थ--शेष (गर्भज और उपपादजसे बचे हुए) जीवोंका सम्मूर्छन जन्म होता है।

विशेष--एकेंद्रियसे चौइंद्रिय तक के तिर्यंचोंका सम्मूर्छन हो जन्म होता है, शेष अर्थात् पंचेंद्रिय तिर्यंचों तथा मनुष्योंके गर्भ और सम्मूर्छन दोनों जन्म होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक (जिसकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो तथा जिसका मरण श्वासके १८वें भागमें ही होनेवाला हो) तिर्यंच और मनुष्य सभी सम्मूर्छन होते है।

शरीर के भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारक तैजस कार्मणानि शरीराणि ॥३६॥

अर्थ-शरीर ५ प्रकारके है १ औदारिक २ वैक्रियिक ३ आहारक ४ तैजस और ५ कार्मण।

विशेष-औदारिक-उदार-स्थूल शरीर, जैसे तिर्यंच और मनुष्यका। यह दो प्रकारका होता है १ स्थूल २ सूक्ष्म। इसका सबसे सूक्ष्म शरीर भी दूसरे वैक्रियिक आदि शरीरोंकी अपेक्षा स्थूल ही होता है क्योंकि वे इससे बहुत-बहुत सूक्ष्म है। अतः इसका औदारिक नाम यथार्थ ही है।

वैक्रियिक-जिस शरीरमें सूक्ष्म स्थूल, हलका भारी, छोटा बड़ा अनेक प्रकारके विकार दूसरे दूसरे आकार अथवा रूप धारण करनेकी योग्यता हो, जैसे देव तथा नारकियोंका शरीर। इस शरीरमें औदारिककी तरह हाड मांस आदि नहीं होते।

आहारक-सूक्ष्म पदार्थके निर्णयके लिए अथवा संयमकी रक्षाके लिए छटे गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकसे जो शुक्लवर्ण एक हाथका पुतला निकलता है वह आहारकशरीर कहलाता है।

आहारकशरीर रसादिक धातु और संहनन रहित तथा समचतुरस्र संस्थान युक्त होता है। न तो इस शरीरके द्वारा किसी दूसरे पदार्थका और न दूसरे पदार्थ द्वारा इसका व्याघात होता है। इसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त मात्र है। शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होने

दोहा—उपपाद देव अरु नारकी, शेष सर्व मूर्छन्न।
थूल वैक्रियिक आहारक, तैजस कार्मण तन्न ॥१७॥

पर कदाचित् आहारक ऋद्धि वाले मुनिका मरण भी संभव है (गो.जी.गा. २३६-३७)।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक यह तीनों शरीर 'आहार वर्गणा' से बनते हैं।

तैजस-जिससे शरीरमें तेज होता है, यह तेजस वर्गणाओंसे बनता है। यह दो भेदरूप है-

१ अभिन्न तैजस-जो संसारी जीवोंके सब अवस्थाओंमें रहता है।

२ भिन्न तैजस-जो मात्र ऋद्धिधारी मुनियोंके होता है, यह भी दो प्रकारका है--

(क) शुभ भिन्न तैजस-जो मुनिके दाएं कंधेसे दयाभावसे निकले और शुभ कार्य करे। यह शरीर हंसके समान धवल वर्ण होता है और १२ योजन तक के जीवोंका दुःख दूर करके फिर मूल शरीरमें प्रवेश कर जाता है।

(ख) अशुभ भिन्न तैजस-जो बाएं कंधेसे क्रोध कषायसे निकले और अशुभ कार्य करे। यह शरीर १२ योजन तक की सब वस्तुओंको जला कर मूल शरीरमें प्रवेश कर उसे भी जला डालता है और मुनिको नरकमें पहुंचा देता है।

औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस नामकर्मके उदयसे होने वाले चार शरीरोंको नोकर्म शरीर कहते हैं। कार्मण शरीरकी तरह यह चार शरीर आत्माके गुणको नहीं घातते वा गत्यादिक रूप पराधीन नहीं कर सकते इसलिए कर्मसे विपरीत लक्षण होनेसे इनको अ(नो) कर्म कहे अथवा कर्म शरीरके ये सहकारी हैं इसलिए ईषत् कर्म शरीर कहे (गो. जी.गा.२४३)

कार्मण शरीर-ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका समूह-पिण्ड रूप। यह भी सब संसारी जीवों के होता है और कार्माण वर्गणाओंका बना होता है।

शरीरोंकी एक दूसरेकी अपेक्षा सूक्ष्मता ॥३७॥

परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

शब्दार्थ-परं परं = अगले अगले।

अर्थ-(औदारिकसे) अगले अगले शरीर सूक्ष्म सूक्ष्म हैं-औदारिकसे वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिकसे आहारक, आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मणशरीर सूक्ष्म है।

शरीरोंमें परमाणुओंका अनुपात

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

शब्दार्थ-प्रदेशतः=प्रदेशों की अपेक्षा। प्राक्=पहले। तैजसात्=तैजस शरीर से।

अर्थ-प्रदेशों परमाणुओंकी अपेक्षा तैजसशरीरसे पहले पहलेके शरीर असंख्यातगुणे परमाणु

दोहा-औदारिक से आगले, सूक्ष्म सूक्ष्म देह।
असंख्य गुण परमाणु से, तैजस पहली देह ॥१८॥

वाले हैं अर्थात् औदारिक शरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुणे वैक्रियिकमें और वैक्रियिकसे असंख्यात गुणे आहारक शरीरमें परमाणु होते हैं। यहां असंख्यात गुणे परमाणु संख्याकी अपेक्षा है न कि अवगाहनाकी अपेक्षा।

अनंतगुणे परे ॥३९॥

शब्दार्थ–परे = अंतके दो अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर।

अर्थ–तैजस और कार्मण शरीर अनंतगुणे परमाणु वाले हैं अर्थात् आहारक शरीरसे अनतगुणे परमाणु तैजसमें और तैजससे अनंतगुणे कार्मणशरीर में परमाणु हैं।

विशेष–धुनी हुई बहुत कम परमाणुओं वाली रुई और बहुत बहुत अधिक परमाणु वाले लोह पिण्डके सदृश ही औदारिक आदि पहले पहले शरीर आगे वालोंसे स्थूल स्थूल होने पर भी उन उनसे कम कम परमाणुओं वाले हैं।

तैजस और कार्मण की विशेषता

अप्रतिघाते ॥४०॥

शब्दार्थ–अप्रतिघाते=दो बाधा रहित-बेरोक-अरोक।

अर्थ–ऊपरके दो अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर अरोक-बाधा-रहित हैं अर्थात् किसी अन्य पदार्थसे नहीं रुकते।

विशेष–जैसे प्रकाशके परमाणु कांचमें प्रवेश करके उसके पार हो जाते हैं वैसे ही तैजस और कार्मण शरीर भी किसी पदार्थसे नहीं रुकते और न किसीको रोक ही सकते हैं। अतः यह दोनों शरीर तीनों लोकमें कहीं भी आ जा सकते हैं।

यहां प्रश्न होता है कि जब यह दो शरीर अप्रतिघात–अरोक हैं तो पहले तीन प्रति-घात-रोक शरीर ठहरे?

उत्तर–हाँ, ठीक है। वैक्रियिक शरीर मात्र त्रसनाड़ीमें सब कहीं; आहारकशरीर मात्र ढाई द्वीपमें केवली श्रुतकेवलीके पास तक ही जा सकता है, मनुष्यके-जैसे-विष्णुकुमार मुनि के–विक्रिया ऋद्धि द्वारा बने शरीरका गमन भी ढाई द्वीप मानुषोत्तर पर्वत तक ही है। औदारिक तो प्रत्यक्ष प्रतिघात-रोक शरीर है ही।

तैजस कार्मण शरीरोंका संसारी जीवके साथ संबंध

अनादि संबंधे च ॥४१॥

दोहा–आहारकसे अनंतगुण, तैजस अरु कार्मण।
रुकें न पुद्गल आदि से, ये जो दोनों तन्न ॥१९॥

शब्दार्थ—संबंधे_सबंधवाले दो। च=और (सादि संबंध वाले भी)।

अर्थ—यह दो-तैजस और कार्मण शरीर संसारी जीवके साथ अनादिकालसे संबंध रखने वाले हैं अर्थात् संसारी जीवके साथ यह दोनों शरीर सदासे ही हैं; किंतु तैजस और कार्माण परमाणुओंके नित्य खिरते और नए-नए आते रहनेसे यही दोनों शरीर सादि भी हैं।

सर्वस्य ॥४२॥

शब्दार्थ—सर्वस्य=सब (संसारी जीवों) के।

अर्थ—यह दोनों तैजस और कार्मण शरीर सब ही संसारी जीवोंके होते हैं।

एकसाथ एक जीवके शरीरोंकी संख्या

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः ॥४३॥

शब्दार्थ_तद+आदीनि=उन दो (तैजस कार्मण) को आदि लेकर। भाज्यानि=बंटे हुए, विभाजित किये हुए। एकस्य=एक (जीव) के। आचतुर्भ्यः=चार तक।

अर्थ-एक जीवके एक साथ तैजस ,और कार्मण शरीरको आदि लेकर चार शरीर तक हो सकते हैं।

विशेष-यदि किसी जीवके दो शरीर होंगे तो वह तैजस और कार्मण विग्रह गतिमें होंगे, तीन होंगे तो तैजस, कार्मण, औदारिक (तिर्यंच, मनुष्यके) अथवा तैजस, कार्मण, वैक्रियिक (देव, नारकोंके); और यदि चार होंगे तो तैजस, कार्मण, औदारिक, आहारक (छटे गुण स्थानवर्ती मुनिके)।

वैक्रियिक और आहारक तथा औदारिक और उपपाद जन्म वाला अर्थात् देव नारकियों वाला वैक्रियिक शरीर कभी साथ२ नहीं होते क्योंकि वैक्रियिक और आहारक तथा औदारिक और आहारक तथा औदारिक और वैक्रियिक शरीर नामकर्मोंका उदय कभी भी एकसाथ नहीं होता। अतः एक जीवके पांचों शरीर कभी भी एक साथ नहीं हो सकते। औदारिक और वैक्रियिक शरीर नामकर्मका उदय एक साथ न हो सकनेके कारण ही चक्री, ऋद्धिधारी मुनि आदिको विक्रिया औदारिक औदारिक अथवा विक्रियात्मक औदारिक ही है न कि वैक्रियिक और औदारिक साथ साथ (गो.क.गा.२६८,सर्वार्थसिद्धि तथा तत्वसार अध्याय २ गा.७५)

कार्मण शरीरकी विशेषता

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

शब्दार्थ—निरुपभोगम् = उपभोग रहित। उपभोग=इंद्रियों द्वारा शब्द स्पर्श रस गंध

दोहा—ये दो सादि अनादि हैं, और सभी के होंय।
दो आदि अरु चार तक, युगपत इक के होंय ॥२०॥

वर्णका ग्रहण (सर्वार्थसिद्धि) । अंत्यम् =अंतका ।

अर्थ—अंतका अर्थात् कार्मणशरीर उपभोग-शब्द आदि ग्रहण से रहित होता है।

विशेष—विग्रह गतिमें जीवके भाव इंद्रियां तो होती हैं किंतु द्रव्य-जड़ इंद्रियोंकी रचना का तथा द्रव्य और भाव मनका वहां अभाव होता है, उस स्थितिमें शब्द रूप रस आदिका अनुभव-ज्ञान नहीं होता। इस कारण कार्मण शरीरको 'निरुपभोग' कहा है। वास्तवमें तो तैजस और कार्मण दोनों ही शरीर निरुपभोग हैं किंतु तैजस शरीर योग का कारण न होने से स्वयं निरुपभोग रह जाता है, इसीलिए उसे यहां निरुपभोग कहना व्यर्थ समझा गया।

तैजस और कार्मण शरीर किसी इंद्रिय विषयके द्वारा होनेवाले उपभोग को नहीं करा सकते क्योंकि उक्त दोनों शरीरों में ही इंद्रिय रचना नहीं होती (तत्वार्थसार अधि. २)।

औदारिक शरीर

गर्भ सम्मूर्छनजमाद्यम् ॥४५॥

शब्दार्थ-गर्भसम्मूर्छनजम्=गर्भ और संमूर्छन जन्मसेउत्पन्न। आद्यम्=आदिका। औदारिकशरीर

अर्थ-जो शरीर गर्भ जन्म तथा सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होता है वह आदिका शरीर है।

वैक्रयिक शरीर

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥

अर्थ-जो शरीर उपपाद जन्मसे होता वह 'वैक्रियिक' है।

लब्धि प्रत्ययं च ॥४७॥

अर्थ—वैक्रियिकशरीर लब्धि-तप आदिसे प्राप्त ऋद्धिके कारण से भी होता है।

विशेष-औदारिकशरीर विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक भेदसे दो प्रकारका है उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है उसे ही यहां वैक्रियिकरूपसे ग्रहण करना चाहिए(ध.९पृ.३२८)

नोट १-लब्धि प्रत्यय वैक्रियिक शरीर को वैक्रियिक शरीर मानने पर एक जीवके एक साथ चार शरीर इस प्रकार भी हो जाते हैं-१ औदारिक २ वैक्रियिक ३ तैजस ४ कार्मण।

२-एक बार की हुई विक्रिया मुहूर्तके भीतर ही मिट जाती है आगे फिर वैसी ही यदि करनी हो तो दूसरी करली जाती है (तत्वार्थसार पृ. ८३)।

तैजस शरीर

तैजसमपि ॥४८॥

अर्थ-तैजस (भिन्न तैजस) शरीर भी लब्धिसे होता है।

दोहा—अंतिम तन उपभोग बिन, गर्भ सम्मूर्छन आदि।
तैजस होवे लब्धि से, वैक्रिय लब्धि उपपाद ॥२१॥

आहारक शरीर

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

शब्दार्थ-अव्याघाति-बाधारहित । प्रमत्तसंयतस्य एव=प्रमत्त संयत मुनिके ही ।

अर्थ—आहारकशरीर शुभ है-शुभ कार्य करता है, विशुद्ध है, बाधारहित (ढाई द्वीपमें जाने से कहीं रुकावट नहीं) है, और यह (इसका उदय) छट्टे गुणस्थानवर्ती मुनिके ही होता है । किंतु इस आहारक शरीर नामा नाम कर्मका बंध सातवेंसे आठवें गुणस्थानके छट्टे भाग तक ही संभव है) ।

विशेष-आत्मा तो अखंड है, उसके अंश-प्रदेश-टुकड़े हो नहीं सकते । आत्माके असंख्यात प्रदेश (कल्पित अंश) हैं; वे कार्मण, तैजस, आहारक, विक्रियात्मक औदारिक शरीरोंके साथ निकलते हैं । अखंड आत्मामें—आत्मप्रदेशों-कल्पितअंशोंमें फैलने सिकुड़नेकी शक्ति होनेसे आत्मा मूल शरीर तथा आहारक आदि शरीरों में सब जगह रहता है ।

निश्चयसे तो जीवके कोई किसी प्रकारका शरीर नहीं होता । वास्तव में यदि जीवके शरीर हो तो जीव शरीर रूप जड़ हो जावे । अज्ञानी एक ही क्षेत्रमें स्थित होनेके कारण जीव और शरीरको एक मानता है । जीवकी स्वभाविक शुद्ध अवस्था उसकी 'सिद्ध' अवस्था पर्याय है । सिद्धोंके कोई जड़ शरीर होता नहीं, केवल चेतनाका पिण्ड ही उनका शरीर कहा जा सकता है ।

किसके कौन वेद-लिङ्ग

नारक सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

अर्थ—नारकी और सम्मूर्छन जीव सब नपुंसक होते हैं ।

विशेष—'लिङ्ग' चिन्ह को कहते हैं । चिन्हसे पुरुष स्त्री आदिकी पहचान होती है । लिंग का दूसरा नाम 'वेद' है । वेद-लिंग तीन होते हैं १ पुल्लिंग २ स्त्रीलिंग और ३ नपुंसक लिंग । ये तीनों वेद दो दो प्रकारके हैं-

१ द्रव्यवेद-ऊपरी चिन्ह-पौद्गलिक आकृति रूप जो नाम कर्मके उदयका फल है,

२ भाववेद—अभिलाषा विशेष-स्त्री पुरुषसे रमनेकी इच्छा रूप मनोविकार जो चारित्र मोहनीयके वेद नोकषाय (पुद्गल द्रव्य कर्म) के उदयका फल है; यह संसारी जीवके एक भव में पुरुष स्त्री नपुंसकमें से केवल एक रूप ही रहता है (ध. १ पृ. ३४६) ।

दोहा—प्रमत्त-संयत साधु के, होय आहारक देह ।
अव्याबाध विशुद्ध है, अरु शुभ भी यह देह ॥२२॥

जिस चिन्हसे पुरुषकी पहचान होती है वह द्रव्य पुरुषवेद और स्त्रीके संसर्ग-सुख-रमने की अभिलाषा भाव पुरुषवेद है। पुरुषवेदके उदयसे जो स्त्रीके उदरमें संतानको उत्पन्न करता है सो 'पुरुष' है, (सर्वार्थसिद्धि)।

स्त्रीकी पहचानका चिन्हद्रव्य स्त्रीवेद और पुरुषके साथ रमनेकी अभिलाषा भाव स्त्रीवेद है। स्त्रीवेदके उदयसे जिसके उदरमें गर्भ ठहरता है सो 'स्त्री' है: (सर्वार्थसिद्धि)।

जिसमें कुछ स्त्री और कुछ पुरुषके चिन्ह हों वह द्रव्य नपुंसकवेद और स्त्री पुरुष दोनों से एक साथ रमनेकी अभिलाषा भाव नपुंसकवेद है। नपुंसकवेदके उदयसे जो उदरमें गर्भ स्थिति और संतान उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित हो वह 'नपुंसक' है।

चारित्र मोहनीयके नोकषाय नपुंसकवेद कर्म और अशुभ—नपुंसक नामा नामकर्मके उदयसे जीव नपुंसक होता है। नारकी और सम्मूर्छनों के इनका उदय होनेसे ये सब ही नपुंसक होते हैं।

न देवाः ॥५१॥

अर्थ-देव नपुंसक नहीं होते अर्थात् देवोंमें पुरुषवेद और स्त्रीवेद दो ही वेद-लिंग होते हैं

विशेष—देवांगनाओंकी उत्पत्ति सौधर्म, ईशान इन प्रथम दो स्वर्गों तक ही है; हाँ उनका अस्तित्व अवश्य सोलहवें अच्युत स्वर्ग तक है। अतः देवगतिके जीवोंमें १६ वें स्वर्ग तक ही दो वेद मानने चाहिएँ आगे नहीं; सोलहवें से ऊपरके तो सभी देव पुरुष वेदी होते है।

नोट—भोग भूमिके उपजे मनुष्य और तिर्यंचोंमें तथा मलेच्छ खंडों के स्त्री पुरुषोंमें भी दो पुरुष तथा स्त्री वेद ही होते है (अर्थ प्रकाशिका)।

शेषास्त्रि वेदाः ॥५२॥

शब्दार्थ—शेषाः =शेष, बाकी, बचे हुए। त्रि=तीन। वेदाः =वेद-लिंग वाले।

अर्थ—शेष-नारकी, सम्मूर्छनों, देवों, भोग भूमिज मनुष्य तिर्यंचों तथा मलेक्ष खंडोंके स्त्री पुरुषोंके बचे हुए--संसारी जीव अर्थात् आर्य खंडोंके संज्ञी असंज्ञी गर्भज तिर्यंच और मनुष्य तीनों वेद वाले होते हैं।

विशेष—पुरुष वेदका विकार सबसे कम घास फूंसकी अग्नि जैसा होता है, यह प्रकट भी शीघ्र होता और शांत भी शीघ्र ही हो जाता है। स्त्रीवेदका विकार बहुत तेज-अंगार जैसा जो प्रकट भी जल्दी नहीं होता और न जल्दी शांत ही होता है। नपुंसक वेदका विकार

दोहा—सम्मूर्छन अरु नारकी, क्लीव होंय यह जीव।
देव नपुंसक हों नहीं, तीनों शेष सदीव ॥२३॥

स्त्रीवेदके विकारसे भी बहुत तेज-तपी ईंट जैसा जो बहुत ही देरमें शांत होता है।

पुरुषमें कठोर भाव मुख्य है उसे कोमल तत्वकी अपेक्षा—आवश्यकता रहती है। स्त्रीमें कोमल भाव मुख्य होनेसे उसे कठोर तत्वकी अपेक्षा और नपुंसक में दोनों भावोंका मिश्रण होनेसे उसे दोनों तत्वोंकी अपेक्षा रहती है।

पूर्ण आयु (अकालमृत्यु नहीं होने) वाले प्राणी

औपपादिक चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

शब्दार्थ-औपपादिक=उपपाद जन्मवाले-देव और नारकी। चरमोत्तम देहा=चरम-अंतकी उत्तम देहधारी-तीर्थंकर आदि तद्भव मोक्षगामी। आयुषः=आयुवाले। अन + अपवर्त्य = नहीं घटने योग्य पूर्ण।

अर्थ—देव नारकी, तीर्थंकर आदि तद्भव मोक्षगामी जीव और असंख्यात वर्षों की आयु वाले (भोग भूमिके) जीव पूर्ण आयु ही होते हैं अर्थात् इनकी किसी भी कारणसे अकाल मृत्यु नहीं होती।

विशेष-चक्री तथा अर्द्ध चक्रीकी आयु पूर्ण ही होती हो ऐसा नियम नहीं, जैसे सुभौम तथा ब्रह्मदत्त चक्री और अंतिम अर्द्ध चक्री-कृष्ण वासुदेवकी अकाल मृत्यु हुई कही गई है। हां, तद्भव मोक्षगामी चक्री आदि कोई भी हो वह अवश्य ही पूर्ण आयु होगा।

आयु दो प्रकारकी होती है १ परिपूर्ण—अनपवर्तनीय-जो अपने स्थितिबंधके पूरा होनेसे पहले समाप्त न हो.जिसकी उदीरणा न हो सके अर्थात् जिसका भोगकाल बंधकालीन स्थिति के समान ही हो, २ अपूर्ण-अपवर्तनीय जो अपनी स्थितिबंध के पूरी होनेसे पहले ही समाप्त हो जाय-जिसकी उदीरणा हो सके-अर्थात् जिसका भोगकाल बंधकलीन स्थितिसे कम हो। प्रायः देखा भी जाता है कि कुछ व्यक्ति तो युद्ध आदिमें अथवा डूब जल कर बड़े हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ ही मर जाते हैं और कुछ बड़े दुर्बल और अस्वस्थ व्यक्ति भी बड़ी-बड़ी भयानक आपत्तियोंसे बच जाते हैं।

आगामी आयुका बंध कर्म भूमिके मनुष्य और तिर्यंच अपनी भुज्यमान-वर्तमान आयु की त्रिभंगियों में, देव नारकी तथा नित्य-शाश्वति भोग भूमिके मनुष्य तिर्यंच अपनी

दोहा—औपपादिक वर चरम तनु, भोग भूमि के जीव।
वीर जिनेश्वर ने कहे, पूरण आयु सदीव ॥२४॥

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र अध्याय २ के कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियारसिंह जैन 'सिंह' बी० ए० सी० टी० साहित्यालंकार कृत दोहे समाप्त ॥२॥

भुज्यमान आयुके अंतिम ६ माहकी त्रिभंगियोंमें और भरत ऐरावत क्षेत्रोंमें भोगभूमि कालके मनुष्य तिर्यंच अपनी भुज्यमान आयुके अंतिम ६ माहकी त्रिभंगियोंमें किया करते हैं (देखो सूत्र २१ अ० ६ का विशेष)।

अच्छा बुरा, कम अधिक, पूर्ण अपूर्ण आयु बंध होना बंध समयके परिणामों-भावों की तारतम्यता पर निर्भर है। जैसे सघन बोए और उगे हुए वृक्षोंमें को पशु आदिका प्रवेश असंभव-सा होता है और छीदे छीदे उगे वृक्षोंमें को पशु आदि आसानीसे घुस जाते हैं वैसे ही गाढबंध आयु शस्त्र आदिके द्वारा भी अपने नियतकालसे पहले पूरी नहीं होती अर्थात् उसकी उदीरणा नहीं होती, किंतु शिथिलबंधआयु शस्त्र विष आदि द्वारा अपने कालसे पहले भी पूरी हो सकती है।

आयुके नियत कालसे पहले ही शीघ्र भोगको अर्थात् आयुकर्म की उदीरणा द्वारा फल भोगनेको 'अकाल मृत्यु' कहते हैं, और उसके नियत काल तकके भोगको-बिना उदीरणाके आयुकर्मके भोगको 'कालमृत्यु'। अकालमृत्यु शस्त्र, जल, अग्नि, विष आदि निमित्तोंके मिलने पर ही होती है किंतु कालमृत्यु निमित्त मिलने अथवा न मिलने से दोनों प्रकार। हाँ काल मृत्यु अग्नि, विष आदि निमित्त मिलने पर भी नियत समयसे पहले कदापि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि परिपूर्ण आयु वालोंको कैसा भी प्रबल निमित्त क्यों न मिले पर उनका अकालमरण नहीं होता; इसके विपरीत अपूर्ण आयु वालेको विष आदि कोई न कोई निमित्त मिल ही जाया करता है। हां, आगामी आयुका बंध हो जाने पर भुज्यमान-वर्तमान आयु की उदीरणा नहीं होती (धवला १०)।

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार न करनेसे कुछ व्यक्ति अकालमृत्यु माननेमें तीन दोष दिया करते हैं १ कृतकर्मका नाश २ बद्धकर्मकी निष्फलता और ३ अकृतकर्मका भोग।

शीघ्र भोगमें ऊपरका कोई भी दोष नहीं घटता क्योंकि जो कर्म बहुत समय तक भोगा जा सकता है वही एकसाथ भोग लिया जाता है, अतः कृतकर्म—किये हुए कर्मका नाश नहीं होता। उसका कोई भी भाग बिना भोगे नहीं रहता इसलिए बद्धकर्मकी निष्फलता भी नहीं बनती अर्थात् बंधा हुआ कर्म निष्फल नहीं जाता। इसी प्रकार कर्म अनुसार आने वाली मृत्यु ही आती है, सो अकृतकर्म-बिना किये हुए कर्मके भोगका दोष भी नहीं आता।

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र, अध्याय २ की ब्रह्मचारी मास्टर मुख्तियार सिंह जैन 'सिंह', बी. ए., सी. टी. साहित्यालंकार—कृत कौमुदी समाप्त ॥२॥

अंत मंगल

दोहा—पुष्पदंत शीतल नमां, श्री श्रेयांसहि नाथ।
वासपूज्य श्री विमल के, चरण नमों धर माथ ॥२॥

श्री वीतरागाय नमः

अध्याय ३

मंगलाचरण

दोहा—अरिहंतों को प्रणाम कर, नमों सिद्ध अविकार।
आचार्य उवज्झाय नम, साधु नमों सिर धार॥

जीव तत्व के रहने के स्थान

रत्नशर्करा वालुका पंक धूम तमो महातमः प्रभा भूमयो
घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

शब्दार्थ-शर्करा=कंकड। बालुका=रेत। पंक=कीचड़। घनाम्बु वात=घनोदधि वातवलय-गोमूत्र वर्ण सघनजल मिश्रित वायुका घेरा, घनवातवलय—मूंग वर्ण सघन स्थूल वायु का घेरा, तनुवातलय—अव्यक्त वर्ण सूक्ष्म वायु का घेरा। प्रतिष्ठाः=आश्रय स्थित। अधोऽधः=क्रम से नीचे नीचे।

अर्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातम प्रभा ये सात भूमियां है। यह क्रम से एक दूसरे के नीचे नीचे है और तीन वातवलय-घनोदधि, घनबात, तनुवात-हवा के घेरों तथा आकाश के आधार स्थित हैं अर्थात् भूमियाँ घनो-

---

दोहा—रत्नशर्करा बालुका, पंक धूम तम भूमि।
प्रभा महातम क्रम मे, नीचे नीचे भूमि ॥१॥

तीन लोक

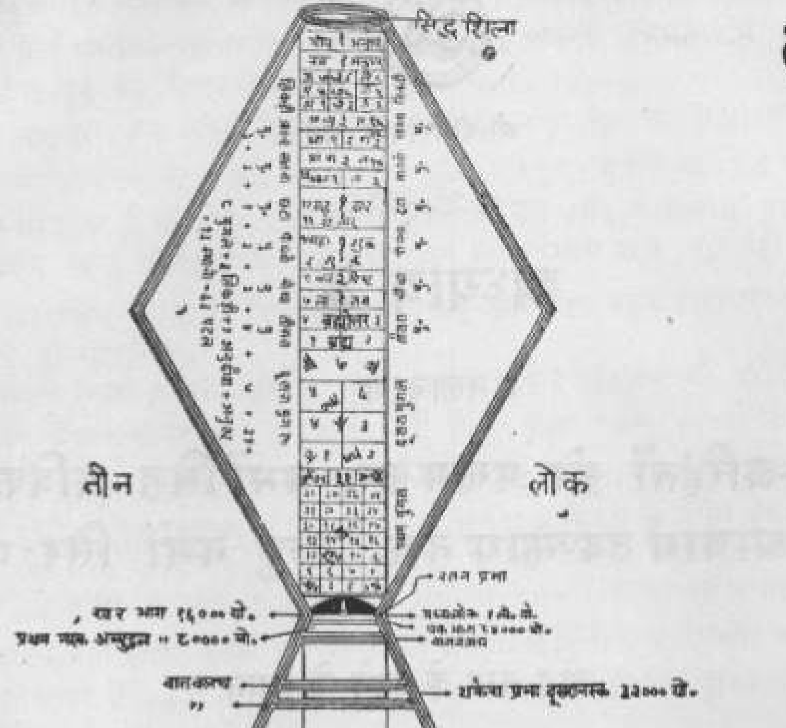
सिद्ध शिला
तीन
लोक
रतन प्रभा
शर्करा प्रभा दूसरा नरक ३२००० यो.
तीसरा नरक बालुका प्रभा
चौथा नरक पंक प्रभा २४००० यो.
पांचवा नरक
वातवलय
नि
गो
द

दधि वायुमंडल के, घनोदधि-वायुमडल घनवात-वायुमंडल के, घनवातवलय तनुवातवलय के, तनुवातवलय आकाशके और आकाश अपने (आकाशके) ही सहारे स्थित है।

विशेष—यह तीनों वातवलय-हवाओं के पटल इतने दृढ है कि यह भूमियों को अपने अपने स्थान पर ही स्थिर रखते हैं, न हिलने डुलने देते और न नीचे को ही दबने देते; यह दृष्टांत द्वारा निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

एक फुटबाल ब्लेडर लो, उसमें हवा भरकर जितना फुला सको खूब फुला दो और एक दृढ़ फीते से बांध दो जिससे हवा न निकलने पावे। अब फूले हुए ब्लेडर के बीचों बीच भी एक दूसरा दृढ़ फीता बांधो; ऐसा करनेसे ब्लेडरकी हवा दो भागोंमें बंट जावेगी और ब्लेडर डुगडुगी के आकार का हो जावेगा। ब्लेडर का मुँह खोल दो, अब उसके केवल नीचे के आधे भागमें हवा रह जावेगी। फिर आधे खाली ब्लेडर में पानी भरकर उसका मुँह मजबूती से ऐसा बांधो कि वहां की हवा भी न निकल सके; अब बीचमें बंधा फीता खोल दो। ऐसा करनेसे आप देखेंगे कि ब्लेडर को चाहे कैसे ही उलटें पलटें तो भी पानी अपनी जगह और हवा अपनी जगह रहेगी। जिस प्रकार ब्लेडर में हवा के आधार पानी है, हवा उसे अपने अन्दर नहीं घुसने देती उसको वहीं थांभे रहती है ठीक इसी प्रकार वातवलयों—वायु मंडलों के आधार भूमियां हैं अथवा यों कहिए कि सारा लोक है।

रत्नप्रभा पृथ्वी १ लाख ८० हजार योजन मोटी है, इसके तीन भाग है-खर भाग, पंक भाग, अब्बहुल भाग। सबसे ऊपर का खर भाग १६ हजार योजन मोटा है, इसमें चित्रा, बज्रा आदि एक एक हजार योजन मोटी १६ पृथ्वी है। इन पृथ्वियों में से सबसे ऊपर की चित्रा पृथ्वी तो मध्यलोक में है, शेष अधोलोक में हैं। खर भाग के नीचे ८४ हजार योजन मोटा पंक भाग है। पंक भाग के नीचे ८० ह० यो० मोटा अब्बहुल भाग है जिसमें पहला नरक-नारकी जीवोंके रहनेका स्थान-है।

रत्नप्रभाके नीचे १ राजू से १ ला० ८० ह० योजन कमका अंतराल-बीच छोड़कर ३२ ह० यो० मोटी शर्कराप्रभा पृथ्वी अर्थात् दूसरा नरक है। शर्करा के नीचे १ राजू से ३२ ह० यो० कम का अंतराल छोड़ २८ ह० यो० की बालुका प्रभा पृथ्वी—तीसरा नरक है। इससे नीचे १ राजू से २८ ह० यो० कम का अंतराल दे २४ ह० यो० की पंक प्रभा-चौथी नरक भूमि है। इसके नीचे १ राजू से २४ ह० यो० कम का अंतराल छोड़ २० ह० यो० मोटी धूमप्रभा-पाँचवीं नरकभूमि है। उससे नीचे १ राजूसे २० ह० यो० कमका बीच दे १६ ह० यो० की तमप्रभा-छठी नरक पृथ्वी है। तमप्रभा के नीचे १ राजू से १६ ह० यो० कम का बीच छोड़ ८ ह० यो० की महातमप्रभा-सातवीं नरकभूमि है। इससे नीचे १ राजूसे ६८ हजार योजन कम का निगोद है क्योंकि निगोद के नीचे २०, २० हजार योजन के तीन

वातवलय हैं। ऊपर के सब अंतरालों-बीचों में भी तीनों वातवलय हैं जिनमें से प्रत्येक २०, २० हजार योजन है। चित्रा पृथ्वीके निम्नतम भाग अथवा सुमेरु की जड़ के निम्नतम भागसे लेकर निगोदके नीचे अंतिम वातवलय के अन्त तक सात राजू है (तिल्लोय पण्णति प्रथम भाग गा. १५४)।

पहली भूमिमें रत्नों जैसी प्रभा-चमककी प्रधानता होनेसे रत्नप्रभा, दूसरी शर्कर-कंकड़ों जैसी प्रभाके बाहुल्यसे शर्कराप्रभा, बालुका-रेत जैसी प्रभाके आधिक्यसे बालुका प्रभा, पंक-कीचड़ जैसी प्रभाकी मुख्यतासे पंकप्रभा, धूम-धूएं जैसी प्रभाके प्राधान्यसे धूमप्रभा, तम अंधेरे जैसी प्रभाकी विशेषतासे तमप्रभा और बहुत ही घने अंधेरे जैसी प्रभा की मुख्यता से महातमप्रभा कहलाती है। इनके यह नाम सार्थक-योगिक हैं; इनके रूढ़ि-नाम तो क्रमसे घम्मा, बंसा, मेघा अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी है।

बजा पृथ्वीसे लेकर निगोद के नीचे तीनों वातवलयों के अंत तकका भाग 'अधोलोक' कहलाता है।

चित्रापृथ्वीके बीचोंबीच १ लाख ४०योजन ऊंचा सुमेरुपर्वत है जिसकी १ हजार यो० की जड़ चित्रापृथ्वी में उसके अंत तक है। ऊपर ९९ हु० ४० यो० है, इसमें ४० योजन सुमेरु की चूलिका-चोटी है। बस यही १ लाख ४० यो० ऊंचा और पूर्व पश्चिम १ राजू चौड़ा तथा उत्तर दक्षिण ७ राजू लम्बा 'मध्य लोक' है।

सुमेरु पर्वत से १ बाल का अंतराल छोड़कर ऊपर सिद्धशिला के ऊपर वातवलयों के अन्त तक ऊर्ध्वलोक है, इसी में १६ स्वर्ग, ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ अणोत्तर और सिद्ध शिला वाली आठवीं पृथ्वी है।

सौधर्म ईशान घनोदधि-जलमिश्रित सघन वायुमंडल के अधार, सनत माहेंद्र के विमान घनवात-सघन स्थूल वायुमंडल के आधार—यह दो युगल डेढ़-डेढ़ राजू में हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर से सतार सहस्रार तकके विमान अर्थात् तीसरे युगलसे छटे युगल तक इन्हीं दो वायु मंडलों के आधार आधे आधे राजूमें हैं। शेष चार स्वर्ग तथा ग्रैवेयक आदि सर्वार्थसिद्धि तक के विमान केवल आकाशके आधार हैं; इनमें से चार स्वर्गों के दो युगल आधे आधे राजू में और शेष एक राजू में ग्रैवेयक आदि सर्वार्थसिद्धि तक के विमान तथा आठवीं पृथ्वी है।

सर्वार्थसिद्धि विमान से १२ योजन ऊपर ८ योजन मोटी १ राजू पूर्व पश्चिम, ७ राजू उत्तर दक्षिण 'ईषत् प्राग्भार' नाम की आठवीं पृथ्वी है जिसके बीचों बीच मनुष्यलोक प्रमाण ४५ लाख योजन समतल अर्द्ध गोलाकार (कढ़ा के आकार) सिद्ध-शिला है।

नोट—जैसे स्वर्ग पटल भूमि के आधार बिना पृथक-पृथक व्यवस्थित हैं वैसे नारकियों के अथवा मनुष्योंके वासस्थान नहीं हैं अर्थात् उनके वासस्थान भूमिके आधार हैं (सर्वार्थसिद्धि)।

तीनों लोक समूह रूप लोकका आकार सात खड़े पुरुषोंके आकार निम्न रूप है :-

यह १४ राजू ऊंचा, तली में ७ राजू लम्बा चौड़ा, उत्तर दक्षिणमें १४ राजू ऊंचा लंबाकार, पूर्व पश्चिम में बराबर झुका हुआ—७ राजू ऊपर जाकर चौड़ाई १ राजू लंबाई ७ राजू, फिर ऊपरको बढ़ता हुआ बराबर ही झुकाव के साथ ३½ राजू और ऊपर जाकर ५ राजू चौड़ा ७ राजू लंबा, और वहां से फिर घटता हुआ १४ वें राजू ऊंचे पर फिर १ राजू चौड़ा ७ राजू लंबा है। मोटे रूप में यों कहिए कि सात आदमी पैरों को चौड़ा कर अपने अपने कूल्हों पर हाथ रख उत्तरको ओर मुंह करके खड़े हों, सो आकार लोकका है—पैरोंमें चौड़ाई ७ राजू, कुल्हों पर १ राजू, कोहनी पर ५ राजू तथा प्रत्येक आदमीकी ऊंचाई १४ राजू और मोटाई १ राजू है।

यह लोक सब ओर तीन वातवलयों (वायुमंडलों)—घनोदधि (जल मिश्रित सघन), घन (सघन स्थूल), तनु (सूक्ष्म) वातवलय-से घिरा है। निगोदके नीचे इन तीनोंकी मोटाई २०, २० ह० यो० है, और आठों पृथ्वियों के बीच बीचमें वातवलयोंकी मोटाई २०,२० ह० यो० है। निगोदके ऊपरके सिरेके चारों ओर इनकी मोटाई क्रमसे ७, ५, ४ योजन है। ऊपर मध्यलोक के चारों ओर यह क्रमशः ५, ४, ३ यो० मोटे हैं; पांचवें स्वर्ग के चारों ओर ७, ५, ४ यो० और शिखरके चारों ओर ५, ४, ३ यो० हैं। शिखरके ऊपर इनकी मोटाई क्रम से २ कोस १ कोस तथा १५७५ धनुष है। यह सब माप बड़े माप में है।

१५७५ धनुष के १५०० वें भाग में सिद्धशिला पर सबसे ऊपर सबसे बड़ी अवगाहना अर्थात् ५२५ धनुष [छोटी माप] ऊंचाई (खड्गासन) के सिद्ध हैं, और १५७५ धनुष के ९ लाखवें भागमें सिद्धशिला पर सबसे ऊपर सबसे छोटी अवगाहना अर्थात् ३½ हाथ [छोटी माप] ऊंचाई (पद्मासन अथवा वामन संस्थानके खड्गासन) के सिद्ध हैं।

वातवलयों समेत ऊपर वर्णित सब क्षेत्र को 'लोक' कहते हैं। यह सर्व लोक ठोस (घन) रूप है। ऐसे आकारके धारक लोकके यदि एक एक राजू लंबे चौड़े ऊंचे भाग कल्पना करें तो सब ३४३ भाग होंगे। तात्पर्य यह है कि संपूर्ण लोकका घनफल ३४३ घनराजू है।

नरकों में बिलों की संख्या

तासुत्रिंशत्पंचविंशतिपंचदश दशत्रि पंचोनैक नारक शत सहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥२॥

शब्दार्थ—तासु= उनमें। पंचोनैक=पाँच कम एक। शत सहस्राणि=सौ हजार= १ लाख।

अर्थ—उन रत्नप्रभा आदि पृथ्वियोंमें क्रमसे ३०लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, ५ कम एक लाख (९९९९५), और ५ ही नरक के बिले—नारकियों के निवास

स्थान हैं, अर्थात् नरकोंके कुल बिलोंकी संख्या ८४ लाख है।

विशेष—रत्नप्रभा के अब्बहुल भागमें नरकके १३ पटल-पाथड़े हैं जिनमें ३० लाख बिले हैं। इससे नीचे सातवीं पृथ्वी तक दो दो पटल कम होते गए हैं अर्थात् दूसरी में ११, तीसरी में ९, चौथी में ७, पांचवीं में ५, छटी में ३, और सातवीं में एक पटल है, इन ४९ पटलों में बिलों की संख्या क्रमशः सूत्रानुसार है (सर्वार्थसिद्धि)।

नरक स्वर्ग स्थानों का अस्तित्व

बहुत से व्यक्ति नरक और स्वर्गका कोई अलग स्थान होना स्वीकार नहीं करते वे कहते हैं कि यहीं मनुष्य और तिर्यंच गति में तीव्र दुःख का होना 'नरक' और यहीं विशेष सुख सामग्रीका मिलना 'स्वर्ग' है। उनकी ऐसी मान्यता मिथ्या है तथा बिना विचारे ही बना हुई है। इसी प्रकार की शंका पर श्रीमद् राजचन्द्र जी 'आत्मसिद्धि' में कहते हैं—

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव।
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव॥

भावार्थ-मुख्यता से भावों की अपेक्षा तो शुभ भाव-शुभ (देव) गति, अशुभ भाव-अशुभ (नरक) गति और शुभाशुभ भाव-मनुष्य तिर्यंच गति है तथापि द्रव्यका यह विशेष स्वभाव है कि शुभद्रव्य ऊर्ध्वगमन तथा अशुभद्रव्य अधोगमन किया करता है और शुभाशुभ द्रव्य की मध्य स्थिति रहती है। अतः इन्हीं कारणों से वैसे वैसे ही भोग्यस्थान (ऊर्ध्व-स्वर्ग, अधो-नरक आदि स्थान) भी होने ही चाहिए।

यह अटल नियम है कि कोईभी भाव अथवा तदनुसार की गई क्रिया कभी निष्फल नहीं जाती। हम यहीं प्रत्यक्ष देखते हैं कि कुछ व्यक्ति तो अपना जीवन बड़े संतोषके साथ—सुख दुख में समभाव करके परोपकार में तथा जपतपादि पूर्वक विताते हैं और कुछ व्यक्ति—क्रूर निर्दयी भावों सहित हिंसा चोरी कुशील आदि में ही रत रहते हैं। एक व्यक्ति अपने शुभ परिणामों-भावों से प्लेग दुर्भिक्ष बाढ़ आदि में बहुत से प्राणियों की एकदम-एकसाथ रक्षा कर देता है जब कि दूसरा व्यक्ति अपने अशुभ भावों से एक साथ ही बहुतसे जीवोंका—पशु पक्षियों का, नहीं नहीं, बहुतसे मनुष्यों तक का घात युद्ध लड़ाई झगड़ों सांप्रदायिक फिसाद जैसे भारत विभाग के समय हिन्दू मुसलमानों में तथा यूरोप आदि देशों में धर्म के नाम पर Inquisition इंक्यूजिशन जैसे अत्याचारमें एक साथ नृशंसता के साथ कर डालता है। इन

दोहा—इन में तीस पचीस अरु, पंद्रह दस त्रय लाख।
एक लाख से पांच कम, पांच बिले जिन भाख॥२॥

सब भावों तथा क्रियाओं का फल पहले व्यक्ति को अनेकों अनेकों बार हजारों लाखों वर्षों तकके सुख भोग तथा दूसरे को अनेकों बार फांसी आदि के रूप में मिलने ही चाहिए। यहाँ न तो कोई ऐसे सुख साधन है और न ऐसे न्यायालय जो एक व्यक्ति को इनके फल स्वरूप इस जीवन में लाखों वर्ष सुख और अनेकों बार फाँसी आदि दे सकें। अतः ऐसे ऐसे कृत्यों के फल भोगनेके लिए कोई नियत स्थान होने ही चाहिए, और वे स्थान स्वर्ग-ऊर्ध्वलोक तथा नरक-अधोलोक है।

आगम प्रमाण—वास्तवमें तो वीतराग अरहंत भगवानकी वाणी ही आगम कहलाई जा सकती है उसमें नरक स्वर्गके स्थान अधोलोक ऊर्ध्वलोक विशेष रूपसे प्रत्यक्ष--जैसे दिखाये ही हैं किंतु संसारमें लगभग सभी धर्मावलंबियोंकी धर्मपुस्तकोंमें नरकस्वर्गका वर्णन मिलता है। अपनी अपनी भाषामें नरकस्वर्गको कोई दोजख बहिश्त कोई Hell हैल Heaven हैविन कहते हैं।

इनके सिवाय अनेक स्त्री पुरुषों पर भूत प्रेतों की बाधा होते भी देखी जाती है इसलिये देवों आदिका तथा उनके स्थान स्वर्ग नरकों का अस्तित्व अनुमान से भी सिद्ध होता है।

लौकिक कहावत भी है कि 'बिना अपने मरे किसीने स्वर्ग थोड़े ही देखा है' यदि स्वर्ग नरक के स्थान न होते तो ऐसी प्रसिद्धि क्यों कैसे और कहाँ से हो जाती। अतः युक्ति से, आगम तथा अनुमान प्रमाण और लोकोक्तिसे यह स्पष्ट है कि स्वर्ग और नरक के निश्चित स्थान है, (देखो चित्र तीन लोक का पृ. ११०)।

नारकियों के दुःख

नरकानित्याशुभतरलेश्यापरिणाम देहवेदना विक्रियाः ॥३॥

शब्दार्थ-नारका=नारक, नारकी जीव। नित्य=निरंतर, सदैव। अशुभतर=अधिक खोटे-तिर्यंच गति में अशुभलेश्या आदि की अपेक्षा। लेश्या_भावों की तीव्र मंदता। परिणाम=द्रव्यक्षेत्रका भिन्न भिन्न वर्णरस शब्द संस्थान आदि रूप परिणमन। वेदना=दुख अनुभवन। विक्रियाः =भिन्न भिन्न प्रकार का शरीर बना लेना।

अर्थ—नारकी जीव सदैव अधिक अधिक खोटी लेश्या, परिणमन, देह, वेदना और विक्रिया वाले नीचे नीचे के नरकों में होते जाते हैं।

विशेष—नरकों में नीचे अधिक अधिक अशुभ लेश्याएं होती गई है। पहले नरक में जघन्य कापोत, दूसरे में मध्यम कापोत, तीसरे में-ऊपर के बिलों में उत्कृष्ट कापोत नीचे के

दोहा—सदा नारकी धरत हैं, लेश्या देह परिणाम।
और वेदना विक्रिया, सभी अशुभतर काम ॥३॥

बिलों में जघन्य नील, चौथे में मध्यमनील, पांचवें में उत्कृष्ट नील तथा जघन्य कृष्ण; छठे में मध्यम कृष्ण और सातवें में उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या होती है। यह वर्णन भाव लेश्याओं का है जो अपने ही अंशों में अंतर्मुहूर्त में बदलती रहती है। द्रव्य लेश्या तो सब नारकों में कृष्ण ही है किंतु विक्रिया में यह भी दूसरे दूसरे प्रकार की हो सकती है।

सर्वार्थसिद्धि टीका में लेश्या के दो भेद करके भावलेश्या अंतर्मुहूर्त में बदलती रहती है यह कहा है, इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ जो भाव लेश्या कही है उसमें परिवर्तन नहीं होता मात्र उसमें योग और कषाय के अनुसार तर तम भाव होता रहता है, क्योंकि प्रत्येक नारकीके वही योग और वही कषाय रहे ऐसा नियम नहीं है, किंतु अपने-अपने जघन्य मध्यम या उत्कृष्ट कालके अनुसार योग और कषायका परिवर्तन नियम से होता है। चूंकि कषाय-अनुरंजित योग प्रवृत्ति का नाम ही लेश्या है अतः योग और कषायके बदलने से वह (लेश्या) भी बदल जाती है। मात्र जहाँ कापोत का जघन्य अंश कहा है वहां वही रहता है वह कापोत का मध्यम या उत्कृष्ट नहीं होता अथवा जहां परम कृष्ण लेश्या कही है वहां वही रहती है बदल कर अन्य लेश्या नहीं होती।

परिणाम—स्पर्श, रस, वर्ण, गंध, शब्द, संस्थान आदि अनेक प्रकार के पौद्‌गलिक परिणमन सातों नरकों में नीचे नीचे अधिक अधिक दुख के कारण होते गए हैं।

देह—नारकियोंके शरीर अशुभकर्म के उदयसे नीचे नीचे अधिक अधिक बुरे स्पर्श गंध वर्ण संस्थान वाले अधिक अधिक अपवित्र तथा डरावने हैं। उनकी ऊंचाई पहले नरकमें ३१¼ हाथ और नीचे नीचे दूनी दूनी होती गई है।

वेदना--नारकोंमें दुःख भी नीचे नीचे उत्तरोत्तर तीव्र होता गया है। नरक १,२,३,४में उष्ण, पांचवें के ऊपरी ¾ भागमें उष्ण तथा नीचे ¼ में शीत और छठे सातवेंमें महाशीतकी वेदना है। नरकों में शीत उष्ण की वेदना सर्वज्ञदेव ने इतनी बतलाई है कि यदि मेरु पर्वत जितना बड़ा लोहे का गोला भी वहाँ रक्खा जाय तो वहां की सर्दी गर्मी के कारण वह भी गल जावे। वहां भूखकी वेदना इतनी है कि एक नारकी यदि तीनों लोक का अन्न भी खा ले तो भी उसकी भूख न मिटे किंतु वहां मिलता एक दाना भी नहीं, केवल वहांकी महान महान दुर्गंधित मिट्टी ही खाकर रहना पड़ता है। समुद्र के जितने पानीसे भी न बुझ सकने वाली वहां प्यास लगती है पर किसी को एक बूंद पानी भी वहाँ पीने को नहीं मिलता। वहां की भूमि पत्तों इत्यादि के स्पर्श आदि की वेदना महा दुखदाई है जिसका वर्णन करना केवल दुर्लभ ही नहीं किंतु असम्भव है, उन सब को या तो भोगने वाले ही जानते हैं अथवा केवलज्ञानी। यह सब तो वहाँ के क्षेत्र जनित वेदना का कुछ वर्णन है, वहां की पारस्परिक वेदना, असुरकुमारों द्वारा की हुई वेदना आदि सब ही वर्णनसे बाहर है जिनका कुछ वर्णन

अगले अगले सूत्रों में किया है।

विक्रिया--उनका भिन्न भिन्न प्रकार का शरीर बनाना भी नीचे नीचे अधिक अधिक खोटा है। ये चाहते तो करना शुभ विक्रिया किंतु उनके खोटे कर्मोंके उदयसे वह उनको तथा दूसरों को दुःख रूप ही होतो है। छट्ठे नरक तक तो अनेक प्रकारकी विक्रिया है जो वहां के नारकी अपने ही शरीर को नाना हथियार, जानवर इत्यादि रूप कर लेते हैं किंतु ७ वें में वे केवल गाय जैसे एक जानवर जैसी ही विक्रिया कर सकते है।

परस्परोदीरित दुःखाः ॥४॥

शब्दार्थ--उदीरित = किया हुआ।

अर्थ--नारकी जीव परस्पर एक दूसरे द्वारा किये हुए दुःख भी सहते रहते हैं अर्थात् वे आपस मे हमेशा लड़ते झगड़ते, कटते पिटते रहते हैं।

विशेष-तीसरे सूत्र में बतलाये हुए नारकियों के दुःख वहां के क्षेत्र स्वभाव से उत्पन्न होने वाले हैं। इनके अतिरिक्त उनको बड़े भारी भारी दुःख तो आपसी वैर तथा मार काट से होते हैं। वे बिल्ली चूहा, सांप नेवलेकी तरह दूसरेके जन्मशत्रु है, और कुत्तोंकी भांति एक दूसरे को देख आपस में लड़ते कटते तथा क्रोधाग्निमें जलते रहते है। वे विभंगा अवधि द्वारा पहले वैर याद कर करके झगड़ते है।

संक्लिष्टाऽसुरोदीरित दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

शब्दार्थ-संक्लिष्टाऽसुर=खोटे परिणाम वाले अंबांबरीष जातिके असुरदेव।

अर्थ-और वे नारकी चौथे नरकसे पहले पहले अर्थात् तीसरे नरक तक खोटे परिणाम वाले अंबांबरीष जातिके असुर देवों द्वारा दुःखी किये जाते हैं।

विशेष-नरकों में तीन प्रकार का दुःख कहा गया है १ नरक के क्षेत्र स्वभावसे उत्पन्न होने वाला (सूत्र ३), २ पारस्परिक (सूत्र ४), यह दोनों प्रकार दुःख तो सातों नरकों में है जो नीचे नीचे अधिक अधिक होता गया है। वहां तीसरे प्रकार का दुःख ३ असुरदेव जनित है (सूत्र ५)। यह असुरदेव क्रूरस्वभावी होते है, इनकी अंब, अंबरीष आदि कई जातियां है। ये स्वभावसे ही ऐसे निर्दयी और कुतूहली होते हैं कि इन्हें दूसरोंको सताने में ही आनन्द आता है। ये होते तो देव ही है, इन्हें देवों जैसे अनेक सुखसाधन प्राप्त होते हैं, फिर भी पूर्व भव में किए हुए तीव्र दोषके कारण दूसरोंको दुखी देखने में ही इन्हें आनन्द

दोहा-सभी परस्पर पीडवें, और प्रथम त्रय माहि।
खोटे परिणामी असुर, दुःख देंय तंह जाय ॥४॥

मिलता है। इसीलिए ये नरकोंमें भी जा आकर नारकियोंको उनके वैर याद दिला दिला आपस में लड़ाते है और स्वयंभी उन्हें दुःख देते है, इनका गमन तीसरे नरकतक ही है, आगे नहीं।

बेचारे नारकी अपने पूर्व कर्म वश यह सब दारुण दुःख अपनी सारी उम्र भर सहते हैं। इनके कितने ही तीव्र और बड़े दुःख क्यों न हों इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। इनका शरीर कटता रहता है, छिदता रहता है, किंतु पारेके समान फिर मिल जाता है, ये मरते हैं पूरी ही आयु भोग कर, उससे पहले नहीं।

नरकों में उत्कृष्ट आयु

तेष्वेकत्रिसप्तदश सप्तदश द्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परास्थितिः ॥६॥

शब्दार्थ—तेषु =उन (नरकों) में। सप्तदश=१७। द्वाविंशति=२२। त्रयः त्रिंशत =३३। सागरउपमा=सागर प्रमाण-की। सत्त्वानां=जीवों की। पराः=उत्कृष्ट। स्थितिः =आयु।

अर्थ-उन नरकोंमें रहनेवाले नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट आयु पहले नरकमें १ सागर दूसरेमें ३, तीसरेमें ७, चौथेमें १०, पांचवेंमें १७, छटेमें २२, और सातवेंमें ३३ सागर है।

विशेष—नरकों में जघन्य (कम से कम) आयु—पहले में १० हजार वर्ष; आगे आगे के नरकों में जघन्य आयु वही है जो उससे पहले में उत्कृष्ट (अधिकसे अधिक) आयु है।

यहाँतक नरकोंका सामान्यवर्णन हुआ, इनकी निम्न विशेष बातें भी जानने योग्य है—

गति—गमन-जाना_असंज्ञी मर कर पहले नरक में जा सकता है आगे नहीं, भुजसरी सर्प (छपकली आदि) दूसरे तक, पक्षी तीसरे तक, उरग-सांप चौथे तक, सिंह पांचवें तक, स्त्री छटे तक और मत्स्य तथा मनुष्य सातवें तक। सारांश यह है कि तिर्यंच और मनुष्य ही मर कर नरकभूमि में पैदा हो सकते हैं, देव और नारकी नहीं; कारण यह है कि देवों और नारकियों में नरक कैसे अध्यवसाय-क्रिया कलाप का अभाव है।

आगति-आना_नारकी मरकर फिर तुरंत न तो नरक गतिमें जा सकता है और न देव-गति में, वह केवल तिर्यंच अथवा मनुष्य ही बन सकता है। पहले तीन नरकों के नारकी मनुष्य जन्म पाकर तीर्थंकर तक हो सकते, चौथे के नारकी मनुष्य हो निर्वाण तक पा सकते, पाँचवें के मनुष्य हो मुनि तक हो सकते, छटे के नर अथवा पशु बन देशव्रत सम्यक्त्व तक प्राप्त कर सकते है और सातवें के निकले हुए पशुगतिमें कर्मभूमि के गर्भज ही होंगे। सातवें

दोहा—उन में उत्कृष्ट आयु है, सागर इक त्रय सात।
दस सतरह बाईस अरु, तेंतिस सागर आत ॥५॥

नरक से पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होता है और वह फिर नरक अवश्य जाता है। किसी भी नरक से आये हुए को बलभद्र नारायण चक्री पद नहीं होता (तत्वार्थसार पृ. ६६)।

द्वीप, समुद्र आदि–नरकोंमें न तो द्वीप समुद्र पर्वत सरोवर, न गांव शहर, न वृक्ष आदि वनस्पतिकाय है, न दोइंद्रिय से पंचेंद्रिय तक के तिर्यंच, न मनुष्य और न किसी प्रकार के देव हैं। वहां पर केवल नारक और एकेंद्रिय जीव ही पाए जाते हैं। वहां पर मनुष्य का संभवपना १ केवली समुद्धातकी अपेक्षा २ उपपादकी अपेक्षा (विग्रह गतिमें) ३ मारणांतिक समुद्धातकी अपेक्षासे है। इसी प्रकार तिर्यंचोंकी पहुंच भी एक मारणांतिक समुद्धातकी और दूसरे उपपादकी अपेक्षा बन सकती है। देव कभी कभी अपने पूर्वजन्मके मित्र नारकों के पास केवल तीसरे नरक तक उन्हें दुखों से छुड़ाने के उद्देश्य से और अंब अंबरीष आदि जाति के कुटिल परिणामी देव तीसरे नरक तक ही उनको परस्पर लड़ाने तथा स्वयं भी दुःख देने को पहुंच जाते हैं।

मध्य लोक

द्वीप समुद्र

जंबूद्वीप लवणोदादयः शुभनामानो द्वीप समुद्राः ॥७॥

शब्दार्थ–लवणोद–लवण समुद्र। आदयः=आदि आदि।

अर्थ–(मध्यलोक में चित्रा पृथ्वी पर) जम्बूद्वीप आदिक तथा लवणसमुद्र आदिक अच्छे अच्छे नाम वाले असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं।

विशेष-चित्रा पृथ्वी पर बीचों बीच थाली के आकार १ लाख योजन व्यास का जंबू द्वीप है, उसके सब–चारों ओर लवणसमुद्र, लवणसमुद्रके चारों ओर घातकीखंडद्वीप, उसके चारों ओर कालोदधिसमुद्र, उसके चारों ओर पुष्करवरद्वीप, उसके चारों ओर पुष्कर वर समुद्र है। पुष्करवरद्वीपके आधे के परे मानुषोत्तर पर्वत है। मानुषोत्तर पर्वत के पहले पहले अढ़ाई द्वीप कहलाता है जिसका व्यासरूप विस्तार ४५ लाख यो० है। बस मनुष्य यहीं तक आ जा सकता है आगे नहीं। हां, मनुष्य क्षेत्रके तिर्यंच और मनुष्यों के बाल आदि जो अब पुद्गलरूप हैं आगे भी जाते हैं।

पुष्करवर समुद्र को घेरे हुए चौथा वारुणीवरद्वीप तथा वारुणीवरसमुद्र, फिर पांचवां क्षीरवरद्वीप तथा क्षीरवरसमुद्र–इसी समुद्रके जलसे देव भगवानका अभिषेक करते और

दोहा–जंबू लवण जु आदि हैं, वृत चूड़ी आकार।
द्वीप जलधि शुभ नाम के, दुगुण दुगुण विस्तार ॥६॥

चित्रा पृथ्वी

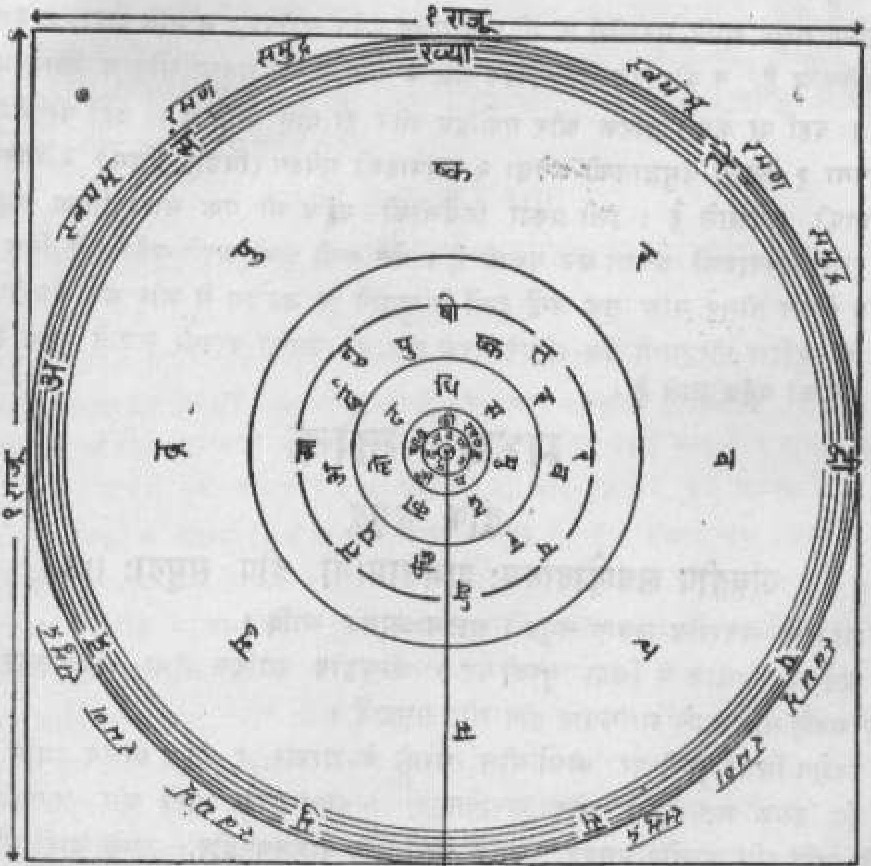

इसी में भगवानके केश पधराते हैं, फिर छठा घृतवरद्वीप तथा घृतवरसमुद्र, फिर सातवाँ इक्षुवरद्वीप तथा इक्षुवरसमुद्र, फिर आठवाँ नंदीश्वरद्वीप—यहीं पर चारों दिशाओं में १३, १३ कुल ५२ अकृत्रिम जिनचैत्यालय हैं जिनमें कार्तिक फागुण आसाढ़ की अठाइयोंके दिनों में देव पूजन आदि करने जाते हैं—तथा नंदीश्वरसमुद्र, फिर नवाँ अरुणवरद्वीप तथा अरुण वर समुद्र, फिर दसवाँ कुंडलवरद्वीप तथा कुंडलवरसमुद्र है । इसी प्रकार एक दूसरे को घेरे हुए अंत के स्वयंभूरमणसमुद्र तक असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। १३ वां रुचकवरद्वीप

है, इसके बीचमें रुचकपर्वत है; रुचकपर्वत निवासिनी ५६ कुमारिका देवी तीर्थंकर माता की सेवा को आती हैं। इस द्वीपकी चारों दिशाओंमें भी चार अकृत्रिम चैत्यालय हैं। इससे आगे मध्यलोकमें और चैत्यालय नहीं है, ज्योतिष्क देवोंके है।

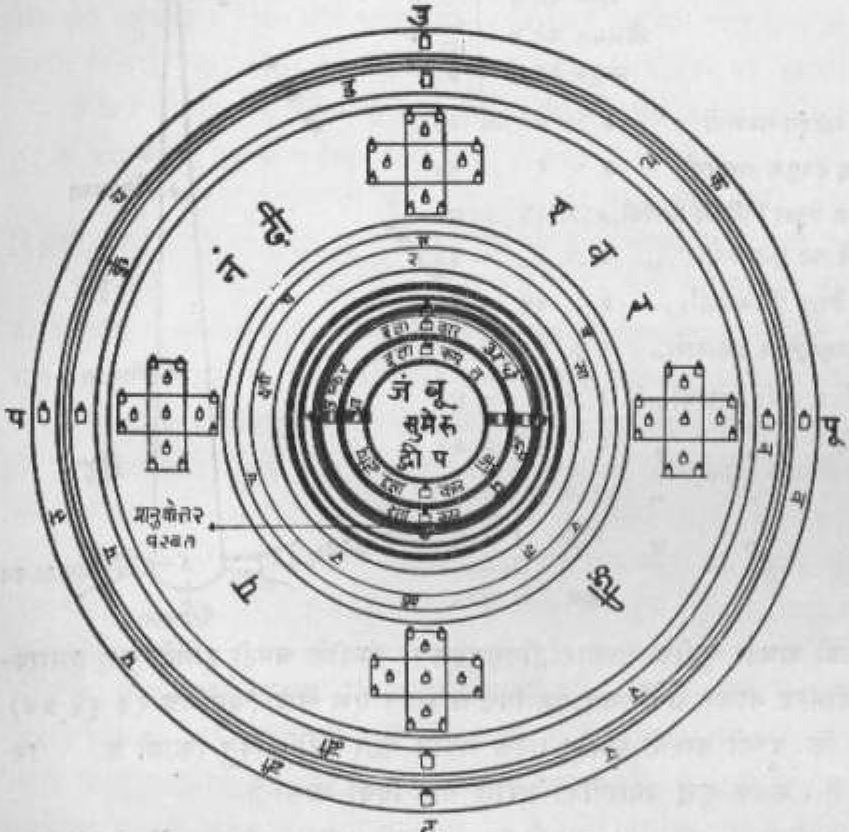

तेरह द्वीप में इक्षाकार, मानुषोत्तर पर्वत, नंदीश्वर, कुंडलवर, रुचकवर द्वीपके अकृत्रिम चैत्यालय

द्वीप, समुद्रों का विस्तार तथा आकार

द्विर्द्विर्विष्कंभाः पूर्वपूर्वं परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

शब्दार्थ—द्विः द्विः=दुगुणे दुगुणे। विष्कंभाः=व्यास रूप विस्तार वाले। परिक्षेपिणः=घेरे हुए। वलयाकृतयः=गोल चूड़ी के आकार के।

अर्थ—जंबू द्वीपके आगे प्रत्येक समुद्र और द्वीप अपने पहलेके द्वीप और समुद्रसे दुगुणे दुगुणे विस्तार वाले पहले पहलों को घेरे हुए गोल चूड़ीके आकार के हैं।

मध्यलोक के ४५८ अकृत्रिम चैत्यालयों का ब्यौरा

१	पंचमेरु सम्बन्धी		५ × १६	=	८०
	प्रत्येक के १६— भद्रसाल वन ४, नंदन वन ४, सौमनस वन ४, पांडुक वन ४ (चारों दिशाओं में एक एक)				
२	पंचमेरुओं के गजदंत सम्बन्धी		५ × ४	=	२०
३	पाँचों उत्तरकुरु देवकुरु सम्बन्धी		५ × २	=	१०
४	पाँचों विदेहों के वक्षार गिरिओं सम्बंधी		५ × १६	=	८०
५	अढाई द्वीप के षट कुलाचलों	,,	५ × ६	=	३०
६	,, वैताड़ (विजयार्द्धों)	,,	५ × ३४	=	१७०
७	धातकी तथा पुष्करद्वीपके इष्वाकारों	,,	२ × २	=	४
८	मानुषोत्तर पर्वतपर चारों दिशाओं	,,	१ × ४	=	४
९	नंदीश्वर द्वीप में ,,	,,	१३ × ४	=	५२
१०	कुंडलगिर ,,	,,	१ × ४	=	४
११	रुचकवर द्वीप ,,	,,	१ × ४	=	४
			कुल	=	४५८

विशेष--रकाबी अथवा चूड़ीके आकार(द्वीपसमुद्ररूप) पृथ्वीके चपटी होनेके कुछ प्रमाण--

श्री जे मेकडोनल्ड नामक अमेरिकन वैज्ञानिक ने अपने एक लेख (जैनमित्र-२३.१२.५४) में सिद्ध किया है कि पृथ्वी नारंगी अथवा गेंदके समान गोल नहीं अपितु रकाबी के ार की चपटी गोल है। उसके कुछ प्रमाणोंका सरांश यहां दिया जाता है--

१ प्रत्येक आधुनिक वैज्ञानिक मानता है कि चन्द्रमा पृथ्वी आदि ग्रह गेंद के आकार गोल है, अपनी अपनी कीली पर तथा दूसरे ग्रहोंके चारों ओर घूमते है और चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहोंका पृथ्वीकी ओर सदा एक ही मुख रहता है। यदि वे गेंदके आकार गोल होते और ऊपरके अनुसार घूमते भी तो निश्चय प्रतिदिन अथवा प्रति मास अथवा प्रति वर्ष उनके भिन्न भिन्न धरातल पृथ्वीकी ओर होते किंतु ऐसा है नहीं। इससे सिद्ध है कि चन्द्रमा तथा अन्य ग्रह रकाबी की भांति है जिनके किनारे केन्द्रकी अपेक्षा कुछ उठे है। यदि पृथ्वी भी एक ग्रह है तो अवश्य ही वह भी रकाबी के आकार है।

२ पाठशालाओं में पृथ्वीके गोल होने का सबसे लोकप्रिय उदाहरण समुद्र में दूर

जाते हुए जलयान का केवल मस्तूल दिखाई देनेसे दिया जाता है किंतु यह तो सचमुच दृष्टि भ्रम है जिसे 'पर्सपेक्टिव' कहते हैं। रेलकी पटरियां आगे मिली देखकर क्या कोई अनुमान कर सकता है कि वे क्षितिजके पार मुड़कर मिलगई है! वास्तवमें वह बिंदु जो दो पटरियों को जोड़ता हुआ मालूम होता है इतना सूक्ष्म होता जाता है कि हमारी साधारण दृष्टि उसके पार नहीं पहुँचती। अतः यदि शक्तिशाली दूरवीक्षण यंत्र से देखा जाय तो निश्चय ही पूरा जहाज दिखाई देगा; भला क्या पानीकी सतह-धरातल गोल होने पर ऐसा दिखता है?

३ यदि पृथ्वी गोल होती तो इंगलिश चैनलमें खड़े जलयानकी छत पर से फ्रांसिसी तट के और ब्रिटेन तट के प्रकाश-स्तंभ दोनों ही स्पष्ट न दिखते।

४ बैलून अथवा वायुयानमें बैठे मनुष्यको, यदि पृथ्वी गोल होती, तो वह उसे उठे-पेट दिखती, किंतु इसके विपरीत वह पृथ्वीको रकाबी जैसी नीचा-पेट दिखती है।

५ पृथ्वी यदि गोल होती तो उत्तरीध्रुवके समीप जैसी वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं वैसी ही दक्षिणी ध्रुवमें भी होती। उत्तरीध्रुवके समीपस्थ ग्रीनलैंड, आइसलैंड, लैपलैंड, साइबेरिया आदि प्रदेशोंमें आलू, जै, मटर, जौं तथा चनेकी फसलें तैयार होती हैं, इसके विपरीत दक्षिण में ७०° अक्षांस पर ओरकेनी, शेटलैंड आदि टापुओं पर एक भी जीव नहीं पाया जाता।

६ केप्टेन जे, रास और क्रोशियर जितना अधिक दक्षिणकी ओर ऐंटाकेटिक सरकिल तक जा सके गए। उन्होंने वहां एक ४५०से १००० फीट ऊंची तक पक्की बर्फीली दीवार खोज निकाली। यहांसे चक्कर लगाने पर ४ वर्ष लगे और ४० हजार मीलकी यात्रा हुई, दीवारका अंत फिर भी न हुआ और न उस जगह ही पहुँच सके कि जहाँ से पहले चले थे। यदि पृथ्वी गोल होती तो इस अक्षांस पर पृथ्वीकी परिधि १० हजार मील ही होती।

७ पृथ्वीके चपटेपनका प्रमाण सूर्यग्रहण भी है। उदाहरणार्थ ३० अगस्त १६०५ का ग्रहण लीजिए—यह ग्रहण पश्चिमी और उत्तरी अफ्रीका, ग्रीनलंड, आइसलंड, उत्तरी एशिया और ब्रिटिश अमेरिकाके पूर्वी भागोंसे स्पष्ट दिखाई पड़ा था। यदि पृथ्वी गोल होती तो अमेरिकाके पूर्वी भागों और एशियामें यह ग्रहण कभी भी एकसाथ न दिखता।

८ यदि पृथ्वी गोल होती तो भूमध्य रेखाके नीचेके भागोंमें ध्रुवतारा कदापि न दिखता। दक्षिणमें ३०° अक्षांस तक यह तारा सरलता पूर्वक दिखता है।

९ पृथ्वी यदि गोल होती तो आर्कटिक और ऐंटार्कटिक सरकिलसमें समान रूपसे ३माह की रात और तीन महीनेका दिन होता, किंतु दक्षिणमें ७०° अक्षांस पर स्थित शेटलैंड टापू पर सबसे बड़ा दिन १६ घण्टे ५३ मि०का और उत्तरमें ७०° अक्षांस पर नार्वे के हैमरफास्ट स्थान पर पूरे तीन माह का सबसे बड़ा दिन होता है।

१० उदाहरण के लिए 'एरिक' नामक नहर जो लोकपोस्ट से रोचेष्टर तक ६० मील

लंबी है, 'पृथ्वी नारंगी-आकार गोल'—सिद्धांतके अनुसार इस नहरके उभारकी गोलाई ६१० फीट होती किंतु स्टेट इंजीनियरोंकी रिपोर्टके अनुसार यह उभार ३ फीटसे भी कम है ।

जंबू द्वीप

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तोयोजनशतसहस्रविष्कंभो जम्बू द्वीपः ॥१६॥

शब्दार्थ-तन्मध्ये=उनके बीचमें । मेरुनाभिः =सुमेरु पर्वत है नाभि (केंद्र) जिसकी । वृत्तः= गोल (रकाबी-थालीके आकार) । योजन=४ अथवा २००० कोस की माप ।

अर्थ-उन सब द्वीप और समुद्रों के बीचों बीच रकाबीके आकार गोल १ लाख योजनके विस्तार-व्यास का जंबू द्वीप है जिसका केन्द्र सुमेरु पर्वत है ।

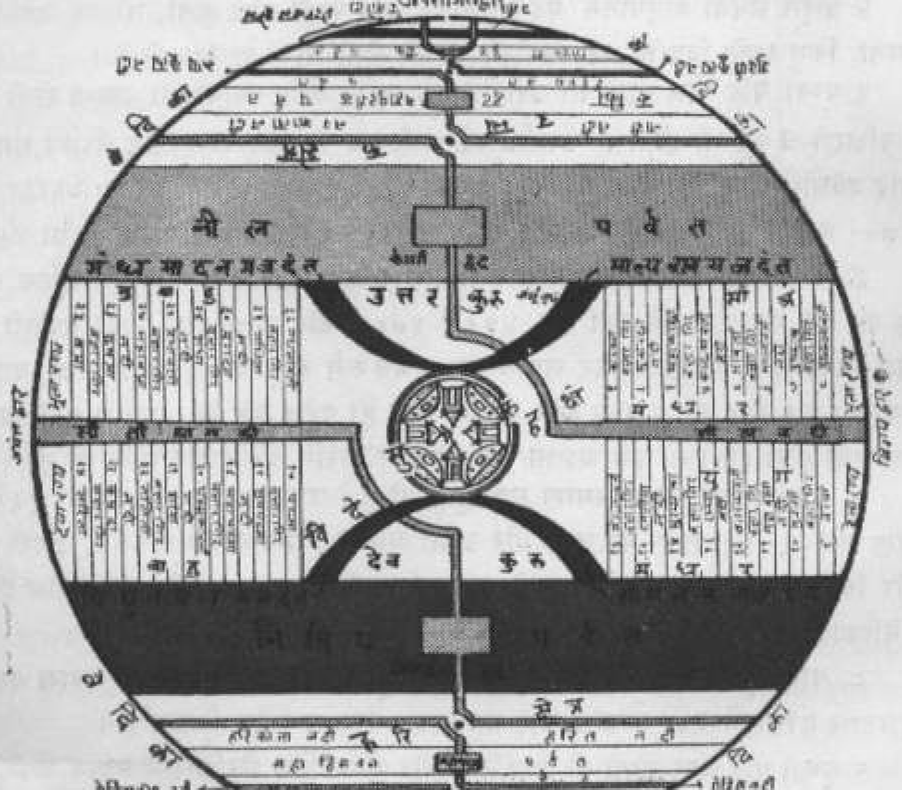

दोहा—जंबू सबके मध्य में, मेरु नाभि वृतकार ।
लंबा चौड़ा एक लख, योजन तदु विस्तार ॥७॥

विशेष-वृतके व्यास और परिधिमें १:१० = ३·१६२२७७६६३···का अनुपात होता है, अतः जंबूद्वीप की परिधि ३१६२२७ योजन १५०० कोस १२८ धनुष १३ अंगुलसे कुछ अधिक है। इस परिधि पर जंबूद्वीपके चारों ओर उसकी वेदिकासे आगे लवणोदधि समुद्र है। यहां तथा अन्य अकृत्रिम वस्तुओंके मापनेमें योजन २ हजार कोस का लेते है।

सुमेरुकी ऊंचाई १ लाख योजन है जिसमें १ हजार योजन नीचे चित्रा पृथ्वी में और ९९००० योजन ऊपर है। इसपर क्रमशः भद्रशाल, नंदन, सौमनस और पाण्डुक नामके चार बन है। इसके अतिरिक्त इसकी ४० यो० की ऊपर चूलिका है जो मूलमें १२ यो०, बीच में ८ यो० और ऊपर ४ यो० चौड़ी है।

जंबू द्वीप के सात क्षेत्र

भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवतैरावत वर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

अर्थ-जंबू द्वीप में १ भरत २ हैमवत ३ हरि ४ विदेह ५ रम्यक ६ हैरण्यवत और ७ ऐरावत सात क्षेत्र हैं।

विशेष—जंबू द्वीपके भरत क्षेत्रके आर्यखंड में हम रहते हैं। कहते हैं कि आज जितनी भी दुनियाका पता है अर्थात् एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका आदि सभी महाद्वीप इत्यादि इसी आर्यखंड में है। भरतक्षेत्र जैसा ही उत्तर में ऐरावत क्षेत्र है। हैमवत, हरि, रम्यक, और हैरण्यवत भोगभूमियाँ हैं; हैमवत और हैरण्यवत जघन्य तथा हरि और रम्यक मध्यम भोगभूमियाँ है। विदेह क्षेत्रके चार भाग है १ पूर्व विदेह, इसमें सीमंधर और युगमंधर नाम के दो तीर्थंकर तो सदा काल होते रहते है २ पश्चिम बिदेह, इसी प्रकार यहाँ भी बाहु और सुबाहु नाम के दो तीर्थंकर सदा रहते हैं ३ उत्तर कुरु-इसमें इसके पूर्व-उत्तर (ईशान) कोण में जंबू—जामन नामक पृथ्वीकायका एक अकृत्रिम अनादि निधनवृक्ष है, इसी कारण इस तमाम द्वीप का नाम जंबू द्वीप है ४ देवकुरु—यह सुमेरुके दक्षिण में है। उत्तरकुरु तथा देवगुरु भी भोग भूमियां है, यह उत्कृष्ट भोगभूमि है।

भरत आदि क्षेत्रों के यही नाम अनादि काल से है।

षट्—छः कुलाचल

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मि शिखरिणो वर्षधर पर्वताः ॥११॥

शब्दार्थ—तद्विभाजिनः =उनको बाँटने वाले। पूर्वापरायता =पूर्व + अपर + आयता=पूर्व

दोहा—भरत हैमवत हरि विदेह, रम्यक हैरण्यवत्त।
अरु ऐरावत क्षेत्र हैं, जम्बु द्वीप में सप्त ॥८॥

पश्चिम लंबे। वर्षधर=वर्ष क्षेत्र को धारण करने वाले-कुलाचल-पहाड़।

अर्थ—उन सातों क्षेत्रों को बांटने वाले पूर्व-पश्चिम लंबे १ हिमवन २ महाहिमवान ३ निषध ४ नील ५ रुक्मि और ६ शिखरी छः कुलाचल-पर्वत हैं।

विशेष—यह अनादिनिधन छहों कुलाचल पूर्व पश्चिम में दोनों ओर लवणसमुद्रको छूते हैं। इनकी ऊंचाई पृथ्वीके ऊपर क्रमसे १००, २००, ४००, ४००, २००, १०० योजन है, और क्रमशः २५, ५०, १००, १००, ५०, २५ योजन पृथ्वीके नीचे इनकी जड़ें हैं।

कुलाचलों—पर्वतों के रंग

हेमार्जुन तपनीय वैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

शब्दार्थ—हेम-सोना,। अर्जुन=रजत=चांदी। तपनीय=ताया सोना। वैडूर्य=नीलमणि। मयाः =समान रंग वाले।

अर्थ—ऊपर के षट कुलाचल-पर्वत क्रमसे सोने, चांदी, ताये सोने, नीलमणि, चांदी और सोनेके समान पीले, श्वेत, लाल, नीले, श्वेत और पीले रंग वाले हैं।

कुलाचलों के पसवाड़े तथा आकार

मणि विचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्य विस्ताराः ॥१३॥

शब्दार्थ—पार्श्वा=पसवाड़े तट, बगल। च=और, मध्य।

अर्थ—उन कुलाचलोंके पसवाड़े भांति भांतिके रंग, और प्रभावाली मणियोंसे विचित्र हैं-रंग बिरंगे हैं, और वे ऊपर, नीचे, मध्यमें सब जगह एकसे चौड़े भींत-दीवार जैसे हैं।

कुलाचलों पर सरोवर

पद्म महापद्म तिगिंछ केसरि महापुंडरीक पुंडरीका ह्रदास्तेषामुपरि॥१४॥

शब्दार्थ-ह्रदाः=सरोवर, तालाब, कुंड। तेषां उपरि=उनके ऊपर।

अर्थ-उन पर्वतोंके ऊपर क्रमसे १ पद्म २ महापद्म ३ तिगिंछ ४ केसरी ५ महापुंडरीक और ६ पुंडरीक नाम के छः सरोवर हैं, अर्थात् हिमवान पर्वत पर पद्म, महाहिमवान पर

दोहा—हिमवन महाहिमवन निषध, नील रुक्मि पर्वत्त।
शिखरी पूरब पश्चिमा, बांटे क्षेत्रहि सप्त ॥९॥
पीत शुक्ल रँग लाल इन, नील शुक्ल अरु पीत।
पसवाड़े मणि खचित हैं, ऊंचे सब सम भींत ॥१०॥
पद्म महापद्म तिगिंछ अरु, केसरि मह पुण्डरीक।
पुण्डरीक सर शोभते, उनके ऊपर ठीक ॥११॥

महापद्म, निषिध पर तिगिंछ, नीलपर केसरी, रुक्मि पर महापुंडरीक तथा शिखारी पर पुंडरीक नाम के कुंड हैं।

पद्म सरोवर-कुंड

प्रथमोयोजन सहस्रायामस्तदर्द्धं विष्कंभो ह्रदः ॥१५॥

शब्दार्थ-आयामः=लंबा। तद्अर्द्धं=उसका आधा। विष्कंभः=चौड़ा।

अर्थ--पहला पद्मह्रद १ ह०यो० लंबा-पूर्व पश्चिम, ५०० यो० चौड़ा-उत्तर दक्षिण है।

नोट-इसका तल वज्रमय तथा किनारे नाना रंगकी मणियों और सोनेसे विचित्रित है।

दश योजनावगाहः ॥१६॥

शब्दार्थ-अवगाहः=गहराई वाला अर्थात् गहरा।

अर्थ-यह पद्मकुंड दस योजन गहरा है।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

शब्दार्थ-पुष्करम् = कमल।

अर्थ-उसके बीचों बीच एक योजनके व्यासका एक कमल है।

विशेष-कमलके एक ओरके पत्ते की लंबाई १ कोस, उसके सामनेके पत्ते की १ कोस, इन दोनों पत्तोंके बीचके कुण्डल-कर्णिका का व्यास-लंबाई चौड़ाई-दो कोस, ऐसे ४ कोस अथवा १ योजन इस कमलका व्यास है अर्थात् १ यो० लंबा १ यो० चौड़ा सूर्यमंडल सदृश वलयाकार-वृत्तरूप एक कमल पद्मह्रद के बीचोंबीच है। सरोवरके जलकी धरातलसे २ कोस ऊंची कमलकी नाल-नली है, इस नलीकी मोटाई भी दो कोस है।

अन्य सरोवर तथा उनके कमल

तद् द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

अर्थ-उस पहले तालाब और कमलसे दुगुणे दुगुणे विस्तारके अगले अगले कुंड तथा कमल हैं, अर्थात् पद्मसे दुगुणा महापद्म, महापद्मसे दुगुणा तिगिंछ तथा पहले कमलसे दूने दूने ही उनमें कमल हैं। इन तीन दक्षिणके सरोवरों और कमलोंके समान ही उत्तरके तीनों सरोवर और कमल हैं।

दोहा-लंबा योजन इक सहस, चौड़ाई तद् अर्द्धं।
गहरा दस योजन पदम, माप यही इस ह्रद ॥१२॥
इक योजन के व्यास का, कमल पद्म तालाब।
पहले से दुगुणे दुगुण, और कमल तालाब ॥१३॥

कमलों में रहने वाली देवियां

तन्निवासिन्यो देव्यः श्री ह्रीधृतिकीर्ति बुद्धिलक्ष्मयः पल्योपमस्थितयः ससामानिक परिषत्काः ॥१९॥

शब्दार्थ—तत् निवासिन्यः=उन कमलों पर रहनेवाली। देव्यः=देवियाँ। पल्योपम=१ पल्य की। ससामानिक परिषत्काः=सामानिक और पारिषद जातिके देवी देवों सहित।

सामानिक=वे देव जिनकी आयु बलभोग उपभोग आदि इन्द्र-यहां श्री, ह्री आदिके तुल्य हों पर आज्ञारूप ऐश्वर्यसे रहित है, मातपिता गुरु सदृश Like parents & teachers)।

पारिषद (Courtiers) जो देव इंद्र—यहां श्री, ह्री आदिकी परिषद-सभामें बैठने वाले हों।

अर्थ-उन छहों कमलों पर निवास करने वाली क्रमसे श्री (सेवा), ह्री (लज्जा-विनय), धृति (धीरता), कीर्ति (बड़ाई), बुद्धि (प्रज्ञा) और लक्ष्मी (संपत्ति) नामकी छः देवियां है। इन सबकी आयु एक एक पल्यकी है और ये अपने सामानिक तथा पारिषद जातिके देवी देवों के परिवार सहित रहती हैं।

विशेष—कमलोंकी कर्णिकाके मध्य भागमें १ कोस लंबे, आध कोस चौड़े और कुछ कम एक कोस ऊंचे सफेद रंगके महल हैं, उनमें यह देवियां रहती हैं और इन्ही सरोवरोंमें जो अन्य कमल हैं उन पर सामानिक और पारिषद आदि जातिके देवी देव रहते हैं।

श्री-१० धनुष ऊंची सौधर्म इन्द्रकी सहदेवी—ब्रह्मचारिणी-त्रायस्त्रिंश और लोकपालके अतिरिक्त सात प्रकारके (अ.४ सूत्र ४) परिवार सहित हैं; (ति.पण्णत्ति अ.४गा० १६७२-७३)

नदियां

गंगा सिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीता सीतोदा नारी नरकांता सुवर्ण रूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

शब्दार्थ-सरितः=नदियां। तन्मध्यगाः=उन क्षेत्रों में को जाने-बहने वाली।

दोहा—तहं श्री ह्री धृति कीर्ति, बुद्धि लक्ष्मीदेवि।
सामानिक परिषत्क सहित पल्य इक वय सब देवि ॥१४॥
एक क्षेत्र में दो नदी, गंगा रोहित और।
हरित सीता नारी सुवर्ण,—कूल रक्त पूर्व ओर ॥१५॥
अरु सिंधु रोहितास्या, हरिकांता सीताद।
पश्चिम दिश नरकाता, रूप्यकुला रक्तोद ॥१६॥

अर्थ-उन भरत हैमवत आदि क्षेत्रोंमें को बहनेवाली क्रमसे गंगासिंधु, रोहित रोहितास्या, हरित हरिकांता, सीता सीतोदा, नारी नरकांता, सुवर्णकूला रूप्यकूला और रक्तारक्तोदा यह चौदह नदियां हैं।

नोट-यह सब नदियाँ सूत्र १४ में वर्णित कुंडोंसे निकलती है। इनमें से पहले पद्महृदसे गंगा, सिंधु और रोहितास्या तीन तथा छटे पुण्डरीकसे सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा यह तीन और बीचके चार सरोवरोंसे दो दो नदियां निकली है(देखो मानचित्र जंबूद्वीप पृ. २२)।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

शब्दार्थ—द्वयोःद्वयोः-दो दो में से। पूर्वाः=पहली पहली। पूर्वगाः=पूर्वको जाने-बहनेवाली।

अर्थ—गंगा-सिंधु आदि दो दो नदियोंमें से पहली पहली पूर्व को बहती है अर्थात् गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता यह सात नदियाँ पूर्वकी ओर जाकर समुद्र में गिरती है।

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

शब्दार्थ-शेषाः=बाकी। तु=तो। अपरगाः-पश्चिमको जाने-बहने वाली।

अर्थ-बाकी सात नदियां अर्थात् १ सिंधु २ रोहितास्या ३ हरिकांता ४ सीतोदा ५ नरकांता ६ रूप्यकूला और ७ रक्तोदा पश्चिम दिशाकी ओर बह कर समुद्रमें गिरती हैं।

इनकी सहायक नदियां

चतुर्दशनदी सहस्रपरिवृता गंगा सिंध्वादयो नद्यः ॥२३॥

शब्दार्थ—चतुर्दश नदी सहस्र परिवृता=चौदह चौदह हजार नदियोंके परिवार सहित।

अर्थ—गंगा सिंधु आदिक नदियां चौदह चौदह हजार नदियोंके परिवार सहित है।

विशेष—सहायक नदियोंका क्रम हरिक्षेत्र तक दूना दूना है। दक्षिणके तीन क्षेत्रोंमें गंगा सिंधुकी सहायक चौदह चौदह हजार नदियाँ, रोहित रोहितास्याकी २८, २८ हजार, हरित हरिकांताकी ५६, ५६ हजार नदियां है। विदेह क्षेत्रमें सीता सीतोदाकी ८४, ८४ हजार सहायक नदियाँ है (त्रिलोकसार गा. ७३१)। उत्तरके तीन क्षेत्रोंमें नारी नरकांता की ५६, ५६ हजार, सुवर्णकूला रूप्यकूलाकी २८, २८ हजार नदियां सहायक है। गंगा सिंधु तथा रक्ता रक्तोदाकी सहायक नदियाँ केवल मलेक्ष खंडोंमें ही बहती है।

दोहा—सहकारी गंग सिंधु की, चउदश नदी हजार।
उत्तर दक्षिण तुल्य अरु, दुगुण दुगुण गिण सार ॥१७॥

भरत क्षेत्र का विस्तार

भरतःषड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोन विंशतिभागायोजनस्य ।२४।

शब्दार्थ—षड्विंशतिपंचशत ५२६ । षट् एकोन विंशति भागाः=एक के १९ भाग में से ६ अर्थात् $\frac{६}{१९}$ ।

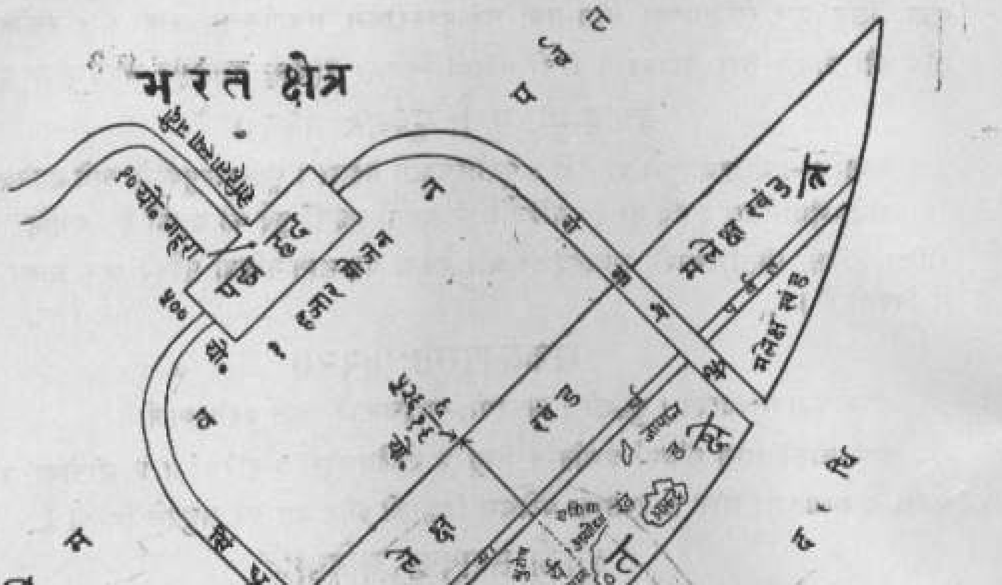

अर्थ—भरतक्षेत्र का दक्षिण-उत्तर विस्तार ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है ।

विशेष—५२६$\frac{६}{१९}$ यो० के बीचों बीचमें को ५० यो० उत्तर दक्षिण चौड़ा और लंबाईमें पूर्व पश्चिम लवण समुद्र तक विजयार्द्ध पर्वत है । इसकी उत्तर-दक्षिण श्रेणियोंमें विद्याधर रहते हैं । विजयार्द्ध से भरतक्षेत्रके दो भाग हो जाते हैं, इन्हीं दो भागोंके गंगा सिंधु नदियों के कारण भरतक्षेत्र छः खंडोंमें बँट जाता है । इन छहों खंडोंका अधिपति चक्री तथा दक्षिण

दोहा—पनशत योजन बीस छः छटा भाग उन्नीस ।
भरत क्षेत्र विस्तार यह, कहें जिनेंद्र मुनीश ॥१८॥

के केवल तीन खंडों,का अधिपति अर्द्ध चक्री-नारायण कहलाता है। इन दक्षिणके तीन खंडों के मध्य का खंड आर्यखंड है और इसके अतिरिक्त भरतक्षेत्रके पांच खंड मलेच्छखण्ड हैं। इस आर्यखंडके संख्यातवें भागमें ही वर्तमान ज्ञात दुनियाकी स्थिति कही जाती है। अयोध्या नगरी आर्यखंडके बिल्कुल मध्यमें है।

जंबूद्वीपका व्यास १ ला० यो० है। इसमें भरत १ +हिमवान २ +हैमवत ४+महा हिमवान ८+हरि १६+निषध ३२+विदेह ६४+नील ३२+रम्यक १६+रुक्मि ८+हैरण्यवत ४+शिखरी २+ऐरावत १ क्षेत्र और पर्वतोंका अनुपातरूप जोड़=१९० है। इसी अनुपात से १००००० ÷ १९०=५२६ ६/१९ यो० ही भरत अथवा ऐरावत क्षेत्रका बाण आता है।

दूसरे पर्वतों तथा क्षेत्रों का विस्तार

तद् द्विगुणद्विगुण विस्तारा वर्षधर वर्षाविदेहांता: ॥२५॥

शब्दार्थ—वर्षधर=कुलाचल, पर्वत। वर्षा=क्षेत्र। विदेहांता:=विदेह क्षेत्र तक।

अर्थ--विदेह क्षेत्र तकके पर्वत और क्षेत्र उस (भरतक्षेत्र) से दूने दूने विस्तारके है।

विशेष—भरतक्षेत्रका बाण ५२६ ६/१९ यो०, इससे दूना १०५२ १२/१९ यो० हिमवान पर्वतका बाण, हिमवान के से दूना २१०५ ५/१९ यो० हैमवत क्षेत्र का, हैमवत के से दूना ४२१० १०/१९ यो० महाहिमवान का, उससे दूना ८४२१ १/१९ यो० हरिक्षेत्रका, उससे दूना १६८४२ २/१९ यो० निषधपर्वतका और उससे दूना ३३६८४ ४/१९ यो० विदेह क्षेत्रका बाण है।

उत्तरा दक्षिण तुल्या: ॥२६॥

अर्थ—उत्तरा: =विदेह क्षेत्रसे उत्तरके तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिणके पर्वतों और क्षेत्रोंके समान विस्तार वाले हैं।

काल परिवर्तन

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

शब्दार्थ—भरतैरावतयो: =भरत और ऐरावत दो क्षेत्रोंमें। वृद्धिह्रासौ=बढ़ना-घटना। षट् समयाभ्यां=छः कालों द्वारा। उत्सर्पिणीभ्यां=उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप से।

अर्थ-भरत तथा ऐरावत क्षेत्रोंमें (जीवोंके ज्ञान आयु आदिका) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप छः कालों द्वारा बढ़ना और घटना होता है

विशेष-जिस कालमें जीवोंके ज्ञान आयु संपदा शरीर आदिकी वृद्धि होती जाती है वह

दोहा—दुगुण दुगुण वैदेह तक, अचल क्षेत्र विस्तार।
उत्तर की रचना सकल, दक्षिण सम गिण सार ॥१९॥

उत्सर्पिणी काल और जिस कालमें जीवोंके ज्ञान, आयु आदिका ह्रास—घटना होता जाता है वह अवसर्पिणी काल है।

एक कल्पकाल अथवा अवसर्पिणी उत्सर्पिणी रूप कालचक्र

एक उत्सर्पिणी १० कोड़ाकोड़ी सागर अर्थात् १ पद्म सागर वर्षका होता है। इसी प्रकार एक अवसर्पिणी काल भी इतने ही वर्षोंका होता है। इनमेंसे प्रत्येकके छः छः विभाग हैं। प्रथम विभाग ४ कोड़ाकोड़ी सागर वर्षोंका होता है, इसका नाम प्रथम काल अथवा सुखमासुखमा काल है, इस समय भरत ऐरावत क्षेत्रों में उत्तम भोगभूमि (उत्तर कुरु, देवकुरु)की सी दशा रहती है।

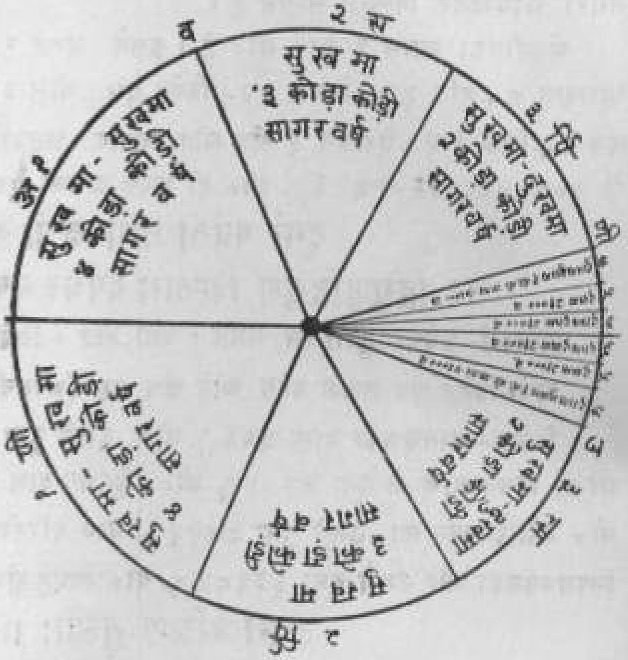

दूसरा काल—सुखमा काल ३ कोड़ीकोड़ी सागर वर्षों का है, इसमें मध्य भोगभूमि (हरि, रम्यक) जैसी दशा रहती है। तीसरा काल सुखमादुखमा काल २ कोड़ाकोड़ी सागर वर्षों का है, इसमें जघन्य भोगभूमि (हैमवत, हैरण्यवत) की सी दशा रहती है। चौथा काल-दुखमासुखमा काल ४२ हजार वर्ष कम १ कोड़ाकोड़ी सागर वर्षों का होता है, इसी काल में केवल आर्यखंडों में ही तीर्थंकर, चक्री, अर्द्धचक्री, बलभद्र, कामदेव आदि त्रेसठ शलाका के पुरुष हुआ करते और अन्य जीव (मनुष्य) भी केवल आर्यखंडोंसे मोक्ष इसी काल में अथवा इसी कालके आसपास में जाया करते हैं। पांचवां काल-दुखमा काल २१ ह० वर्ष का होता है, अब यहां पर यही काल चल रहा है, यह अवसर्पिणी काल का पंचम काल है, यह अवसर्पिणी भी हुंडावसर्पिणी है जो असंख्यात अवसर्पिणी [ति० प० गा० १६१५] बीतने पर आया करती है [हुंडावसर्पिणीमें अनेक अनोखी अनोखी असंभवसी घटनाएं घटा

दोहा—भरत ऐरावत क्षेत्र में, उन्नति और जु ह्रास।
काल उत-अवसर्पिणी, अन्य क्षेत्र नहिं ह्रास ॥२०॥

करती है-जैसे तीर्थंकर के लड़की होना, तीर्थंकर को उपसर्ग, चक्री का अपमान इत्यादि)। छटा काल-दुखमादुखमा काल भी २१ ह० वर्ष का होता है। एक अवसर्पिणी तथा एक उत्सर्पिणी के योग-चक्र को एक 'कल्प' कहते हैं (देखो चित्र कल्पकाल का)।

यह काल-परिवर्तन केवल भरत ऐरावतों में और उनमें भी केवल आर्यखंडों में ही होता है और प्रलय भी इन्हीं आर्यखंडों में हुआ करती है विदेहके आर्यखंडों में नहीं। विदेहकी ३२ नगरियों के (देखो चित्र जंबूद्वीप) आर्यखंडो में, उनके तथा भरत ऐरावतों के मलेक्ष खंडों में और विजयार्द्ध की श्रेणियोंमें हमेशा चौथे काल जैसी रचना रहती है। भरत ऐरावतके मलेच्छ खंडों और विजयार्द्ध की श्रेणियोंमें उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके पांचवें छटे कालमें चौथेके अंत जैसी और पहले दूसरे तीसरेमें आरम्भ जैसी स्थिति रहती है। मोक्ष केवल आर्यखंडोंसे ही होता है, मलेक्ष खण्डोंमें तो जीवों का मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान रहने के कारण मुक्तिका सदैव अभाव ही है।

भरत ऐरावत क्षेत्रों के मनुष्यों की छहों काल में आयु ऊँचाई तथा आहार की तालिका

काल	आयु		ऊंचाई		आहार
	आरम्भ में	अंत में	आरम्भ में	अंत में	
१	३ पल्य	२ पल्य	३ कोस	२ कोस	चौथे दिन बदरी फल सम
२	२ पल्य	१ पल्य	२ कोस	१ कोस	तीसरे दिन बेर जितना
३	१ पल्य	१ कोटीपूर्व	१ कोस	५००धनुष	,, ,, आंवले ,,
४	१कोटीपूर्व	१२० वर्ष	५००धनुष	७ हाथ	प्रतिदिन एक बार
५	१२० वर्ष	२० वर्ष	७ हाथ	२ हाथ	,, कई बार
६	२० वर्ष	१५ वर्ष [त्रि.सा.गा ७८२]	२ हाथ	१ हाथ	अति प्रचुरवृत्ति-मनुष्य नग्न, मछली आदिका मांसाहार, मुनि श्रावकों तथा धर्म का अभाव।

ताभ्यामपराभूमियोऽवस्थिताः ॥२८॥

शब्दार्थ—ताभ्यां=उन दो के सिवाय। अपरा=दूसरी। अवस्थिताः=ज्यों की त्यों।

अर्थ—उन भरत और ऐरावत दो क्षेत्रोंके सिवाय दूसरे पाँच क्षेत्र ज्यों के त्यों रहते हैं अर्थात् उनमें वृद्धि ह्रास रूप काल का कोई परिवर्तन नहीं होता।

भोग भूमियों में आयु

एक द्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतक हारिवर्षक दैवकुरवकाः ॥२९॥

अर्थ-हैमवतक्षेत्र-जघन्य, हरि क्षेत्र-मध्यम और देवकुरु-उत्तम भोग भूमियों (देखो चित्र जंबूद्वीप) के रहने वाले मनुष्यों और तिर्यंचोंको आयु क्रमसे एक, दो, तीन पल्यकी होती है।

विशेष—इनमें मनुष्योंके शरीरका वर्ण क्रमसे नील, शुक्ल और पीत तथा शरीरकी ऊंचाई एक, दो, तीन कोस की होती है।

तथोत्तराः ॥३०॥

शब्दार्थ—तथा=उसी प्रकार। उत्तराः =उत्तरके क्षेत्रों तथा उत्तर कुरुके।

अर्थ-उत्तरके क्षेत्रों तथा उत्तरकुरु के मनुष्यों और तिर्यंचों की आयु भी उसी प्रकार है अर्थात् हैरण्यवतमें १ पल्यकी, रम्यकमें दो पल्यकी और उत्तरकुरुमें ३ पल्यकी आयु है।

विशेष--जहाँ भोगोपभोग की सब सामग्री कल्पवृक्षों से मिल जाती है जहाँ पर वाणिज्य कृषि आदि कर्म नहीं किये जाते, जहाँ राजा प्रजा की व्यवस्था नहीं होती और न जहाँ मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति चलती वह भोगभूमि कहलाती है। इस प्रकार उत्तम मध्यम जघन्य रूप तीन प्रकारकी भोगभूमियोंके दो दो क्षेत्र हैं। अतः जम्बू द्वीपमें छः भोगभूमियाँ और अढाई द्वीपमें मेरु संबंधी कुल ३० भोगभूमियां हुई। लवण समुद्र तथा कालोदधि में ४८, ४८ कुल ९६ अंतर्द्वीप कुभोग भूमियां हैं।

अढाई द्वीपके आगे स्वयंभूरमण द्वीपके आधे भाग तकके कुल द्वीप और समुद्रों में जघन्य भोगभूमियां हैं, उनमें एक पल्य की आयु वाले केवल तिर्यंच ही रहते हैं।

विदेहों में आयु

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥

शब्दार्थ—विदेहेषु =पांच मेरु संबंधी पाँच विदेह क्षेत्रों में अथवा नगरियों की अपेक्षा ३२×५=१६० विदेह क्षेत्रों में।

दोहा—इक दो त्रय पल्य आयु के, मनुष्य और तिर्यंच।
हैमवतक हरिवर्ष अरु, देवकुरु उत्तरं च ॥२१॥
संख्यात काल वय नर पशुः, वैदेहों में लाग।
भरत जु जम्बू द्वीप का, इक शत नवै भाग ॥२२॥

नोट-इन नगरियोंमें से एक एक नगरी हमारे भरतक्षेत्रके लगभग समान विस्तार वाली है।

अर्थ-पांचों विदेहों अथवा उनकी १६० नगरियोंमें मनुष्यों और तिर्यंचोंकी आयु संख्यात वर्ष—१ करोड़ पूर्व वर्षकी होती है।

विशेष-विदेहों में शरीरकी ऊंचाई ५०० धनुष होती है। जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त, ऊपर उत्कृष्ट आयु कही है। सब विदेहोंमें भरत ऐरावत क्षेत्रोंके चौथे कालके प्रारम्भ जैसी स्थिति रहती है। एक पूर्व=७०५६००००,००००० वर्ष।

भरतक्षेत्रके वाण और जंबूद्वीपके व्यासका अनुपात

भरतस्य विष्कम्भो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

शब्दार्थ—नवतिशतभागः =१९० वां भाग।

अर्थ-भरतक्षेत्रका वाण रूप विस्तार जंबूद्वीपके व्यास रूप विस्तारका १९० वां भाग है। अतः १००००० का $\frac{१}{१९०}$ =५२६ $\frac{६}{१९}$ यो० भरतक्षेत्रका वाण है।

धातकीखंड द्वीप

द्विर्धातकी खंडे ॥३३॥

अर्थ—धातकीखंड द्वीपमें मेरु क्षेत्र पहाड़ नदी आदि समस्त चीजें जंबूद्वीपसे दूनी दूनी है।

विशेष—यहां पर दोनों भरत और दोनों ऐरावत को आपसमें अलग करने को एक एक ४०० यो० ऊंचा ऊपर तथा १०० यो० नीचे जड़ वाला इष्वाकारनाम का पहाड़ है। इसके उत्तरकुरुओं के ईशानमें अपने अपने परिवार सहित धातकी-आंवलेका एक एक अनादिनिधन अकृत्रिम पृथ्वीकाय वृक्ष है। इसीलिए इस द्वीपका नाम धातकीखंड द्वीप है।

पुष्करार्द्ध द्वीप

पुष्करार्द्धे च ॥३४॥

अर्थ—पुष्करार्द्ध द्वीपमें भी धातकीखंडकी भांति सब रचना जंबूद्वीपसे दूनी दूनी है।

विशेष—पुष्करवर द्वीप १६ ला० यो० चौड़ा है, इसके आधेसे परे नीचे १०२२ यो० बीचमें ७२३ यो० चौड़ा और ऊपर ४२४ यो० चौड़ा १७२१ यो० ऊंचा जिसकी जड़ नीचे पृथ्वी में ४३० $\frac{१}{४}$ यो० है मानुषोत्तर नामका पर्वत है। पहले आधे भागमें दो दो भरत आदि क्षेत्रोंकी रचना है। इन दोनों भरत तथा दोनों ऐरावतोंको अलग करनेको भी एक एक इष्वाकार पर्वत है। इस द्वीपके उत्तरकुरुवोंमें भी अपने अपने परिवार सहित एक एक अकृत्रिम

दोहा—द्वीप धातकी खंड में, भरत आदि दो दोय।
पुष्कर आधे भाग में, यथा धातकी सोय ॥२३॥

अनादिनिधन पृथ्वीकाय पुष्कर-कमल है। इसी से यह पुष्करवर द्वीप कहलाता है।

मनुष्य क्षेत्र

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

शब्दार्थ—प्राङ् = पहले, वरें। मानुषोत्तरात् = मानुषोत्तर पर्वत से।

अर्थ—मानुषोत्तर पर्वत से वरे-पहले पहले अढाई द्वीप में ही मनुष्य है।

विशेष—मानुषोत्तर पर्वत से आगे मनुष्यों-ऋद्धिधारी मुनि वा विद्याधरों का भी गमन (विग्रह गति, केवली व मारणांतिक समुद्घात के अतिरिक्त) नहीं है, और न आगे के द्वीपों में मनुष्य होते ही है।

मानुषोत्तरसे पहले अढाई द्वीपों और दो समुद्रोंमें मनुष्योंकी स्थिति है तो सही किंतु सर्वत्र ही नहीं है। जन्मसे तो मनुष्यजातिका स्थान अढाई द्वीपमें केवल ७×५=३५ क्षेत्र और दोनों समुद्रोंमें प्रत्येकके ४८, ४८ अर्थात् कुल ९६ अंतर्द्वीपों (जलतलसे १ यो० ऊंचे) में है परंतु विद्या, लब्धि, संहरणके निमित्तसे मनुष्य इन अढाई द्वीपसमुद्रों के किसी भी भाग में पाया जा सकता है यहां तक कि मेरुकी चोटीपर भी वह उक्त निमित्तसे रह सकता है।

अंतर्द्वीपों में कुभोगभूमि को रचना है। वहां मनुष्य ही रहते है जिनकी नाना प्रकर को कुत्सित—बुरी बुरी आकृतियां है-घोड़े हाथी जैसे मुंह के, १ टांग के, १ कान वाले इत्यादि।

मनुष्यों के भेद

आर्याम्लेच्छाश्च ॥३६॥

अर्थ—मनुष्य दो प्रकार के है १ आर्य २ मलेक्ष।

विशेष—जो मनुष्य असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या शिल्प इन छः कर्मोंसे आजीविका करते तथा धर्मकर्म सहित होते और जिनमें उत्तम गुण तथा मोक्षकी प्रवृत्ति पाई जाती है वह आर्य, और जो आचार विचारसे भृष्ट तथा धर्मकर्म रहित होते वह मलेच्छ कहलाते है।

मनुष्य जाति के मुख्यतया दो भेद हैं १ आर्य २ मलेक्ष। निमित्त भेदसे आर्य छः प्रकार के माने है-१ क्षेत्रआर्य-क्षेत्रनिमित्तसे जो १५ कर्मभूमियोंके आर्यखंडों में उत्पन्न हों, २ जाति आर्य-क्षत्रिय आदि जाति में पैदा हों, ३ कुल आर्य-जो कुलकर, तीर्थंकर, चक्री आदि कुलमें हों, ४ कर्म आर्य-पठन पाठन कृषि मसि आदिसे जो आजीविका करते हों, ५ शिल्प आर्य-जुलाहा, कुम्हार, सुनार, नाई आदि जो अनिंद्य आजीविकासे जीते हों, ६ भाषा आर्य--जो शिष्ट पुरुष मान्य भाषामें सुगम रीतिसे बोलने लिखनेका व्यवहार चलाते हों। इनके

दोहा—मानुषोत्तर गिरि से वरै, नर हैं आर्य मलेच्छ।
धर्म कर्म युत आर्य हैं, अधर्मी कहे मलेच्छ ॥२४॥

अतिरिक्त विपरीत लक्षण वाले सभी मलेच्छ हैं। ९६ अंतर्द्वीपों में रहने वाले तो सभी और कर्म भूमियोंमें भी जो अनार्य देशोत्पन्न हैं वे मलेक्ष ही हैं।

कर्म भूमि

भरतैरावत विदेहाः कर्म भूमियोऽन्यत्र देव कुरूत्तर कुरुभ्यः ॥३७॥

शब्दार्थ-कर्मभूमि=जहाँ असिमसिकृषि आदि छः-षट्कर्मोंकी प्रधानता हो, जहाँ संसार से छूटनेका मार्ग जारी हो, जहाँ सबसे अधिक पुण्यपाप कर्मोंका बंध उदय होता हो। अन्यत्र =दूसरी जगह। अन्यत्र देवकुरूत्तर कुरुभ्यः = देवकुरु और उत्तरकुरु से-के अतिरिक्त।

अर्थ-पांच मेरु संबंधी ५ भरत, ५ ऐरावत, और देवकुरु तथा उत्तरकुरु के अतिरिक्त ५ विदेह क्षेत्र इस प्रकार १५ कर्मभूमियां हैं।

नोट—अढाईद्वीपमें १ जंबूद्वीपका, २ धातकीखंडके और २ पुष्करार्द्ध संबंधी कुल ५ मेरु हैं।

विशेष-अढाई द्वीपमें मनुष्यजन्म संबंधी ३५ क्षेत्र और ९६ अंतर्द्वीप हैं, उनमें से उक्त प्रकार की भूमियाँ १५ ही हैं—५ भरत+५ ऐरावत+५ विदेह। इन के अतिरिक्त शेष २० क्षेत्र और सब अंतर्द्वीप अकर्म भूमियाँ हैं। यद्यपि देवकुरु और उत्तरकुरु यह दोनों विदेहों मे ही हैं तथापि वे कर्म भूमियां नहीं अपितु उत्तम भोग भूमियां हैं।

पांचो विदेहों की १६० नगरियों, ५ भरत और ५ ऐरावत इस प्रकार १७० कर्म-भूमियोंमें एक साथ अधिक से अधिक १७० तक तीर्थंकर हो सकते हैं।

आशंका—भरत तथा ऐरावत क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी--गिरते हुए कालके चक्रमें प्रथम ही तीन काल तक-९ कोड़ाकोडी सागर वर्ष तक भोगभूमि रहती है, फिर तीन कालोंमें १ कोड़ा-कोड़ी सागर वर्षमें कर्मभूमि होती है, ऐसा ही परिवर्तन उत्सर्पिणीमें भी रहता है। इस २० कोड़ाकोड़ी सागर वर्षके कल्पकालमें १८ कोड़ाकोड़ी सागर वर्ष भोगभूमि और केवल २ कोड़ा कोड़ी सागर वर्ष कर्मभूमि रहती है, फिर इन क्षेत्रोंको कर्मभूमिमें गिननेका क्या कारण है?

समा—इन दोनों क्षेत्रोंमें कर्मभूमिकी मुख्यता मानकर इनको कर्मभूमियोंमेंही गिनाया है। यद्यपि भोगभूमि १८ को. का. सागर और कर्मभूमि २ को. को. सागर वर्ष ही रहती है फिर भी मोक्षमार्गका प्रादुर्भाव होनेके कारण जहां थोड़ीसी भी कर्मभूमि हो उसे कर्मभूमिमेंही गिनाना उचित है, क्योंकि अधिक होनेपरभी निकृष्ट वस्तुकी उतनी प्रसिद्धि नहीं होती जितनी कि थोड़ी होनेपर भी उत्कृष्ट उत्तम वस्तुकी होती है। इसीलिए भरत ऐरावत क्षेत्रोंको कर्मभूमिमें ही लिया है (तत्वार्थसार पृ. ११२ अधि. २)।

दोहा—देव उत्तरकुरु छांडि कर, विदेह क्षेत्र जो पांच।
कर्मभूमि तहँ और हैं, भरत ऐरावत पांच ॥२५॥

मनुष्यों की आयु

नृस्थिति पराऽवरे त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्ते ॥३८॥

शब्दार्थ-पराऽवरे = उत्कृष्ट और जघन्य ।

अर्थ—मनुष्यों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रमसे तीन पल्य और अंतर्मुहूर्त की है अर्थात् उत्कृष्ट तीन पल्य तथा जघन्य एक अंतर्मुहूर्त है । मध्य के अनेक भेद हैं ।

विशेष-भोगभूमिके मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु ३, २, १ पल्य (उत्कृष्ट, मध्यम्, जघन्य भोगभूमि की अपेक्षा), जघन्य आयु २ पल्य १ समय, १ पल्य एक समय, १ करोड़ पूर्व १ समय । कर्मभूमि में उत्कृष्ट आयु १ करोड़ पूर्व वर्ष और जघन्य एक अंतर्मुहूर्त है ।

तिर्यंचों की आयु

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

अर्थ-तिर्यंचोंकी भी उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रमसे तीन पल्य और एक अंतर्मुहूर्त है ।

विशेष—स्थिति दो प्रकारकी (१) भवस्थिति-एक पर्यायमें रहनेका काल (२) काय स्थिति-किसी एक पर्यायके सिवाय अन्य पर्यायमें उत्पन्न न हो पुनः पुनः निरन्तर उसी पर्यायमें उत्पन्न होने का कुल काल । यहां सूत्र ३८, ३९ में भवस्थितिका ही वर्णन है ।

इनकी जघन्य कायस्थिति तो जघन्य भवस्थिति के समान है क्योंकि एक बार जघन्य आयु के साथ भव पाकर उसका अन्य पर्यायमें जाना संभव है । मनुष्योंकी उत्कृष्ट काय स्थिति पूर्व कोटि पृथकत्व अधिक तीन पल्य, और तिर्यंचों की अनंत काल जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तनों जितनी है ।

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र अध्याय ३ की कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन मुक्त्यानंद 'सिंह' बी. ए. सी. टी., साहित्यालंकार-कृत कौमुदी समाप्त ।

अन्त मंगल

दोहा—जिन अनंत अरु धर्म नम, शांति कुंथ के पाय ।
अरह मल्लि सुव्रत मुनी, प्रणमों मैं हर्षाय ॥३॥

दोहा-स्थिति नर तिर्यंच की, उत्कृष्ट और जघन्य ।
तीन पल्य अन्तर्मुहूर्त, उमास्वामि कहं धन्य ॥२६॥

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र अध्याय ३ के कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियारसिंह जैन मुक्त्यानंद 'सिंह' बी. ए. सी. टी. साहित्यालंकार-कृत दोहे समाप्त ।

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

अध्याय ४

मंगलाचरण

दोहा—तीन भुवन के तिलक अरु, इंद्र पूज्य जो देव।
भविजन शिवकर हेतु को, करों कमल पद सेव॥

उर्ध्वलोक

देवों के भेद

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

शब्दार्थ—देवाः =देव (जो देवगति नाम कर्मके उदयसे भवनों, क्षेत्रों, द्वीपों, समुद्रों, पहाड़ों, विमानोंमें क्रीड़ा, विजिगीषा, स्तुति, मोद, गति, कांति आदि क्रिया करें) चतुः= चार। णिकाया := निकाय, समूह।

अर्थ--देवों के चार समूह हैं अर्थात् देव चार प्रकारके हैं १ भवनवासी २ व्यंतर ३ ज्योतिष्क और ४ वैमानिक।

विशेष--इन्हीं चारों प्रकारके देवोंका विशेष वर्णन आगे के सूत्रों में है।

भवनवासी देव रत्नप्रभा पृथ्वीके प्रथम खर भागकी चित्राके अतिरिक्त शेष में तथा दूसरे पंक भागमें स्थित भवनों में रहते हैं।

व्यंतर देव रत्नप्रभा पृथ्वीके प्रथम खर भाग तथा दूसरे पंक भागमें स्थित आवासों और विविध प्रकारके स्थानों जैसे पहाड़ों सरोवरों नदियों अथवा विविध देशदेशांतरोंमें रहते हैं।

दोहा—देव जु चार प्रकार हैं, भवनत्रिक में धार।
कृष्ण नील कापोत अरु, पीत हि लेश्या चार॥१॥

ज्योतिष्क देव-जो देव विशेष ज्योति-चमक सहित हों, जैसे सूर्य चन्द्र, नक्षत्र इत्यादि।

वैमानिक-विमानोंमें रहने वाले देव वैमानिक कहलाते है, इनका यह नाम पारिभाषिक-रूढि मात्र है, क्योंकि विमानोंमें रहने वाले तो ज्योतिष्क देव भी हैं।

नोट—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क (भवनत्रिक) देवों को कल्पवासी देव पहले दूसरे स्वर्ग तक ले जाते है (पद्म पुराण पृ. ६६१))।

व्यंतर, ज्योतिष्क तथा भवनवासी देवोंमें से मरकर आनेवाले जीव शलाका पुरुष नहीं हो सकते, हां तद्भव मोक्षगामी हो सकते हैं (तत्वार्थसार अधि. २ पृ. ६६)।

भवनत्रिक में लेश्या

आदितस्त्रिषु पीतांत लेश्याः ॥२॥

शब्दार्थ—आदितः =आदि से (के)। त्रिषु=तीन में।

अर्थ—पहले तीन अर्थात् भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्कों के पीत लेश्या तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत चार लेश्याएं होती हैं।

विशेष—कृष्ण नील कापोतके मध्यम अंशसे मरे हुए जो कर्मभूमिके मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच भवनत्रिकमें उत्पन्न होते हैं उनके मरते समय जो तीन अशुभ लेश्या होती है वही उनके वहाँ अपर्याप्त अवस्थामें रहती है। पीतलेश्या के मध्यम अंशसे मरे हुए जो भोगभूमिके मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच भवनत्रिकमें उत्पन्न होते हैं उनके अपर्याप्त अवस्थामें पीतलेश्या होती है। पर्याप्त अवस्थामें तो उन सबके मात्र पीतलेश्या होती है और उसका भी जघन्य अंश ही।

चार प्रकार के देवों के भेद

दशाष्टपंचद्वादश विकल्पाः कल्पोपपन्न पर्यंताः ॥३॥

शब्दार्थ—विकल्पाः =भेद। कल्पोपपन्न = कल्पोंमें उत्पन्न होने वाले।

अर्थ—१६वें स्वर्ग तक चारों प्रकारके देवों के क्रमसे दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं—भवनवासियोंके १०, व्यंतरोंके ८, ज्योतिष्कोंके ५, कल्पवासियोंके १२।

विशेष-१६वें स्वर्ग तक के देवोंमें इन्द्रादिक १० प्रकारके देवोंकी कल्पना होती है अतः वहाँ तक के विमानों को 'कल्प' कहते हैं। ऐसी कल्पना भवनत्रिक देवों में भी है किंतु फिर भी रूढ़िवश केवल वैमानिकों में ही 'कल्प' शब्दकी प्रवृत्ति है।

भवनत्रिक के यह भेद क्रमशः सूत्र १०, ११ १२ में देखिए। कल्पवासियों के १२ भेद

दोहा—कल्पवासि तक देव जो, क्रम से उनके भेद।
दस अठ पन द्वादश समझ, त्याग सभी तू खेद ॥२॥

वहां के इंद्रों की अपेक्षा से निम्न प्रकार है-

१ पहले स्वर्ग का 'सौधर्म' २ दूसरेका 'ईशान' ३ तीसरेका 'सनत्कुमार' ४ चौथेका 'महेन्द्र' ५ पांचवें-छटेका एक 'ब्रह्म', ६ सातवें-आठवेंका 'लांतव' ७ नवें-दसवेंका 'महाशुक्र' ८ ग्यारवें-बारहवेंका 'सहस्रार' ९ तेरहवें का 'आनत' १० चौदहवें का 'प्राणत' ११ पंद्रहवें का 'आरण' और १२ सोलहवें का 'अच्युत'; किंतु इन्हीं कल्पवासियोंके इनके निवास स्थान की अपेक्षा १६ भेद हैं।

इन्द्र आदि दस प्रकार की कल्पना

इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषदात्मरक्षलोकपालानीक प्रकीर्णक अभियोग्य किल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥

अर्थ—उपरोक्त प्रकारके कल्पोपपन्न अथवा कल्पोत्पन्न देवों तकके भेदोंमें १ इन्द्र २ सामानिक ३ त्रायस्त्रिंश ४ पारिषद ५ आत्मरक्ष ६ लोकपाल ७ अनीक ८ प्रकीर्णक ९ आभियोग्य १० किल्विषिक यह दस दस भेद होते हैं।

विशेष—इंद्र—जो देवोंके राजा King हो और जो दूसरे देवोंमें नहीं रहनेवाली अणिमा महिमा आदि ऋद्धिरूप परम ऐश्वर्य सहित हों।

सामानिक तथा पारिषदकी व्याख्या अध्याय ३ सूत्र १९ में देखिए।

त्रायस्त्रिंश—Ministers जो देव इन्द्रको मंत्री पुरोहितके समान सम्मति देने वाले अत्यंत प्रिय हों, ऐसे देव एक इंद्र की सभामें ३३-त्रायस्त्रिंश ही होते हैं।

आत्मरक्ष-जो देव इंद्रके अंग-रक्षक Body Guards हों।

लोकपाल-Police जो देव कोटपाल-कोतवालके समान हों।

अनीक-सेना Army जो देव १ पैदल २ घोड़ा ३ बैल ४ रथ ५ हाथी ६ गंधर्व और ७ नर्तकी सात प्रकारकी सेना का रूप धारण करते हों।

प्रकीर्णक-People प्रजाके समान प्रीति पूर्वक रहने वाले देव।

आभियोग्य—Conveyance जो देव सेवकों के समान सवारी आदिके काम आवें।

किल्बिषिक—Servile Grade पुण्यहीन नीच जातिके देव जो इंद्रकी सभामें न जा सकें।

नोट—आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक आदि देव इंद्रके वैभवको दिखानेके लिए हैं न कि वहाँ पर उनको कोई मारता है जिससे आत्मरक्ष रक्षा करें और न कोई लड़ाई ही होती है जिसमें अनीक सेनाकी आवश्यकता हो।

दोहा—इन भेदों में भेद दस, इंद्र सामानिक त्रिंश।
परिषद पाल अनीक रक्ष, कीर्ण आभिकिल्विश ॥३॥

व्यंतर तथा ज्योतिष्कों में विशेषता

त्रायस्त्रिंश लोकपालवर्ज्या व्यंतर ज्योतिष्काः ॥५॥

शब्दार्थ—वर्ज्या=र्वजित, रहित।

अर्थ—व्यंतर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपालों से रहित होते हैं अर्थात् व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में इन दो के अतिरिक्त आठ आठ ही भेद हैं।

भवनवासी और व्यन्तरों में इन्द्र-संख्या

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

शब्दार्थ-पूवयोः=पहले दो मे अर्थात् भवनवासी और व्यंतरों में।

अर्थ—भवनवासी और व्यंतरों के प्रत्येक भेदमें दो दो इंद्र होते हैं।

विशेष--भवनवासियोंके दस भेदोंमें असुरकुमारोंके इंद्र १ चमर २ वैरोचन, नागकुमारों के १ धरण २ भूतानन्द, विद्युतकुमारोंके १ हरिसिंह २ हरिकांत, सुपर्णकुमारोंके १ वेणुदेव २ वेणुधारी, अग्निकुमारोंके १ अग्निशिख २ अग्निमाण, वातकुमारोंके १वैलम्ब २ प्रभंजन, स्तनितकुमारोंके सुघोष २ महाघोष, उदधिकुमारोंके १ जलकांत २ जलप्रभ, द्वीपकुमारोंके १ पूर्ण २ वशिष्ठ, दिक्कुमारोंके १ अमितगति २ अमितबाहन इस प्रकार २० और व्यंतरों के ८ भेदोंमें किन्नरोंके १ किन्नर २ किंपुरुष, किंपुरुषोंके १ सत्पुरुष २ महापुरुष; महोरगोंके १ अतिकाय २ महाकाय, गंधर्वोंके १ गीतरति २ गीतयशा, यक्षोंके १ पूर्ण भद्र २ मणिभद्र, राक्षसोंके १ भीम २ महाभीम, भूतोंके १ प्रतिरूप २ अप्रतिरूप और पिशाचोंके १ काल २ महाकाल ऐसे १६ इंद्र हैं। इन दोनोंमें इतने इतने ही प्रति-इन्द्र होते हैं।

भवनवासियों के इन्द्र प्रतींद्र कुल ४०, व्यंतरो के इन्द्र प्रतींद्र कुल ३२, वैमानिकों में कल्पवासियों के २४, ज्योतिष्कों के चन्द्रमा इन्द्र तथा सूर्य प्रतींद्र २, मनुष्यों में चक्री १, पशुओं में अष्टापद-सिंह १ = १०० कुल इन्द्र हैं। भवनवासियों के इन्द्र प्रतींद्र, ४० और कल्पवासियों के २४ = कुल ६४ इन्द्र समवसरणमें चमर ढोरते हैं।

नोट-सिंह, चक्री तथा चन्द्र और सूर्य एक ही समयमें होते तो बहुत हैं परंतु यहाँ जाति की अपेक्षा एक एक का ही ग्रहण है।

परिशेषन्याय से भवनवासी और व्यंतरोंमें दो दो इन्द्र कह देने पर शेष दो अर्थात् ज्योतिष्कों और वैमानिकोंमें दो दो इन्द्र प्रतींद्र न होकर एक एक ही इन्द्र प्रतींद्र रह जाता है।

दोहा—व्यंतर ज्योतिष्क सुरन में, त्रिंश पाल नहिं होंय।
भवन और व्यंतरन में, इन्द्र होंय दो दोय ॥४॥

देवों में काम सेवन

काय प्रवीचारा आ ऐशानात ॥७॥

शब्दार्थ—काय प्रवीचाराःकाय-शरीर से प्रवीचार-काम सेवन करने वाले। आ=तक।

अर्थ--ऐशान स्वर्ग तकके अर्थात् भवनवासो, व्यंतर, ज्योतिष्क और सौधर्म तथा ऐशान इन दो कल्पवासी देवी देवों में (मनुष्य तिर्यंचोकी तरह) शरीरसे कामसेवन होता है।

विशेष—देवोंमें उत्पत्ति गर्भ द्वारा नहीं होती, इन सबका उपपाद जन्म होता है। इनका वैक्रियिक शरीर वीर्य आदि धातु उपधातुसे रहित होता है। ये केवल मनकी काम भोग रूप वासना को तृप्त करनेको कामसेवन-मैथुन करते हैं। नीचेके देवोंमें काम वासना तीव्र होने से वीर्य-स्खलन संबंधन होते हुए भी परस्पर शरीर संबंध हुए बिना उनकी भोगलिप्सा शांत नहीं होती। अतः भवनत्रिक और सौधर्म तथा ऐशान स्वर्गोंमें कामसेवन शरीर द्वारा होता है

शेषाः स्पर्श रूपशब्द मनः प्रवीचाराः ॥८॥

अर्थ—शेष—ऊपर स्वर्गों के देव देवियों में कामवासना केवल स्पर्श करने, रूप देखने, शब्द सुनने, तथा मनमें विचार करनेसे ही शांत हो जाती है।

विशेष—ऊपर के देवों में काम भोग इच्छा कम कम होने से उनकी कामवासना थोड़े ही साधनों से मिट जाती है। अतः तीसरे चौथे स्वर्ग में देव देवियों की कामवासना केवल परस्परके स्पर्श से, पाँचवें से आठवें तक में केवल मनोहर रूप देखने से, नवें से १२ वें तकमें केवल प्रेम भरे मधुर गीत आदि शब्द सुनने से और १३ वें से १६ वें तक में केवल स्मरणसे ही तृप्त हो जाती है।

देवियाँ दूसरे स्वर्ग-ऐशान तक ही उत्पन्न होती हैं, ऊपर नहीं। तीसरे आदि ऊपरके स्वर्गोंके देव अपनीअपनी नियोगिनी देवियोंको पहले दूसरे स्वर्गोंसे उत्पन्न होतेही ले जाते हैं।

परे ऽ प्रवीचाराः ॥९॥

शब्दार्थ-परे= सोलहवें स्वर्गसे ऊपरके। अप्रवीचाराः=कामवासना रहित।

अर्थ—१६ वें अच्युत स्वर्गसे ऊपर कल्पातीत देव कामवासनासे रहित होते हैं अर्थात् ग्रैवेयकों, अनुदिशों और अनुत्तरोंमें देवोंके कामवासना होती ही नहीं।

विशेष—यहां पर कल्पातीतोंमें देवियों तथा कामवासनाके अभावसे यह न समझ लेना चाहिए कि इनको सुख कुछ कम होता होगा किंतु अधिक ही होता है। जैसे एकके तो इच्छारूपी रोग उत्पन्न होने पर पर-पदार्थरूपी औषधिके सेवन द्वारा रोगका शमन होना

दोहा—काम भोग तन से करें, शान स्वर्ग तक देव।
स्पर्श रूप ध्वनि मनन से, अप्रवीचार क्रम देव ॥५॥

और दूसरेके इच्छारूपी रोग ही न होना जिससे कि औषधिकी आवश्यकता हो, तो इन दोनों में पहलेकी अपेक्षा दूसरा ही अधिक सुखी कहा जावेगा।

ग्रैवेयकोंमें कुछ देव प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती और अधिक अव्रत सम्यग्दृष्टि होते हैं। ग्रैवेयकोंसे ऊपरके अर्थात् अनुदिश तथा अनुत्तरोंके तो सभी देव चौथे अव्रत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान वाले हैं। १६वें स्वर्गसे ऊपर देवोंके कामवासना नहीं होतो, परन्तु इनके किसी प्रकारका व्रत नहीं होता। इसलिए छटी प्रतिमाधारी तक पाँचवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य तथा तिर्यंच स्वस्त्री सेवन करते हुए भी मंदकषायकी अपेक्षा इन देवों तक से कहीं अच्छे हैं।

भवनवासियों के १० भेद

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि द्वीपदिक्कुमाराः ।१०।

अर्थ—भवनवासी देव १ असुरकुमार २ नागकुमार ३ विद्युतकुमार ४ सुपर्णकुमार ५ अग्निकुमार ६ वातकुमार ७ स्तनितकुमार ८ उदधिकुमार ९ द्वीपकुमार और १० दिक्कुमार ऐसे दस प्रकारके हैं।

विशेष—भवनवासी देव रत्नप्रभा पृथ्वीके खर और पंक भागमें भवनों तथा आवासोंमें रहते हैं। भवन नगर सदृश और आवास बड़े मंडप जैसे होते हैं। असुरकुमार बहुत करके आवासोंमें और कुछ भवनोंमें भी रहते हैं किंतु नागकुमार आदि प्रायः भवनोंमें ही बसते हैं। दसों प्रकारके भवनवासियोंके रहनेके ७ करोड़ ७२ लाख भवन हैं। यह भवन बड़े ही रमणीक हैं, इन प्रत्येक में एक एक जिन चैत्यालय है अर्थात् यहां कुल चैत्यालय भी ७,७२,००,००० ही हैं।

भवनवासी देव 'कुमार' इसलिए कहलाते हैं कि यह कुमारोंकी भांति देखनेमें बड़े मनोहर तथा सुकुमार होते हैं। इनकी असुरकुमार आदि संज्ञा कर्मोदयवश तथा रूढिवश मानी जाती है।

असुरकुमारोंके मुकुटमें 'चूड़ामणि' का, नागकुमारोंके में 'नाग' का, विद्युतकुमारोंके में 'वज्र' का, सुपर्णकुमारोंके में 'गरुड़' का, अग्निकुमारोंके में 'घट' का, वातकुमारोंके में 'अश्व' का, स्तनितकुमारोंके में 'वर्धमान-शकोरे युगल' का, उदधिकुमारोंके में 'मकर' का द्वीपकुमारोंके में 'सिंह' का और दिक्कुमारोंके मुकुटमें 'हस्ति-हाथी' का चिन्ह होता है।

असुर कुमारोंकी ऊंचाई २५ धनुष और शेष सब कुमारोंकी १० धनुष है। असुरकुमारों की उत्कृष्ट आयु १ सागर, नागकुमारोंकी ३ पल्य, सुपर्णकुमारोंकी २½ पल्य, द्वीपकुमारोंकी

दोहा—असुर नाग विद्युत सुपर्ण, अगनी वात कुमार।
स्तनित द्वीप उदधि दिक, भवनवासि परकार ॥६॥

२ पल्य, शेष सब कुमारों की १½, १½ पल्य है। जघन्य आयु तो सब ही भवनवासियों की १० हजार वर्ष है।

देवोंके कवलाहार नहीं होता। आहार-इच्छा होते ही उनके कंठसे अमृत भर कर क्षुधा तुरंत तृप्त हो जाती है। असुरकुमारोंके आहार-इच्छा १ हजार वर्ष पीछे होती है और वे १५ दिन बाद साँस लेते हैं। नाग, सुपर्ण तथा द्वीपकुमारोंके १२½ दिनमें आहार-इच्छा तथा १२½ मुहूर्तमें स्वाँस क्रिया; उदधि, विद्युत, स्तनितकुमारोंके १२ दिनमें आहार-इच्छा तथा १२ मुहूर्त में साँस; दिक्, अग्नि और वातकुमारोंके ७½ दिनमें आहार-इच्छा तथा ७½ मुहूर्तमें स्वाँस-क्रिया होती है।

व्यंतरों के ८ भेद

व्यंतरा: किन्नर किम्पुरुष महोरग गंधर्वयक्ष राक्षसभूत पिशाचाः ॥११॥

अर्थ—व्यंतर देव १ किन्नर २ किंपुरुष ३ महोरग ४ गंधर्व ५ यक्ष ६ राक्षस ७ भूत और ८ पिशाच ऐसे आठ प्रकारके हैं।

विशेष—व्यंतरदेव पहाड़, गुफा, द्वीप, समुद्र, ग्राम, नगर, देश, गली, घाट, रास्तों, बागों, उपवनों तथा बनोंके अंतरोंमें बसनेके कारण व्यंतर कहलाते हैं। यह मध्य और अधोलोकमें पाये जाते हैं। अधोलोकमें राक्षस तो पंक भागमें और शेष खर भागमें रहते हैं। ये अपनी इच्छा अथवा दूसरोंकी प्रेरणासे भिन्न भिन्न स्थानोंमें जाया करते हैं। इनमें से कुछ तो मनुष्योंकी भी सेवा करते हैं। इनके चिन्ह क्रमसे अशोक, चंपक, नाग, तुंबरु, बट, खट्वांग, सुलस और कदंब है जो इनके आभूषण आदिमें होते हैं। खट्वाँगके अतिरिक्त सब चिन्ह वृक्ष जातिके है, खट्वाँग तापसका एक उपकरण विशेष है।

सब व्यंतरोंके शरीरकी ऊंचाई १० धनुष, सब की उत्कृष्ट आयु १ पल्यसे कुछ अधिक और जघन्य आयु १० हजार वर्ष है।

इनके यह किन्नर, भूत राक्षस आदि नाम इन इन नाम तथा गोत्र कर्मके उदयसे हैं। इन को अर्थानुसार पिशाच राक्षस आदि मानना अथवा कहना देवोंका अवर्णवाद-बुराई करना है जो मिथ्यात्व बंध का कारण है। पवित्र वैक्रियिक शरीरके धारक देव देवी कभी भी मनुष्य तिर्यंच अशुचि औदारिक शरीरके साथ काम सेवन नहीं कर सकते, न देव कभी माँस भक्षण करते उनके तो कंठसे झरे अमृतका ही आहार है, कवलाहार भी नहीं।

व्यंतर देवोंके स्थानमें जिन प्रतिमा सहित आठ प्रकारके चैत्य वृक्ष मानस्तंभ आदिक सहित होते हैं।

दोहा—किन्नर किंपुरुष महोरग, गंधर्व भूत पिशाच।
यक्ष अरु राक्षस आठ ये, व्यंतर भेद हि सांच ॥७॥

ज्योतिष्क देवों के पांच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौग्रहनक्षत्र प्रकीर्णक तारकाश्च ॥१२॥

शब्दार्थ—सूर्याचन्द्रमसौ=१ सूर्य और १ चन्द्रमा; यहां 'सूर्याचन्द्रमसौ' देवता-द्वन्द समास है अर्थात् देवताओंके नामोंके द्वन्द समास बनानेमें पहले अवयवके अंतको 'आ' आदेश हो जाता है जैसे इन्द्रासोमौ, मित्रावरुणौ (अष्टाध्यायी अ० ६ सूत्र २५, २६)।

अर्थ—ज्योतिष्क देव १ सूर्य २ चन्द्रमा ३ ग्रह ४ नक्षत्र और ५ प्रकीर्णक तारे पाँच प्रकार के है।

विशेष—चित्रा पृथ्वी के समतल भूभागसे ७६० यो० की ऊंचाईसे ज्योतिश्चक्र का क्षेत्र आरम्भ होता है। यहाँ से यह ११० यो० ऊंचाईमें इधर उधर असंख्यात द्वीप समुद्रों के परिमाण है। चित्रा धरातलसे ७९० यो० ऊंचे समस्त ज्योतिष्कोंके नीचे भागमें फैले हुए सामान्य नीचे स्थित तारे विचरते हैं और ८०० यो० की ऊंचाई पर सूर्यके विमान है। सूर्य विमानोंसे ८० यो० ऊपर चन्द्र विमान है, वहांसे २० यो० तककी ऊंचाईमें ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे है। चन्द्रमाके ऊपर २० यो० की ऊंचाई में पहले ४ यो०की ऊंचाई पर २८ नक्षत्र हैं इसके बाद ४ यो० की ऊंचाई पर बुधग्रह, बुधग्रहसे ३ यो० ऊंचे शुक्र, शुक्रसे ३यो०ऊंचे गुरु, गुरुसे ३यो० ऊंचे मंगल, मंगलसे ३यो० ऊंचे शनि है (योजन =२०००कोस)

रवि चित्रा से	सोम	२८ नक्षत्र	बुध	शुक्र	बृहस्पति	मंगल	शनि
८०० यो.	८८० यो.	८८४ यो.	८८८ यो.	८९१ यो.	८९४ यो.	८९७ यो.	९०० यो.

इनके फिरने-भ्रमण करनेकी चार (orbit) रूप अलग-अलग असंख्यातों परिधि है। अभिजित नामका एक नक्षत्र है उसका चार सब चारोंके भीतर है, मूल नामके नक्षत्रका चार सबके बाहर है। भरणी नक्षत्र सबके नीचे विचरता है और स्वाति सबके ऊपर। दूसरोंके यथा योग्य स्थान हैं।

सूर्य विमानकी कांति तप्त सुवर्णके समान है, मणिमय अकृत्रिम उसकी रचना है। ४८/६१ योजन का उसका व्यास और इसकी तिगुनीसे कुछ अधिक परिधि है। इसकी आकृति आधे गोलेकी जैसी है। सोलह हजार सेवक देव इसको धारण करते हैं। ऐसे विमानोंमें सूर्य नामका देव स्वामी रहता है और उसके परिवार जन भी रहते हैं।

प्रकीर्णक तारे कुछ ऐसे अनियतचारी तारे है जो कभी सूर्यचन्द्रके नीचे और कभी ऊपर

दोहा—सूर्य चन्द्र नक्षत्र ग्रह, कीर्णक तारे ज्योति।
मेरु प्रदक्षिण नित करें, मनुषलोक में द्योत ॥८॥

भी चलते हैं। जब यह नीचे चलते हैं तब सूर्यके नीचे १० योजन हो जा सकते हैं अधिक नहीं क्योंकि ज्योतिषक्षेत्र यहीं तक है।

ज्योतिष्मय-प्रकाशमान विमानोंमें रहनेके कारण सूर्य आदि देव 'ज्योतिष्क' कहलाते हैं। सूर्यके मुकुटमें सूर्यमंडलका-सा, चन्द्रके में चन्द्रमंडल जैसा और ताराकेमें तारामंडलका सा चिन्ह समझना चाहिए।

ज्योतिष्क देवोंमें सबकी शरीर-ऊंचाई ७ धनुष, उत्कृष्ट आयु १ पल्यसे कुछ अधिक और जघन्य आयु ⅛ पल्य है।

मनुष्य लोक में ज्योतिष्क देव

मेरु प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

शब्दार्थ—प्रदक्षिणा=परिक्रमा, किसी दूसरी वस्तुके चारों ओर घूमना। नित्यगतयः = निरन्तर गमन करनेवाले। नृलोके=मनुष्यलोक अर्थात् अढाई द्वीपमें।

अर्थ—ज्योतिष्क देव मनुष्यलोक में सुदर्शन मेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हुए निरन्तर घूमते रहते हैं।

विशेष—जम्बूद्वीपमें सूर्य-चन्द्रमा दो दो, लवणसमुद्रमें चार चार, धातकी द्वीपमें बारह बारह, कालोदधिमें ४२, ४२ और पुष्करार्द्धमें ७२, ७२ हैं।

एक एक चन्द्रमाका परिवार १ सूर्य, २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोड़ाकोड़ी तारोंका है। यद्यपि ज्योतिष्क विमान स्वभावसे ही सुमेरुसे ११२१ योजन दूरीसे स्वयमेव घूमते रहते हैं तथापि आभियोग्य सेवक नामकर्मके उदयसे कुछ क्रीड़ाशील देव विमानोंको उठाकर फिरते रहते हैं।

तत्कृतः काल विभागः ॥१४॥

शब्दार्थ-तत्कृतः=उन सूर्य आदिके गमन से किया हुआ।

अर्थ—समयका विभाग अर्थात् घड़ी, घंटा, मिनट, दिन, रात, ऋतु आदिका व्यवहार सूर्य आदि ज्योतिष्क देवोंके गमनसे होता है।

दिन-रात वर्णन

जंबूद्वीप संबंधी दो सूर्यविमान हैं। इनमें से प्रत्येक जम्बूद्वीपके चारों ओर पूर्व से पश्चिम को ४८ घण्टेमें घूम आता है। जब पूर्वकी ओर दक्षिणको आता हुआ सूर्यविमान निषध पर्वतको पार करता है (चित्र १) तब दूसरा सूर्यविमान पश्चिमकी ओर उत्तरको

दोहा—सूर्य आदि के गमन से, दिन पल घड़ी कहांय।
मनुष्य लोक बाहर सभी, ज्योति यान ठहराय ॥६॥

जाता हुआ नील पर्वतको पार करता है। इस समय विदेहक्षेत्रमें रात हो जाती और भरत ऐरावत आदि अन्य क्षेत्रोंमें सूर्य निकलता है।

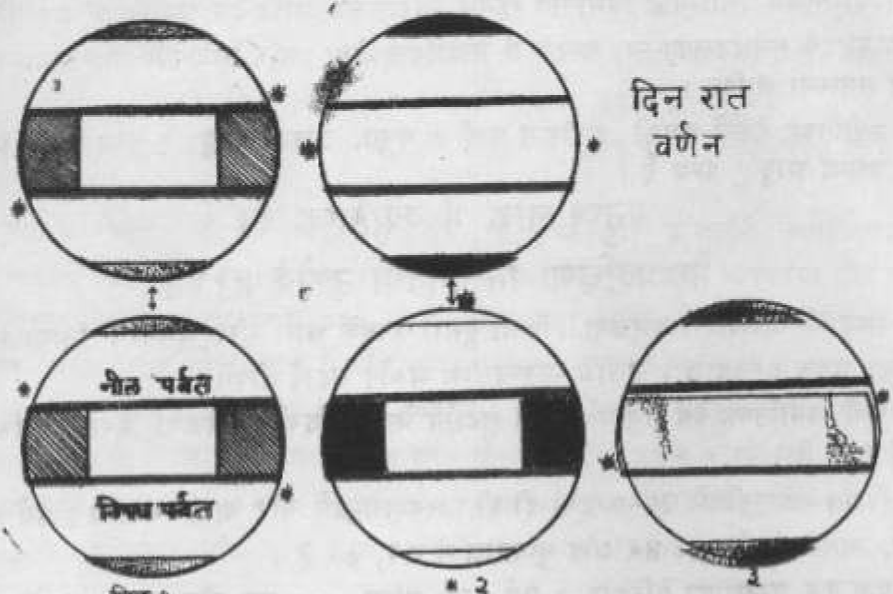

चित्र १

जब दक्षिण को आता हुआ सूर्यविमान भरतक्षेत्रमें आर्यखंडके ठीक बीचों बीच पहुँचता है तब यहां ठीक मध्यान्ह होता है, इसी समय ऐरावत क्षेत्रके आर्यखंडमें भी मध्यान्ह होता है और विदेह क्षेत्रमें अर्द्ध रात्रि (चित्र २)।

यहांसे एक सूर्यविमान उत्तरको और दूसरा दक्षिणको चलना आरम्भ करता है, छः घण्टे बाद उत्तरको जाने वाला सूर्यविमान निषधकी पश्चिम दिशाको पार करके पश्चिमी विदेहमें और दूसरा दक्षिणको आता हुआ सूर्यविमान पूर्वी विदेहमें दिन कर देता है। तब अन्य क्षेत्रोंमें रात हो जाती है (चित्र ३)। बस दिन-रात का यही क्रम लगा रहता है।

नोट—जिसके जिस ओर उगता हुआ सूर्य होता है वही उसका पूर्व है। सुमेरु पर्वत तो सब ही के उत्तर में है।

ऋतु वर्णन

जंबूद्वीप संबंधी दो सूर्य-विमान हैं इनका आकार गोलार्द्ध—आधे लड्डू-सदृश गोल है। प्रत्येकका व्यास $\frac{४८}{६१}$ यो० है। दोनों सूर्यों का चार (गमन क्षेत्र Orbit) एक ही है और दोनों हमेशा एकसी दूरी पर साथ-साथ गमन-भ्रमण करते हैं। यह चार Orbit १८० यो० तो जंबूद्वीपमें और ३३०$\frac{४८}{६१}$ यो० लवणसमुद्रमें है। अतः चार का कुल विस्तार १८० + ३३०$\frac{४८}{६१}$ = ५१० $\frac{४८}{६१}$ यो० है। इसमें सूर्यों के गमन करनेकी १८४ गलियां हैं। प्रत्येक गली

को चौड़ाई $\frac{४८}{६१}$ यो० सूर्यबिंब-प्रमाण है, प्रत्येक गलीमें दो दो योजन का अंतर है। १८४ गलियोंमें १८३ अंतराल-बीच है, अतः कुल चार विस्तार—(१८३×२)+($\frac{४८}{६१}$ × १८४) =३६६+१४४$\frac{४८}{६१}$ = ५१०$\frac{४८}{६१}$ यो० हुआ।

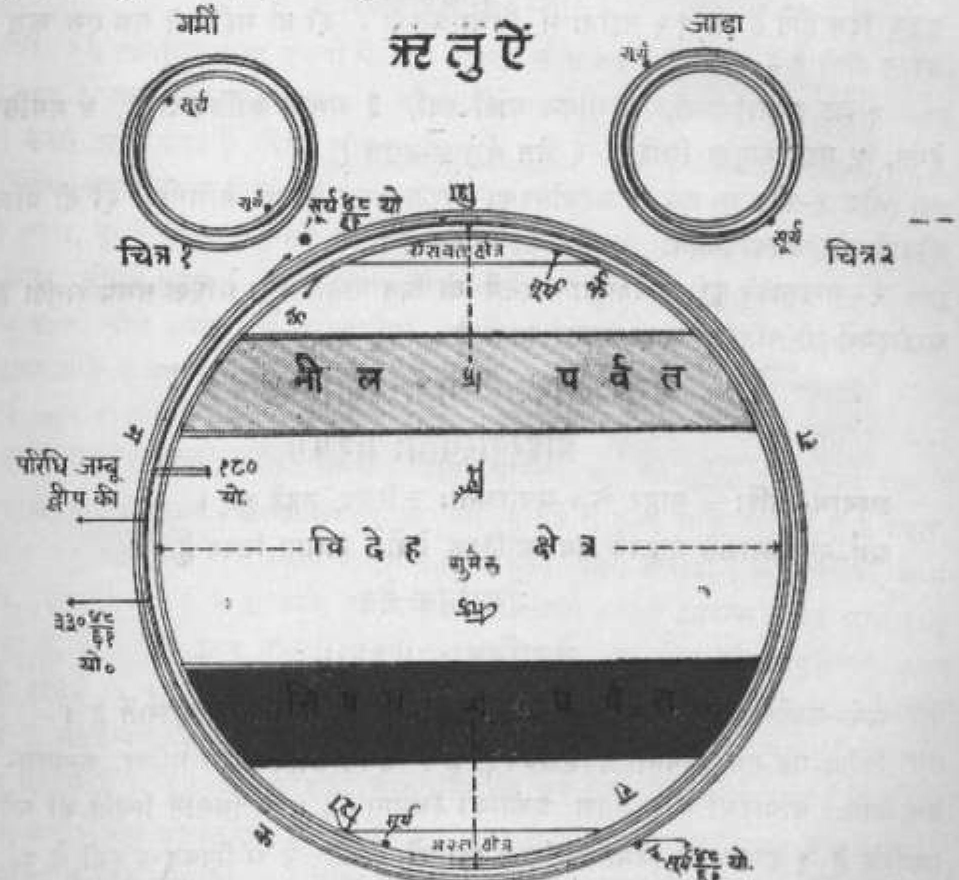

जंबू द्वीपमें सूर्यकी सबसे प्रथम गली चार की आभ्यंतर परिधि अथवा कर्क राशि कहलाती है। लवण समुद्रमें ३३० यो० की दूरी पर स्थित गली अंतकी बाह्य परिधि अथवा मकर राशि है।

आसाढ में सूर्य प्रथम गलीमें अथवा कर्क राशि पर गमन करते हैं, तब १८ मुहूर्तका दिन और १२ मुहूर्तकी रात होती है क्योंकि उस समय सूर्योंकी गति मंद होती है। यह गर्मीकी ऋतुई है (बाँ ओर चित्र १)। ज्यों ज्यों सूर्य बाह्य गलियोंमें दक्षिणायन को चलते हैं उनकी गति गलियोंकी लंबाई बढ़ते जानेसे तेज होती जाती है, तब दिन घटना और रात बढ़नी आरम्भ होती है। माघके महीनेमें जब सूर्य मकर राशि अथवा अंतिम गलीमें पहुँचते हैं तो दिन १२ मुहूर्त और रात १८ मुहूर्त की हो जाती है, तब जाड़ेकी ऋतु होती है

(चित्र २)। यहाँसे सूर्य फिर उत्तरायणको-चलते है। यही क्रम बराबर लगा रहता है।

प्रथम और अंतिम गलीमें सूर्य १ वर्ष में एक ही बार गमन करते हैं और शेष १८२ गलियोंमें आने जानेकी अपेक्षा १ वर्ष में दो दो बार। अतः १ वर्ष में (१८२×२)+२ = ३६६ दिन होते हैं जो १२ महीनों में विभाजित है। दो दो महीनेकी एक एक ऋतु निम्न प्रकार होती है–

१ जेठ आसाढ़-गर्मी, २ सावन भादों-वर्षा, ३ असोज कार्तिक-शरद, ४ मगसिर पोह हेमंत, ५ माह फागुण-शिशिर, ६ चैत बैसाख-बसंत।

नोट १-प्रतिदिन सूर्य के उदयांतरका कारण उसके चारकी गलियोंकी दो दो योजन की चौड़ाई और उसका अपना ४८ यो० का प्रमाण है।

२-चन्द्रमाको पूरी प्रदक्षिणा करनेमें दो दिन रातसे कुछ अधिक समय लगता है अतः चन्द्रोदयमें भी प्रतिदिन अंतर पड़ता जाता है।

मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिष्क देव

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

शब्दार्थ—बहिः = बाहर के। अवस्थिताः = स्थिर, ठहरे हुए।

अर्थ-मनुष्यलोकसे बाहरके सब ज्योतिष्क देवोंके विमान स्थिर हैं।

वैमानिक देव

वैमानिकाः ॥१६॥

अर्थ—ऊर्ध्वलोक-स्वर्गों के विमानोंमें रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं।

विशेष-यह सब विमान ८४९७०२३ हैं। इनमें उत्तम उत्तम मन्दिर, कल्पवृक्ष- नगर, वन, बाग, बावड़ियाँ और अनेक प्रकारकी रचनाएं हैं। ये विमान स्थिति की अपेक्षा ३ प्रकारके हैं १ इन्द्रक-सब विमानोंके मध्य स्थानमें स्थित २ श्रेणिबद्ध-इंद्रकों के पूर्व आदि चारों दिशाओं में पंक्ति रूप-सीधी लाइनमें स्थित ३ पुष्प प्रकीर्णक-विदिशाओंमें जहां तहां पुष्पों-फूलोंकी तरह बिखरे हुए।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

शब्दार्थ—कल्पातीत = जिनमें इन्द्र सामानिक आदिकी कल्पना नहीं है ऐसे १६वें अच्युत स्वर्ग से ऊपर ग्रैवेयक, अनुत्तरोंके देव।

दोहा—वैमानिक दोय प्रकार हैं, कल्पोपन्न अतीत।
उपर उपर स्थित सभी, जान यही हे मीत ॥१०॥

अर्थ-वैमानिक देव दो प्रकारके हैं १ कल्पोपपन्न २ कल्पातीत ।

विमानों का स्थिति—क्रम

उपर्युपरि ॥१८॥

अर्थ—१६ स्वर्गोंके आठ युगलों में ५२ पटल, ९ ग्रैवेयककी तीन तिकड़ीके ९, नौ अनुदिशका १, तथा पांच अनुत्तरका १ पटल इस प्रकार १३ स्थानोंमें कुल ६३ पटलोंके विमान क्रमसे ऊपर ऊपर हैं (देखो लोकका चित्र)।

विशेष—प्रथम युगल (पहले सौधर्म दूसरे ईशान स्वर्ग) के जो मध्यलोकसे डेढ़ राजू तक है ३१ पटल, दूसरे युगल (तीसरे सानत चौथे माहेंद्र) के जो पहले युगलसे डेढ़ राजू तक है ७ पटल, तीसरे युगल (ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर पाँचवें-छटे स्वर्ग) के जो मध्यलोकसे ३½ रे राजू में है ४ पटल, चौथे युगल (लांतव-कापिष्ट सातवें ८ वें स्वर्ग) के जो तीसरे युगलसे आधे राजू ऊपर में है २ पटल, पाँचवे युगल (शुक्र-महाशुक्र ९, १० वें स्वर्ग) का जो चौथे युगल से ऊपर आधे राजू में है १ पटल, छटे युगल (शतार—सहस्रार) का जो ५ वें युगल से ऊपर आधे राजू में है १ पटल, सातवें युगल (आनत-प्रानत) के जो छटेसे ऊपर आधे राजू में है ३ पटल, आठवें युगल (आरण-अच्युत) के जो सातवें से ऊपर आधे राजू में है ३ पटल, इस प्रकार ५२ पटल तो १६ स्वर्गों के और ग्रैवेयककी तीन तिकड़ी (अधोतिकड़ी, मध्य तिकड़ी, ऊर्ध्वतिकड़ी) के ९ पटल जो मध्यलोकसे सातवें राजूसे आरम्भ होकर आधे राजू के भीतर हैं, तिकड़ीके ऊपर चौथाई राजूमें नव अनुदिशका १ पटल और अनुदिशके ऊपर चौथाई राजूमें ५ अनुत्तरोंका १ पटल (इसकी चारों दिशाओंमें १ विजय-पूर्व २ वैजयंत-दक्षिण ३ जयंत-पश्चिम ४ अपराजित-उत्तर यह चार विमान और एक सर्वार्थसिद्धि नाम विमान मध्यमें है) इन सब तेरह (आठ युगलोंके ५२+३ ग्रैवेयकोंकी तिकड़ीके ९+१ अनुदिशका+१ पंच अनुत्तरोंका) स्थानोंमें ६३ पटल एक दूसरेके ऊपर स्थित हैं।

सोलह वें स्वर्ग तक जो ५२ पटल हैं उनमेंसे प्रत्येक पटलमें एक एक इंद्रक विमान, कुछ श्रेणीबद्ध व कुछ प्रकीर्णक नामके विमान हैं।

वैमानिकों के स्थानों के नाम

सौधर्मैशानसानत्कुमार माहेंद्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ट शुक्र महाशुक्रशतार-सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषुविजयवैजयंत जयंतापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

अर्थ—वैमानिक देव सौधर्म (३२ लाख विमान)-ईशान (२८ ला०विमान), सानत्कुमार

(१२ ला० विमान)—माहेंद्र (८ लाख विमान), ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर (४ लाख), लांतव कापिष्ट (५० हजार वि०) शुक्र महाशुक्र (४० ह०), शतार-सहस्रार (६ ह०), आनत-प्राणत-आरण-अच्युत [७०० विमान] आठों युगलों के ८४९६७०० विमानोंमें, नवग्रैवेयकों के पटलोंके (अधोतिकड़ी १११ वि० + मध्यतिकड़ी १०७ वि० + उर्ध्वतिकड़ी ९१) ३०९ विमानोंमें, इनके ऊपर नव अनुदिशके एक पटलके ९ विमानों में, तथा इनके ऊपर विजय वैजयंत जयंत अपराजित नाम के ४ विमानों और सर्वार्थसिद्धि के १ विमान [=कुल ८४९७०२३ विमानों] में रहते हैं।

विशेष-सुमेरुकी ४० योजनकी चूलिकाके ऊपर एक बाल के अंतरालसे सौधर्म स्वर्गका ऋजुनामा इन्द्रक विमान है।

'नव' शब्दको समास नहीं किया अतः 'नवसु' शब्दसे नव अनुदिशका भी ग्रहण हो जाता है। विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर कहलाते हैं।

१ सुदर्शन २ अमोघ ३ सुप्रबुद्ध ४ यशोधर ५ सुभद्र ६ सुविशाल ७ सुमनस ८ सौमनस ९ प्रीतिंकर यह नव ग्रैवेयक हैं। १ आदित्य २ अर्चि ३ अर्चिमालिनी ४ वैर ५ वैरोचन ६ सोम ७ सोमरूप ८ अर्क ९ स्फटिक यह नव अनुदिश है।

प्रत्येक विमानमें एक एक जिन मन्दिर बड़ी विभूति सहित होता है। इन्द्रके नगरके बाहर अशोक बन, आम्रवन आदि होते हैं। उन बनोंमें १ हजार यो० ऊंचा और ५०० यो० फैलावका एक चैत्य वृक्ष है, उसकी चारों दिशाओंमें पल्यंकासन जिनेंद्रदेवकी प्रतिमाएं हैं।

इन्द्रके इस स्थान मंडपके अग्रभागमें एक मानस्तंभ है। इस स्तंभमें एक रत्नमय पिटारा होता है जिसमें तीर्थंकरके गृहस्थावस्था में पहरने योग्य वस्त्र आभरण होते हैं, इसी में से वस्त्राभरण निकाल निकाल कर इंद्र तीर्थंकरके लिए पहुँचाता है। सौधर्मके मानस्तंभ के पिटारेमें भरत क्षेत्रोंके तीर्थंकरों के, ऐशान के मानस्तंभके पिटारे में ऐरावत क्षेत्रों के तीर्थंकरोंके, सानत्कुमार के में पूर्व विदेहों के तीर्थंकरों के तथा माहेंद्र के में पश्चिम विदेहों के तीर्थंकरों के वस्त्र आभूषण होते हैं; इसीसे यह मानस्तंभ देवोंसे पूजनीक है। इन मानस्तंभोंके समीप ही उपपाद ग्रह है, उपपाद ग्रहमें दो रत्नमय शय्या है, यही इन्द्रका जन्मस्थान इस उपपाद ग्रहके पास ही शिखरवाले अनेक जिनमंदिर हैं।

दोहा—धर्म-शान सानत-महेंद्र, ब्रह्म-ब्रह्म लांत—कपिष्ट।
शुक्र—महशुक्र शतर-सहस्र, नत-णत अरण-गरिष्ट ॥११॥
नवग्रीवक नव अनुदिशी, विजय वैजय जयंत।
अपराजित सर्वार्थसिद्धि, कल्प और कल्पंत ॥१२॥

वैमानिकों में ऊपर ऊपर अधिकता

स्थिति प्रभाव सुखद्युति लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि विषयतोऽधिकाः ॥२०॥

शब्दार्थ—स्थिति=आयु, एक भवमें रहनेका काल। प्रभाव = उपकार अपकार करनेकी शक्ति। सुख = इन्द्रियसुख। द्युति = शरीरवस्त्राभूषणकी चमक दमक। लेश्याविशुद्धि = भाव लेश्याकी विशुद्धता। इन्द्रियविषय = इन्द्रियोंसे अर्थात् मतिज्ञान द्वारा जाननेके विषय। अवधिविषय = अवधिज्ञान द्वारा जाननेके विषय।

अर्थ—आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकी विशुद्धता, इन्द्रियविषय और अवधिज्ञानका विषय यह बातें ऊपर ऊपरके देवोंमें अधिक अधिक है।

वैमानिकों में ऊपर ऊपर हीनता

गति शरीर परिग्रहाभिमानतोहीना ॥२१॥

अर्थ—गमन, शरीरकी ऊंचाई, परिग्रह और अभिमान ऊपर ऊपरके देवोंमें कम कम है।

विशेष—गमन करनेकी शक्ति कम नहीं है अपितु अधिक अधिक ही है किंतु उन्हें अधिक गमनकी इच्छा ही नहीं होती। १६वें स्वर्गसे आगेके देव तो अपने अपने विमानोंके अतिरिक्त कहीं जाते ही नहीं, वे अपने विमानोंमें ही आपसमें चर्चागोष्ठी करते रहते है। १३, १४, १५, १६ वें के देव मध्यलोकसे नीचे नहीं जाते [ध० ४ पृ० २३६]। १६ वें स्वर्गके सोताके जीवका जो रावण और लक्ष्मणके जीवको सम्बोधनके लिए तीसरे नरकमें जाना लिखा है वह कथाको प्रभावक बनानेके हेतु-मात्र कह दिया है वैसे तो रावण और लक्ष्मण दोनों ही चौथे नरकमें गए है [देखो ति०प०अधि०४ गा० १४३८ और त्रिलोकसार]

वैमानिकों में लेश्या

पीत पद्म शुक्ल लेश्या द्वि त्रि शेषेषु ॥२२॥

शब्दार्थ—द्वि त्रि शेषेषु = दो युगलों, तीन युगलों और शेषों में।

अर्थ—वैमानिकोंके दो तीन युगलों और शेषोंमें पीत, पद्म और शुक्ललेश्याएँ होती है।

विशेष—दो युगलों (१ सौधर्म-ऐशान २ सानत्कुमार-माहेंद्र) सौधर्म-ऐशान वाले देवोंके

दोहा—ऊपर ऊपर अधिक है, थिति प्रभाव सुख-मान।
द्युति लेश्या की शुद्धता; अक्ष-विषय अवधिज्ञान ॥१३॥
गति-इच्छा तन-तुंगता, परिग्रह अरु अभिमान।
ऊपर ऊपर सुरन में, क्रम से होवे हान ॥१४॥

पीत लेश्याका मध्यम अंश, सानत्कुमार-माहेंद्रके नीचेके पटलोंमें पीतका उत्कृष्ट अंश तथा ऊपरके पटलोंमें पद्मका जघन्य अंश; ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लांतव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र इन तीन युगलोंमें पद्मका मध्यम अंश; और शेषों—शतार-सहस्रारके नीचेके पटलोंमें पद्मका उत्कृष्ट अंश तथा ऊपरके पटलोंमें शुक्लका जघन्य अंश, आनत प्राणत आरण अच्युत तथा नव ग्रैवेयक इन तेरह स्वर्गोंमें शुक्लका मध्यम अंश और इसके ऊपर नव अनुदिश तथा पंच अनुत्तरोंमें शुक्लका उत्कृष्ट अंश अर्थात् परम शुक्ल भावलेश्या होती है। वैमानिकों के पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें समान लेश्या होती है (गो. जी. गा. ५३४)।

कल्प नाम के स्वर्ग

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

शब्दार्थ—प्राक् =पहले। ग्रैवेयकेभ्यः = ९ ग्रैवेयकों से।

अर्थ—नवग्रैवेयकोंसे पहले पहलेके १६ स्वर्ग 'कल्प' संज्ञा वाले हैं।

विशेष—सोलहवें स्वर्ग तकके देवोंमें ही इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि पदवियोंकी कल्पना है अतः यहीं तकके स्वर्ग ही 'कल्प'-स्वर्ग कहलाते हैं। इनसे आगेके नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर 'कल्पातीत' विमान हैं, इनमें रहने वाले सब देव एक-सी पदवीके धारी 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं क्योंकि वहाँका प्रत्येक देव इन्द्रके समान ऐश्वर्य को भोगने वाला होता है।

लोकांतिक देव

ब्रह्मलोकालया लोकांतिकाः ॥२४॥

शब्दार्थ—आलयाः स्थानों में रहने वाले। लोकांतिकाः =ब्रह्म स्वर्ग के अंतिम भागका नाम 'लोकांत' है, अतः यहाँ रहने वाले देव 'लोकांतिक' कहे जाते है।

अर्थ—पाँचवें स्वर्ग ब्रह्मके अंत लोकांतमें रहने वाले लोकांतिक देव हैं।

विशेष—ब्रह्मलोकके अंत 'लोकांत' में रहने वाले ही लोकांतिक हैं सब ब्रह्मलोक निवासी नहीं। यह देव मनुष्यका एक भव धारण करके ही मोक्ष चले जाते हैं इसलिए भी कि जिनके लोक-संसारका अंत होने वाला है, इनको 'लोकांतिक' कहते हैं। लोकांतिक देव

दोहा—पीत पद्म सित लेश्य हैं, दु-ति-युगल अरु शेष।
ग्रीवक से नीचे कलप, कल्पातीत अवशेष ॥१५॥
ब्रह्म स्वर्ग के अंत चहुं, लोकांतिक हैं अष्ट।
सरसुत आदितवह्नि् अरुण, अद तुषि बाध अरष्ट ॥१६॥

विषयोंसे विरक्त, ब्रह्मचारी, द्वादशांगके पाठी तथा अन्य देवोंके पूज्य होते हैं । इन्हें 'देवर्षि' भी कहते है, ये तीर्थंकरोंके एक तपकल्याणक मात्र में ही मध्यलोकमें आते है ।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुण गर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

शब्दार्थ—च=और भी ।

अर्थ—१ सारस्वत २ आदित्य ३ वह्नि ४ अरुण ५ गर्दतोय ६ तुषित ७ अव्याबाध और ८ अरिष्ट यह आठ प्रकारके तथा इनके अतिरिक्त और भी लोकांतिक देव हैं ।

विशेष—लोकांतिक देव ब्रह्म स्वर्गकी आठों दिशाओंमें रहते हैं । इनके बीच-बीचमें दो दो प्रकार के और भी लोकांतिक देव है। इस प्रकार लोकांतिकों के कुल भेद २४ है (देखो चित्र सामने) ।

यह सब देव समान हैं, इनमें किसी प्रकारकी छोटाई बड़ाई नहीं है। यह सब स्वतन्त्र है, इनकी कुल संख्या ४०७८२० है।

अनुत्तर वासियों के मोक्ष

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

शब्दार्थ-द्विचरमाः=(मनुष्य के) दो अंतिम भव वाले ।

नोट—मनुष्य देह से ही मोक्ष हो सकता है अतः चरम-अंतिमपना मनुष्य देहको ही है किसी देव आदि अन्य देहको नहीं ।

अर्थ—विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित इन चार अनुत्तर विमानों तथा ९ अनुदिश विमानोंसे जीव मनुष्यके अंतिम दो भव धार कर मोक्ष चले जाते हैं ।

दोहा—द्विचरमा विजयादि के, सर्वार्थसिद्धि के एक ।
सुर नारक नर के सिवा, शेष सभी त्रियेक ॥१७॥

तात्पर्य यह है कि इन तेरह विमानोंके देव विजयादिकके अधिकसे अधिक दो भव धारण करके और मनुष्यके अधिकसे अधिक दो भव तथा विशेष व्याख्यानकी दृष्टिसे तीन जन्म लेकर मोक्ष चले जाते हैं, एक मनुष्य जन्म लेकर भी चले जावें अधिक से अधिक तीन मनुष्य जन्म लेकर तो अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ विशेष व्याख्यानका यह अर्थ है कि आगममें विजयादिकका जघन्य अंतर वर्ष पृथकत्व और उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक दो सागर कहा है। जघन्य अंतरकी अपेक्षा तो विजयादिकसे मनुष्य जन्म ले वर्ष पृथकत्वमें संयमको आराधन कर मरण करके विजयादिक में जन्म ले वहाँ से फिर मनुष्य हो मोक्ष चला जावे; इसमें तो मनुष्यके दो भवसे मोक्ष हुआ। परन्तु उत्कृष्ट अंतरकी अपेक्षा विजयादिकसे चय कर मनुष्य हो यथायोग्य सम्यक्त्व और संयमको आराधन कर सौधर्म ऐशान स्वर्गोंमें उत्पन्न हो वहाँ कुछ अधिक दो सागर प्रमाण स्थिति (आयु) पूर्ण कर मनुष्य हो पुनः विजयादिकमें जन्म ले और फिर वहांसे मनुष्य हो मोक्ष जावे। इस प्रकरणमें विजयादिकसे तो दो बार ही मनुष्य हुआ परन्तु विशेष व्याख्यानसे मनुष्यके तीन भव (२ विजयादिक से+१ सौधर्म ऐशानसे) हुए। इसमें सूत्र से कोई विरोध नहीं आता (देखो राजवार्तिक, तथा धवला-अंतर प्ररूपणा)।

विशेष—सर्वार्थसिद्धि के देव एक भवावतारी ही होते हैं अर्थात् वे मनुष्यका एक ही जन्म लेकर मोक्ष चले जाते हैं. नव ग्रैवेयकसे ऊपरके सभी देव सम्यग्दृष्टि होते हैं।

स्वर्ग के ८ युगल हैं, इनमें १२ इन्द्र हैं—६ इन्द्र दक्षिणके तथा ६ उत्तरके। इनमें से केवल दक्षिणके ६ इंद्र अर्थात् १ सौधर्म २ सानत्कुमार ३ ब्रह्म ४ शुक्र ५ आनत ६ आरण और सौधर्म इन्द्रकी इन्द्राणियां (जो तीर्थंकरको जन्म समय प्रसूतगृहसे लाकर इन्द्रको सौंपे सो सची-शची), सौधर्म स्वर्ग के चारों लोकपाल (१ सोम २ यम ३ वरुण ४ कुबेर) और सब लोकांतिक देव तथा सर्वार्थसिद्धिके सब अहमिंद्र यह सब एक भवावतारी होते हैं।

तिर्यंच

औपपादिक मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

शब्दार्थ—औपपादिक मनुष्येभ्यः = औपपादिक-देव नारकी और मनुष्यों के अतिरिक्त। योनयः =योनि वाले, योनिके जीव।

अर्थ-देव नारकी और मनुष्योंके अतिरिक्त शेष सब जीव तिर्यंच योनि वाले हैं।

विशेष—तिर्यंच समस्त लोकमें व्याप्त हैं किंतु उनमें से त्रसतिर्यंच अर्थात् विकलत्रय (दो, तीन, चौ इन्द्रिय) तिर्यंच और पंचेंद्रिय तिर्यंच त्रसनालीमें ही रहते हैं। त्रस तिर्यंच जीवोंका त्रसनालीसे बाहर भी पाया जाना उपपाद, और मारणांतिक तथा केवल समुद्घात की अपेक्षा संभव है।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता ॥२८॥

शब्दार्थ—स्थितिः = आयु (उत्कृष्ट)। अर्द्धहीनमिता=आधा पल्य कम।

अर्थ-असुरकुमार; नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष छः कुमारों की उत्कृष्ट आयु क्रम से १ सागर, ३ पल्य, २½ पल्य, २ पल्य और डेढ़ डेढ़ पल्य है।

वैमानिकों में कल्पोपपन्न देवों की उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

शब्दार्थ—सौधर्मैशानयोः = सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवों की। सागरोपमे=दो सागर।

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

नोट—कुछ अधिक से तात्पर्य ½ सागर है (तिलोयपण्णत्ति भाग २ पृ. ८४८)।

विशेष-'कुछ अधिक' बारहवें स्वर्ग तक है, कारण यह है कि जिसने पहले ऊंचे स्वर्ग की आयु बांध ली हो और पश्चात् संक्लेश परिणामोंके कारण ऊपरके स्वर्गकी आयु घात करके नीचेके स्वर्गकी आयु बांधी हो उस जीवके नीचेके स्वर्गकी उत्कृष्ट आयुसे कुछ अधिक हो जाती है। इसका यह क्रम १२ वें स्वर्ग तक ही इसलिए है कि ऊपर सब वैमानिकोंमें शुक्ल ही लेश्या है अतः उन स्वर्गों में आयु घात करने वाले उत्पन्न नहीं हो सकते।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्तः ॥३०॥

अर्थ-सानत्कुमार तथा माहेंद्र स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु सात सागरसे कुछ अधिक है।

नोट-इस सूत्र में 'कुछ अधिक' ऊपरके सूत्रसे लिया गया है।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

शब्दार्थ—तु=तो, यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि १२ वें स्वर्ग तक ही कुछ कुछ अधिक है आगे नहीं, आगे पूरे पूरे सागरों की आयु है।

अर्थ—सानत्कुमार-माहेंद्र युगलसे आगेके युगलोंमें उससे क्रमशः ३, ७, ९, ११, १३,१५ सागर अधिक अधिक उत्कृष्ट आयु है। अर्थात् ब्रह्मब्रह्मोत्तरमें ७+३ = १० सागर से कुछ

दोहा—असुर नाग सुपर्ण अरु, द्वीपकुमार अरु शेष।
सागर इक त्रय पल्य अर्द्ध—हीन आयु क्रम तेष ॥१८॥
दो सागर से कछु अधिक, सौधर्म और ऐशान।
उदधि सात से अधिक कछु, सनत महेंद्र हि यान ॥१९॥

अधिक, लांतव-कापिष्ट में ७+७ = १४ सागरसे कुछ अधिक, शुक्र-महाशुक्र में ७+९ = १६ सागरसे कुछ अधिक, शतार-सहस्रार में ७+ ११=१८ सागरसे कुछ अधिक, आनत-प्राणतमें ७+ १३=२० सागरकी और आरण-अच्युतमें ७+१५=२२ सागरकी उत्कृष्ट आय है।

कल्पातीत देवों की उत्कृष्ट आयु

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेननवसुग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च॥३२॥

शब्दार्थ-आरणाच्युतात् =आरण-अच्युत युगलसे। ऊर्ध्वम् =ऊपर।

अर्थ—आरण-अच्युत युगल (१५ वें १६ वें स्वर्ग) से ऊपर ९ ग्रैवेयकोंमें अलग अलग, ९ अनुदिशों में, विजयादिक चार विमानों और सर्वार्थसिद्धिमें एक एक सागर बढ़ती हुई उत्कृष्ट आयु है। अर्थात् पहले ग्रैवेयकमें २३ सागर, दूसरेमें २४, तीसरेमें २५, चौथेमें २६, पाँचवेंमें २७, छटेमें २८, सातवेंमें २९, आठवें में ३०, नवेमें ३१ सागर, नव अनुदिशों में से प्रत्येक में ३२ सागर और विजय, वैजयंत जयंत अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धिमें ३३ सागरकी उत्कृष्ट आयु है।

नोट-सूत्रमें 'सर्वार्थसिद्धौ' अलग इसलिए कहा है कि सर्वार्थसिद्धिमें केवल उत्कृष्ट ही आयु होती है।

वैमानिकों में जघन्य आयु

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

शब्दार्थ_अपरा = जघन्य, कम से कम।

अर्थ—सौधर्म-ऐशान प्रथम युगलमें जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

प्रश्न—यह कैसे जाना कि यह जघन्य आयु पहले युगलकी ही कही है?

उत्तर—सूत्र ३४ के 'परतः परतः' इत्यादि शब्दों से।

परतः परतः पूर्वापूर्वानंतरा ॥३४॥

शब्दार्थ—परतः परतः = अगले अगलोंमें। पूर्वापूर्वा = पहले पहलों की उत्कृष्ट आयु।

दोहा—आगे के षट् युगल में, सागर दस चौदाह।
सोलह अठदस कुछ अधिक, बीस अरु बाइस आह ॥२०॥
इक इक सागर बढत है, नव ग्रीवक में आयु।
अनुदिश पंचोतरन में, दो–ती–तीस रहाय ॥२१॥
पल्य एक कछु अधिजघन, सोधर्म और ऐशान।
परा जु पहले युगल की, जघन परे की जान ॥२२॥

अनंतरा=बिना अंतरके अत्यंत निकट कुछ अधिक सहित।

अर्थ—पहलेपहले युगल आदिकी उत्कृष्ट आयु आगेआगेके युगल आदिमें जघन्य आयु है।

विशेष—सौधर्म-ऐशान युगलमें जो कुछ अधिक दो सागरकी उत्कृष्ट आयु है वही सानत्कुमार-माहेंद्र युगलमें जघन्य आयु है, जो सानत्कुमार-माहेंद्रकी कुछ अधिक ७ सागर उत्कृष्ट आयु है वही ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरमें जघन्य आयु है, यही क्रम आगे है।

सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु होती ही नहीं।

नारकियों की जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

शब्दार्थ—नारकाणां=नारकियों की। च=और इसी प्रकार।

अर्थ—और इसी प्रकार दूसरे तीसरे आदि नरकोंमें भी नारकियोंकी जघन्य आयु है, अर्थात् पहले नरकमें जो १ सागरकी उत्कृष्ट आयु (देखो अध्याय ३ सूत्र ६) है वही दूसरे नरकमें जघन्य आयु है यही क्रम आगेके नरकोंमें है।

पहले नरक में जघन्य आयु

दश वर्ष सहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

अर्थ—पहले नरकमें जघन्य आयु १० हजार वर्ष की है।

भवनवासियों में जघन्य आयु

भवनेषु च ॥३७॥

अर्थ—भवनवासियों में जघन्य आयु १० हजार वर्ष ही है।

व्यंतरो में जघन्य आयु

व्यंतराणां च ॥३८॥

अर्थ—व्यंतर देवोंकी भी जघन्य आयु १० ह० वर्ष है।

व्यंतरों की उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपमधिकम् ॥३९॥

अर्थ—व्यंतरोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

दोहा—प्रथम नरक व्यंतर भवन, बरस सहस दस आय।
परा जु पहले नरक में, जघन परे में थाय ॥२३॥

नोट-यहाँ भी कुछ अधिक का कारण वही है जो सूत्र २६ के विशेषमें दिया है।

ज्योतिष्कों की उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

अर्थ-ज्योतिष्क देवोंकी भी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

विशेष—चन्द्रमाओं की उत्कृष्ट आयु १ पल्यसे १ ला० वर्ष अधिक, सूर्यों की १ पल्यसे १ ह० वर्ष अधिक, शुक्रोंकी १ पल्यसे १०० वर्ष अधिक, वृहस्पतियोंकी पूरी १ पल्य, बुध मंगल शनि राहु केतु ग्रहों तथा २८ नक्षत्रोंकी ½ पल्य, और ताराओं की ¼ पल्य है (राज वा० पृ. १७८)। अगले सूत्रमें, उनकी जो जघन्य आयु ⅛ पल्य कही है वह इन्हीं नक्षत्रों तथा ताराओं में होती है।

ज्योतिष्कों की जघन्य आयु

तदष्ट भागोऽपरा ॥४१॥

अर्थ-ज्योतिष्कों की जघन्य आयु उस-पल्यका आठवाँ भाग अर्थात् ⅛ पल्य है।

लोकांतिक देवों की आयु

लौकांतिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

अर्थ-लोकांतिकदेवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारकी आयु आठ सागरकी होती है।

विशेष—उत्तर दिशामें स्थित अरिष्ट जातिके लोकांतिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु ९ सागर की है (त्रिलोकसार गा. ५४०)।

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र, अध्याय ४ की कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन 'सिंह' बी.ए.सी.टी. साहित्यालंकार कृत कौमुदी समाप्त।

अंत मंगल

दोहा—नमी नेमि श्रीपार्श्वजिन, वर्द्धमान भगवान।
तीर्थंकर सब ही नमों, बार बार मन आन ॥४॥

दोहा—एक पल्य कछु अधि परा, व्यंतर ज्योतिष देव।
अठम् भाग इक पल्य की, ज्योतिष जघन कहेव ॥२४॥
लोकांतिक की स्थिती, उत्कृष्ट और जघन्य।
नव अठ सागर की कही, वीर जिनेश्वर धन्य ॥२५॥

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र, अध्याय ४ के ब्रह्मचारी 'सिंह'-कृत दोहे समाप्त ॥४॥

श्री वीतरागाय नमः

अध्याय ५

मंगलाचरण

दोहा—जीवादिक सब द्रव्य जिन, सार दिया दर्शाय ।
इंद्र पूज्य जिनवर वृषभ, नमों अंग वसु नाय ॥

षट्द्रव्य

अजीव द्रव्य

अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः ॥१॥

शब्दार्थ—अजीव -जिसमें उपयोग-देखना जानना न हो, यह भी भावात्मक (होने रूप) तत्व है अभावात्मक नहीं । काया=बहुप्रदेशी, एक से अधिक प्रदेशवाले ।

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अजीव हैं तथा काय-बहुप्रदेशी है ।

विशेष--संसारमें 'धर्म' और 'अधर्म' शब्द पुण्यपाप, कर्तव्य अकर्तव्य आदि भाववाचक अर्थों में प्रयोग होते हैं किंतु यहाँ इनका अर्थ उन दो अजीव-चेतनारहित द्रव्योंसे है जो सर्वलोकमें अखण्ड एक एक, असंख्यात प्रदेशी, नित्य-अपने स्वरूपको कभी न छोड़ने वाले और अरूपी है । यदि 'धर्मद्रव्य aether' संसारमें न होता तो कोई भी पदार्थ हलन चलन करनेमें समर्थ न होता और सब वस्तुएं एक ही स्थान पर ज्योंकीत्यों रहती; और यदि 'अधर्मद्रव्य Gravitation' न होता तो सब वस्तुएं चलती चलती ही रहतीं, एक क्षण भी किसीको विश्राम न मिलता । सर्वज्ञ-जैनधर्मके अतिरिक्त और किसी ने भी इन दो द्रव्योंका

दोहा—धर्म अधर्माकाश अरु, पुद्गल काय अजीव ।
हैं यह द्रव्य अरु जीव भी, द्रव्य रहाय सदीव ॥१॥

अस्तित्व नहीं माना, हाँ अब कुछ वैज्ञानिक इनकी सत्ता स्वीकार करने लगे है।

ऊपर जो नीलानीलासा पदार्थ दिखता है लोग उसे ही 'आकाश' समझते है, यह तो पुद्गल वायुकाय है और नीला उसी वायुका रंग है। आकाश तो एक अखण्ड, सर्वव्यापक पदार्थ है अर्थात् लोक अलोकमें सब जगह व्याप्त है। सूक्ष्मसेसूक्ष्म और बड़ेसेबड़ा कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ आकाश न हो। यह अरूपी है, इसका कोई रंग नहीं है।

यह धर्म, अधर्म आदि द्रव्य चेतना रहित है इससे 'अजीव' और बहुप्रदेशी हैं सो 'काय' कहलाते है।

वह अजीव द्रव्य जो पूरे और गले तथा जिसमें हमेशा स्पर्श रूप रस गंध पाए जावें 'पुद्गल' है। 'पुद्गलाः' शब्द बहुवचनमें पुद्गलके अणु और स्कंधरूप भेदप्रभेदसे होनेसे।

काल भी अजीव द्रव्य है किन्तु उसके काय-बहुप्रदेशी न होनेके कारण उसका इस सूत्रमें वर्णन नहीं किया गया; उसका उल्लेख सूत्र ३९ में है।

उतने क्षेत्र-स्थानको जितना कि एक अणु (पुद्गलका सबसे छोटा भाग) घेरता है 'प्रदेश' कहते हैं,

दोहा—इकअणु जेते क्षेत्रको,-घेरे मान 'प्रदेश'। स्थल देन समर्थ है, जग परमाणु अशेष ॥
'द्रव्यसंग्रह'

द्रव्याणि ॥२॥

अर्थ—ये (धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल) द्रव्य हैं।

विशेष-जो सदा अपने ही गुण पर्यायमें द्रवैं अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणमैं सो 'द्रव्य' है। सब द्रव्य सदैव अपनेही गुण-पर्यायरूप द्रवते अर्थात् परिणमन करते है, कोई द्रव्यभी किसी दूसरे द्रव्यके गुण-पर्यायरूप नहीं द्रवता होता। आकाश आकाशरूप और पुद्गल पुद्गलरूप परिणमता है, आकाश पुद्गल आदि अन्य द्रव्य रूप और अन्य द्रव्य आकाश आदि रूप कभी भी नहीं होते।

द्रव्यका लक्षण 'सद्द्रव्य लक्षणम्'-सत्—अस्तित्व होना है और 'सत्'का लक्षण-'उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' आदि इसी अध्यायके सूत्र २९—३२ और ३८ में भली प्रकार समझाया है, वहाँ देखिए।

जीव भी बहुप्रदेशी द्रव्य है

जीवाश्च ॥३॥

अर्थ-जीव भी (द्रव्य है और बहुप्रदेशी-काय है)।

विशेष-'जीव भी द्रव्य है' इसका तात्पर्य यह है कि 'जीव' भी सदैव अपने ही गुण पर्यायमें द्रवता है किसी अन्य द्रव्यके गुण पर्यायमें नहीं। जीव कभी भी शरीर-पुद्गलादि

रूप नहीं होता और न कभी शरीर-पुद्गलादि ही जीव रूप परिणमते-होते हैं।

यहाँ तक पाँच द्रव्योंका वर्णन आया, इनमेंसे एक जीव-चेतन और शेष चार अजीव-अचेतन है। यह पाँचों द्रव्य बहुप्रदेशी-काय है अतः यही पाँचों 'पंचास्तिकाय' कहलाते है। 'अस्ति'का अर्थ है 'है' है तो छहों द्रव्य अर्थात् किंतु काय-बहुप्रदेशी यह पांच ही है, छटा काल द्रव्य जिसका वर्णन सूत्र ३९-४० में आवेगा काय-बहुप्रदेशी नहीं है।

यहाँ 'जीवाः' बहुवचनमें यह बताता है कि 'जीव' बहुत है और उनके अनेक भेद हैं।

'जीव' का व्युत्पत्तिरूप लक्षण-'जो प्राणोंसे जीता है, जीता था और निश्चय से जीवेगा'

दोहा--जीव उपयोगी अमूर्त, कर्ता स्वदेहप्रमाण। भोक्ता संसारी जु सिद्ध, ऊपरगामी जान।२। 'द्रव्यसंग्रह'

द्रव्योंमें समानता—असमानता

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

शब्दार्थ—नित्य=सदा रहनेवाला, कभी नाश न होनेवाला। अवस्थितानि=गिनतीमें कम-अधिक न होनेवाले, पर रूपको प्राप्त न करनेवाले। अरूपी=बिना रूपके, अमूर्तीक।

अर्थ—द्रव्य सदा रहने वाले—कभी भी नाश नहीं होने वाले है, संख्यामें कभी न्यूनाधिक नहीं होते—न कभी घटकर पाँच चार इत्यादि रहते और न कभी बढ़कर सात आठ इत्यादि होते, सदा छः ही रहते है। सब द्रव्य (पुद्गलके अतिरिक्त) अमूर्तीक है।

विशेष—यहाँ 'नित्य' और 'अवस्थित' शब्दोंमें संधि करके एक ही जगह बहुवचन रखने का तात्पर्य है कि इन दो बातोंमें सब द्रव्य समान हैं। अरूपीपनमें पाँच द्रव्योंमें समानता तथा उनको पुद्गलसे असमानता है।

'नित्य' और 'अवस्थित' के अर्थमें अंतर-कभी भी नाश न होना 'नित्यत्व' और पर-स्वरूपको प्राप्त न करना 'अवस्थित्व' है, जैसे जीवका कभी भी नाश न होना उसका 'नित्यत्व' और उस (जीव) का कभी भी अजीव (पुद्गल धर्म आदि) द्रव्यके स्वरूपको प्राप्त न करना उसका 'अवस्थित्व' है। ऐसा संभव है कि किसी वस्तुका नाश न होते हुए भी (वह नित्य होते हुए भी) वह दूसरे स्वरूपको प्राप्त हो जावे जैसे लकड़ीका जलने पर नाश तो नहीं हुआ किंतु कोयले रूप वह अवश्य होगई। इन द्रव्योंमें आपसमें ऐसा नहीं होता, इसी बातको दिखानेके लिए आचार्य श्रीने द्रव्योंमें 'नित्य' और 'अवस्थित' पन कहा है। अतः जैन दृष्टिकोणसे यह संसार पर्याय अपेक्षा परिवर्तनशील होते हुए भी अनादिनिधन है।

यहाँ 'रूपी' का अर्थ स्वरूप (लक्षण) वाला अथवा आकारवाला नहीं है। आकार

दोहा-नित्य अवस्थित रूप बिन, पुद्गल रूपी जान।
एक एक अरु क्रिय रहिय, नभ तक सबको मान ॥२॥

तथा लक्षण विना तो किसी पदार्थका भी अस्तित्व ही नहीं बन सकता; छहों द्रव्योंका भी कुछ न कुछ आकार तथा स्वरूप तो अवश्य हो है जो आगे सूत्रोंसे प्रकट होगा। इस सूत्रमें तो 'रूपी' शब्दका अर्थ केवल 'मूर्तीक-स्पर्श रस गंध वर्णवाला' है।

अन्य वादियों ने 'तर्कसंग्रह' आदि न्यायग्रन्थोंमें १ आत्मा २ काल ३ आकाश ४ दिशा ५ पृथ्वी ६ जल ७ तेज ८ वायु ९ मन नौ द्रव्य माने हैं। वे रूप-वर्णको केवल पृथ्वी जल तेजमें, रस गुणको केवल पृथ्वी जलमें, गंध गुणको मात्र पृथ्वी में, तथा स्पर्श गुणको पृथ्वी जल वायु तेज मननें मानते हैं। पौद्गिलक मनमें तो उन्होंने स्पर्शके अतिरिक्त और कोई भी गुण नहीं माना (तर्क सं० १।१८)। इनको धर्म अधर्म दो द्रव्योंका तो पता ही नहीं। दिशा आकाशका ही अंशरूप है, पृथ्वी जल तेज वायु तथा मन यह सब पुद्गलके विकार (परिणाम) हैं अतः सब पुद्गलमें गर्भित हैं इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य छः ही हैं, न्यूनाधिक नहीं।

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

शब्दार्थ-रूपिणः=रूपी, मूर्तीक (स्पर्श रसरूप गंधसहित)। पुद्गलाः=अणु और स्कंध सब।

अर्थ—अणु और स्कंध सब पुद्गलद्रव्य रूपी—रूप रस गंध स्पर्श सहित मूर्तीक हैं।

विशेष—यहाँ पुद्गल द्रव्यकी अन्य द्रव्योंसे असमानता दिखाई है।

शंका—सूत्रमें तो केवल 'रूपिणः' शब्द है, अर्थमें रस गंध स्पर्शका ग्रहण कैसे ?

समा:—परस्पर अविनाभावी संबंधसे अर्थात् जहां जहां रूप रस आदिमेंसे कोई एक होता है वहां अन्य तीनों भी होते ही हैं और जहां कोई एक नहीं होता वहाँ दूसरे भी नहीं होते।

पुद्गलद्रव्य दो प्रकारका है १ अणु (स्वभाव पुद्गल) २ स्कंध (विभाव पुद्गल)।

अणु—स्वभाव पुद्गल

पुद्गलद्रव्यके ऐसे छोटेसे छोटे अंशको जिसे तीक्ष्णसे तीक्ष्ण कोई भी शस्त्र या जल या अग्नि आदि अथवा कोई शक्ति भी दो खंडोंमें विभाजित न कर सके अणु कहते हैं।

अणु-परमाणु—जर्रा-ऐटम Atom कोई तो बालू-रेतके कणको और कोई इसके ६० वें भागको मानते हैं। नैयायिक अंधेरी कोठरीमें किसी छिद्र द्वारा प्रवेशित सूर्यकिरणोंमें उड़ते-चमकते प्रति रजकणके ६० वें भागको अणु-परमाणु कहते हैं। आजकलके वैज्ञानिकोंने अनुमान किया है कि हाइड्रोजन गैस जो हलकेसे हलका अमिश्र द्रव्य वायुसे भी बहुतही सूक्ष्म है उसके ६० लाख संख (६०००•००,०००००,०००००,०००००) अणु तोलमें केवल एक रत्तीभर होते हैं। ऐसे १ रत्ती हाइड्रोजन गैसके ६०लाख संखवें भागको वे अणु मानते हैं। वैज्ञानिकों का माना हुआ यह अणु नैयायिकों आदिके माने हुए अणुसे अत्यंत ही सूक्ष्म है। उपर्युक्त

विद्वानों ने जिस जिसको अणु समझा अथवा स्वीकृत किया, वे सब जैन-सिद्धांतसे स्कंध ही हैं, परमाणु अथवा अणु नहीं।

अणु पुद्गलद्रव्यका सबसे छोटा अविभागी कण है। इसीलिए वह इन्द्रियगोचर न होने पर भी उसमें असाधारण पौद्गलिक गुण Matter properties रूप रस गंध स्पर्श सदैव विद्यमान रहते हैं। पुद्गलद्रव्यके इन चार मूलगुणोंके २० विशेष भेद हैं। जिनमेंसे अणुमें स्पर्शके ८ भेदोंमेंसे (शीत उष्ण मेंसे कोई एक, स्निग्ध रूक्षमेंसे कोई एक, और हलका भारी नरम कठोरमें से कोई नहीं, रसके ५ भेदों-खट्टा मीठा कड़ुवा कषायला चरपरामें से कोई एक, गंधके सुगंध दुर्गन्धमें से कोई एक; और वर्णके काला नीला पीला लाल श्वेत भेदोंमेंसे कोई एक—इस प्रकार यह ५ गुण सदैव विद्यमान रहते हैं। इन २० गुणोंकी अपेक्षा अणुके मोटे रूपसे निम्न प्रकार २०० भेद हो जाते हैं—

स्पर्शगुणकी अपेक्षा १ शीतस्निग्ध २ शीतरूक्ष ३ उष्णस्निग्ध ४ उष्णरूक्ष चार; इन चार प्रकारके अणुओंमें से प्रत्येकमें रसके ५ भेदोंमें से कोई एक एक रहनेसे ५×४ = २० भेद; इन २० प्रकारके अणुओंमें से प्रत्येकमें गंधके दो तथा वर्णके ५ में से कोई एक एक रहनेसे २०×२×५=२०० भेद।

पुद्गल द्रव्यके २० असाधारण गुणोंमें से प्रत्येक गुणके अविभागी प्रतिच्छेद अथवा अविभागी अंश अनंतानंत होते हैं। अतः इन गुणोंके अविभागी अंशोंके हीनाधिककी अपेक्षा अणु भी अनंतानंत प्रकारके हैं जिनके प्राकृतिक नियमानुसार यथायोग्य संयोग वियोगसे संसारके सर्व प्रकारके पौद्गलिक पदार्थोंकी रचना सदैव होती रहती है।

पृथ्वी जल अग्नि आदिके अणुओंमें किसी प्रकारका कोई मूलभेद नहीं है किंतु जिन जातिके अणुओंके संयोगसे पृथ्वी आदिमेंसे किसी एक पदार्थके स्कंध बनते हैं उन्हीं अणुओं के संयोगसे उनके मूलगुणोंके अंश में यथा आवश्यक कमती बढ़ती होकर किसी अन्य पदार्थ के स्कंध भी बन सकते और बनते रहते हैं। इसीलिए पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, सोना, चाँदी, आदिके स्कंध भी बाह्य-निमित्त मिलने पर परस्पर एक दूसरेके रूपमें बदल सकते हैं (पंचास्ति०गा. ८०-८२, गो. जी. गा. ६०८)।

अणु दो प्रकारका होता है १ कारण अणु-जो चार धातु (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) का कारण है अर्थात् जिन अणुओंके सम्बन्धसे यह धातु स्कंध रूप होतो हैं २ कार्य अणु-परमाणु-गलते हुए पुद्गल द्रव्य स्कंधोंकी अन्तिम अवस्थामें रहे हुए (एक एक अविभागी प्रतिच्छेद वाले) परमाणु (परम+अणु) नियमसा० गा० २५।

अणुका आकार [शक्ल] प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व है अपना कुछ न कुछ आकार अवश्य रखती है, बिना आकारके कोई अस्तित्व ही नहीं बनता। अणु भी 'है' अतः इसका

भी कुछ आकार होना ही चाहिए। सर्वज्ञ देवने अणुको समषट्कोण 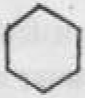 घन [ठोस] पुद्गल द्रव्य कहा है फिर भी अणुका न आदि है न मध्य है और न कोई अन्त अर्थात् अणुका आदि मध्य अन्त एक ही है। द्रव्य होनेसे यह भी त्रिकाल परिणमन रूप है अतः इसके स्निग्ध और रुक्षत्व आदि गुण एक अविभाग प्रतिच्छेदसे लेकर अनंत अविभाग प्रतिच्छेदों तक तर-तमताको प्राप्त होते रहते हैं, [प्रवचन सा. गा. १६४]।

स्कंध-विभाव पुद्गल

अणुओंके समूहरूप पिंडको 'स्कंध' कहते हैं। अणुओंकी हीनाधिकतासे स्कंधके ५ भेद हैं १ स्थूल-स्थूल—जिसका छेदन भेदन हो सके और जो अन्य पदार्थकी सहायताके बिना जुड़ न सके जैसे काठ, पत्थर, ईंट, कागज, कपड़ा इत्यादि २ स्थूल—बहनेवाले द्रव पदार्थ जिनका छेदन भेदन तो हो जावे किंतु मिलाने पर स्वयं एकमेक होजावें जैसे, जल, दूध, तैल आदि ३ स्थूल-सूक्ष्म—जिनका छेदन भेदन भी न होसके जैसे छाया, धूप, चाँदनी—यह आंखसे दिखते हैं अतः स्थूल किंतु हाथसे पकड़े नहीं जा सकते अतः सूक्ष्म हैं ४ सूक्ष्म-स्थूल—जो आंखसे तो न दीखें किंतु स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण इन चार इंद्रियोंसे जाने जासकें जैसे वायु, रस, गंध, शब्द आदि और ५ सूक्ष्म--जिसका किसी इन्द्रियद्वारा भी ग्रहण न हो सके जैसे कार्मण वर्गणा।

स्कंध दो आदि अणुओंके मिलकर बननेसे आदिवाला है, और अनादि भी है [अनादि-अकृत्रिम मेरु आदि)।

अविभागी पुद्गल अणुओं अथवा परमाणुओंको सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं।

आ आकाशादेक द्रव्याणि ॥६॥

शब्दार्थ-आ आकाशात् = आकाशतक।

अर्थ—सूत्र १ में वर्णित द्रव्य आकाश तक अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश यह तीन द्रव्य एकएक हैं।

विशेष-जब यह तीनद्रव्य एकएक हैं तो 'परिशेष न्याय' से बिना कहे ही जीव, पुद्गल और काल इन तीन द्रव्योंमें अनेकता सिद्ध हो जाती है। सो आगमानुसार जीव द्रव्य अनंतानंत, पुद्गल परमाणु जीवोंसे अनंतगुणे और काल द्रव्यके कालाणु असंख्यात हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश यह तीनों द्रव्य द्रव्यकी अपेक्षासे एकएक हैं न कि क्षेत्र, भावकी अपेक्षासे; क्षेत्र और भावकी अपेक्षा तो इनमें भी असंख्यात व अनंतपना है इसीलिए सूत्रमें 'द्रव्याणि' शब्दका प्रयोग किया गया है।

जैनदर्शन आत्मा—जीवद्रव्यको वेदांतकी तरह एक-व्यक्तिरूप नहीं मानता, वह उनको अनंतानंत मानता है, दर्शनज्ञान आदि गुणोंकी अपेक्षा सबको एक समान अवश्य बतलाता है।

एकत्वकी अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाशमें समानता। अनेकत्वकी अपेक्षा जीव, पुद्गल काल में समानता। एकत्व अनेकत्वकी अपेक्षा पहले तीनोंकी दूसरे तीनोंसे भिन्नता।

निष्क्रियाणि च ॥७॥

शब्दार्थ—निष्क्रियाणि=हलन चलन रूप क्रियासे रहित। च=भी।

अर्थ-यह तीनों अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य हलन चलनरूप कियासे रहित भी है।

विशेष—सूत्र ३९ मे वर्णित काल द्रव्य भी निष्क्रिय-हलन चलन रूप क्रिया रहित ही है। अतः जीव और पुद्गल दो द्रव्य ही हलन चलन रूप क्रियावाले ठहरे।

यहां 'निष्क्रिय' का अर्थ केवल गतिरहित है न कि परिणमन रहित, परिणमन (उत्पाद व्यय) के बिना तो कोई द्रव्य हो ही नहीं सकता।

क्रियाशीलत्वकी अपेक्षा जीव और पुद्गलमें समानता, निष्क्रियत्वकी अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें समानता और दोनोंकी अपेक्षा पहले दोकी दूसरे चारसे असमानता।

सांख्य, वैशेषिक आदि वैदिकदर्शन आत्मा-जीवको निष्क्रिय ही कहते है।

द्रव्योंकी प्रदेश-संख्यासे माप

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।८॥

शब्दार्थ—असंख्येयाः=असंख्य, जिसकी गिनती-संख्या इन्द्रियों द्वारा—परोक्षज्ञानसे न हो सके जैसे पल्य, सागर आदि। प्रदेश=धर्म अधर्म आदि द्रव्योंको मापनेका १ अणु-जितना पैमाना, अंश। एकजीवानां=एकएक करके अलग अलग सब जीवों के।

अर्थ—धर्म द्रव्य के, अधर्म द्रव्यके और एक एक करके अलग अलग सभी जीवों के असंख्यात असंख्यात प्रदेश होते हैं।

विशेष—एकमें एकका गुणा करने अथवा भाग देनेसे कुछभी वृद्धिहानि नहीं होती अतः संख्याका आरंभ '२'से होता है, अंक१ गणनाका वाचक है; अतः सबसे छोटी संख्या२दो है।

संख्या-गिनतीके तीन भेद हैं १ संख्यात २ असंख्यात ३ अनंत। मोटे ढंगसे इन तीनोंके भी जघन्य मध्यम उत्कृष्ट रूप तीन तीन भेद हैं। जघन्य-सबसे छोटा संख्यात '२' है। मध्यम् संख्यात ३, ४ आदि उत्कृष्ट संख्यात तक है। उत्कृष्ट संख्यात जघन्य—सबसे छोटे असंख्यातसे '१' कम है। सबसे छोटा असंख्यातभी केवल अतीन्द्रियज्ञान-गम्य है। असंख्यात के असंख्यात और अनंतके अनंत भेद हैं। उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात जघन्य अनंतसे १ कम है।

दोहा—धर्म अधर्म अरु जीवमें, हैं प्रदेश असंख्य।
नभ अनंत पुद्गल विषे, संख्य अनंत असंख्य ॥३॥

जिस प्रकार इन्द्रियगोचर पदार्थोंको मापनेका पैमाना—मान अंगुल, इंच आदि है उसी प्रकार अतीन्द्रिय द्रव्योंको मापनेका मान 'प्रदेश' है। जितने क्षेत्रको एक अणु घेरता है उसे 'प्रदेश' कहते हैं। अणु ठोस समषट्कोण अविभागी पुद्गल अंश है अतः प्रदेश भी ठोस समषट्कोण रूप क्षेत्र हुआ। इसलिए अणु और प्रदेश परिमाणकी अपेक्षा समान हुए, इनमेंसे किसीके भी कम अधिक होनेका कोई प्रश्न ही नहीं रहता, यह सदा एक ही परिमाण वाले जैसेके तैसे ही रहेंगे।

'प्रदेश' शब्दका बहुधा अंश-खंडके अर्थ में भी प्रयोग होता है जैसे उत्तर-प्रदेश, मध्य प्रदेश इत्यादि। आत्म-प्रदेश-यहाँ 'प्रदेश' कल्पित-प्रदेश अथवा अंश-खंड है क्योंकि आत्मा एक अखंड द्रव्य है उसके अंश-खंड हो ही नहीं सकते इसी प्रकार धर्म प्रदेश अधर्म प्रदेश और आकाश प्रदेशके विषयमें भी समझना चाहिए। आत्मा-जीवमें सिकुड़ने फैलनेकी शक्ति होनेसे यह संसार अवस्थामें नामकर्मके उदयसे सिकुड़ता फैलता रहता है। सिकुड़ता फैलता तो तमाम आत्मा ही है, ऐसा नहीं है कि उसका कोई कल्पित अंश 'प्रदेश' ही सिकुड़ता फैलता हो और कोई नहीं।

अब 'असंख्यात' और 'प्रदेश' शब्दोंका यथार्थ अर्थ ज्ञात होजाने पर सूत्रमें वर्णित धर्म, अधर्म और जीव द्रव्यकी माप प्रदेश-संख्या द्वारा ठीक ठीक समझी जा सकती है।

इन तीनोंमेंसे पहले दो धर्म, अधर्म द्रव्य तो सदा लोक जितने अवस्थित रहनेके कारण परिमाण-माप और कल्पित अंशों दोनोंकी अपेक्षा नियत असंख्यात प्रदेशी हुए। जीव द्रव्य अंश कल्पनाकी अपेक्षा तो उसका कोई अंश भी कम अधिक न होनेके कारण सदा नियत असंख्यात प्रदेशी (प्रवचन सार गा. १३७ की आचार्य श्रीअमृतचन्द्र कृत संस्कृत टीका) किंतु संसार अवस्थामें अनवस्थित—सिकुड़ते फैलते रहनेके कारण परिमाण-मापकी अपेक्षा भिन्न भिन्न असंख्यात प्रदेशी अर्थात् ऋजुगति जन्मसे तीसरे समय वाला लब्ध्यपर्याप्तक सब से छोटी अवगाहनाका जीव जघन्य असंख्यात प्रदेशी और लोक पूर्णरूप केवल समुद्घात करता हुआ सबसे बड़ी-उत्कृष्ट अवगाहना वाला जीव उत्कृष्ट असंख्यात प्रदेशी और बीच की अवगाहना वाले जीव मध्यम असंख्यात प्रदेशी हैं।

आकाशस्यानंताः ॥९॥

अर्थ-आकाशके अनन्त प्रदेश हैं।

विशेष—आकाशके दो भेद हैं १ लोकाकाश २ अलोकाकाश। जहां पर छहों द्रव्य पाये जावें वह 'लोकाकाश' और जहां केवल एक आकाश द्रव्य ही हो वह 'अलोकाकाश' है।

आकाशद्रव्यके तथा अलोकाकाशके अलग अलग भी और सब मिलकर भी अनंत

प्रदेश है, किंतु लोकाकाशका विस्तार धर्म, अधर्म द्रव्यों–जितना होनेसे उसके प्रदेश असंख्यात हैं। ऊपर नीचे, उत्तर, पूर्व आदि दिशाएँ आकाशके ही अंश रूप हैं।

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

शब्दार्थ–संख्येया: असंख्येया: = संख्यात असंख्यात। च = अनन्त। पुद्गलानाम् = पुद्गलोंके।

अर्थ–पुद्गलोंके प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं।

विशेष–पुद्गलोंके प्रदेश हैं। पुद्गलका एक अणु अथवा परमाणु तो एक ही प्रदेश वाला है किंतु पुद्गल परमाणुओंमें मिलन-बिछुरन शक्ति है, इस कारण अनेक स्कंध दो दो अणुओंके और अनेक तीन-तीन चार-चार इत्यादि संख्यात, असंख्यात और अनन्त अणुओंके हैं। अत: पुद्गलोंके भी प्रदेशत्वपना बन जाता है और उनकी भी प्रदेशोंद्वारा माप होनी कही जाती है। इन्द्रियगोचर स्कन्धोंकी माप अंगुल, इञ्च, गज, मीटर आदिसे होती है।

परमाणु-अणु पुद्गलका सबसे छोटा अखण्ड-अविभाज्य अंश है। यह परमाणु-अणु द्रव्य अपेक्षासे अखण्ड है, परिणमन अथवा पर्याय अपेक्षा नहीं क्योंकि एक ही परमाणुमें वर्ण रस आदि अनेक परिणमन-पर्यायें होती रहती हैं जो परमाणुके ही भावरूप अंश हैं।

प्रदेश भी परमाणु जितना होनेसे परिमाण-मापमें परमाणु और प्रदेश समान हैं फिर भी उनमें यह अंतर है कि परमाणु अपने अंशी (तमाम) स्कंध से अलग हो सकता है किंतु प्रदेश (जीव, धर्म, आकाश द्रव्योंके) अपने अंशीसे अलग नहीं हो सकते।

प्रश्न–असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमें अनंतानंत पुद्गल परमाणु तथा अनंतानंत जीव कैसे समाये हुए हैं?

उत्तर–पुद्गल परिणमन दो प्रकारका है १ स्थूलपरिणमन २ सूक्ष्मपरिणमन। पुद्गलके सूक्ष्म परिणमनके कारण आकाशके एक ही प्रदेशमें पुद्गलके अनंत परमाणु आ जाते हैं। इसी प्रकार जीवमें स्वदेह-परिमाण होनेकी शक्ति तथा परस्पर और अन्य द्रव्योंको अवगाहन-दान शक्तिसे असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमें अनंतानंत जीव समा रहे हैं, और फिर आकाशमें जो अवकाश-दान शक्ति है।

नाणो: ॥११॥

शब्दार्थ–न=नहीं है। अणो:=अणु-पुद्गल अणु अथवा परमाणुके।

दोहा–अणु अप्रदेशी, द्रव्य सब, लोकाकाश अवगाह।
धर्म अधर्म सब लोक में, यथा तैल तिल मांह ॥४॥

अर्थ—पुद्गल अणु अथवा परमाणुके प्रदेश नहीं है अर्थात् 'अणु' केवल एक प्रदेशी है।

विशेष—यद्यपि पुद्गलका एक अणु एक प्रदेशी होनेसे कालकी भाँति 'काय' नहीं है फिर भी एक अणुको भी शक्ति (क्योंकि अणु-परमाणु मिलने बिछुड़नेकी शक्तिसे स्कंध रूप होकर बहुप्रदेशी-काय हो जाते-होते रहते हैं) की अपेक्षा उपचारसे 'काय' कह दिया है।

द्रव्योंका स्थिति—क्षेत्र—सामान्य

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

शब्दार्थ—लोकाकाशे=लोकाकाशमें। अवगाहः =स्थिति।

अर्थ—द्रव्योंकी स्थिति लोकाकाशमें है अर्थात् द्रव्य लोकाकाशमें हैं।

विशेष-छहों द्रव्योंमेंसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल यह पाँच द्रव्य तो केवल लोकाकाशमें ही हैं किंतु आकाश द्रव्य लोकाकाश तथा अलोकाकाश दोनोंमें सर्वत्र है। यह आधेय आधारका संबंध व्यवहारिक दृष्टिसे है निश्चयसे तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित अपने अपनेमें ही (स्व-रूपमें ही) स्थित हैं। तात्विक दृष्टिसे कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें नहीं रह सकता। आकाशद्रव्य निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियोंसे स्वप्रतिष्ठित-अपने ही आधार है क्योंकि उससे बड़ा अथवा उसके बराबर परिमाण वाला कोई दूसरा द्रव्य नहीं।

धर्मादि द्रव्योंका आधार लोकाकाश है, लोकाकाशका कोई प्रदेश ऐसा नहीं जहाँ छहों द्रव्योंमेंसे कोईसा न हो। आकाश अपने ही आधार है।

प्रश्न—क्या एक क्षेत्रावगाही होनेसे छहों द्रव्य एकमेक नहीं हो जाते?

उत्तर-नहीं होते; परस्पर अत्यंत मिलाप होते हुए भी द्रव्य अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते; पलटकर परस्पर एक नहीं हो जाते क्योंकि उन प्रत्येकके प्रदेश, स्वभाव तथा लक्षणमें भिन्नता है (पंचास्तिकाय गा. ७, सर्वार्थसिद्धि सूत्र १६)।

धर्म अधर्म आकाश काल और मुक्त जीव अपने अपने स्थानसे कभी चलायमान नहीं होते, तथा एक स्थानपर रहते हुए भी इनके प्रदेश कभी सकंप नहीं होते, किंतु संसारी जीवों के प्रदेश चल भी होते हैं, अचल भी और चलाचल भी। विग्रहगति वाले जीवोंके प्रदेश सदा चल ही होते हैं, अयोग केवलियोंके अचल ही अर्थात् सकंप नहीं होते किंतु क्रियाशील हो सकते हैं और शेष संसारी जीवोंके प्रदेश चलाचल होते हैं (गो. जी. गा. ५९१)।

पुद्गलद्रव्यमें परमाणु तथा संख्यात असंख्यात आदि अणुके जितने स्कंध हैं वे सभी चल हैं किंतु एक अंतिम लोकरूप महास्कंध चलाचल क्योंकि उसमें कोई अणु चल कोई अचल है।

विशेषरूप से धर्म अधर्म द्रव्यका स्थिति क्षेत्र

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

शब्दार्थ-धर्माधर्मयोः=धर्म और अधर्म द्रव्यकी। कृत्स्ने=समस्त लोकाकाशमें।

अर्थ-धर्म और अधर्म द्रव्यकी स्थिति समस्त लोकमें है।

विशेष—धर्म और अधर्म द्रव्यके प्रदेश (कल्पित अंश) लोकाकाश के समस्त प्रदेशों [कल्पित अंशों] में तिलोंमें तेलकी तरह व्याप्त है न कि वे लोकाकाशमें घरमें घड़ेके समान रक्खे हैं। धर्म और अधर्म दोनों एक एक अखंड द्रव्य होनेके कारण ऐसा नहीं हो सकता कि लोकाकाशमें कहीं तो हों और कहीं न भी हों; अतः इनका लोकाकाशमें सर्वत्र होना अनिवार्य है। वास्तवमें एक अखंड आकाश द्रव्यके जो लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भाग माने जाते हैं वह भी धर्म अधर्म द्रव्यके संबधसे ही।

पुद्गलका स्थिति क्षेत्र

एक प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

शब्दार्थ—एक प्रदेशादिषु=एक प्रदेश दो प्रदेश आदि असंख्यात प्रदेशों (लोकके असंख्यात प्रदेशी होनेसे) में। भाज्यः = विकल्पसे अर्थात् अनिश्चित रूपसे।

अर्थ—पुद्गल द्रव्यों (एक अणु, स्कन्धों) की स्थिति लोकाकाशके एक प्रदेश, दो प्रदेश आदि असंख्यात प्रदेशोंमें अनिश्चित रूपसे है।

विशेष—पुद्गलका एक अणु-परमाणु लोकाकाशके एक प्रदेशमें, द्विअणु स्कंध एक अथवा दो प्रदेशोंमें (सूत्र १० के विशेषानुसार) और तीन आदि अनन्त परमाणुओंके स्कन्ध एक, संख्यात अथवा असंख्यात अनिश्चित प्रदेशोंमें एक घरमें ही अनेक दीपकोंके उजालों की भांति समा सकते हैं।

सामान्य रूपसे तो पुद्गलद्रव्यका आधार लोकाकाश है (सूत्र १२) तथापि चूंकि पुद्गल द्रव्यके खंड हो सकते हैं और होते हैं अतः भिन्न भिन्न स्कन्धों के आधार भिन्न भिन्न होते हैं। इसीलिए पुद्गलके स्थितिक्षेत्रका परिमाण अनेक अनिश्चित रूपसे कहा है। एक अणु-परमाणुका एक प्रदेश, दो अनेक आदि परमाणुओंके स्कंधोंका एक प्रदेश अथवा असंख्यात प्रदेश और लोक रूप महास्कंधका सर्वलोक अथवा असंख्यात प्रदेश है।

जीवका स्थितिक्षेत्र

असंख्येय भागादिषु जीवानाम् ॥१५॥

शब्दार्थ—असंख्येय भागादिषु=(लोकाकाशके) असंख्यातवें भागादिमें।

दोहा—लोक प्रदेश इक आदि अरु, असंख्यात भागादि।
क्रम से पुद्गल जीव का, अवगाहन जिन वाद ॥५॥

अर्थ—जीवोंका स्थितिक्षेत्र लोकाकाशके असंख्यातवेंभागसेलेकर संपूर्ण लोकाकाशतकहै।

विशेष—लोकके असंख्यात भाग करके उनमेंसे एक भाग सो लोकका असंख्यातवाँ भाग है। लोकके इस असंख्यातवें भागको भी असंख्यात प्रदेशी कहा है। ऐसे एक असंख्यातवें भाग से लेकर दो तीन आदि लोकपर्यंत कुल भागोंमें जीव अथवा जीवोंकी स्थिति है। जिस प्रकार लोकके एक असंख्यातवें भागमें एक जीव है उसी प्रकार दो तीन चार आदिक असंख्यातवें भागोंमें भी समस्त लोक पर्यंत एक जीवका अवगाह जानना चाहिए। नाना जीवोंका अवगाह तो सर्वलोकमें है ही (सर्वार्थसिद्धि)।

कुछ व्यक्ति तो जीव-आत्माका परिमाण-माप सबसे बड़ा आकाश सदृश सर्व व्यापक मानते हैं और कुछ अणु सदृश सबसे छोटा। जैनसिद्धांतमें आत्माको 'स्वदेह-प्रमाण' कहा है। प्रदेशों (अंशों) की अपेक्षा तो सब जीव समान परिमाण वाले असंख्यात प्रदेशी कहे हैं, किंतु वे अपनी अपनी ऊंचाई मुटाई आदि मापमें भिन्न भिन्न अनंत परिमाण-मापके हैं। जीव (सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक) का सबसे छोटा परिमाण घनांगुलके असंख्यातवें भाग है (गो. जी. गा. ९४)। जितने स्थानमें एक जीवके असंख्यात प्रदेश आ सकते है उतनमें ही अनंत जीवोंके प्रदेश समा जाते हैं (सूत्र १० व १६ के विशेष)।

नोट—सूत्र १४, १५ पर विचार करनेसे पता चलता है कि पुद्गलका स्थितिक्षेत्र एक दो आदि प्रदेश भी है किंतु जीवका स्थितिक्षेत्र लोकका असंख्यातवाँ भाग जो स्वयं भी असंख्यात प्रदेशी है है इससे कम नहीं; कारण यह है कि जीव असंख्यात प्रदेशी ही है कम नहीं जबकि पुद्गल एक दो आदि प्रदेशी भी है।

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

शब्दार्थ—संहारविसर्पाभ्यां=संकोच विस्तार होनेसे। प्रदीपवत्=दीपककी रोशनीके समान।

अर्थ—दीपकके प्रकाशकी तरह जीवके प्रदेशों (अखंड जीव) में संकोच विस्तार होनेसे जीवकी स्थिति लोकाकाशके असंख्यात आदि भागोंमें है।

विशेष—जीवद्रव्यमें क्रियावती शक्ति होनेसे वह संसार अवस्थामें शरीर नामकर्मके उदय से संकोच विस्तार रूप होता रहता है। इसलिए वह लोकाकाशके समान असंख्यात प्रदेशी होता हुआ भी स्वदेह परिमाण-छोटा बड़ा हो जाता है।

जिस प्रकार एक बड़े मकानमें दीपक रखनेपर उसका प्रकाश कुल मकानमें फैल जाता

दोहा—दीपक के प्रकाश सम, जीव प्रदेश हि मान।
सिकुड़ें फैलें लोक सम, रहें स्वदेह प्रमाण ॥१६॥

है और उसी दीपकको एक घड़ेके अंदर रखदेनेसे वही प्रकाश घड़ेमें ही सुकुचित होकर रह जाता है उसी प्रकार जीव भी (समुद्धात अवस्थाके अतिरिक्त) जितना बड़ा या छोटा शरीर पाता है उसमें उतने ही छोटेबड़े परिमाण-मापवाला होजाता है। यही कारण है कि आत्मा-जीवका परिमाण सिद्ध अवस्थामें अंतिम शरीरसे कुछ (जीव रहित नख केश) कम रहता है।

जीव स्वभावसे तो अमूर्तीक है किंतु अनादिसे पुद्गलकर्मके साथ एक क्षेत्र अवगाह संबंध है, इसीसे छोटे बड़े शरीरके साथ जीवका संबंध बना है और शरीरके अनुसार ही जीवमें अथवा जीव-प्रदेशोंमें सकोच विस्तार होता रहता है। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सबंध है।

समुद्धात-मूल शरीरको न छोड़कर तैजस कार्मणरूप उत्तर देहके साथसाथ जीव अथवा जीव प्रदेशों का शरीरसे बाहर भी फैल जाना समुद्धात है। इसके सात भेद हैं १ वेदना २ कषाय ३ वैक्रियिक ४ मारणांतिक ५ तैजस ६ आहारक और ७ केवल। इनमेंसे मार-णांतिक तथा आहारक तो एक ही दिशामें गमन करते हैं किंतु शेष पाँच दसों दिशाओंमें (गो. जी. गा. ६६६-६८)।

द्रव्योंका कार्य—धर्म अधर्म का

गति स्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

शब्दार्थ—गतिस्थिति उपग्रहो-चलने और ठहरनेमें सहायक होना। उपकारः=कार्य।

अर्थ-धर्मद्रव्यका कार्य चलनेमें और अधर्मद्रव्यका कार्य ठहरनेमें सहायक होना है।

विशेष इस सूत्रमें धर्म, अधर्म द्रव्योंके कार्यके साथ साथ उनका लक्षण भी गर्भित है। धर्म द्रव्यका लक्षण जीव और पुद्गल द्रव्योंको हलन चलनरूप क्रिया करनेमें सहायता देना' है, यही इसका उपकार-कार्य भी है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्यका लक्षण 'जीव और पुद्गल द्रव्योंको ठहरनेमें सहायता देना' है, यही इसका उपकार-कार्य है।

चार द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो निष्क्रिय (गति रहित) हैं, केवल शेष दो द्रव्य जीव और पुद्गलही में हलन चलन रूप क्रियाके पश्चात् उनमें ठहरने रूप क्रियाका होना स्वयं सिद्ध होजाता है। उपादान रूप गति, स्थितिकी शक्ति तो जीव और पुद्गलमें ही है किंतु जैसे पतंगको उड़ानेके लिए वायु आदिके और आदमीको कोठेपर चढ़नेके लिए सीढ़ी के निमित्तकी आवश्यकता होती है इसी प्रकार जीव और पुद्गलको भी गति और स्थितिमें धर्म तथा अधर्मके निमित्तकी जरूरत पड़ती है। ये द्रव्य किसी जीव अथवा पुद्गलको चलने तथा ठहरनेकी प्रेरणा नहीं करते किंतु जब यह (जीव, पुद्गल) गति अथवा स्थितिरूप होना प्रारम्भ होते हैं तब उनके गति स्थितिरूप कार्यमें निमित्त अथवा सहायक मात्र हो जाते हैं।

आशंका—आकाश जो सर्वव्यापक है वही गतिस्थितिका उपकारी है नकि धर्म अधर्मद्रव्य

समा—नहीं, यदि ऐसा मानेंगे तो लोक अलोकका विभाग ही न बनेगा, क्योंकि आकाश तो अलोकाकाशमें भी है, ऐसा माननेपर वहाँ भी जीव पुद्गल गति स्थिति हो जावेगी।

आशंका—लोकाकाशमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु द्वारा ही गति स्थिति होती है फिर धर्म अधर्मकी कल्पना व्यर्थ !

समा—प्रथम तो इनको कल्पनामात्र नहीं है कल्पना तो अस्तित्व न होने वाले पदार्थकी होती है, यह तो हैं अर्थात् इनका तो अस्तित्व है। दूसरे एक कार्यके अनेक कार्य भी हुआ करते हैं। गति स्थितिमें उपादान कारण तो जीव और पुद्गल ही हैं; निमित्तकारणमें भी धर्म अधर्म द्रव्य तो सब जीव और पुद्गलोंको एक ही कालमें युगपत् गतिस्थितिके साधारण निमित्तकारण हैं किंतु पृथ्वी जल आदि किसी पदार्थ (पुद्गल तथा पुद्गल संबन्धित जीव) की गतिस्थितिके विशेष निमित्त कारण हैं (सर्वार्थसिद्धि)।

आशंका—धर्मअधर्म द्रव्य किसीके देखनेमें तो आते नहीं, इनका अस्तित्व कैसे माना जावे

समा—ये द्रव्य सर्वज्ञको तो प्रत्यक्ष दिखते हैं और उन्होंने प्रत्यक्ष देखकर ही इनका अस्तित्व बताया है, अतः यह कहना कि किसीके देखनेमें नहीं आते ठीक नहीं। नेत्र अथवा इन्द्रिय अगोचर वस्तुओंका अस्तित्व न मानना ठीक नहीं बनता, ऐसा करनेसे बहुतसी वस्तुओंका अभाव मानना पड़ेगा जैसे भूतकालमें हुए पुरुषोंका, दूरस्थ प्रदेशोंका इत्यादि। अमूर्तीक पदार्थों का अस्तित्व अल्पज्ञ-छद्मस्थ अनुमान प्रमाणसे निश्चय कर ही सकता है।

आकाश द्रव्यका कार्य

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

अर्थ—आकाशका काम सब द्रव्योंको अवगाह-स्थान देना है।

विशेष—आकाशमें अवगाहन गुण होते हुए भी दीवार आदिसे मनुष्य आदिका रुकना दीवार मनुष्य आदि स्थूल पदार्थोंमें परस्पर व्याघातपने-रोकनेका कारण है। इससे आकाश के स्थान-दान गुणमें कोई दूषण नहीं आता, आकाशने तो दीवार आदिको अपनेमें स्थान दिया ही हुआ है।

अवगाहन गुण तो सभी द्रव्योंमें है क्योंकि लोकाकाशमें जहाँ एक द्रव्य है वहीं दूसरे सब द्रव्य भी हैं। फिरभी विशेष रूपसे केवल आकाश द्रव्यमें अवगाहन गुण कहनेका कारण यह है कि वह सब पदार्थोंको युगपत अवकाश देता है, स्थूलस्थूल स्कंध तो एक दूसरेको

दोहा—गति थिति पुद्गल जीव की, धर्म अधर्म उपकार।
सब द्रव्यहिं अवकाश दे, गगन द्रव्य का कार ॥७॥

रोकते भी हैं। अलोकाकाशमें भी अवकाश-दान गुण है किंतु वहाँ अवकाश-स्थान लेनेवाला कोई दूसरा द्रव्य ही नहीं, इसमें आकाशका कोई दोष नहीं, इससे आकाशका अवकाश-दान गुण थोड़े ही नष्ट होता है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको नहीं छोड़ता।

आकाश द्रव्य सर्वव्यापक है और प्रत्येक वस्तुके भीतर तथा बाहर सब जगह विद्यमान है। इसकी कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती क्योंकि आकाशकी जो भी सीमा नियत की जावेगी बार बार यही प्रश्न उठेगा कि उसके बाहर-आगे क्या है? जिसका उत्तर प्रत्येक बार 'आकाश' ही होगा। इसीलिए आकाश द्रव्य 'अनन्तानंत' है।

पुद्गल द्रव्य का कार्य

शरीर वाङ् मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१६॥

शब्दार्थ—वाङ्=वचन। प्राणापानाः =प्राण+अपानाः =सांस लेना और साँस निकालना अर्थात् उच्छ्वास और निःश्वास=श्वासोश्वास।

अर्थ-जीवोंके प्रति पुद्गलोंका उपकार-कार्य शरीर, वचन, मन और श्वासोश्वासका होना है

विशेष—पुद्गलका पुद्गलके प्रति उपकार-कार्य तो उसका अणुसे स्कंध और स्कंधसे अणु रूप होते रहना है। जीवोंके प्रति उसका उपकार जीवके शरीर आदि रूप (जीवकी संसार अशुद्ध अवस्थामें) बनते रहना है। जीवोंके शरीर आदिका उपादान कारण पुद्गल और निमित्त कारण जीव है।

परमाणुसे लेकर महास्कंध तक पुद्गलद्रव्यकी अणुवर्गणा, आहारवर्गणा आदि २३ वर्गणा-समूह हैं। इनमेंसे १ आहारवर्गणा २ भाषावर्गणा ३ मनोवर्गणा ४ तैजसवर्गणा ५ कार्मणवर्गणा इन पाँच प्रकारकी वर्गणाओंके पुद्गल समूहोंसे जीवके औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मण शरीर, वचन, मन और श्वासोश्वास बनते हैं।

कोई कोई वचनको अमूर्तीक कहते हैं वचन भी पुद्गलकी पर्याय है, रेकार्ड, रेडिओ आदिमें पकड़े जानेसे अब तो विज्ञानने प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है कि वचन-शब्द भी मूर्तीक-पौद्गलिक ही है। वचन भी जीवके प्रति पुद्गलका ही उपकार है।

हृदयस्थानमें हृदयके बाईं ओर मनोवर्गणा द्वारा रचित पुद्गल द्रव्यमन है जिसके निमित्तसे आत्मा हेयउपादेयके जाननेमें समर्थ होताहै। यहभी जीवकेप्रति पुद्गलकाउपकारहै

श्वासोश्वास भी वायु द्वारा रचित होनेसे पुद्गलमय है, इसीसे जीवका जीवन बना रहता है। यह भी पुद्गलका ही उपकार-कार्य है।

दोहा-पुद्गल का उपकार तन,—वच मन प्राण अपान।
अरु सुख दुख जीवन मरण, जीव जीव कर जान ॥८॥

सुख दुःख जीवितमरणोपग्रहाश्च ।२०।

अर्थ—और (इंद्रिय जनित) सुख दुख और जीवन मरण भी पुद्गलके उपकार हैं।

विशेष-सुख दुख आदिका उपादान कारण जीव और निमित्त कारण पुद्गलद्रव्य है। उपकारका अर्थ 'कार्य' भी है न कि केवल भलाई ही। सूत्रमें 'उपग्रहाः च' शब्दसे यह सूचित होता है कि पुद्गल परस्पर एक दूसरेका भी उपकार करते हैं जैसे 'साबुन' कपड़ेका।

जीव द्रव्य का उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

अर्थ—जीवोंका उपकार परस्परमें है।

विशेष—एक जीव कारण वश दूसरे जीवका उपकार करता है जैसे गुरु शिष्यका अथवा मंत्री राजाका। जीव एक दूसरेके सुख दुख, जीवन मरणमें निमित्त होता है तथा जीवोंके शरीर आदिका भी निमित्त कारण है।

कालका उपकार

वर्तना परिणाम क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

शब्दार्थ--वर्तना-वर्तन रूप करना, वरताना, पदार्थोंकी पर्यायोंके पूरण करनेमें सहकारिता, एक समयवर्ती पर्याय जिसमें भूत भविष्यतकी अपेक्षा न हो और जिससे पदार्थका अस्तित्व जाना जाय वर्तना है।

परिणाम—द्रव्यका अपने स्वभावको न छोड़ते हुए पहली अवस्थाको छोड़ दूसरी अवस्थारूप होना, नाना समयोंकी पर्याय-परिणाम, जैसे चावलका किसी नियत समयमें भात रूप परिणाम। धर्मादि सब द्रव्योंके अगुरुलघु गुणका अविभाग प्रतिच्छेदरूप षट्गुण हानि वृद्धि सहित अनंत परिणाम-पर्याय-पलटन (सूक्ष्म स्वरूप)। जीवके उपशम आदि पांच भाव रूप परिणाम है, पुद्गलके वर्णादिक तथा घट पटादि अनेकरूप परिणाम हैं।

क्रिया—जीव पुद्गलको हलन चलन रूप करना, समयकी किसी मापमें एक वस्तुको देशांतर-एक स्थानसे दूसरे स्थानमें करना।

परत्व-बड़ा अथवा पुराना करना। अपरत्व—छोटा अथवा नया करना।

अर्थ—द्रव्योंको १ बरताना २ भिन्न भिन्न पर्यायरूप करना ३ हलनचलनरूप करना ४ बड़ा-पुराना करना और ५ छोटा-नया करना यह पाँच काल द्रव्यके उपकार-कार्य हैं।

दोहा-काल वर्तना परिणमन, क्रिया बड़ा अरु छोट।
पुद्गल है स्पर्श रस, गंध वर्ण की पोट ॥६॥

विशेष—इन पांचों कार्योंमें 'वरताना' तो निश्चयकाल-कालाणु रूप द्रव्यका कार्य और अन्य चार व्यवहार काल-समय, आवली, घण्टा, मिनट आदिका उपकार है। इन पांचों में 'वर्तना' सबसे सूक्ष्म और परिणाम आदि उत्तरोत्तर स्थूल कार्य है।

यद्यपि धर्मादिक सब द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय पूरणार्थ उपादानसे स्वयं वर्तन रूप होते हैं तथापि उनके वर्तनमें बाह्य कारण काल है।

द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं (सर्वार्थसिद्धि)। पर्याय दो रूप है १ द्रव्यज पर्याय २ गुणपर्याय। इन दोनोंके भी स्वभाव विभावकी अपेक्षा दो दो भेद है-

(क) स्वभाविक द्रव्यज-दूसरे द्रव्यके संयोगके बिना ही द्रव्य-प्रदेशपिंडमें जो विकार-परिवर्तन हो;

(ख) विभाविक द्रव्यज पर्याय-दो द्रव्योंके संयोगसे उत्पन्न प्रदेशपिंड रूप विकार, यह जीव और पुद्गलमें ही होती है।

(क) स्वभाव गुणपर्याय—सब द्रव्योंमें अगुरुलघुगुणका षट्गुण हानिवृद्धिरूप परिणमन उस उस द्रव्यकी स्वभाव गुण पर्याय है। यह परिणमन अन्य द्रव्यकी अपेक्षासे रहित द्रव्य के धर्म-गुणसे धर्मांश-गुणांश रूप होता है, जैसे कर्म रहित शुद्ध जीव-द्रव्यके जीवत्वकी ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि पर्यायें, परमाणु (पुद्गल द्रव्य) में रस स्पर्श गंध वर्ण पुद्गलत्वकी पर्यायें, धर्मके गति हेतुत्व गुणमें, अधर्मके स्थिति हेतुत्व गुणमें, आकाशके अवगाहन हेतुत्व गुणमें और कालके वर्तना हेतुत्व गुणमें जो षट्गुण हानिवृद्धि रूप परिणमन है वह वह उसकी स्वभाव गुण पर्याय है।

(ख) विभाग गुण पर्याय-अन्य द्रव्यकी अपेक्षा लेकर द्रव्यके गुणमें परिणमन, यह भी केवल जीव और पुद्गलमें होती है, जैसे मतिश्रुत आदि जीवके ज्ञान गुणमें पुद्गलकर्मके संयोगसे हुई हुई जीवके ज्ञानगुणकी विभावपर्यायें, इसी प्रकार पुद्गल स्कंधोंमें घट पट आदिमें रूप आदि पर्यायें हैं।

पर्यायें क्रमवर्ती-प्रथम एक पर्याय, उसके नाश होनेपर दूसरी फिर तीसरी इत्यादि होती है और अनित्य हैं-वे सदा एकरूप नहीं रहती, उनमें उत्पाद व्यय होता ही रहता है।

धर्म अधर्म आकाश कालमें तो विभाव रूपसे परिणमन करानेवाली वैभाविक शक्ति ही नहीं है अतः इनमें परिणमन स्वभावसे ही होता है किंतु जीव और पुद्गलमें वैभाविक शक्तिका विभाविक और स्वभाविक रूप परिणमन होनेसे उनमें विभाविक और स्वभाविक दोनों प्रकारकी पर्यायें हुआ करती है।

सब द्रव्योंकी इन सब स्वभाविक विभाविक पर्यायोंके होनेमें काल ही बाह्य कारण है।

हलन चलन (गति) रूप क्रियामें (सू.१७) धर्मद्रव्यका उपकार, और स्वयं धर्म अधर्म आकाश (काल) को सू० ७ में निष्क्रिय कहा है किंतु यहाँ जो कालको क्रियाका करने वाला

बताया है इसका अभिप्राय यह है कि कालद्रव्य जीव और पुद्गलकी हलनचलन रूप क्रियामें बाह्य कारण है, इसमें अंतरंग कारण जीव और पुद्गल स्वयं ही हैं और सहायक धर्म द्रव्य है, जैसे बच्चेको विद्या प्राप्तिमें बच्चेकी अपनी हा बुद्धि अंतरंगकारण, शिक्षक सहायक और पुस्तक आदि बाह्य कारण है। एक कार्यके अनेक कारण होते हैं।

आशंका—यहाँतक कालद्रव्यका किसी सूत्रमें वर्णन नहीं आया, फिर उसका अस्तित्व बतलानेसे पहले उसका उपकार-कार्य कैसे ?

समा-काल द्रव्यके अस्तित्वके लिए सूत्र ३९ आगे दिया है; यहाँपर चूंकि सब द्रव्यों के उपकारका कथन था इसलिए 'काल' का भी उपकार दे दिया है।

पुद्गल द्रव्यका लक्षण

स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः ॥२३॥

शब्दार्थ—वंतः = वाले।

अर्थ—पुद्गल (अणु, स्कंध) स्पर्श-ठंडा आदि जो छूनेसे जाना जाय, रस-खट्टा आदि जो जीभ से चखा जाय, गंध--सुगंध दुर्गंध जो नाकसे सूंघी जाय, और वर्ण-काला नीला आदि रंग जो आँखद्वारा देखा जाय, वाले होते हैं।

विशेष-समस्त पुद्गलोंमें स्पर्श आदि चारों गुण अवश्य ही होते हैं (देखो सू० ५ का विशेष)। शेष पाँच द्रव्योंमें से और—किसीमें यह गुण नहीं पाये जा सकते। इसीलिए यह स्पर्श आदि ही पुद्गल द्रव्यका निर्दोष लक्षण ठहरे।

पुद्गल की पर्यायें

शब्द बंध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छायातपोद्योतवंतश्च ॥२४॥

शब्दार्थ—शब्द-ध्वनि, आवाज; शब्द दो प्रकार १ भाषात्मक २ अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द दो प्रकार १ अक्षर-रूप जैसे संस्कृत हिंदी अंग्रेजी आदि, टेलीफोन ग्रामोफोन रेडिओके शब्द भी अक्षर रूप भाषात्मक ही हैं २ अनक्षर-रूप विकलत्रय, पंचेंद्रिय तिर्यंच और सर्वज्ञकी दिव्य ध्वनि। अभाषात्मक शब्द दो प्रकार १ वैस्रसिक-पुरुष प्रयत्नके बिना स्वभावसे उपजने वाला जैसे बादलकी गरज २ प्रायोगिक-चार प्रकार--तत, वितत, घन, सौषिर, चमड़े कपड़ेके तननेसे ढोल आदिका शब्द तत; तार-टेलीग्राम, ताँत, सितार आदिका शब्द वितत; ताल घण्टेकी चोटसे उत्पन्न शब्द घन; और बाँसुरी, शंख आदिके शब्द सौषिर शब्द कहलाते हैं।

दोहा—शब्द बंध सौक्ष्म्य तम, स्थौल्य और संस्थान।
छाया भेद उद्योत तप, पुद्गल के ही जान ॥१०॥

बंध—दो अथवा अधिक चीजोंका मिलना, एक-जैसी होजाना; बंध दो प्रकार १ वैस्रसिक पुरुष प्रयत्न बिना जैसे स्निग्धरूक्षपणके कारण पुद्गलोंका परस्पर बंध २ प्रायोगिक दो प्रकार १ अचेतन सम्बन्धी जैसे लाख काठ आदिका सम्बन्ध २ चेतन अचेतन सम्बन्धी जैसे कर्म-नोकर्मका जीवके साथ।

सौक्ष्म्य = सूक्ष्मता—छोटापन-दो प्रकार १ अन्त्य-परमाणुओंका सौक्ष्म्य २ आपेक्षिक जैसे चनेके दानेसे गेहूंके दानेका सौक्ष्म्य इत्यादि।

स्थौल्य = स्थूलता—बड़ापन दो प्रकार १ अन्त्य-महास्कंध २ आपेक्षिक गेहूंके दानेसे चनेके दानेका बड़ापन इत्यादि।

संस्थान = डौल, अवयव रचना विशेष, आकृति दो प्रकार १ इत्थं-कथन योग्य जैसे त्रिकोण, आयताकार, गोलाकार इत्यादि २ अनित्थं-न कथन योग्य छः प्रकार १ उत्कर लकड़ी आदिका बसोले आरे आदिसे उतरे हुए खंडका संस्थान २ चूर्ण-गेहूं आदिके आटे-चूनका संस्थान ३ खंड-घड़े आदिके टुकड़े रोड़े आदि का ४ चूर्णिका-उरद मूंग आदिकी दालका ५ प्रतर-अभ्रकके उपटनका ६ अणुचटन-चिनगारियोंके उचटनका संस्थान।

भेद = खंड, टुकड़े। तम = अंधेरा, अंधकार। छाया = उजालेको ढकने वाला पदार्थ। आतप = उष्ण प्रकाश जैसे धूप, अग्नि, दीपकका प्रकाश। उद्योत = ठंडा प्रकाश-उजेला जैसे चन्द्रमाकी चांदनी, पटबीजनेका प्रकाश। च = और-पारना, ताड़ना, धकेलना इत्यादि।

अर्थ—(पुद्गल-अणु, स्कंध) शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता संस्थान (डौल), भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत तथा ताड़न, आदि वाले हैं—यह सब पुद्गलकी ही पर्यायें हैं।

विशेष—'शब्द'को नैयायिक आदि गुण मानते हैं द्रव्य नहीं किंतु जैनदर्शन 'शब्द' को भाषावर्गणा—रूपी पुद्गल समूहोंसे बनी हुई पुद्गलकी ही पर्यायविशेष और ऐसा ही आज कलके टेलीफोन, रेकार्ड, रेडिओ आदि आविष्कारोंसे सिद्ध हो गया है।

इनमेंसे शब्द, बंध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान और भेद स्कंध-रूप पर्यायोंकी व्यक्ति-प्रकटपना तो पुद्गलद्रव्यके प्रदेशत्व गुणद्वारा और छाया, तमकी व्यक्ति-प्रकटता वर्ण नाम अर्थगुणद्वारा तथा आतप और उद्योतकी व्यक्ति स्पर्शवर्ण दो अर्थगुणद्वारा होती है।

पुद्गल के मुख्य भेद

अणवः स्कंधाश्च ॥२५॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यके अणु-परमाणु और स्कंध मुख्य दो भेद हैं।

दोहा—पुद्गल अणु स्कंधमय, अणु होवे भेदात।
स्कन्ध भेद संघात से, चाक्षुष भी हो भ्रात ॥११॥

इन (अणु, स्कंध) की उत्पत्तिके कारण

भेद संघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥२६॥

शब्दार्थ-भेद=टूटना, अलग होना। संघात=जुड़ना, मिलना। उत्पद्यन्ते=उत्पन्न होते हैं।

अर्थ-यह (अणु और स्कंध) भेदसे, संघातसे और भेद-संघात दोनोंसे ऐसे तीन प्रकार उत्पन्न होते हैं अर्थात् अणु केवल भेदसे, और स्कंध १ भेद २ संघात ३ भेद-संघात तीनों तरह से होते हैं।

विशेष-'उत्पत्ति विनाश' का अर्थ सब जगह केवल पर्याय पलटना-एक रूपसे दूसरे रूप होना है न कि किसी बिल्कुल 'नास्ति' का 'अस्ति' अथवा 'अस्ति' का 'नास्ति' रूप होना। Nothing is Created anew and nothing is wholly destroyed in this Universe इस लोकमें न तो कोई बिल्कुल नई वस्तु उत्पन्न होती और न किसी वस्तुका सर्वथा नाश ही होता। इस सूत्रमें 'उत्पत्ति'काअर्थ स्कंधसे अणु,अणुसे स्कंध और स्कंधसे स्कंधरूप होना है।

यहां 'भेदसंघातेभ्यः' बहुवचनका अभिप्राय १ भेद२संघातऔर३भेदसंघातसे है। स्कंध इन तीनों प्रकार बनते हैं-उदाहरण मानलो कोई ८ अणुका स्कंध है उसमेंसे २अणु अलग होनेसे ६ अणुका स्कंध-भेदसे, उसमें २अणु मिलनेसे १०अणुका स्कंध-संघातसे, और उसमेंसे ३ अणु अलग होने तथा ६ अणु उसमें मिलनेसे १४ अणुका स्कंध-भेद-संघात दोनोंसे होता है; किंतु अणु भेदसे ही बनता है (सूत्र २७)।

भेदादणुः ॥२७॥

शब्दार्थ-भेदात् =भेदसे, टूटनेसे, बिछुड़नेसे, अलग अलग होनेसे।

अर्थ-अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है।

विशेष-स्कंधमें से अणुओंके अलग अलग होते जाने पर ही पुद्गलका सबसे छोटा अंश अणु बन सकता है।

पुद्गल स्कंध अचाक्षुष से चाक्षुष कैसे ?

भेदसंघाताभ्याम् चाक्षुषः ॥२८॥

शब्दार्थ-चाक्षुषः =नेत्र गोचर, दिखाई देनेवाला।

अर्थ-स्कंध भेद और संघात इन दोसे दिखाई देनेवाला होता है।

विशेष-अनंतानंत अणुओंके समूहसे बने स्कंधोंमें भी कुछ नेत्र-गोचर-चाक्षुष है और कुछ-अचाक्षुष-नेत्रगोचर नहीं है। इस अचाक्षुष स्कंधके सूक्ष्म परिणमन रूप भेद-खंड होने पर तो यह अचाक्षुष ही रहता है फिर कोई दूसरा स्कंध अपनेमें भेद रूप होकर उस पहलेमें संघात

मेल रूप हो तब कहीं वह पहला अचाक्षुष स्कंध चाक्षुष होता है। इसीलिए कहा है कि अचाक्षुषसे चाक्षुष भेद और संघात दोसे होता है न कि केवल एक भेद भेदसे और न केवल एक संघात सघातसे (देखो सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, अर्थ-प्रकाशिका)।

नोट—नहीं दिखने वाला स्कंध तो उसमें किसी दूसरे स्कंधके मिलने पर ही दिखनेवाला होगा किंतु उसमें जो दूसरा स्कंध मिलेगा वह किसी बड़े स्कंधसे अलग हुआ हुआ अथवा उसी समय बड़े स्कंधसे अलग होकर मिलेगा तभी वह पहला न दिखने वाला—अचाक्षुष स्कंध चाक्षुष—दिखाई देने वाला होगा। यहां जो भेदसे चाक्षुष होना बताया है वह दूसरे बड़े स्कंधकी अपेक्षासे कहा है।

द्रव्य का लक्षण

सद्द्रव्य लक्षणम् ॥२६॥

अर्थ—द्रव्य का लक्षण सत्-अस्तित्व है।

विशेष—इस अध्यायमें वस्तुस्वरूपके बतानेवाले २६,३०,३२,३८, ४२ नं० के पाँच सूत्र है, उनमें भी यह २६वां सूत्र स्तंभरूप है क्योंकि किसीभी वस्तुका विचार करनेकेलिए सबसे पहले यह निश्चय होना चाहिए कि अमुक वस्तु 'है' अथवा 'नहीं है'। इस प्रकार 'अस्तित्व' गुण द्वारा द्रव्य की पहचान होती है। अतः यहाँ द्रव्यका लक्षण सत्-अस्तित्व कहा है।

प्रत्येक द्रव्य जो 'है' अपनी प्रयोजनभूत अर्थक्रिया करता है। अर्थक्रिया बिना द्रव्य व्यर्थ है; कोई द्रव्य भी व्यर्थ है नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्यमें अपनी प्रयोजनभूत अर्थक्रिया करनेका अथवा 'वस्तुत्व' नामका गुण है। जो अपनी क्रिया करती है वही 'वस्तु' कहलाती है। इस गुणके कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्योंकी अर्थक्रियामें सहायक-निमित्त कारण होता है, ऐसा संसारमें कोई भी द्रव्य नहीं जो दूसरे द्रव्योंकी अर्थक्रिया में अथवा परिणमनमें सहायक न हो। इसलिए वस्तुत्व गुण प्रत्येक पदार्थमें होना ही चाहिए।

द्रव्यमें 'द्रव्यत्व-द्रवन—समय समय बदलनेका' गुण है फिर भी उसका 'सत्' लक्षण यह सिद्ध करता है कि वह त्रिकाली है अर्थात् उसका कभी नाश नहीं होता, उसकी पर्यायें अवस्थाएं पलटती रहती है और वह भी किसी अन्य रूप नहीं अपितु उसी द्रव्यरूप।

कोई वस्तु उसके अस्तित्वसे ही जानी जाती है। इससे यह सिद्धांत निकला कि प्रत्येक द्रव्यमें 'प्रमेयत्व'—अपनेको जनानेका गुण Knowableness है। चाहे कोई द्रव्य चेतन हो

दोहा—'सत्' लक्षण है द्रव्य का, उत्पाद-ध्रौव्य-व्ययवान।
अविनाशी तद् भाव से, सो हो नित्य हि मान ॥१२॥

अथवा अचेतन सबमें प्रमेयत्व-अपनेको जनानेका गुण अवश्य ही होगा, हाँ चेतन जीव द्रव्यमें अपनेको जनाने के अतिरिक्त अपनेको तथा परको जाननेका भी गुण है।

द्रव्य 'सत्' है, इसका अभिप्राय यह है कि किसी द्रव्यका नाश 'नास्ति' रूप होकर अथवा दूसरे द्रव्य रूप पलटकर नहीं होता अर्थात् न तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमता, न एक गुण दूसरे गुण रूप होता और न किसी द्रव्यके अनेक या अनंत गुण बिखरकर, जुदे जुदे होते; द्रव्यकी ऐसी सत् रूप शक्तिका नाम उसका 'अगुरुलघुत्व' गुण है।

जिस पदार्थ अथवा वस्तुका अस्तित्व है उसका कुछ न कुछ आकार होना ही चाहिए, बिना आकारके कोई अस्तित्व बनता ही नहीं। द्रव्य-पदार्थ-वस्तुकी वह सत्रूप शक्ति जिसके निमित्तसे उसका कुछ न कुछ आकार होता ही है उसका 'प्रदेशत्व' गुण कहलाता है।

प्रत्येक द्रव्यमें सामान्य गुण हैं तो बहुत किंतु उनमें क्रमशः उपरोक्त १ अस्तित्व २ वस्तुत्व ३ द्रव्यत्व ४ प्रमेयत्व ५ अगुरुलघुत्व ६ प्रदेशत्व छः मुख्य हैं, इनमें भी सबसे मुख्य 'अस्तित्व' है क्योंकि इसीके द्वारा द्रव्यका होना अथवा उसके अन्य अन्य गुणोंका होना बनता है। इसीलिए सूत्रमें द्रव्यका लक्षण 'सत्' ही कहा है।

द्रव्यके 'सत्' लक्षणसे यह सिद्ध हुआ कि वह—द्रव्य स्वतः सिद्ध है, किसीकी अपेक्षा नहीं रखता अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है, अपने-पनसे है पर-पनसे नहीं है। सूत्रमें द्रव्य का स्वपनसे अस्तिपन प्रकट रूपसे दिखाया है और परपनसे नास्तिपन गुप्त रूपसे।

द्रव्योंके विशेष लक्षण जीवका अध्याय२ सूत्र १,८, पुद्गलकाअ०५ सू०२३, धर्मअधर्मका अ०५ सू० १७, आकाशका अ० ५ सू० १८, और कालका अ० ५ सू० २२में कह आए हैं।

सत् का लक्षण

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥

शब्दार्थ—उत्पाद=उत्पत्ति द्रव्यकी नई अवस्था होना। व्यय=विनाश, पहली अवस्थाका नाश। ध्रौव्य=नित्य, सदा बने रहना, 'यह वही है' जतानेका कारण। सोनेकी जंजीरके कड़े रूप होनेमें 'कड़े' अवस्थाकी उत्पत्ति, 'जंजीर' अवस्थाका व्यय दोनों अवस्थाओंमें 'सोना' रूप रहना ध्रौव्य है। युक्तं=सहित। सत्='सद्' धातुके तीन अर्थ हैं १ गतिअर्थमें=प्राप्ति होना-उत्पत्ति-उत्पाद, २ विशरणअर्थमें=नाश होना-व्यय, ३अवसादनअर्थमें-स्थिर रहना करना-ध्रौव्य।

अर्थ—जो एक साथ उत्पत्ति, विनाश और नित्यत्व सहित हो वही सत् (द्रव्य) है।

विशेष—वेदांत-सत् (ब्रह्म) को केवल ध्रौव्य-नित्य, बौद्ध-सत् (द्रव्य) को क्षणिक-उत्पाद व्ययसहित-अनित्य, सांख्य-चेतनको केवल नित्य, प्रकृतिको नित्यानित्य, वैशेषिक-कुछको नित्य और कुछको अनित्य मानते हैं। जैन-सर्वज्ञ दर्शनमें सभी सत्-पदार्थ चाहे जड़ हों या

चेतन, मूर्त हों या अमूर्त सब उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित कहे हैं, उदाहरण—अंगुली सीधी दशा में है, इसको जिस समय भी टेढी करना आरम्भ करेंगे उसी समयसे इसकी सीधी दशाका विनाश तथा टेढी दशाकी उत्पत्ति आरम्भ हो जायगी और साथ साथ अंगुली अंगुली ही बनी रहेगी। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थमें तीनों बातें अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक ही समयमें होते रहते हैं।

पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उपजते विनशते हैं क्योंकि द्रव्यमें प्रति समय नवीन नवीन पर्यायें उत्पन्न होती और पूर्व पूर्व पर्यायोंका नाश होता है, किंतु द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा वे (पदार्थ) सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं—स्थिति स्वभाव है।

उत्पाद और व्यय दो दो तरहका है १ स्वनिमित्तक २ परनिमित्तक।

प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अगुरुलघु गुणके अनंत अविभागी प्रतिच्छेद हैं जो षट् गुण हानिवृद्धि रूपसे उसमें निरंतर विद्यमान रहते हैं, इन्हींके आधारसे प्रत्येक द्रव्यमें निरंतर उत्पाद व्यय हुआ करता है यही स्वनिमित्तक उत्पाद व्यय है।

सुनारने कड़ेसे कुण्डल बनाया, यहाँ पर-निमित्तक उत्पाद व्यय है।

यह दोनों प्रकारका उत्पाद व्यय क्रिय—जीव, पुद्गल और निष्क्रिय-धर्म, अधर्म, आकाश, काल सभी द्रव्योंमें हुआ करता है (धवला १ पृ. १३, १४)।

'सद्' धातुके ऊपर (शब्दार्थमें) दिये गए तीनों अर्थ ही सूत्र ३० की वास्तविकता को भली प्रकार पूर्णरूपेण दिखलाते हैं। वास्तवमें किसी वस्तुका अस्तित्व—सत् हो ही नहीं सकता यदि उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों एक साथ नहीं हैं।

प्रतिसमय उत्पाद-व्यय ध्रुवतारूप अपना स्वभाव है, उस स्वभावका ही प्रत्येक द्रव्य स्पर्श करता है अर्थात् अपने स्वभावरूप ही वर्तता है; पर-द्रव्यके कारण किसीके उत्पाद-व्यय-ध्रुव नहीं है। परद्रव्यभी अपने ही उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभावमें अनादि अनन्त वर्तते हैं और आत्मा भी अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभावमें ही अनादि अनन्त वर्तता है। इसलिए ऐसा समझने वाले ज्ञानीको अपने आत्माके उत्पाद-व्यय ध्रुवताके अतिरिक्त बाह्यमें अपना किंचित भी कार्य नहीं दिखता। अतः उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वरूप जो अपना आत्मा उसके आश्रयसे निर्मलताका उत्पाद, मलिनताका व्यय होता जाता है और चैतन्यरूप ध्रुवताका अवलंबन बना रहता है, इसीका नाम धर्म है।

नित्य—ध्रौव्य का लक्षण

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

शब्दार्थ—तद्भाव=वही भाव (जो पहले समयमें था वही दूसरेमें हो) तद्भाव ही स्मृति

प्रत्यभिज्ञान 'यह वही है' जतानेका कारण है इसीको मूलजाति अथवा द्रव्य भी कहते हैं। अव्ययं=अविनाशी, नाशरहित। नित्यम्=सदा रहनेवाला, प्रत्यभिज्ञानकी कारणभूत पर्याय।

अर्थ—जो तद्भाव (द्रव्यपन) से अविनाशी है वही नित्य-ध्रौव्य है।

विशेष—प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर नवीन पर्यायको धारण करता है। यह उसका स्वभाव है कि वह प्रतिसमय परिणमन करता रहे। इस तरह सब पदार्थ पूर्वपर्यायका विनाश उत्तरपर्यायका उत्पाद तथा ध्रौव्य इन तीन लक्षणों सहित होते हैं। ध्रौव्यका तात्पर्य इतना ही है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी निश्चित धारामें ही परिणमता है वह किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यकी पर्याय रूपसे परिणमन नहीं करताः जैसे एक जीव अपनी ही उत्तरोत्तर पर्यायरूप प्रतिसमय परिणमेगा, वह न तो अजीव रूपसे परिणमन करेगा और न अन्य जीव रूप ही। इस असांकर्यको रखने वाला द्रव्यका ध्रौव्यत्व ही होता है। जब कोई पदार्थ परिणमन करता है तो उसमें उत्तर—आगेकी पर्याय होने पर उसकी प्रथम पर्यायका कोई भी अंश अपरिवर्तित नहीं रहता वह कुलकाकुल बदलकर दूसरी पर्याय के रूपमें आ जाता है। तब यह प्रश्न हो सकता है कि ध्रौव्य अंश क्या रहा? उत्तर ऊपर आ चुका है कि उस पदार्थका अपनी ही धाराके अगले क्षणरूप होनेमें जो प्रयोजक स्वभाव है वही ध्रौव्य है, इसीके कारण वह किसी सजातीय या विजातीय दूसरे द्रव्यरूपमें परिणमन नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य त्रिलक्षण वाली है (जय धवला भाग१ प्रस्तावना पृ० १०६)।

पदार्थमें 'नित्यता-ध्रौव्यता' उसके सामान्य स्वरूप अर्थात् द्रव्यत्व या मूलजातिकी अपेक्षा होती है। विशेष अर्थात् पर्यायकी अपेक्षा तो सभी द्रव्य (पदार्थ) अनित्य हैं। अतः संसारके सब पदार्थ नित्यानित्य रूप हैं।

स्याद्वाद-अनेकांतवाद का समर्थन

अर्पितानर्पित सिद्धेः ॥३२॥

शब्दार्थ-अर्पित=अपेक्षित, मुख्य। अनर्पित=अनपेक्षित, गौण।

अर्थ—मुख्य और गौण इन दो नयोंसे ही वस्तुकी यथार्थ सिद्धि होती है।

विशेष—जैनागममें यह सूत्र 'अनेकांतवाद' अथवा स्याद्वादका मूलसूत्र है। वस्तुमें अनेक अंत-धर्म-स्वभाव होते हैं। कहनेवाला उन अनेक धर्मोंमेंसे प्रयोजन वश जिस धर्मको मुख्य-प्रधान करके कहे वह 'अर्पित' है और प्रयोजनीय न होनेसे जिस धर्मको न कहे—जिसको गौण करदे अथवा कहना छोड़दे उसे 'अनर्पित' कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि कहने वालेने जो धर्म नहीं कहा वह वस्तुमें है ही नहीं, वह है तो अवश्य किंतु कहने वालेने उस

समय उसे गौण कर दिया है अथवा कहना छोड़ दिया है क्योंकि वचन द्वारा एक समयमें वस्तुका एकही धर्म कहा जा सकता है सब नहीं, जैसे देवदत्त नामक मनुष्यका पिता पुत्र भाई भानजा पति आदि संबंध, बेटेकी अपेक्षा देवदत्त पिता, अपने बापकी अपेक्षा पुत्र इत्यादि है, जब देवदत्तको पिता कहा जाता है उसी समय वह पुत्र भाई आदि भी है।

इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ द्रव्य अपेक्षा (दृष्टिसे) कहनेपर नित्य-ध्रौव्य और पर्याय अपेक्षा से कहनेपर अनित्य—उत्पाद-व्यय सहित है। इन दोनों दृष्टियों—अपेक्षाओंको पूर्णरूपेण न समझने पर ही वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता और वाद विवाद उठ खड़ा होता है। वस्तुकी यथार्थ सिद्धि तो इन दोनों दृष्टियोंसे ही हो सकती है।

स्याद्वाद—अनेकांतवाद (सप्तभंगी)

कोई (अद्वैतवादी) जीव पदार्थको केवल 'अस्ति' स्वरूप, कोई (चार्वाक) उसे 'नास्ति' स्वरूप, कोई (वेदांती-अद्वैतवादी) 'एक'—ब्रह्मरूप, कोई (नैयायिक) 'अनेक' रूप, कोई (सांख्य) 'नित्य', कोई (बौद्ध) 'अनित्य-क्षणिक' ही कहते हैं। यह सब परस्पर विरुद्ध हैं। जो सब नयों-अपेक्षाओं को साधता है वह 'स्याद्वाद' है। स्याद्वादी—अनेकांतवादी सब नयों अपेक्षाओं को अविरुद्ध साधता है।

वस्तुको—गुणपर्यायोंके समूहको (घटमें स्पर्श रस गंध वर्ण गुण सहित पुद्गलकी घटरूप पर्यायको) 'द्रव्य' कहते है। वस्तुकी सत्ताभूमि [जिन आकाश प्रदेशोंमें घट है] उसका 'क्षेत्र' है। वस्तुके परिणमन [घटके गुणपर्यायोंके परिवर्तन] को उसका 'काल' कहते है। वस्तुका मूल स्वभाव [घटकी जल आदि धारण शक्ति-स्वभाव] उसका 'भाव' है।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव यह चारों वस्तुही में होते है। इसलिए अपने चतुष्क अर्थात् १ स्वद्रव्य २ स्वक्षेत्र ३ स्वकाल और ४ स्वभावकी अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु अस्ति रूप—भावात्मक है और पर चतुष्ककी अपेक्षा प्रत्येक वस्तु नास्ति रूप-अभावात्मक है। इस प्रकार कोई पदार्थ न केवल अस्तिरूप न केवल नास्तिरूप अपितु अस्तिनास्तिरूप एक साथ है।

यदि ऐसा न माना जायगा तो अलग अलग पदार्थोंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती, जैसे घट घट ही है घट पट नहीं है यह व्यवस्था तबही बन सकती है जब घटका घटके स्व-चतुष्टयकी अपेक्षा 'सद्भाव' और पट आदि परके चतुष्टयकी अपेक्षा 'अभाव' स्वीकार किया जाय। यदि घटको उसके स्वचतुष्टयके समान पर-चतुष्टयसे भी होना मान लिया तो घट केवल घट न रहकर उस घटके पट आदि रूप होनेका भी प्रसंग आयेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि घट आदि सब पदार्थ अस्ति रूप भी है और नास्ति रूप भी।

किंतु जो भाव—एकांतवादी वस्तुको केवल अस्तिरूप—भावात्मक ही मानते है वे पदार्थोंमें विद्यमान—होते हुए नास्ति—अभाव धर्मका लोप करते हैं इससे उनकी मान्यतामें

चार (अभाव चार प्रकारका होनेसे) महान् दूषण आते है।

१ कार्यकी पूर्व पर्यायको उस–कार्यका प्राक्+अभाव (प्रागभाव) कहते हैं। यदि कार्य [घट] की पूर्व पर्याय [मिट्टी] में भी घट रूप कार्य घटके उत्पन्न होनेसे पहले ही उसमें जलधारण आदि कार्य होने ही चाहिए किंतु ऐसा होता नहीं। अतः कार्यरूप वस्तु अनादि न होकर सादि है। ऐसा न मानने पर प्रत्येक कार्य रूप वस्तु अनादि हो जावेगी।

२ कार्यरूप वस्तु की उत्तर पर्यायको उसका प्रध्वंस+अभाव [प्रध्वंसाभाव] कहते है। यदि कार्यकी उत्तर–अगली पर्यायमें भी घट आदि रूपकार्य माना जाता है तो घटके विनाश होनेपर भी उससे जल धारण आदि कार्य होने ही चाहिए किंतु ऐसा होता नहीं है। अतः कार्यरूप वस्तु अनंत न होकर सांत-अंत सहित है। ऐसा न माननेपर प्रत्येक कार्यरूप वस्तु अनंत [अंत रहित] हो जावेगी, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

३ एक द्रव्यकी एक पर्यायका उसी द्रव्यकी दूसरी पर्यायमें जो अभाव है उसे अन्योन्याभाव कहते हैं, इसके नहीं माननेपर एक द्रव्यकी विभिन्न पर्यायोंमें कोई भेद नहीं रहता, सब पर्यायें सब रूप हो जाती हैं।

४ एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके अभावको अत्यंताभाव कहते है। इसके नहीं मानने पर सभी द्वारा माने गए मूलतत्वोंमें कोई भेद नहीं बनता, एक तत्व दूसरे तत्वरूप हो जाता है। ऐसी दशामें जीवद्रव्य चेतन है और पुद्गलद्रव्य अचेतन ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अतः अभावोंका लोप करके भावैकांत मानना ठीक नहीं है।

अभावैकांतके मानने वाले बौद्ध आदिक जगतमें शून्यको छोड़कर सत्‌रूप कोई पदार्थ नहीं मानते। इससे उनका माना हुआ 'प्रमाण' भी अभावरूप ही ठहरता है, अतः वे अपने अभावैकांतका साधन, अथवा स्वयंका अस्तित्व, अपने पक्षका साधन, और पर-पक्षका खंडन कैसे और किसके द्वारा कर सकते है। इसलिए भावका सर्वथा लोप करके केवल अभावका मानना भी ठीक नहीं है।

इसलिए पदार्थ न तो सर्वथा भाव-अस्तिरूप ही है और न सर्वथा अभाव-नास्ति रूप ही, किंतु एक साथ अस्तिनास्तिरूप है। इस 'अस्तिनास्ति' स्वरूपसे ही वस्तुको कहनेके सात भंग-प्रकार निम्न भाँतिसे बनते हैं। इन सबका समूहरूप ही सप्तभंगी स्याद्वाद है।

१ प्रत्येक वस्तु कथंचित्–स्यात् सत्-अस्ति रूप है, अतः पदार्थका यह 'स्यात्-अस्ति' वाद-कथन है,

२ वस्तु कथंचित्-स्यात् असत्-नास्ति रूप है, अतः पदार्थका यह 'स्यात्-नास्ति' वाद कथन है,

३ वस्तुके अस्ति और नास्ति इन दोनों स्वभावोंको जब क्रमसे कहना होता है तो वस्तु अस्ति नास्ति धर्ममय है ऐसा बोला जाता है अतः पदार्थका यह 'स्यात-अस्ति नास्ति' वाद-कथन है,

४ वस्तुमें अस्ति नास्ति यह दोनों स्वभाव हैं तो अवश्य फिर भी दोनोंको एकसाथ कहनेके लिए कोई केवल एक शब्द नहीं है, इसलिए उनका एकसाथ बोलना अशक्य है। इस अपेक्षासे वस्तु अवक्तव्य है। अतः पदार्थका यह 'स्यात् अवक्तव्य' वाद-कथन है,

५ जिस समय वस्तुका वर्णन अस्तिसे करते हैं उसी समय उसके नास्ति आदि गुण नहीं कहे जा सकते, इसलिए वस्तु अस्ति अवक्तव्य है। अतः पदार्थका यह 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य' वाद-कथन है,

६ जिस समय वस्तुका वर्णन नास्तिसे करते हैं उसी समय उसके अस्ति आदि गुण नहीं कहे जा सकते, इसलिए वस्तु नास्ति अवक्तव्य है। अतः पदार्थका यह 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य' वाद-कथन है, और

७ स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति यह दोनों भंग क्रमसे कहे जा सकते हैं, युगपत् नहीं, इसलिए वस्तु अस्ति नास्ति अवक्तव्य है। अतः पदार्थका यह 'स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' वाद-कथन है।

सारांश यह हुआ कि केवल वही धर्म—सर्वज्ञ कथित जैन धर्म जो अनन्त धर्मवाली वस्तुको कथंचित्-वचन' (स्याद्वाद) से कहता है सत्य है क्योंकि एकवचनसे वस्तुका एकधर्म ही कहा जा सकता है। अन्यवादी वस्तुके एकधर्मको लेकर वस्तुका स्वरूप 'यही' है ऐसा 'सर्वथा-वचन' से कहते हैं अतः झूठे हैं क्योंकि वे सर्वथा वचनसे वस्तुके शेष धर्मोंका अभाव कर देते हैं।

स्यद्वाद का महत्व जैनेतर विद्वानों द्वारा

स्याद्वादके बिना कोई वैज्ञानिक तथा दार्शनिक खोज सफल नहीं हो सकती; यह तो जैनधर्मकी महत्वपूर्ण घोषणाका फल है (गंगाप्रसाद मेहता)।

स्याद्वादसे सर्व सत्यका द्वार खुल जाता है (हरमन जेकोबी, जरमनी)।

न्यायशास्त्रोंमें जैनधर्मका स्थान बहुत ऊंचा है, स्याद्वाद बड़ा ही गम्भीर है।
(डा० टोम्स, लंडन)

स्याद्वाद जैनधर्मका अभेद्य किला है जिसके अन्दर वादी प्रतिवादीके मायामयी गोले प्रवेश नहीं कर सकते (आचार्य स्वामी राममिश्र)।

स्याद्वाद विरोधियोंमें प्रेम उत्पन्न करनेका कारण है (सत्यमोहन मुखोपाध्याय)।

स्याद्वाद भिन्न-भिन्न धर्मोंके भेदभावोंको नष्ट करता है (मिस मेकडोनल, जरमनी)।

पुद्गलोंके मिलकर एक होनेमें अंतरंग कारण

स्निग्धरूक्षत्वाद बंधः ॥३३॥

शब्दार्थ—स्निग्ध=चिकनाई। रूक्ष=रूखापन। बंधः=मिलकर एक जैसा होना।

अर्थ—पुद्गलोंका मिलकर एकरूप होना अर्थात् अणुओंसे स्कंध अथवा स्कंधसे स्कंध रूप होना उनमें उनकी चिकनाई और रूखेपनके कारण होता है।

विशेष—स्कंधोंके बननेमें सूत्र २६ में संघात-मिलना आदि कारण कहे हैं, वे केवल क्रिया रूप भावात्मक बाह्य कारण हैं। एक होनेमें उन्हींके अंतरंग२० गुणोंमेंसे केवल उनकी चिकनाई तथा रूखापन कारण हैं, इन दोके बिना उनका संघात आदिसे एक होजाना असंभव है।

चिकने और रूखे अणुओंका संयोग दो प्रकारका होता है १ सदृश २ विसदृश। चिकने का चिकनेके साथ अथवा रूखेका रूखेके साथ संयोग सदृश संयोग है, तथा चिकनेका रूखेके साथ अथवा रूखेका चिकनेके साथ संयोग विसदृश संयोग है।

कार्य—अणुओं (परमाणुओं) में इन दो स्निग्ध रूक्षत्व गुण रहनेके कारण ही उनमें अगुरुलघुत्वके कारण षटगुण हानिवृद्धि होते रहनेसे वे फिर कारण-अणु बनते रहते हैं।

आत्मामें कर्मोंका बंध भी स्निग्धता-राग और रूक्षता-द्वेषके कारण ही होता है। यदि आत्मामें राग द्वेष रूप स्निग्धता रूक्षता न हो तो कर्मबंध नहीं हो सकता। यही कारण है कि मुक्त अथवा कार्य आत्मामें रागद्वेषका अस्तित्व ही न रहने से वह फिर संसारी अथवा कारण आत्मा-समय नहीं हो सकता।

उपरोक्त बंध कारणमें अपवाद—छूट

न जघन्य गुणानाम् ॥३४॥

शब्दार्थ—गुण =चिकनाई अथवा रूखेपनको शक्तिके दरजे-शक्तिकी तारतम्यता-शक्ति की न्यूनाधिकता-डिग्री-शक्तिके अविभागी प्रतिच्छेद।

अर्थ—जघन्य गुण सहित अणुओंका बंध नहीं होता अर्थात् जघन्यगुणके अणु मिलकर स्कंधरूप नहीं होते।

विशेष—जिस अणुमें चिकनाई या रूखेपनका एक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है वह

दोहा—नय अर्पित अरु अनर्पित, करें वस्तु को सिद्ध।
दो आदिक परमाणु का, बंध रूक्ष स्निग्ध ॥१३॥
जघन गुणी अरु समगुणी, अणुओं का नहिं बंध॥
बंध दो अधिक गुणीनका, बहु गुण रूप स्कंध ॥१४॥

जघन्य गुण वाला अणु है । अणुमें जो पाँच स्पर्श आदि गुण होते हैं उन पाँचोंका जब जिस अणुमें एक एक अविभाग प्रतिच्छेद रह जाता है तब वह अणु कार्यअणु अथवा परमाणु कहाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब अणु कार्यअणु बन जाता है अर्थात् उसमें पाँचों गुणोंका एकएक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है तो उसमें फिर अधिक अविभागी प्रतिच्छेद कैसे हो जाते हैं जिससे वह फिर कारण अणु बन जाता है ? उत्तर—प्रत्येक पदार्थ-द्रव्यमें अगुरुलघु गुण है जिससे उसमें अर्थात् उसके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें प्रतिसमय षट्गुण हानि वृद्धि होती रहती है । बस यह षट्गुण हानिवृद्धि ही कार्यअणुसे कारणअणु बननेमें हेतु है । फिर प्रश्न होता है कि अगुरुलघुगुण तो सभी द्रव्योंमें है और जीव-समय-आत्मामें भी है तो कार्य समयसार अर्थात् मुक्त आत्मा क्यों नहीं कारणसमय अर्थात् संसारी जीव होता ? उत्तर—अगुरुलघुके कारण षट्गुण हानिवृद्धि सिद्ध आत्मा-कार्यसमयसारमें उसके दर्शनज्ञान आदि सब अनंत गुणोंमें होती है, उसमें रागद्वेष रूप स्निग्ध रूक्षता है नहीं जिसमें हानिवृद्धि होकर वह फिर कर्मोंसे बद्ध हो संसारी बन सके । अतः वह फिर संसारी हो ही नहीं सकता ।

(न) गुण साम्ये सदृशानाम् (विसदृशानाम्) ॥ ३५॥

शब्दार्थ—गुण साम्ये=गुणकी समानतामें । सदृशानां=समान जाति वाले अणुओंका

अर्थ—समानजाति वाले सदृश (स्निग्ध-स्निग्ध, रूक्षरूक्ष) अणुओं तथा असमान जाति-विसदृश (स्निग्धरूक्ष) अणुओंका गुणकी समानता होनेपर परस्पर बंध नहीं होता ।

विशेष-इस सूत्रमें 'विसदृश' शब्दकी सू० ३३ से और 'न' शब्दकी सू० ३४ से अनुवृत्ति लीगई है। अतः दो गुण अर्थात् दो अविभागी प्रतिच्छेदवाले स्निग्ध अणुका दूसरे दो गुण वाले स्निग्ध [समान] अथवा रूक्ष [असमान] अणुके साथ बंध नहीं होगा और न दो गुणवाले रूक्ष अणुका दूसरे दो गुणवाले रूक्ष [समान] अथवा स्निग्ध [असमान] अणुके साथ ही ।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि गुणोंकी विषमतामें समान जातिवाले अथवा भिन्न जाति वाले पुद्गलोंका बंध हो जाता है ।

उस गुण विषमता का नियम

द्व्यधिकादिगुणानांतु ॥३६॥

शब्दार्थ—द्व्यधिकादि गुणानां=द्वि+अधिक+आदि-दो अधिक आदि गुणोंका अर्थात् जिन अणुओंके दो आदि अधिक गुण हैं उनका, यहां 'गुण' शब्द गुणी-अविभागी प्रतिच्छेदवाले अणुओंका वाचक है । तु=तो, किंतु ।

अर्थ—किंतु दो अधिक आदि गुणवाले अणुओं (सदृश विसदृश दोनों) का ही बंध होता

है अर्थात् बंध तभी होगा जब एक अणुमें दूसरे अणुसे दो अधिक गुण होंगे।

विशेष—सूत्र ३४ 'न जघन्य गुणानां' से एक १ गुणवाले अणुओंका तो न एक गुण वाले और न अनेक गुणवाले दूसरे अणुके साथ बंध हो सकता है परन्तु वह जघन्य एक गुणवाला भी अगुरुलघुत्व गुणके कारण षट्गुण हानिवृद्धि से अनेक गुणवाला होकर बंध योग्य हो जाता है। दो गुण वाले अणुका चार गुणवालेके साथ और तीन गुणवालेका पाँच गुणवालेके साथ ही बंध होगा, इसी प्रकार आगे भी अर्थात् ४ गुणवालेका ६ वालेके साथ, ५ गुणवालेका ७ वाले के साथ इत्यादि इत्यादि बंध होगा।

यह बंध सदृश और विसदृश दोनों रूप होते है।

बंध परिणमनका रूप

बंधेऽधिकौ परिणामिकौ च ॥३७॥

शब्दार्थ—बंधे=बंधमें, एक रूप होनेकी अवस्थामें। अधिकौ=अधिक गुणवाले कम गुण वालोंको अपने रूपमें। परिणामिकौ=परिणमानेवाले-करनेवाले।

अर्थ—और बंध हुई अवस्थामें अधिक गुणवाले अणु कम गुणवाले अणुओंको अपने रूप कर लेते हैं। अर्थात् अल्पगुण (अविभागी प्रतिच्छेद) के धारक अणु अथवा स्कंध अधिक गुणवालोंका निमित्त पाकर अधिक गुणरूप हो जाते हैं।

विशेष—जैसे एक अणुमें दो गुण स्निग्धताके और दूसरे अणुमें चार गुण रूक्षपनके हों तो दोनोंके बंध-एकरूप होने पर अधिक गुणरूप जो रूक्ष अणु है उस रूप (रूक्षस्वरूप) कम गुणवाला स्निग्ध अणु हो जाता है। इस परिणमन-पलटनेकी अवस्थामें प्रथम और दूसरी अवस्थाओंका अभाव होकर एक तीसरी भिन्न ही अवस्था हो जाती है, जैसे बहुत मीठे रसवाले गीले गुड़में कुछ रेत मिट्टी पड़नेपर। इस रीतिसे बंध होने पर अर्थात् अल्प अधिकके एकमेक रूप होते हुए बंध होने पर तीसरी अवस्था बननेसे ज्ञानावरणादिक कर्मों की ३० कोड़ाकोड़ी आदि सागरकी स्थिति उत्पन्न होती है (सर्वार्थसिद्धि)।

द्रव्यका लक्षण (दूसरे शब्दोंमें)

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥३८॥

शब्दार्थ—गुण=द्रव्य अनेक रूप पलटते रहने पर भी जो द्रव्यसे कभी अलग न हो सदा उसके साथ बना रहे उसे द्रव्यका 'गुण' कहते हैं, जैसे जीवके-ज्ञान दर्शन आदि और पुद्गल के गुण रूप रस आदि। पर्याय-द्रव्यको क्रमसे एकके बाद दूसरी होने वाली रूप पलटन-अवस्था-विकारको द्रव्यकी 'पर्याय' कहते हैं, जैसे जीवकी पर्याय नर तिर्यंच आदि और पुद्गलकी पर्याय लकड़ी कोयला शरीर कर्म शब्द आदि। वद्=वत्=वाला।

अर्थ—द्रव्य गुण और पर्याय वाला है अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय सदा काल साथ साथ पाई जावें वह द्रव्य है ।

विशेष—द्रव्यका स्वभाव है द्रवना-परिणमना-पलटना । अपने इस द्रवण-परिणामी स्वभावके कारण द्रव्य समय समयमें निमित्तानुसार अलग अलग भिन्न भिन्न रूप-अवस्थाएँ धारण करता रहता है । द्रव्यमें अलग अलग रूप धारण करनेकी शक्ति ही उसका 'गुण' और उससे उत्पन्न हुआ रूप-परिणाम उसकी 'पर्याय' है । गुण कारण और पर्याय कार्य है ।

एक द्रव्यमें शक्तिरूप अनंतगुण हैं जो उस द्रव्यसे अथवा परस्पर अविभाज्य—एकमेक हैं अर्थात् अलग नहीं हो सकते । प्रत्येक गुण-शक्तिकी भिन्न भिन्न समयोंमें होनेवाली पर्यायें भी अनंत हैं । कोई भी पदार्थ पर्याय शून्य अथवा गुण-शून्य नहीं मिल सकता ।

द्रव्यकी अनेक पर्यायें-अवस्थाएँ पलटते हुए भी गुण कभी द्रव्यसे अलग नहीं होते, नित्य साथ रहते हैं अथवा अविनाभावी हैं; इसी कारण गुणोंको 'अन्वयी' कहते हैं और पर्यायों को जो क्रमवर्ती हैं अर्थात् प्रतिसमय नई नई होती रहती हैं 'व्यतिरेकी' कहते हैं । पर्याय द्रव्यके स्वभावमें प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही ऊपर रहती है ।

द्रव्यके तीन लक्षण १ 'सत्' सूत्र २६ में २ 'उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं' सू० ३० में और ३ 'गुण पर्ययवत्' इसी सू० ३८ में बतलाए हैं । वास्तवमें तो द्रव्यका एक 'सत्-अस्तित्व' ही लक्षण है । आचार्य महोदयने सू० ३० में 'सत्' की ही व्याख्या की है कि 'सत्' वह है जो हमेशा बना भी रहे और उसमें उत्पाद-व्यय-पटलन भी होता रहे । इस सूत्रमें ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्ययको समझाया है कि द्रव्यका गुण तो ध्रौव्य-नित्य है और द्रव्यकी पर्याय उत्पाद व्यय-उत्पन्न और नाश होती रहती है ।

'जगतका प्रत्येक सत् अर्थात् प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके अतिरिक्त अथवा गुण पर्याय समूहके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । सत् कहो, द्रव्य कहो, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहो या गुणपर्याय पिण्ड कहो,—यह सब एक ही है । यह, त्रिकालज्ञ जिनेंद्र भगवानके द्वारा साक्षात-दृष्ट वस्तुस्वरूपका, मूलभूत सिद्धांत है ।

इस सबके बतानेका तात्पर्य यही है कि आत्मा तथा पर द्रव्योंके गुणपर्यायको जानकर स्व-आत्म द्रव्यमें ही रमण करनेका अभ्यास करो ।

काल द्रव्य

कालश्च ॥३६॥

अर्थ—'काल' भी है ।'काल' का भी अस्तित्व-सत् है अर्थात् काल भी द्रव्य है ।

दोहा—गुणपर्ययवत द्रव्य है, और काल भी द्रव्य ।
समय अनंत हि काल में, जान यही है भव्य ॥१५॥

विशेष—कालका 'सत्' है। 'सत्' के अर्थ ही जैसा सू० ३० के शब्दार्थमें दिखाया है 'उत्पादव्यय ध्रौव्य' के हैं। ध्रौव्य-गुण और उत्पादव्यय-पर्यायवाला द्रव्य है सूत्र ३८। अतः काल भी द्रव्य ही है।

काल द्रव्य लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें एक एक अमूर्त-रूप रस गंध स्पर्श रहित, अचेतन, अणुरूप भिन्न भिन्न रत्नराशिइव स्थित है-रहता है। यह अणुरूप काल द्रव्य अणुकी बराबर अवगाहना-मापवाला है। कालके अणु लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर असंख्यात हैं। रत्नोंकी राशिमें जैसे एकएक रत्न भिन्न भिन्न रहता है वैसे ही कालाणु लोकाकाशमें पूर्णतया भरे हुए भी अलग अलग ही रहते हैं। यह निष्क्रिय और अमूर्तीक है। बस यही निश्चय काल अथवा कालद्रव्य है।

आशंका—कालद्रव्य कालाणु रूप असंख्यात ही क्यों हैं? उसे वैशेषिक आदि दर्शनोंकी तरह आकाशके समान सर्वव्यापी, एक, अखण्ड क्यों नहीं कहते?

समा—भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें भिन्न भिन्न परिणमन और ऋतुओंका परिवर्तन यह सिद्ध करता है कि काल सब जगह एक नहीं है-भिन्न भिन्न ही है। अतः कालद्रव्य आकाश की तरह सर्वव्यापी, अखण्ड, एक न होकर खण्ड-अनेक द्रव्य रूप है।

आशंका—जब कालाणु लोकाकाशके सर्व प्रदेशोंमें हैं अर्थात् लोकाकाशका कोई प्रदेश भी कालाणु रहित नहीं है तो वे सब मिलकर एक एकमेक क्यों नहीं होते?

समा—प्रथप बात तो यह है कि जो जिस स्वभाव रूप है वह उसी रूप है; स्वभावमें तर्क नहीं होता, फिर भी उनके मिलकर एक न होनेका कारण मिलने-एक होनेका कारण 'स्निग्ध-रुक्षत्व' उनमें नहीं है जिससे वे एकमेक हो सकें; फिर उनकी स्थिति अविचल रूप है, अविचलमें मिलना-हलन रूप क्रिया हो ही नहीं सकती।

आशंका—इससे तो यही सिद्ध हुआ कि कालद्रव्य एक नहीं है-अनेक-बहुसंख्यक है, यह असंख्यात हैं इस बातकी पुष्टि इससे नहीं हुई।

समा—लोकाकाशके प्रदेश असंख्यात हैं और इन्हीं प्रदेशों पर समस्त द्रव्योंकी स्थिति है, अतः इन सबको परिणमन करानेवाला कालद्रव्य भी लोकाकाश प्रमाण है। लोकाकाश के एकाएक प्रदेश पर अवस्थित कालाणु असंख्यात मात्र हैं, न इनसे कम है और न अधिक। यदि कम माने जावेंगे तो जितने लोकाकाश प्रदेशों पर कालाणु होंगे उतने ही प्रदेशोंमें स्थित जीवादि द्रव्योंके परिणमनमें वे कालाणु कारण हो सकेंगे, शेष लोकाकाश प्रदेशों पर कालाणुओंके न होनेसे वहाँपर स्थित जीवादि द्रव्योंके परिणमनमें वे कारण नहीं हो सकेंगे। ऐसी दशामें परिणमनके बिना वहाँ उन जीवादि द्रव्योंका अस्तित्व भी सिद्ध नहीं होसकेगा। अतः कालाणु किसी दशामें भी असंख्यातसे कम नहीं हैं।

अधिक इसलिए नहीं है कि असंख्यात प्रदेश मात्र-लोकाकाशमें ही अनंत जीवों, अनंत पुद्गलों तथा असंख्यात प्रदेशी धर्म अधर्म द्रव्योंकी स्थिति है और असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों पर अवस्थित कालाणु ही उन सब द्रव्योंको परिणमन करानेमें समर्थ है, इसलिए अधिककी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः कालाणुरूप कालद्रव्य न संख्यात है और न अनंत किंतु असंख्यात ही है।

आशंका—यदि कालद्रव्य लोकाकाश प्रमाण ही है अनंत नहीं है तो अनंत लोकाकाशमें उसके न होनेसे वहाँ परिणमन नहीं हो सकेगा और ऐसी दशामें-परिणमन बिना-अलोकाकाशके अभावका प्रसंग-दूषण आवेगा !

समा—नहीं, यह बात नहीं है। आकाशद्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है और अखण्डद्रव्यका यह स्वभाव होता है कि उसके एक प्रदेशमें परिणमन होनेपर सर्वत्र परिणमन हो जाया करता है, जैसे किसी तारके एक भागमें कंपन होने पर उसके सब भागोंमें कपन हो जाता है वैसे ही लोकाकाशके किसी एक प्रदेश पर स्थित कालाणुके द्वारा लोकाकाशके उस प्रदेश में परिणमन होनेपर समस्त आकाशके प्रदेशोंमें भी परिणमन हो जाता है क्योंकि आकाश कुल एक द्रव्य है।

आशंका—यदि ऐसा है तो एक कालाणुसे ही सब द्रव्योंमें परिणमन हो जावेगा फिर उन्हें असंख्यात माननेकी क्या आवश्यकता ?

समा—नहीं, यदि सभी द्रव्य अखण्ड ही होते तो एक कालाणुके द्वारा ही सब द्रव्यों का परिणमन हो जाता। धर्म अधर्म और आकाश इन अखण्ड द्रव्योंके अतिरिक्त जीव और पुद्गल दो खंडद्रव्य भी हैं। अतः इन खंडद्रव्योंको परिणमन करानेके लिए असंख्यात कालाणुओंका होना परम आवश्यक है।

आशंका—यदि खंडद्रव्योंको परिणमानेके लिए कालाणुओंका असंख्यात होना आवश्यक है तो खंडद्रव्य तो दोनों ही अनंतानंत हैं फिर असंख्यात कालाणुओंसे उनका परिणमन कैसे बनेगा ? उन्हें भी अनंत ही मानना चाहिए।

समा:—नहीं; अनंत जीव और अनंत पुद्गल यह दोनों अनंत राशियाँ असंख्यातप्रदेश मात्र लोकाकाशमें ही अवस्थित हैं, क्योंकि जीव और पुद्गलोंमें तो सूक्ष्म परिणमनका और लोकाकाशके एक प्रदेशमें अनंतानंत पुद्गलों और जघन्य असंख्यात प्रदेशोंमें अनंतानत जीवों को स्थान देनेका स्वभाव है। अतः असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमें ही स्थित अनंत जीवों और अनंत पुद्गलोंको परिणमानेकेलिए लोकाकाशके एकएक प्रदेशपर एकएक कालाणुके होनेपर कमसेकम और अधिकसे अधिक लोकाकाश प्रमाण असंख्यात ही कालाणुओंका होना आवश्यक एवं सार्थक है। फिर अंतिम बात यह है कि वस्तुस्थिति ही ऐसी है, इसमें तर्क हो क्या !!

बहुत से व्यक्ति तो कालद्रव्यका अस्तित्व ही नहीं मानते, सो ठीक नहीं, क्योंकि काल द्रव्यके अस्तित्व बिना घण्टे घड़ी दिन रात वर्ष आदि कालका व्यवहार हो न बनेगा जो सभीको प्रत्यक्ष है।

व्यवहार काल

सोऽनंत समयः ॥४०॥

शब्दार्थ-समयः=व्यवहारकालके सबसे छोटे भागको 'समय' कहते है, जितने कालमें मंद गतिसे चलता पुद्गल परमाणु आकाशके एक प्रदेशको पार करता है उतना काल एक 'समय' है। इनके समूहरूप ही आवली, मिनट आदि व्यवहार काल होता है।

अर्थ—वह व्यवहार काल अनंत समयों वाला है।

विशेष—निश्चयकाल और व्यवहारकालकी संधि 'वर्तना-परिणमन' है। एक परिणमनका नाम एक 'समय' है। इस परिणमनकाल-एक समयमेंही मंदगतिसे चलनेवाला पुद्गल परमाणु आकाशके एक प्रदेशको पार करता है। 'समय'से आवली पल मुहूर्त दिन वर्ष आदि होते है।

वर्तमान काल तो एक समय मात्र ही है किंतु उसमें भूत वर्तमान भविष्यत की अपेक्षा अनंत समय होते हैं।

व्यवहार काल अनादि अनंत है अतः इसके समय भी अनंतानंतही होंगे। यदि अनंतानंत समय न माने जावें तो व्यवहार कालके आदि और अंतका प्रसंग आ जानेसे पहले तो काल की ही समाप्ति हो जावेगी और फिर समस्त द्रव्योंके भी अभावका प्रसंग आवेगा; परंतु ऐसा है नहीं। अतः व्यवहारकालके समय अनंतानंत ही है।

यहाँ द्रव्योंकी एक पर्यायसे दूसरी पर्यायके होनेमें अंतरंग-उपादान कारण तो उनका अपना-अपना अगुरुलघु गुण है और बाह्य-निमित्त कारण कालद्रव्य है। प्रत्येक द्रव्यकी एक पर्यायसे दूसरी पर्यायके होनेमें जो काल लगता है उसे आगममें 'समय' कहा है, यह 'समय' कालद्रव्य (निश्चयकाल) की वर्तना गुणसे उत्पन्न हुई अर्थ पर्याय है।

व्यवहारकालका उपादान कारण तो कालद्रव्य है और निमित्तकारण जीव और पुद्गलों का परिणमन—विशेष करके केवल ढाई द्वीपमें स्थित सूर्य मंडलोंका परिणमन है। अतः व्यवहारकाल द्रव्य न होकर पुद्गल और जीव द्रव्यके परिणामसे व्यवहारमें आने वाली कालद्रव्यकी उपचार पर्याय है।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

शब्दार्थ-द्रव्याश्रयाः=द्रव्यके सहारे, सदा द्रव्योंमें रहनेवाले। निर्गुणाः=गुण रहित।

अर्थ—गुण वे हैं जो सदैव द्रव्योंमें रहते हैं अर्थात् जिनकी सत्ता द्रव्योंसे भिन्न न हो और स्वयं गुणोंसे रहित हों, जैसे जीवद्रव्यके ज्ञान आदि और पुद्‌गलद्रव्यके रूप रस आदि गुण।

विशेष—यदि गुणमें भी अन्य गुण माने जावेंगे तो वह गुण स्वयं द्रव्य हो जावेगा किंतु गुण द्रव्य होता नहीं, गुण तो गुण ही रहता है। गुणोंका समूह ही द्रव्य है।

शंका—पर्यायें (घट आदि) भी द्रव्य (मिट्टी—पुद्‌गल आदि) के आश्रय हैं और गुण रहित होती है, सूत्रमें दिये गए गुणके लक्षणसे पर्यायें भी गुण हो जाती हैं, अतः इस लक्षण में अति व्याप्ति नामका दोष आनेसे यह ठीक लक्षण न होकर लक्षणाभास है।

समा—नहीं, दोष नहीं आता। क्योंकि प्रथम तो 'गुण-विकार (परिणाम)' का नाम ही पर्याय है अतः पर्यायमें भी गुणका लक्षण घटना ही चाहिए, दूसरे बात इतनी ही है कि गुण तो सदा काल एकही बना रहता है, एक गुणके बहुत गुण नहीं हो जाते किंतु गुणकी पर्याय एक समयमें एक और भिन्न-भिन्न समयोंमें भिन्न-भिन्न अनेकों होती रहती हैं।

लक्षण संबंधी तीन दोष होते हैं १ अतिव्याप्ति २ अ (किंचित) व्याप्ति ३ असंभव।

लक्ष्य (जिसका लक्षण कहा जा रहा हो) और अलक्ष्य (जिसका लक्षण न कहा जा रहा हो) दोनोंमें पाये जानेवाले लक्षणमें अति व्याप्ति दोष होता है जैसे गौ के लक्षण 'सींग' में क्योंकि सींग भैंस बकरी आदिके भी पाये जाते हैं।

लक्ष्यके एक देश (कुछ भाग) में पाये जाने वाले लक्षणमें अव्याप्ति दूषण होता है, जैसे पशुके लक्षण 'सींग' में, क्योंकि सींग कुछ ही पशुओंके होते हैं सबके नहीं।

लक्ष्यमें लक्षणकी असंभवताको असंभव दोष कहते हैं जैसे जड़ का लक्षण 'चेतना' में।

बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमें से किसी एक पदार्थके जुदे दिखाने वाले हेतुको उस एक पदार्थका 'लक्षण' कहते हैं जैसे लोकमें छहों द्रव्योंमें से जीवको अन्य सब द्रव्योंसे भिन्न दिखाने वाला हेतु 'चेतना' जीव का लक्षण।

लक्षण दो प्रकार का होता है १ आत्मभूत लक्षण—जो वस्तु (लक्ष्य) के स्वरूपमें मिला हो जैसे अग्निका लक्षण 'उष्णता' २ अनात्मभूत लक्षण जो लक्ष्यके स्वरूपमें न मिला हो, जैसे दण्डी पुरुष का लक्षण 'दंड'।

यथार्थ लक्षण ऊपर दिखाये गए अतिव्याप्ति आदि तीनों दोषोंसेरहित होना चाहिए, इन

दोहा—गुण सब हैं निर्गुण स्वयं, नित द्रव्यों में वास।
तद्‌भावः परिणाम है, उमास्वामि इम भाष ॥१६॥

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र, अध्याय ५ के कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन 'सिंह' बी. ए. सी. टी. साहित्यालंकार-कृत हिन्दी दोहे समाप्त।

दोषों में से किसी भी सहित लक्षण लक्षण न कहा जाकर लक्षणाभास कहलाता है।

पर्याय का लक्षण

तद्भावः परिणामः ॥४२॥

शब्दार्थ—तद्भावः = वह होना अर्थात् द्रव्यका अपने स्वरूपमें स्थित रहकर कभी इस और कभी उस रूप होना। परिणामः =परिणमन, पर्याय, अवस्था।

अर्थ—द्रव्यका अपने स्वरूपमें स्थित रहकर कभी इस और कभी उस रूप होना द्रव्य की 'पर्याय' है, जैसे जीव द्रव्य अपने चेतन स्वरूपमें रहते हुए कभी मनुष्य कभी देव कभी तिर्यंच आदि रूप होना जीवकी पर्यायें हैं।

विशेष—सब द्रव्योंकी दो प्रकारकी पर्यायें होती हैं १ अनादिपर्याय २ सादिपर्याय। प्रवाहरूप परिणाम अनादि पर्याय है, पर्याय उपजती विनशती हैं अतः वे सादि-आदि सहित हैं। धर्म अधर्म आकाश और काल इन चार द्रव्योंकी अनादि तथा सादि पर्यायें आगम-गम्य हैं, जीव और पुद्गलके अनादि परिणाम-पर्याय तो आगम-गम्य ही हैं किंतु इन दोनोंकी सादि पर्यायें कथंचित् प्रत्यक्ष भी हैं।

गुणों को सहवर्ती अथवा अक्रमवर्ती पर्याय और पर्यायोंको क्रमवर्ती पर्याय कहते हैं।

एक ही अभेद वस्तुको उसके द्रव्य, गुण और पर्याय तीन भेद करके दिखाया गया है। क्योंके कथनमें नय केवल दो १ द्रव्यार्थिक २ पर्यायार्थिक ही का वर्णन है, कारण यह है कि गुणोंके समूहका नाम ही द्रव्य है और गुणोंके विकार-परिणमनका नाम ही पर्याय है।

द्रव्य और गुण एक दूसरेसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न अर्थात् भिन्नाभिन्न है। संज्ञा-नाम संख्या, लक्षण आदिके भेदसे भिन्न हैं किन्तु वस्तुत्व अर्थात् प्रदेशत्वकी अपेक्षा अभिन्न-एक है।

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र, अध्याय ५ की कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन 'सिंह', बी. ए., सी. टी., साहित्यालंकार-कृत कौमुदी समाप्त।

मु० सिं० जै०

अंत मंगल

दोहा—सीमंधर को प्रणम कर, नम युगमंधर नाथ।
बाहु सुबाहु को नमों, संजातक धर माथ ॥५॥

श्री वीतरागाय नमः

अध्याय ६

मंगलाचरण

दोहा—राग द्वेषअरु मोह मय, आस्रव मल्ल पछार।
भए ईश सर्वज्ञ जिन, नमों तिन्हें उर धार॥

आस्रव तत्व

योग

काय वाङ् मनः कर्मयोगः ॥१॥

शब्दार्थ—वाङ्=वचन। कर्म=क्रिया। योगः=जोड़, संबंध, प्रयत्न; आत्माके अनंतगुणोंमें एक 'योग' जोड़-संबध-शक्ति अनुजीवी—भावात्मकगुण है, इस गुणकी पर्यायमें दो प्रकार पड़ते है १ संसारी अशुद्ध अवस्थामें परिस्पंदन-कंपनरूप (कर्मके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंमें परिस्पंदन होकर परपदार्थोंसे जोड़रूप संबंध होना) २ सिद्धशुद्ध अवस्थामें निष्कंपरूप आत्मा का स्वमें ही जोड़रूप होना-रहना (सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रस लीन)।

यहाँ 'स्वभाव' और 'शक्ति' में अंतर जानना आवश्यक है सो निम्न प्रकार है—

स्वभाव (द्रव्यका लक्षण) सर्वथा-अव्यक्त कभी नहीं होता किंतु शक्ति कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रूप भी होती है, जैसे आत्माका स्वभाव 'उपयोग' आत्मामें सदैव व्यक्त रहता है किंतु उसकी 'विभावरूपसे परिणत होनेकी' शक्ति उसको व्यक्त करनेवाले कारण—कर्म का अभाव हो जाने पर उस (आत्मा) में सिद्ध अवस्थामें व्यक्त-प्रकट नहीं होती।

दोहा-योग काय—वच—मन क्रिया, सो हीं आस्रव मूल।
पुण्यास्रव शुभ योगसे, पापास्रव प्रतिकूल ॥१॥

अर्थ—काय, वचन और मनकी क्रिया 'योग' है।

विशेष—यहां आत्माके 'योग' गुणकी अशुद्ध पर्यायका ही कथन है अतः संसारी जीवों का अपने अपने प्रदेशोंमें कंप पैदा करनेवाला प्रयत्न जो कर्मोदयके निमित्तसे शरीर, वचन और मनकी क्रिया द्वारा होता है 'योग' कहलाता है। सूत्रमें कारण (मन वचन कायकी क्रिया) को कार्य (आत्म-प्रयत्न) मानकर कारण अर्थात् मन वचन कायकी क्रिया को ही 'योग' कहा है। इसके दो भेद हैं १ भावयोग २ द्रव्ययोग।

पुद्गलविपकी अंगोपांग नामकर्म और शरीर नामकर्मके उदयसे मनो वचनकाय पर्याप्ति [संज्ञीजावों में] वचन काय पर्याप्ति (संज्ञी असंज्ञी पंचेंद्रिय तथा विकलत्रयमें) अथवा काय पर्याप्ति [संज्ञी असंज्ञी पंचेंद्रिय, विकलत्रय तथा एकेंद्रिय जीवोंमें] जिसकी पूर्ण हो चुकी है अथवा पूर्ण होने वाली है ऐसे संसारी पर्याप्त निवृत्यपर्याप्त जीवकी तथा अपर्याप्त जीवकी जो समस्त प्रदेशोंमें रहनेवाली कर्म नोकर्मसे जोड़रूप-सम्बन्ध करने रूप प्रयत्नमें कारणभूत शक्ति है उसे 'भावयोग' कहते हैं, और इसही प्रकारके जीवके प्रदेशोंका जो परिस्पंदन-कंपन रूप प्रयत्न है वह 'द्रव्ययोग' है।

भिन्न भिन्न मन वचन कायके अवलंबनसे द्रव्ययोग तीन प्रकारका होता है १ मनोयोग २ वचनयोग ३ काययोग। भावमनकी उत्पत्तिके लिए जो प्रयत्न होता है उसे 'मनोयोग' वचनकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्नको 'वचनयोग' और कायकी क्रियाकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्नको 'काययोग' कहते हैं।

मनोयोग ४ प्रकार–१ सत्य मनोयोग २ असत्य अथवा मृषामनोयोग ३ उभय अथवा सत्यासत्य अथवा सत्यमृषामनोयोग ४ अनुभय अथवा असत्यासत्य अथवा अ सत्यमृषामनोयोग होता है। ऐसेही वचनयोग भी ४ प्रकारका १ सत्यवचनयोग २ असत्य अथवा मृषा वचनयोग ३ उभय अथवा सत्यासत्य अथवा सत्यमृषा वचनयोग और ४ अनुभय अथवा असत्यासत्य अथवा अ-सत्यमृषा वचनयोग होता है।

ठीक ठीक यथार्थ ज्ञानके विषयभूत पदार्थको 'सत्य' कहते हैं, जैसे जलमें यह जल है। मिथ्या-अयथार्थ ज्ञानके विषयभूत पदार्थको 'असत्य-मिथ्या-मृषा' कहते हैं जैसे मारीचिकामें यह जल है। दोनोंरूप ज्ञानके विषयभूत पदार्थको 'उभय' कहते हैं, जैसे कमडलुमें यह घट है क्योंकि कमंडलु घटका काम देता है अतः कथंचित् सत्य और घटाकार नहीं है अतः कथंचित् असत्य भी है। जो दोनों ही प्रकारके ज्ञानका विषय न हो उसे 'अनुभय' कहते हैं, जैसे सामान्य रूपसे यह प्रतिभास होना कि 'यह कुछ है' इसमें सत्य असत्यका कुछ भी निर्णय नहीं होता अतः अनुभय है।

काययोग ७ प्रकार है-१ औदारिक काययोग–मनुष्य तिर्यंचों के शरीरद्वारा उनके आत्मा

में परिस्पंदन-कंपन, २ औदारिकमिश्र काययोग-शरीर पर्याप्तिसे पूर्वकार्मण शरीरकी सहायता से होने वाले मनुष्य तिर्यंचोंके औदारिक शरीर द्वारा उनके आत्मामें कंपन, ३ वैक्रियिक काययोग—देव नारकियोंके शरीरद्वारा उनके आत्मामें परिस्पंदन, ४ वैक्रियिकमिश्र काययोग शरीर पर्याप्तिसे पूर्व कार्मण शरीरकी सहायतासे होने वाले देव नारकियोंके वैक्रियिक शरीर द्वारा उनके आत्मामें कंपन, ५ आहारक काययोग-जिस शरीरके द्वारा छटे गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको सन्देह होनेपर केवलीके पास जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण-ग्रहण करता है उस शरीर द्वारा होने वाले उस मुनिके आत्मामें परिस्पंदन, ६ आहारकमिश्र काययोग आहारक शरीरके पर्याप्त होनेसे पहले औदारिक शरीरकी सहायतासे होने वाले छटे गुण स्थानवर्ती मुनिकी आत्मामें कंपन, और ७ कार्मण काययोग—विग्रह वक्रगतिमें और केवल समुद्घातमें मात्र तीन समय पर्यंत (एक समय लोकपूर्ण और दो समय प्रतरमें) कर्मोंके समूह रूप शरीर-काय द्वारा आत्मामें परिस्पंदन।

इसप्रकार द्रव्ययोगके ४+४+७=१५ कुल १५ भेद हो जाते हैं। योगका विशेष वर्णन धवला, गोम्मटसार जी. का. गा. २१५–'६६, आदि ग्रन्थोंसे देखिए।

आस्रव

सः आस्रवः ॥२॥

शब्दार्थ—आस्रवः-आना, कर्मों (पुद्गलकार्मण वर्गणाओं) का आत्माके पास आना।

अर्थ—वह (योग-काय वचन मनकी क्रिया ही) आस्रव है।

विशेष—मन वचन कायकी क्रिया-योग जो कर्मोंका आत्माके पास आने रूप कार्यका कारण है उसे हो अर्थात् कारण (योग) को ही कार्य (आस्रव) कहा है।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३॥

शब्दार्थ-शुभः=अच्छा। पुण्य=जो पवित्र करे, हितकर हो। अशुभः= खोटा, बुरा। पाप= जो पतित करे, दुख पहुंचावे, अहितकर हो।

अर्थ—शुभ योग (मन वचन कायकी अच्छी क्रियाए' जैसे अरहन्त भक्ति, जीवोंकी रक्षा आदि) पुण्यरूप कर्मोंका आस्रव करता है और अशुभ योग (मन वचन कायकी खोटी क्रियाएँ जैसे हिंसा झूठ आदि) पापरूप कर्मोंका।

विशेष—अरहतभक्ति आदि शुभ मनोयोग, हितमित प्रियवचन शुभ वचनयोग, दान देना तीर्थयात्रा करना आदि शुभ काययोग है। ईर्षा आदि अशुभ मनोयोग, असभ्य प्रलाप आदि अशुभ वचनयोग, हिंसा चोरी मैथुन (रतिसेवन) आदि अशुभ काययोग है।

सम्यक्त्व सहित अथवा व्रत सहित जीवोंको पुण्यजीव कहते हैं और इनसे विपरीत

जीवोंको पापजीव। पहले दूसरे गुणस्थानके सब जीव पापजीव, मिश्र गुणस्थानके पुण्यपाप मिश्ररूप और शेष १३ वें गुणस्थान तकके जीव पुण्यजीव हैं।

आस्रवमें जीव शुभयोगसे हुए पुण्यास्रवको उपादेय-ग्रहण योग्य और अशुभयोगसे हुए पापास्रवको हेय-त्याज्य समझता है। यह जीवकी आस्रव सम्बंधी बड़ी भूल-मिथ्यात्व है। वास्तवमें है तो दोनों आस्रव ही, आस्रवसे ही बंध और जन्ममरण दुःखरूप संसार परिभ्रमण होता है। अंतर इतना ही है कि पाप लोहेकी और पुण्य सोनेकी बेड़ी है पर है तो दोनों बेड़ी ही जो जीवको संसार रूपी कारागृहसे नहीं निकलने देती अतः दोनों ही हेय-त्याज्य हैं। योगसारमें श्री योगीन्द्रदेवआचार्य कहते हैं—

दोहा-बेड़ी हेम अरु लोहकी, पंडित बेड़ी जान, भाव शुभाशुभ दोउ तजै, सो ज्ञानी गुणवान॥७२॥

आस्रवके भेद (स्वामी अपेक्षा)

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥४॥

शब्दार्थ—कषाय जो आत्माको कषै-कसे-दुख दें, मिथ्यात्व, क्रोध मान माया लोभ। सकषाय+अकषाययोः= कषायसहित और कषायरहित योगवाले जीवोंके। संपराय =पराभव, हारना, संसार, सांप्रायिक =जो आत्माका पराभव करावे, उसे संसारमें रुलावे। ईर्यापथ=जो चलता फिरता हो अर्थात् जो आत्माके पास आताआता ही अलग भी हो जावे।

अर्थ—कषाय सहित योगवाले जीवोंके सांप्रायिक आस्रव होता है और कषायरहित योग वाले जीवोंके ईर्यापथ आस्रव।

विशेष—यह सांप्रायिक और ईर्यापथ रूप आस्रवके भेद उसके दो प्रकार के स्वामियोंकी अपेक्षा से हैं। जब कषाययुक्त योगोंकी प्रवृत्ति होती है तब सांप्रायिकआस्रव होता है, १०वें गुणस्थान तक यही आस्रव चलता है। जब कषायरहित योग चलते हैं (११, १२, १३ वें गुणस्थानमें) तब ईर्यापथ आस्रव होता है। सांप्रायिक आस्रवमें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाव चारों प्रकारका बंध होता है किंतु ईर्यापथमें केवल प्रकृति, प्रदेश दो प्रकारही।

आस्रव चाहे सांप्रायिक हो अथवा ईर्यापथ रूप, है विकार भाव ही।

कषाय चिकनाई और कर्मवर्गणा धूलके सदृश है। जिस प्रकार चिकनाई लगी वस्तुपर धूल चिपक जाती और बड़ी देरमें तथा प्रयत्नसे छूटती है इसी प्रकार कषाय सहित आत्माके साथ कर्मवर्गणाएं अपना संबंध दृढ़सा बना लेती है जो बड़े प्रयत्नसे छूटता है। कर्मवर्गणाए

दोहा—सांप्रायिक और ईर्यपथ, आस्रवके दो भेद।
सकषायी अकषायिके, क्रमसे हों ये भेद ॥२॥

का यह दृढ़सा संबंध ही आत्माका पराभव (संपराय) कराता और उसे संसारमें रुलाता है।

सांप्रायिक आस्रवके भेद

इन्द्रिय कषायाव्रतक्रियाः पंचचतुः पंचपंचविंशति संख्याः पूर्वस्यभेदाः ।५।

शब्दार्थ–क्रियाः=आत्मप्रदेशोंका परिस्पंदनरूप योग। पूर्वस्य=पहले सांप्रायिक आस्रवके।

अर्थ–सांप्रायिक आस्रवके ५ इन्द्रियरूप, ४ कषायरूप, ५ अव्रतरूप और २५ क्रियारूप यह ३९ भेद हैं अर्थात् इन ३९ प्रकारसे सांप्रायिक आस्रव होता है।

विशेष–यहाँ 'इन्द्रिय' से अर्थ उनकी रागद्वेष युक्त प्रवृत्तिसे है क्योंकि केवल स्वरूप मात्रसे न तो कोई इन्द्रिय कर्म-आस्रव [सांप्रायिक] का कारण हो सकती और न इन्द्रियोंकी रागद्वेष रहित प्रवृत्ति ही।

इनमेंसे ५ इन्द्रियोंका कथन अध्याय २ में आ चुका, ४ कषाय और ५ अव्रतका वर्णन क्रमसे अध्याय ७, ८ में होगा। यहाँ संक्षेपमें २५ क्रियाओंके नाम और लक्षण कहते हैं–

१		सम्यक्त्व	क्रिया	देवशास्त्र गुरुकी पूजाभक्ति रूप सम्यक्त्वके बढ़ाने वाले शुभ रागकषाय रूप कार्य,
२		मिथ्यात्व	"	कुदेव कुशास्त्र कुगुरुकी पूजा स्तुति रूप कार्य,
३		प्रयोग	"	शरीर आदिद्वारा आनेजाने आदिरूप सकषाय प्रवृत्ति,
४		समादान	"	त्यागी संयमीकी भोगकी ओर प्रवृत्ति,
५		ईर्यापथ	"	एक समयमात्रको कषाय कर्मवेदनकी कारणभूत क्रिया,
६	परहिंसा	प्रादोषिकी	"	क्रोधके आवेशसे परको दोष लगानेकी प्रवृत्ति,
७	के	कायिकी	"	दुष्टताके लिए उद्यम,
८	भाव की	अधिकारिणी	"	हिंसाकारी शस्त्रादिकका ग्रहण करना,
९	मुख्यता	पारितापिकी	"	स्वपरको दुःख देनेवाली क्रिया,
१०	वाली	प्राणातिपातिकी	"	आयु इंद्रियबल श्वासोश्वास प्राणोंका वियोग करना,
११		दर्शन	"	रागवश प्रमादी हो रमणीय रूपका देखना,
१२	इन्द्रिय	स्पर्शन	"	रागवश प्रमादी हो किसीको स्पर्श करना,
१३	भोग	प्रात्ययिकी	"	विषयोंके नए नए कारण मिलाना,
१४	संबंधी	समंतानुपात	"	मनुष्यों या पशुओंके आनेजानेकी जगह मलमूत्र करना,
१५		अनाभोग	"	बिना देखी शोधी भूमिपर बैठना लेटना आदि,

दोहा–इंद्रिय कषाय अव्रत क्रिया, पन चउ पन पच्चीस।
सांप्रायिकके भेद हैं, यह सब उनतालीस ॥३॥

१६	स्वहस्त	क्रिया परके करने योग्य क्रियाको स्वयं करना,
१७ धर्माचरण	निसर्ग	क्रिया पाप प्रवृत्तिको भला जान उसकी अनुमति देना,
१८ में	विदारण	क्रिया दूसरोंके पापोंका प्रकाशन,
१९ बाधक	आज्ञाव्यापादिकी	क्रिया शास्त्रानुसार प्रवृत्तिमें असमर्थ हो विपरीत अर्थ कर विपरीत उपदेश देना,
२०	अनाकांक्ष	क्रिया प्रमाद व अज्ञानसे शास्त्रोक्त विधिमें अनादर करना,
२१ धर्म	प्रारम्भ	क्रिया छेदन आदि क्रिया स्वयं करना, दूसरोंको करते देख हर्ष मानना,
२२ धारणमें	पारिग्राहिकी	क्रिया परिग्रहकी रक्षाके लिए प्रवृत्ति,
२३ विमुखता	माया	क्रिया ज्ञानदर्शन आदिके विषयोंमें दूसरोंको ठगना,
२४ की	मिथ्यादर्शनी	क्रिया मिथ्यात्वका कार्य स्वयं करना, दूसरोंको उसमें दृढ़करन
२५ कारण	अप्रत्याख्यानी	क्रिया संयमके घातक कर्मउदयसे असंयमरूप प्रवर्तना,

सबसे पहली सम्यक्त्व क्रियामें मन वचन कायकी क्रिया सम्यग्दृष्टिके शुभ भावोंमें निमित्त है फिर भी वह उन शुभ भावोंको धर्म अर्थात् संवर निर्जरा रूप नहीं मानता, ऐसी दृढ़ता द्वारा ही उसके सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है, यह मान्यता तो आस्रवका कारण हो नहीं सकती किंतु सकषाय [शुभ भाव सहित] योग है वह भावास्रव है और यही सकषाय योग द्रव्यास्रवमें मात्र निमित्त कारण है।

इन्द्रिय, कषाय, अव्रत 'कारण' और क्रिया 'कार्य' है। वस्तुतः कषाय ही सांपरायिक आस्रवके कारण है तथापि कषायसे अलग अव्रत आदिका जो कथन है वह कषाय-जन्य कौन कौन सी प्रवृत्ति व्यवहारमें विशेषरूपसे देखी जाती है और धर्म-संवरके इच्छुकको किसकिस प्रवृत्तिको रोकनेकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए यह समझानेके लिए है।

कारण—योगोंकी समानतामें परिणामादि भेदसे आस्रवमें विशेषता

तीव्र मंद ज्ञाताज्ञात भावाधिकरण वीर्य विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥

शब्दार्थ—ज्ञात भाव=जान बूझकर जैसे तैसे प्रवृत्तिके परिणाम। अधिकरण = आधार, साधन, उपकरण। वीर्य=शक्ति। तद्विशेषः=उस-आस्रवमें विशेषता-कम अधिकपना।

अर्थ—आस्रवके कारण योगोंके समान होने पर भी तीव्र भाव-क्रोधादिककी उग्रता रूप तेज परिणाम, मंदभाव-क्रोधादिककी शिथिलतारूप परिणाम, ज्ञातभाव-ज्ञानपूर्वक परिणाम, अज्ञातभाव-अज्ञानपूर्वक परिणाम, अधिकरण-आधार, और वीर्य-शक्ति इनमें अंतर होनेसे आस्रवकी न्यूनाधिकतामें भी अंतर हो जाता है।

विशेष—एकही द्रव्यको देखनेवाले दो व्यक्तियोंमेंसे मंद आसक्ति पूर्वक देखने वालेकी

अपेक्षा तीव्र आसक्ति सहित देखनेवालेके तीव्र ही आस्रव होगा, ऐसे ही जान बूझकर चींटी मारनेवालेके भूलसे मारनेवालेकी अपेक्षा अधिक और दुखदाई आस्रव होगा। शक्ति विशेष भी कर्म आस्रवकी विचित्रताका कारण है, बलवान मनुष्य शुभ अशुभ काम जिस आसानी और उत्साहसे कर सकता है निर्बल नहीं अतः बलवानकी अपेक्षा निर्बलका शुभाशुभ आस्रव भी मंद ही होता है। अधिकरण-आधार-साधनसे आस्रवमें अंतर पड़ता है, जैसे चोरी हिंसा आदि अशुभ और पर-रक्षण आदि शुभ काम करने वाले दो मनुष्योंमें से एकके पास साधन शस्त्र आदि जोरके हों और दूसरेके पास साधारण, तो साधारण वालेकी अपेक्षा जोरके शस्त्रधारीके कर्मका आस्रव तीव्र होना सम्भव ही है क्योंकि पासमें जोरके शस्त्र-साधन होने से आवेश भी बहुधा अधिक हो ही जाता है।

अधिकरणके भेद

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

अर्थ-आस्रवका साधन-निमित्त कारण जीव और अजीव दोनों हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मके आस्रवमें दो प्रकारका निमित्तकारण काम करता है १ जीवनिमित्त २ अजीवनिमित्त।

विशेष-अच्छे अथवा बुरे सभी कार्य जीव और अजीव दोनोंके द्वाराही होते है न अकेला जीव ही कुछ कर सकता है और न अकेला अजीव ही। इसी प्रकार न अकेले जीवके आश्रयसे और न अकेले अजीव-पुद्गलके आश्रयसे ही आस्रव होता है, जैसे न तो पुरुष बिना ही स्त्रीके गर्भ रह सकता और न स्त्रीके बिना अकेला पुरुष ही गर्भ रख सकता है। अतः जीव और अजीव दोनों ही कर्म आस्रवके कारण हैं।

यह दोनों ही अधिकरण दो दो प्रकारके होते है १ द्रव्याधिकरण २ भावाधिकरण। जीव व्यक्ति और अजीव वस्तु द्रव्याधिकरण हैं, जीवके कषाय आदि भाव तथा अजीवकी शक्ति जैसे तलवारकी तीक्ष्णता आदि भावाधिकरण।

जीव अजीव-सामान्य अधिकरण नहीं है किंतु इनकी विशेष विशेष पर्यायें ही आस्रवमें निमित्त होती है। यदि जीव अजीवके सामान्यको भी आस्रवका साधन-अधिकरण-निमित्त कहेंगे तो सब जीव और सब अजीव आस्रवके साधन हो जावेंगे, पर ऐसा होता नहीं।

जीवाधिकरणके विशेष भेद

आद्यसंरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः॥८

दोहा-ज्ञात अज्ञात अरु तीव्रमंद,-भाव वीर्य आधार।
जस इनकी जु विशेषता, तस आस्रवमें भार ॥४॥

शब्दार्थ—आद्यं=आदिका (जीवाधिकरण)। संरंभ=किसी कामके करनेका इरादा करना। समारम्भ=कुछ करनेको सामग्री जोड़ना। आरम्भ=किसी काममें लग जाना। योग=मनवचन काय द्वारा संबंध या जोड़ अथवा मन वचन काय। कृत = स्वयं करना। कारित = दूसरेसे कराना। अनुमत=दूसरेके कार्यकी प्रशंसा करना विशेषैः =विशेषतासे, भेदसे।

अर्थ—पहला जीवाधिकरण क्रमसे संरंभ समारंभ आरम्भके भेदसे ३ प्रकारका, योग-मन वचन काय रूप भेदसे ३ प्रकारका, कृत कारित अनुमत भेदसे ३ प्रकारका, और कषाय-क्रोध मान माया लोभ रूप भेदसे ४ प्रकारका है।

विशेष—इन चारोंके भेदोंको परस्पर गुणा करनेसे जीवाधिकरणके कुल भेद ३×३×३×४=१०८ हो जाते हैं जैसे १ क्रोधकृतकायसंरम्भ २ मानकृतकाय संरम्भ ३ मायाकृतकायसंरंभ ४ लोभकृतकायसंरम्भ ५ क्रोधकारितकायसंरम्भ ६ मानकारितकायसंरम्भ ७ मायाकारित कायसंरम्भ ८ लोभकारित कायसंरम्भ ९ क्रोधअनुमत कायसंरम्भ १० मानअनुमतकायसंरम्भ ११ मायाअनुमत काय संरम्भ १२ लोभअनुमत कायसंरम्भ-इस प्रकार १२ भेद कायसंरम्भ के हुए, इनमें इसी प्रकार १२ भेद वचनसंरम्भके और १२ भेद मनःसंरम्भके मिलानेसे संरम्भके ३६ भेद हुए, इनमें फिर ३६ भेद समारम्भ के और ३६ भेद आरम्भके मिलानेसे सब १०८ भेद हो जाते हैं।

शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति करते समय संसारी जीवोंके भाव इन १०८ अवस्थाओंमें से किसी न किसी रूप अवश्य होते हैं। अतः यह अवस्थाएं भावाधिकरण हैं। इन भावोंकी शुद्धिके लिए ही मालामें १०८ दाने रक्खे जाते हैं, इसलिए प्रत्येक दानेपर एक एक दोषके त्यागका विचार करना चाहिए। मालामें इन १०८ दानोंके अतिरिक्त ऊपरके तीन दाने रत्न त्रय-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रकी प्राप्ति तथा शुद्धिकी भावनाके लिए होते हैं।

सूत्र में 'च' शब्द कषायके ४ और अंतरंग भेदोंको लेनेके है। प्रत्येक कषायके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सञ्ज्वलन यह चार चार भेद और हैं। १०८ को इन ४ से गुणा करनेसे जीवाधिकरणके १०८×४=४३२ भेद होजाते हैं।

अजीवाधिकरणके भेद

निर्वर्त्तनानिक्षेप संयोग निसर्गा द्वि चतुर्द्वित्रिभेदाः परम ॥९॥

शब्दार्थ—निर्वर्त्तना=रचना, उत्पन्न करना। निक्षेप=धरना, रखना। संयोग=मिलाना जोड़ना। निसर्गा=हिलाना, चलाना, प्रवर्त्ताना। परम् =दूसरा-अजीवाधिकरण।

दोहा—जीवा जीव अधार हैं, सौ अठ जीव अधीन।
योगारंभ कषाय कृत, त्रय त्रय चउ क्रम तीन ॥५॥

अर्थ—अजीवाधिकरण चार प्रकारका है १ निर्वर्त्तनाधिकरण २ निक्षेपाधिकरण ३ संयोगाधिकरण ४ निसर्गाधिकरण। इन चारों भेदोंमें से निर्वर्त्तनाधिकरण के २ निक्षेपाधिकरणके ४, संयोगाधिकरणके २ और निसर्गाधिकरण के ३ भेद होते हैं।

विशेष—निर्वर्त्तनाधिकरण दो प्रकार १ मूलगुणनिर्वर्त्तना-पुद्गलद्रव्यका शरीर वचन मन और श्वासोश्वास रूप रचना, यह अंतरंग साधन रूपसे जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तिमें उपयोगी है, २ उत्तरगुण निर्वर्त्तना—पुद्गलद्रव्यकी लकड़ी पत्थर आदि रूप रचना, यह बहिरंग साधनरूपसे शुभाशुभ प्रवृत्तिमें उपयोगी है।

निक्षेपाधिकरण चार प्रकार १ सहसा निक्षेप-अकस्मात शीघ्रतासे रखना २ अनाभोग निक्षेप—उपयोगके बिनाही वस्तुको कहीं रख देना ३ अप्रत्यवेक्षित निक्षेप—अच्छी तरह बिना देखे रखना। ४ दुष्प्रमार्जित निक्षेप—देखकर भी दुष्टता तथा यत्नाचार रहित हो रखना।

संयोगाधिकरण दो प्रकार १ उपकरणसंयोग-ठंडे वस्त्र पात्र आदिका गरमसे मिलाना २ भक्तपानसंयोग अन्नजल आदिको मिलाना।

निसर्गाधिकरण तीन प्रकार १ मनोनिसर्ग—मनको प्रवर्त्ताना २ वचननिसर्ग—वचनको प्रवर्त्ताना ३ कायनिसर्ग—शरीरको प्रवर्त्ताना।

इस भाँति अजीवाधिकरण २+४+२+३—११ प्रकार है।

इसप्रकार जीव और अजीव इन दो अधिकरणोंके आश्रयसे कर्मोका आगमन-आस्रवहोताहै यहाँ तक सामान्य रूपसे आस्रवके भेद कहे; अब आगे अलग अलग ज्ञानावरण आदि कर्मोंके विशेष आस्रवोंके कारण बताते हैं-

ज्ञानावरण दर्शनावरणकर्म आस्रवके कारण

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

शब्दार्थ—तत्=वह-आस्रव। प्रदोष=खोटे परिणाम रखना। निह्नव=छिपाना। मात्सर्य ईर्षा और छल करना। अंतराय = विघ्न डालना। आसादन=रोकना। उपघात दूषण लगाना। ज्ञानदर्शनवरणयोः = ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनों कर्मोंका।

अर्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आस्रव ज्ञान और दर्शनके विषयमें १ खोटे परिणाम रखने २ उन (ज्ञानदर्शन) को छिपाने ३ उनके संबंधमें ईर्ष्या और छल करने ४ उनमें विघ्न डालने ५ उनको प्रकट होने, करनेसे रोकने ६ उनमें दूषण लगानेसे होता है।

विशेष—सब कर्मवर्गणाएं जो आत्माके पास आती हैं अर्थात् जिनका मनवचन काय

दोहा—निर्वर्तन निक्षेप संयोग निसर्ग दु चार।
अरु दो तीन जु भेद क्रम, जीव रहित आधार ॥६॥

योग द्वारा आस्रव होता है आठ प्रकारके भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली है, उनके नाम १ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अंतराय हैं। आत्माके ज्ञान गुणपर परदा डालनेवाली 'ज्ञानावरणीय', दर्शन पर परदा डालनेवाली 'दर्शनावरणीय', बाह्य सामग्री मिलाकर आत्मामें मोहनीयके सहकारसे इन्द्रियजनित सुखदुख का अनुभव करानेवाली 'वेदनीय', आत्माको भ्रममें डाल उसके वास्तविक सुखको घातनेवाली 'मोहनीय' आत्माको किसी नियत समय तक एक शरीरमें रखनेवाली 'आयु' आत्माके लिए अंगोपांग रचनेवाली 'नाम', आत्माको ऊंचनीच कुलमें उत्पन्न करनेवाली 'गोत्र' और आत्मा के वीर्य-शक्ति आदिमें विघ्न डालने वाली 'अंतराय' नाम स्वभाववालीकर्म वर्गणाएं हैं।

कर्मों के क्षय अथवा उपशमसे पहले आस्रव वैसे तो प्रत्येक समय आयु कर्मके सिवाय सब कर्मोंका होता है, पर यहांपर स्थिति और अनुभागबंधकी अपेक्षा विशेष विशेष कारण कहे गए हैं अर्थात् यह बतलाया है कि ऐसे कामोंके करनेसे ज्ञानावरणादि कर्मोंमें कालकी मर्यादा और फल देनेकी शक्ति अधिक पड़ती है।

ज्ञान, ज्ञानी, और ज्ञानके साधनों अथवा दर्शन, दर्शनवाले और दर्शनके साधनोंपर द्वेष करना ज्ञानप्रदोष तथा दर्शनप्रदोष है, जैसे कोई पुरुष मोक्षके कारणभूत ज्ञान और दर्शनका कथन कर रहा हो उसको सुनकर जलते रहना। इसी प्रकार निह्नव आदिमें भी लगा लेना चाहिए। यह बात नहीं है कि यह दोष मनुष्योंका ही लगते हों किंतु अपने अपने ज्ञानदर्शन के क्षयोपशम अनुसार एकेंद्रियसे सज्ञीतक सब ही के उन उनके अनुसार ही ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणका आस्रव होता रहता है।

इन छः छः कारणों के अतिरिक्त तत्वार्थसार अध्याय ४ गा. १३ से १८ तक बारह ज्ञानावरण कर्मके तथा सात दर्शनावरण कर्मआस्रवके और भी निम्न प्रकार कारण कहे हैं-

ज्ञानावरणके—१ तत्वोंका सूत्र विरुद्ध कथन करना २ तत्वोपदेश समझनेमें अनादर ३ तत्वोपदेश समझनेमें आलस्य ४ लोभबुद्धिसे शास्त्रोंका बेचना ५ अपनेको बहुश्रुती मान मिथ्या उपदेश देना ६ अकालमें शास्त्र पढ़ना ७ सच्चे आचार्य तथा उपाध्यायसे विरुद्ध रहना ८ तत्वोंमें श्रद्धा न रखनी ९ तत्वोंका अनुचितन न करना १० सर्वज्ञ धर्म प्रचारमें बाधा डालनी ११ बहुश्रुत ज्ञानियोंका अपमान करना और १२ तत्वज्ञान अभ्यासमें शठता करनी।

दर्शनावरणके—१ किसीकी आँख निकालनी २ बहुत ऊंघना ३ दिन में ऊँघना ४ नास्तिकताकी वासना रखनी ५ सम्यग्दर्शनमें दोष लगाना ६ कुधर्मीकी प्रशंसा करनी और

दोहा—प्रदोष निह्नव मात्सरज, अंतराय उपघात।
आसादन कारण कहे ज्ञान अरु दर्शन घात ॥७॥

७ तपस्वियोंको देख ग्लानि करना।

आगे वेदनीयकर्मके आस्रवके कारण कहेंगे। वेदनीयकर्म दो प्रकार १ सातावेदनीय जो—इष्ट–अच्छी–अच्छी सामग्री मिलाकर मोहनीयके सहकारसे इन्द्रियजन्य सुखका वेदन–अनुभवन करावे २ असाता वेदनीय जो अनिष्ट सामग्री मिलाकर मोहनीय कर्मके सहकारसे दुःखका वेदन–अनुभवन करावे।

असाता वेदनीय आस्रवके कारण

दुःखशोकतापाक्रंदन वध परिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्य सद्वेदस्य ॥११॥

शब्दार्थ—दुःख=बाह्य अथवा आंतरिक निमित्तसे पीड़ा रूप परिणाम। शोक=उपकारक वस्तुके वियोग होनेपर चिंता व खेद रूप परिणाम। ताप=निंदा होनेपर संताप व पश्चाताप। आक्रन्दन=आँसू सहित रोना पीटना व विलाप करना। वध=पीटना, पीड़ा देना। परिदेवन=करुणाजनक विलाप। आत्मस्थानि=अपने आपमें। परस्थानि=दूसरेमें। उभयस्थानि=आप और पर दोनोंमें। असद्वेदस्य=असातावेदनीय कर्मके।

अर्थ—१ दुःख २ शोक ३ ताप ४ आक्रन्दन ५ वध ६ परिदेवन यह छः और इन जैसे ताड़न तर्जन आदि और भी स्वयं अपनेमें, दूसरेमें अथवा एक साथ अपने तथा दूसरे दोनोंमें करनेसे असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है।

विशेष—शोक, ताप इत्यादि दुःखके ही भेद हैं, दुःखकी जाति बतानेको ही यह भेद कहे गए हैं, फिर भी इनमें उत्तरोत्तर दुःखकी वृद्धि है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब उपरोक्त दुःख आदि अपने स्वयंको, दूसरेको तथा एक साथ दोनोंको करनेमें दुःख पहुँचाने रूप (असाता वेदनीय) कर्मका आस्रव होना है तब व्रत तप आदि करने वाले साधुजनोंको जो प्रत्यक्ष अपनेको कष्ट पहुँचाते मालूम होते हैं और शिक्षक डाक्टर आदि जो परको अथवा कभीकभी अपने और पर दोनोंको दुःख देते दिखाई देते हैं उनको इस खोटे कर्मका आस्रव होता है या नहीं ? यदि कहोगे कि 'हाँ', तो व्रत तप, शिक्षा डाक्टरी आदि करना व्यर्थ और हानिकर, यदि कहोगे 'नहीं' तो क्यों नहीं ?

उत्तर यह है कि अच्छे अथवा बुरे कर्मोंका आस्रव जीवके शुभ अशुभ परिणामों पर है यदि तपव्रत आदिक कषाय आदि दुष्ट भावना सहित होंगे तो अवश्य ही असाता वेदनीय आस्रवके कारण होंगे किंतु सच्चा त्यागी चाहे कितना ही कठोर तपव्रत आदि करे वह ऐसा कभीभी क्रोध अथवा किसी दूसरे दुष्ट भावसे नहीं करेगा, कठिन तप आदिमें कितनेही दुखद

दोहा—आस्रवऽसाता कर्मके, दुःख शोक वध ताप।
क्रन्दन परिदेवन स्वयं, अन्य अन्य अरु आप ॥८॥

प्रसंग क्यों न आवें वह उनमें संताप आदि खोटे परिणाम न होने देगा। इसलिए वह असाता वेदनीय आस्रवके कारण न होंगे। इसी प्रकार यदि शिक्षक अपने शिष्योंको मारन ताड़न अथवा डाक्टर चीरफाड़ खोटे परिणामों सहित करें तो उनकोभी अवश्यही असातावेदनीयका आस्रव होगा किंतु बहुतही नीच प्रकृतिवाले शिक्षक अथवा डाक्टर ही ऐसा करेंगे, अधिकतर तो शिष्योंके सुधारने और बीमारोंको स्वस्थ बनानेकी सद्भावनासे प्रेरित होकर ही मारन ताड़न, अथवा चीर फाड़ आदि कार्य करते हैं। उनके ऐसा करनेमें भले ही अपनेको अथवा दूसरेको वा दोनोंको कष्ट अनुभव हो फिरभी उनका वह कार्य उनके शुभ परिणामोंके कारण असातावेदनीय आस्रवका कारण न होकर सातावेदनीय आस्रवका ही कारण पड़ता है।

इस सबका तात्पर्य यह है कि आस्रव केवल बाह्य निमित्तके अनुसार ही नहीं होता किंतु उन निमित्तोंमें जैसे जैसे भाव होते हैं उन्हींके अनुसार आस्रव होता है।

साता वेदनीय आस्रव के कारण

भूतव्रत्यनुकंपादान सराग संयमादियोगः क्षांतिः शौचमितिसद्वेद्यस्य ॥१२॥

शब्दार्थ—भूत=चारों गतिके जीव। व्रति=सम्यग्दर्शन पूर्वक अहिंसादि व्रतधारी अर्थात् सम्यक्दृष्टि देशसंयमी श्रावक और मुनि। अनुकंपा=दूसरेका दुःख देख सुनकर कंपन सहित उपकार बुद्धि। दान=अपने और परके उपकारार्थ आहार औषधि आदि देना। सरागसंयम=रागसहितचारित्र। आदि=संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप। योगः=ध्यान, समाधि आदि। क्षांतिः=क्षमा। शौचं=शौच,पवित्रता। इति=इसप्रकारके भावोंसे। सद्वेद्यस्य=सातावेदनीयका।

अर्थ—भूतअनुकंपा, व्रतिअनुकंपा, दान, सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा बाल तपमें यथोचितध्यान, क्षमा और पवित्रता इस प्रकारके भावोंसे सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है।

विशेष—वैसे तो भूत—चारोंगतिके जीवोंको अनुकंपामें ही व्रति-सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनियोंकी अनुकंपा गर्भित है फिर भी आचार्य महोदयने श्रावक और मुनियोंमें विशेषता और भक्ति रखनेको व्रति-अनुकंपा अलग दिखाई है। व्रतिश्रावक और मुनियोंके प्रति आर्द्रता पूर्वक उपकार बुद्धि होनेसे होता भी विशेष करके सातावेदनीयका ही आस्रव है।

सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रके धारक मुनियोंके जो महाव्रतरूप शुभ भाव होता है वह राग के साथ होनेसे सराग संयम है, राग कुछ संयम नहीं है, जितना वीतराग भाव है उतना ही संयम है क्योंकि सं=भले प्रकार यम=जम=जमना संयम=भले प्रकार शुद्ध स्वरूप में जमना

दोहा—सराग संयम आदि अरु, दया क्षमा शुचि दान।
आस्रव साता वेदको, इम भावोंसे जान ॥६॥

संयम है। यह संयम-चारित्र आस्रवका कारण नहीं हो सकता, सराग संयममें राग ही आस्रव का कारण है। मुनिका चारित्र मिश्रभाव रूप है, कुछ वीतराग होता है और कुछ सराग। जितना अंश वीतराग रूप है उससे तो संवर होता है और जितना अंश सराग रूप है वह आस्रवका कारण है सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि उसके स्वयंके मिश्रभावमें यह वीतरागता है और यह सरागता, वह इस शेष सराग अंशको हेय समझता है फिर भी यह सराग अंश आस्रवका कारण तो है ही।

कुछ (एक देश) संयमका होना 'संयमासंयम' देशव्रती श्रावकका चारित्र है।

अपनी इच्छा बिना परतंत्रतासे भोगोपभोग निरोध द्वारा विशेष क्लेश रहित भावोंसे हुई हुई कर्मोंकी निर्जरा 'अकाम निर्जरा' है।

यथार्थ ज्ञानसे शून्य मिथ्यादृष्टियों का अग्नि-प्रवेश गिरिपतन, अनशन आदि विशेष क्लेशरहित भावोंसे किये हुए तप 'बाल (बालक जैसी बेसमझीके) तप' होते है।

आगे मोहनीयकर्म आस्रवके कारण कहेंगे। मोहनीयकर्म भी दो प्रकारका होता है १ दर्शनमोहनीय-जो आत्माके असली स्वरूपको भुलावे २ चारित्र मोहनीय—जो आत्माको उसके असली स्वरूप न परिणमने (होने-रहने) दे।

दर्शन मोहनीय आस्रवके कारण

केवलि श्रुत संघ धर्म देवावर्णवादो दर्शन मोहस्य ॥१३॥

शब्दार्थ—केवलि=केवलज्ञानी, सर्वज्ञ। श्रुत=शास्त्र संघ=चार प्रकार मुनि—यति, मुनि, ऋषि, अनगार अथवा मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघ। अवर्णवाद=स्वरूप को उलटा कहना, निंदा करना, मिथ्यादोष लगाना।

अर्थ—केवलज्ञानी सर्वज्ञकी, सच्चेशास्त्रकी, चतुर्विध संघकी, अहिंसामय धर्मकी, और देवों के स्वरूपको उलटा कहने—उनकी निंदा करनेसे दर्शनमोहनीय कर्मका आस्रव होता है।

विशेष—केवलज्ञानीके सर्वज्ञताका निषेध, सर्वज्ञके क्षुधा तृषा आहार मल मूत्र रोग आदि दोष बताना, कवलाहारी कहना तथा कंबल पात्र आदिका कहना केवकीका अवर्णवाद है।

शास्त्रमें मद्य मांस; कामसेवन, रात्रि भोजन आदिका उपदेश बतलाना शास्त्रका अवर्णवाद है। देहसे उदासीन निर्ग्रंथ मुनियोंको अपवित्र, निर्लज्ज आदि कहना अथवा अर्जिकाओं औरव्रती श्रावक श्राविकाओंमें झूठे—न हुए हुए दोष लगाना संघका अवर्णवाद है।

अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंको मनुष्य, देश, राष्ट्रके पतनका कारण बताना, हिंसामें धर्म कहना धर्मका अवर्णवाद है।

दोहा—केवलि श्रुत संघ धर्म सुर,—अवरण दर्शन मोह।
परणति तीव्र कषायमय, कारण चारित मोह ॥१०॥

देवोंको मांसाहारी, शराबी, भोजन करनेवाले अथवा मनुष्यनी तिर्यंचनीसे कामसेवन करनेवाले कहना देवोंका अवर्णवाद है।

मैं शरीर हूं, मैं काला गोरा हूं, तन धन घर स्त्रीपुत्र आदि मेरे हैं ऐसी अगृहीत मिथ्यात्व रूप मान्यताएं तो सभी गतियोंमें प्रायः सभी जीवोंके अनादि कालसे चली आती है। मनुष्य गतिमें जीव जिस कुलमें जन्म लेता है उस कुलमें बहुधा किसी न किसी प्रकारकी धर्ममान्यता होनेसे उसके संस्कार उसी रूप दृढ़ होजाते हैं। अत्याधिक मनुष्योंको तो सच्चे धर्म, सच्चे देव आदिका नाम भी सुनने तक नहीं मिलता। यदि काकतालीय (कौवा उड़ता हुआ ताड़ वृक्ष के नीचेको जाता हो, उसी समय ताड़का फल पककर ठीक उसके ऊपर गिरे और उससे वह कौवा मरणको प्राप्त हो) न्यायवत कहीं किसीको सच्चे देव गुरु धर्म आदिका समागम हो भी जाता है तो वह मनुष्य अपने खोटे संस्कारोंके कारण उसमें सत्यासत्यके निर्णय करने की शक्ति होते हुए भी विवेक रहित हुआ अपनी उस निर्णय-शक्तिसे कोई काम नहीं लेता, उलटा सच्चेदेव सच्चेगुरु सच्चेशास्त्र सच्चे धर्ममें जैसे तैसे दोष लगाता है जिससे उसको फिर दर्शन मोहनीय (गृहीत मिथ्यात्व रूप) कर्मका आस्रव होता है। दर्शन-मोहनीयकर्म ही अनंतसंसारका कारण है।

चारित्रमोहनीय आस्रवके कारण

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्र मोहस्य ॥१४॥

शब्दार्थ—उदयात्=उदय-उदीरणासे, फलदेनेसे। तीव्र परिणामः=तेज परणति।

अर्थ—कषायके उदय अथवा उदीरणासे कषायरूप तेज परणति चारित्र मोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है।

विशेष—चारित्र मोहनीय कर्म भी दो प्रकारका है १ कषायवेदनीय—जो जीवको क्रोध मान माया लोभ कषायोंका वेदन-अनुभवन करावे २ नोकषाय (किंचित-हलकी कषाय) वेदनीय—जो जीवको हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा पुरुष-स्त्री-नपुंसक-किंचित कषायोंका वेदन करावे।

स्वयं क्रोधादि कषाय करना, दूसरोंमें कषाय उत्पन्न करना अथवा कषायके आवेश में अनेक खोटी प्रवृतियाँ-नीच काम करना कषाय वेदनीय आस्रवके कारण हैं।

सत्यधर्मकी तथा दीनहीन गरीब मनुष्योंकी हंसी उड़ाना, हंसी-उपहास-ठट्ठे मजाक की आदत रखना आदि हास्य नोकषाय आस्रवके कारण हैं।

विविध क्रीड़ाओंमें संलग्न रहना, व्रत नियम आदि योग्य अंकुशमें अरुचि रखना आदि रति नोकषाय आस्रवके कारण हैं।

अपनेको तथा दूसरोंको बेचैन बनाना आदि नोकषाय आस्रवके कारण हैं।

स्वयं शोकातुर रहना, दूसरोंको शोकमें डालना आदि शोक नोकषाय आस्रवके कारण हैं।

डरना, डराना आदि भय नोकषाय आस्रवके कारण हैं।

हितकरक्रिया तथा आचरणसे घृणाकरना आदिजुगुप्सा-ग्लानि नोकषाय आस्रवके कारण हैं

स्त्री जातिके योग्य कार्योंको करना, कामसेवनमें तीव्रता होना स्त्रीवेद नोकषाय आस्रव के; पुरुषजाति योग्य कार्योंको करना, कामसेवनमें मंदता होना पुरुषवेद नोकषाय आस्रवके और नपुंसक जातिके योग्य कार्योंको करना, कामसेवनमें अत्यंत तीव्रता होना अथवा अनंग क्रीड़ा नपुंसकवेद नोकषाय आस्रवके कारण है।

अब आयुकर्म आस्रवके कारण कहेंगे। आयुकर्म चार प्रकार १ नरक आयु २ तिर्यंच आयु ३ मनुष्य आयु ४ देव आयु कर्म। जो जीवको किसी नियत काल तक नरकमें रक्खे सो नरकआयु, तिर्यंचोंमें रक्खे सो तिर्यंचआयु इत्यादि।

नरकआयुकर्म आस्रवके कारण

बह्वारंभ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

शब्दार्थ—बह्वारम्भ = बहु+आरम्भ = बहुत लालसा सहित प्राणियोंकी वेदना व दुःखका कारण रूप व्यापार (कार्य-प्रवृत्ति) सो बहु आरंभ। (बहु) परिग्रह=अधिक मूर्छा-भोग उपभोगके पदार्थों में तीव्र लालसा।

अर्थ—प्राणियोंको वेदना व दुःखके कारणरूप प्रवृत्तिके परिणाम और भोग-उपभोग पदार्थोंमें तीव्र लालसा रूप परिणाम नरक आयु आस्रवके कारण हैं।

विशेष—यहाँ 'बहु' शब्द आरंभ और परिग्रह दोनोंके साथ लेना चाहिए। सेवा कृषि, वाणिज्य, भोजन, झाड़ने बुहारने आदिमें आसक्ति 'बहुआरम्भ' है। इन कार्योंमें जीवघात का विचार अविचार किए बिना प्रवृत्त होना और धन धान्य, दास दासी, मकान आदि संपत्ति दूसरोंका ध्यान रक्खे बिना हिंसा चोरी करके अथवा झूठ बोलकर भी जोड़ना अथवा जोड़नेकी तीव्र लालसा रखना नरक आयु कर्म आस्रवके कारण हैं। जब आरम्भ और परिग्रहमें अधिक प्रवृति होगी तभी तो हिंसा आदि क्रूर कामोंमें, दूसरोंका धन अपहरण करनेमें और भोगोंमें आसक्ति होगी। ऐसी आसक्ति ही कृष्ण लेश्या और रौद्र परिणामरूप पड़ती है, और यही बातें तो जीवको अधोगति-नरक ले जानेवाली होती हैं।

दोहा—बहु परिग्रह आरंभ है, नरक आयुको हेत।
माया है पशु योनिकी, ध्यान लगा सुन लेत ॥११॥

तिर्यञ्चआयुकर्म आस्रवके कारण

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

शब्दार्थ—माया=छल, कपट, प्रपंच, कुटिल भाव। तैर्यग्योनस्य=तिर्यंच-पशुयोनिका।

अर्थ—छल प्रपंच करना अथवा टेढ़े-कुटिल भाव रखना अर्थात् मनमें कुछ सोचे, वचनसे और कुछ कहे तथा शरीर से कुछ और ही करे, ऐसी बातें तिर्यंच आयु कर्म आस्रवकी कारण होती है।

विशेष—चारित्रमोहनीय माया नामकर्मके उदयसे प्रकट हुआ आत्माका कपट रूप परिणाम माया है। संक्षेपसे तो माया ही तिर्यञ्चआयुकर्म आस्रवकी कारण है, त्रिलोक मंडन हाथीके जीवने अपने मुनि भवकी अवस्थामें जरासे मायाचारसे पशुगतिका बंध किया था। विस्तार रूपसे मिथ्यात्व सहित धर्मका उपदेश देना, शील रहितपना, परको ठगनेमें प्रीतिरूप भाव, नील कापोत लेश्याके परिणाम, आर्तध्यान सहित मरण आदि तिर्यंच-पशुआयुकर्म आस्रवके कारण है।

मनुष्य आयुकर्म आस्रवके कारण

अल्पारंभ परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

शब्दार्थ-अल्प=थोड़ा, कम। मानुषस्य=मनुष्य (आयु कर्म) का।

अर्थ—कम आरंभ करना और कम परिग्रह रखना मनुष्यआयुकर्म आस्रवके कारण है।

विशेष—यहाँ 'अल्प शब्द भी आरम्भ और परिग्रह दोनोंके साथ लगाना चाहिए। नरकायु आस्रवके कारण 'बहुआरम्भपरिग्रह'केउलटे 'अल्प आरम्भपरिग्रह'मनुष्यआयु आस्रव के कारण है। विस्तारसे भद्र परिणाम, विनय, मन वचन कायकी सरलता पूर्वक व्यवहार, थोड़ी कषाय आदि मनुष्यायुकर्म आस्रवके कारण पड़ते हैं।

स्वभाव मार्दवं च ॥१८॥

शब्दार्थ—मार्दवं=कोमल परिणाम। च=भी।

अर्थ—स्वभावसे कोमल परिणामी होना भी मनुष्यायु कर्म आस्रवका कारण है।

विशेष—'कोमल परिणाम' देवायुका भी कारण है, अतः यह सूत्र सूत्र १७ से पृथक रचा गया है।

चारों आयु कर्मास्रवके कारण

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

शब्दार्थ—निःशीलव्रतत्वं=३ गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत इन सात शीलों और अहिंसा

दोहा—कम परिग्रह आरंभ नर, अरु मार्दव स्वभाव।
अव्रत अरु निः शील हैं, चारों वय आस्राव ॥१२॥

आदि पांच व्रतोंका नहीं पालना । सर्वेषाम्=सब अर्थात् चारों आयुका ।

अर्थ—शील और व्रतोंसे रहित होना चारों ही आयु कर्मास्रवका कारण है ।

विशेष—यहाँ भी 'निः' शब्द 'शील' और 'व्रत' दोनों शब्दों के साथ संबंधित है ।

चौथे गुणस्थान तक सब ही जीव शील, व्रतोंसे रहित असंयमी होते हैं । असंयमी जीव चारों प्रकारके आयु कर्मका आस्रव कर सकते है । पहलेसे तीसरे गुणस्थान तक के जीव बहु आरंभ तथा बहु परिग्रहसे नरकायु कर्मास्रव, मायासे तिर्यंचायु कर्मास्रव और अल्पारंभ, अल्प परिग्रह, कोमल भावोंसे मनुष्य तथा देवायु कर्मास्रव करते हैं । चौथे गुणस्थान वर्ती मनुष्य और तिर्यंच केवल देवायु कर्मका ही और देव तथा नारकी केवल कर्म भूमिके मनुष्यायु कर्मका आस्रव करते हैं । भोग भूमिके जीव भी देवायु कर्मका आस्रव करते हैं ।

देवायु कर्मास्रवके कारण

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा बाल तपांसि देवस्य ॥२०॥

अर्थ—देवायु कर्मका आस्रव सरागसंयम (छटे गुणस्थानमें), संयमासंयम (पांचवे में), अकाम निर्जरा और बाल-अज्ञानतप (पहले दूसरे तीसरे गुणस्थानमें) से होता है ।

विशेष-सराग संयम आदिकी व्याख्या सूत्र १२ के विशेषमें कर दी गई है, वहीं यह भी बतलाया है कि १ सरागसंयम २ संयमासंमय ३ अकामनिर्जरा (देखिए विशेष सू. २३' ८) और ४ बालतप यह चारों सातावेदनीय आस्रवके भी कारण है, कारण यह है कि देवोंमें अधिकतर साता वेदनीयका ही उदय रहता है, शुभ कर्मोंके भोगके लिए ही देवायु है ।

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

अर्थ—सम्यक्त्व भी देवायु कर्मास्रवका कारण है ।

विशेष-वास्तव में सम्यग्दर्शन तो आस्रवका कारण है ही नहीं,सम्यक्त्वके साथ राग अंश ही आस्रवका कारण है । इस सूत्रको पृथक कहनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्य और तिर्यंच सम्यग्दृष्टिके केवल वैमानिक देवायु कर्मका आस्रव होता है, भवनत्रिक देवोंके आयुकर्मका नहीं । सम्यग्दृष्टि देवऔर नारकी तो केवलकर्म भूमिके मनुष्यायु कर्मका ही आस्रव करतेहैं

कर्म-भूमिज मनुष्य और तिर्यंचोंके आयु कर्मका आस्रव उनके जीवन के शेष त्रिभागमें होता है। आयुकर्मके आस्रवकी जीवन भर में ऐसी त्रिभंगी अधिकसेअधिक आठ पड़ती है इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य अथवा तिर्यंच (कर्मभूमिज) आगामी आयुका आस्रव भोगी जाने वाली-भुज्यमान आयुके भिन्न भिन्न आठ समयोंमें अथवा अंतिम लघु अंतर्मुहूर्तमें ही

दोहा—सरागसंयम आदि जो, सुरायु आस्रव सोय ।
समकित केवल कल्पका आस्रव कारण होय ॥१३॥

करेगा। इसका खुलासा निम्न प्रकार है—

कल्पना किया कि किसी जीव की भुज्यमान आयु ६५६१ दिनको है इसके दो तिहाई ४३७४ दिन बीतने पर अथवा २१८७ दि० शेष रहनेपर सर्व प्रथम त्रिभंगी पड़ेगी जब कि वह आगामी आयु कर्मका आस्रव कर सकेगा। दूसरी त्रिभंगी ७२६ दि० आयु शेष रहनेपर, तीसरी २४३ दि० शेष रहनेपर, चौथी ८१ दि० शेष रहनेपर, पांचवीं २७ दि० शेष रहने पर छटी ६ दि० शेष रहनेपर, सातवीं ३ दि० शेष रहने पर, और आठवीं त्रिभंगी १ दिन आयु शेष रहने पर पड़ेगी।

देव और नारकी जीवोंकी तथा नित्य (शाश्वती) भोग भूमि के मनुष्य और तिर्यंचों की ऐसी ८ त्रिभंगियां उनकी भुज्यमान आयुके ६ माह शेष रहनेपर और भरत ऐरावतोंमें भोग भूमि कालके जीवोंकी उनके मरणके ६ माह शेष रहनेपर पड़ती हैं।

यदि कोई जीव ऐसी ८ त्रिभंगियों मेंसे किसीमें भी आगामी आयुका आस्रव वा बंध नहीं करता तो अंतिम लघु अंतर्मुहूर्तमें तो अवश्य ही करेगा (क्षपक श्रेणी चढ़कर सिद्ध होने वाले जीवों के अतिरिक्त)।

नामकर्मके मुख्य दो भेद हैं १ शुभनाम कर्म २ अशुभनाम कर्म।

अशुभनाम कर्मास्रवके कारण

योग वक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

शब्दार्थ-योग वक्रता=मनवचनकायका टेढ़ापन। विसंवादनं=अन्यथा प्रवृत्ति, झगड़ा, वृथा वादविवाद। च=और। अशुभस्यनाम्नः=अशुभनाम कर्मके।

अर्थ-मन वचनकायका टेढ़ापन अर्थात् सोचना कुछ, बोलना कुछ तथा करना कुछ और अन्यथा प्रवृत्ति-झगड़ा-वृथा वाद विवाद आदि अशुभ नाम कर्मास्रवके कारण हैं।

विशेष-आत्माप्रदेशोंमें परिस्पंदन-कंपन 'योग' है। अकेला 'योग' केवल सातावेदनीय के आस्रवका कारण है। अकेले योगमें वक्रता नहीं होती किंतु कषाय सहित योगमें होती है जब योगके साथ अशुभकषाय चलती है तब अशुभनाम कर्मास्रवका कारण होता है।

योग वक्रता और विसंवाद 'स्व' और 'पर' की अपेक्षासे अंतर है। अपनेही विषयमें मन वचन कायकी प्रवृत्ति भिन्न पड़े सो तो 'योग वक्रता' और यदि दूसरेके विषयमें भिन्न पड़े तो विसंवाद'—जैसे दो मित्रोंमें विसंवाद—झगड़ा कराना अथवा ठीक काम करते हुएको कह कर कि 'ऐसे नहीं, ऐसे करो' उलटे रास्ते लगा देना।

दोहा—विसंवाद अरु योग वक्र, अरु इनके विपरीत।
अशुभ और शुभनामके, आस्रव कारण मीत ॥१४॥

'च' शब्दसे मिथ्यादर्शन, किसीकी बुराई करना, चित्तकी चञ्चलता, छल कपट, स्व-प्रशंसा आदि भी अशुभ नाम कर्मास्रव के कारण समझने चाहिए।

शुभनाम कर्मास्रवके कारण

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

अर्थ—तद् विपरीत—ऊपरके अर्थात् योग-सरलता और संवादन (मन वचन काय प्रवृत्ति की एकरूपता), शत्रुओंमें मित्रता करा देना, किसीको बुरे मार्गसे हटा सत्मार्ग पर लगाना, सम्यग्दर्शन, चित्तकी स्थिरता आदि शुभ नाम कर्मास्रवके कारण हैं।

विशेष—यहाँ 'सरलता' शब्दका अर्थ आत्माकी शुद्धस्वभावरूप सरलताका नहीं किंतु शुभ भावरूप सरलताका है, क्योंकि शुद्धभाव तो आस्रव अथवा बंधका कारण होता ही नहीं।

नामकर्मके ९३ उत्तर भेदोंमें एक 'तीर्थंकरत्व' शुभनाम कर्म है जिसके उदयमें अचिंत्य विभूति युक्त तीर्थंकर पद प्राप्त होता है। आचार्य महोदय जीवका अधिकसे अधिक भला करनेके लिए ऐसे तीर्थंकरत्व नाम कर्मास्रवके कारण बतलाते हैं—

तीर्थंकरत्वनाम कर्मास्रवके कारण

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति-रावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥२४॥

अर्थ—१ दर्शन विशुद्धि २ विनयसंपन्नता ३ शीलव्रतेषु अनतीचार ४ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ५ अभीक्ष्ण संवेग ६ शक्तितस्त्याग ७ शक्तितस्तप ८ साधुसमाधि ९ वैयावृत्यकरण १० अर्हंतभक्ति ११ आचार्य भक्ति १२ बहुश्रुत-उपाध्याय भक्ति १३ प्रवचन-शास्त्र भक्ति १४ आवश्यक अपरिहाणि १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचन-वत्सलत्व यह सोलह कारण भावना तीर्थंकरनाम कर्मास्रवकी कारण हैं।

विशेष—तृ=तैरना, तीर्थ—जिसके द्वारा तिरा जावे-संसार समुद्रको पार किया जावे अर्थात् 'धर्म', कर=करने वाले, तीर्थंकर=धर्मके करने वाले, चलाने वाले। ऐसी आत्माओंके जन्म आदिसे सब जीवोंको सुख शांति तथा आनन्द होता है, इसीसे इनके गर्भ, जन्म आदि का महोत्सव देव भी मनाते हैं। ऐसे उत्सवोंको कल्याणक-भलाई अथवा शांतिके करने वाले महोत्सव कहते हैं।

दोहा—सोलह कारण भावना, दरश विशुद्धि इत्यादि।
तीर्थंकर पद आस्रव, उमास्वामि इम वादि ॥१५॥

इन कल्याणकों-महोत्सवोंकी संख्याके संबंधसे तीर्थंकरोंके तीन भेद हो जाते हैं, एक पांच-१ गर्भोत्सव २ जन्मोत्सव ३ तपोत्सव ४ केवल ज्ञानोत्सव ५ निर्वाणोत्सव कल्याणक वाले, दूसरे तीन-१ तपोत्सव २ केवलज्ञानोत्सव ३ निर्वाणोत्सव कल्याणक वाले और तीसरे दो-१ केवलज्ञानोत्सव २ निर्वाणोत्सव-कल्याणकवाले।

जिसने अपने पहले भवमें केवली अथवा श्रुतकेवलीके चरणारविंदके समीप १६ कारण भावना भाकर तीर्थंकरत्वनाम कर्मका आस्रव करलिया है वह पांच कल्याणक वाला तीर्थंकर, जिसने अपने वर्तमान भवकी गृहस्थ अवस्थामें केवली अथवा श्रुतकेवलीके पादमूलमें सोलह कारण भावना भाकर तीर्थंकरत्वनाम कर्मका आस्रव किया है वह तीन कल्याणक वाला और जिसने अपने वर्तमान भवकी मुनि अवस्थामें केवली अथवा श्रुतकेवलीके चरणोंमें सोलह कारण भावना भाकर तीर्थंकरत्वनाम कर्मका आस्रव किया है वह दो कल्याणक वाला तीर्थंकर होता है। तीन और दो कल्याणकवाले तीर्थंकर विदेहक्षेत्रोंमें ही होते हैं, भरत ऐरावत क्षेत्रोंमें नहीं, भरतऐरावत्तमेंतो पाँच-पाँच कल्याणकके ही तीर्थंकर होते हैं।

इस परसे ज्ञात हुआ कि तीर्थंकरत्व कर्मका आस्रव कराने वाली यह सोलाह कारण भावनाएं हैं, इनका संक्षेपमें स्वरूप निम्न प्रकार है-

१ दर्शन विशुद्धि (सम्यग्दर्शनकी निर्मलता)-

चौ०-दर्श विशुद्धि धरै जो कोई। ताको आवागमन न होई॥

दसण धम्मो मूलः- सम्यग्दर्शन धर्मकी जड़ है, नीव है। सम्यग्दर्शन बिना न श्रावक धर्म होता है और न मुनिधर्म। सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान कुज्ञान, चारित्र कुचारित्र और तप कुतप है। सम्यग्दर्शनकी उज्वलता-निर्मलता दर्शनविशुद्धि है। दर्शनविशुद्धता निर्वाणके सुख की कारण है, विनय सम्पन्नता आदिक अन्य पंद्रह भावनाओंका मूल कारण है; दर्शनकी निर्मलताके बिना दूसरी पंद्रह भावना हो ही नहीं सकतीं। यह निर्मलता सम्यग्दर्शनको अष्ट अंग सहित तथा २५ दोष रहित पालनेसे होती है।

सम्यग्दृष्टि को १ अपने आत्माके अनुभवमें २ सर्वज्ञ वीतराग आप्तदेवके स्वरूपमें ३ निर्ग्रंथ विषयकषायरहित गुरुमें ४ अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद रूप आगम-शास्त्र में तथा ५ दया रूप धर्ममें किसी प्रकार कैसो भी शंका नहीं होती-सो सम्यग्दर्शन का पहला निःशंकित अंग है-

दोहा-यही और इहि भांति है, और न और प्रकार।
खड्ग-[1]पाय सम अटल[2] रुचि, अंग निःशंकित सार॥

सम्यग्दृष्टि धर्मसेवन करके उसके फल स्वरूप विषयोंकी इच्छा नहीं करता, उसे तो इंद्र

१-तलवारकी आब। २-गाढ़ श्रद्धा।

अहमिंद्रके सुख भी दुःख रूप ही दिखते हैं। अतः वह किसी प्रकार के विषय भोगों तथा चक्री अहमिंद्र आदिके सुखोंको लालसा रहित हुआ निःकांक्षित अंग पालता है–

दोहा-दुख[३]मिश्रित अरु अंत[४]युत और पुण्य[५]आधीन। भवसुखकी वाँछाबिना,हो निःकांक्षितलीन
तीन लोककी संपदा, चक्रवर्तिके भोग। काक बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टी लोग ॥

सम्यग्दृष्टि अशुभ कर्मके उदयसे प्राप्त सामग्रीमें ग्लानि करके अपने परिणाम-भाव नहीं बिगाड़ता। वह विचारता है कि मैंने जैसा पहले कर्मास्रव किया है उसीके अनुसार भोजन, स्त्री, पुत्र, संपत्ति, विपत्ति प्राप्त हुई है। दूसरोंको भी रोगी, दरिद्र, नीच, मलिन देख अपने भावोंमें कलुषता नहीं लाता। मलमूत्र, भयंकर श्मसान आदिमें ग्लानि रहित हुआ निर्विचिकित्सित रूप रहता है–

दोहा-कायास्वभाविक अशुचि,सम्यक्सहित पवित्र। ग्लानिरहितगुण[६]प्रीति,जो,निर्विचिकित्सा मित्र

सम्यग्दृष्टि खोटे व्यंतर आदिक देव, खोटे शास्त्र, खोटे गुरु तथा मंत्र औषधि आदिक के प्रभावसे वस्तुओंमें विपरीतता अथवा विचित्रता देख उन खोटे देव आदिकों की सराहना नहीं करता और न उनके अनोखेपनमें ही लुभाता है, इस प्रकार अमूढ़दृष्टि अंगको निभाताहै–

दोहा–कुगुरु कुदेव कुधर्म अरु, इनके सेवी जान। मनवचकाय सराह नहिं, सद्दृष्टि ते मान ॥

सम्यग्दृष्टि विचारता है कि संसारी जीव कर्मोंके वश हुए अपने स्वभावको भूल चोरी आदि खोटे कार्योंमें लगते हैं. वह जीवोंको करुणाके पात्र समझता और उनके अज्ञानसे व असमर्थतासे लगे दोषोंको ढकता हुआ उपगूहन अंग पालता है–

दोहा–स्वयंशुद्ध सत्धर्मकी, अरु पर-निंदा जोय। दूर करें बुधिमान जे, तिन उपगूहन होय ॥

सम्यग्दृष्टि यदि स्वयंको अथवा किसी अन्य धर्मात्मा पुरुषको रोग, दरिद्रता अथवा मोहनीयकर्मके प्रबल उदयमें धर्मसे चलायमान देखता है तो वह उसको यथाशक्ति धर्ममें स्थिर करके सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण अंगका पालन करता है–

दोहा–सम्यग्दर्शन चरितसे, जो डिगते हों वीर। तिनको पुनि स्थिर करें, स्थितिकरणी धीर ॥

सम्यग्दृष्टि स्त्री, पुत्र, धन आदिको संसा परिभ्रमणका कारण जान उनमें विरागता धारण करता हुआ देव गुरु धर्ममें तथा धर्मात्मा श्रावक मुनियोंमें गऊवच्छ सम प्रीति रखता अथवा वात्सल्यअंगका निर्वाह करता है–

दोहा–कपटरहित सद्भावयुत, गऊवच्छ सम प्रीत। साधर्मी जीवोंप्रति, वात्सल्यकी रीत।

सम्यग्दृष्टि अपने मन वचन काय, धन व्रततप, भक्ति आदि द्वारा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की उत्कृष्टता दिखाता हुआ प्रभावना अंग पालता है

३-दुःखसे मिला हुआ ४ अंतसहित-नाश होने वाला ५-पुण्य-अच्छे कर्मपर निर्भर ६ गुणोंमें प्रीति।

'अंग' शब्दका अर्थ अंश, अवयव है; सम्यग्दर्शन अंगी-अंशी, अवयवी और निःशंकित आदि उसके अंग-अंश, अवयव हैं, 'अंग' पदका अर्थ-साधन-कारण भी है, सम्यग्दर्शन साध्य-कार्य और निःशंकित आदि उसके साधन-कारण है। तथा 'अंग' का अर्थ लक्षण-चिन्ह भी है, जिसके सम्यग्दर्शन होता है उसके निःशंकित आदि चिन्ह अवश्य होते हैं।

सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंमें आदिके चार निषेध-नहीं करनेयोग्य रूप हैं जिनमें १शंका २ कांक्षा ३ विचिकित्सा (ग्लानि) ४ मूढता (मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा और स्तुति) न होना, न करना बताया है, इनके करनेसे सम्यग्दर्शन अतीचार सहित हो जाता है, मूढ़तामें विधर्मी-मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा करना और प्रत्यक्ष स्तुति करना दोनों गर्भित हैं। अतः इन चारोंमें शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव यह पाँचों सम्यग्दर्शन के अतीचार आ जाते हैं। अन्तके चार अङ्ग विधेय-करणीय रूप है, यह चारों साधर्मियोंमें किये जाते है जो इनको नहीं करता उसके सम्यग्दर्शन कदाचित् भी नहीं होता।

इन आठ अंगोंके उलटे आठ दोष १ शंका २ कांक्षा ३ विचिकित्सा ४ मूढ़दृष्टि ५ निरुपगूहन ६ बहिष्करण ७ द्वेष ८ अप्रभावना, + तीन मूढ़ता १ रागीद्वेषी देवोंका मानना २ पाखंडीगुरुका मानना ३ हिंसा प्ररूपक खोटे शास्त्र-धर्मका मानना, + आठ मद १ जातिमद २ कुलमद ३ रूपमद ४ ज्ञानमद ५ धनमद ६ बलमद ७ तपमद ८ प्रभुतामद, + छःअनायतन १ कुगुरुप्रशंसा २ कुदेवप्रशंसा ३ कुधर्मप्रशंसा ४ कुगुरुसेवककी प्रशंसा ५ कुदेवसेवककी प्रशंसा ६ कुधर्मसेवककी प्रशंसा = २५ दोष सम्यक्त्वको मलीन करते हैं। मोक्ष पाहुड़ में भगवान कुंदकुदाचार्य कहते हैं—कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु।

लज्जा भय गारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो दु ॥६२॥

अर्थ--जो लज्जासे या भयसे अथवा बड़ाईके कारण भी कुदेव कुधर्म कुगुरुकी वंदना करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

सम्यक्त्वके ८ अंग पालने तथा उसके उपरोक्त २५ दोष दूर करनेसे सम्यग्दर्शन की उज्वलता अर्थात् दर्शनविशुद्धि होती है।

भावनाके अर्थ हैं किसी बात का बार बार चिंतवन करना, उसका विशेष ध्यान रखना, सो दर्शनविशुद्धिका बार बार चिंतवन करना, सम्यग्दर्शनकी उज्वलताका विशेष ध्यान रखना 'दर्शनविशुद्धि भावना' है।

सम्यग्दर्शन आत्माकी शुद्धपर्याय होनेसे सम्यग्दर्शनकी निर्मलता किसी प्रकार भी आस्रवका कारण नहीं हो सकता किंतु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें कषायकी एक विशेष प्रकार की (शुभ राग रूप) विशुद्धि होती है तो तीर्थंकरत्व नाम कर्मके आस्रवका कारण होती है। अतः यहाँ दर्शनविशुद्धि (शुभ राग रूप विकार सहित शुद्धि) का अर्थ 'सम्यग्दर्शनके साथ

चलते हुए शुभ राग' है।

२ विनयसंपन्नता—विनय महाधारै जो प्राणी। शिव वनिताकी सखी बखानी ।।

विनयसे परिपूर्ण रहना 'विनयसंपन्नता' है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र गुणोंका तथा इन गुणों सहित व्यक्तियोंका आदर सम्मान करना विनय है। विनय दो प्रकार १ शुद्ध भाव रूप—अपने सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूप शुद्ध स्वरूपमें आदर होना निश्चयविनय २ शुभभाव रूप व्यवहार विनय। निश्चयविनय तो संवररूप होनेसे आस्रवका कारण हो ही नहीं सकती। व्यवहारविनय जो कि सम्यग्दृष्टिके ही सम्भव है आस्रवका कारण है और इसी से तीर्थंकरत्व नामकर्म का आस्रव होता है।

परमागममें विनय चार प्रकारकी भी कही है १ दर्शनविनय २ ज्ञानविनय ३ चारित्र विनय ४ उपचारविनय। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धतासे ही अपना जन्म सफल मानना, सम्यक्-दर्शनके धारियोंमें आदर भाव रखना 'दर्शनविनय' है। सम्यग्ज्ञान प्राप्तिमें उद्यम करना, सम्यग्ज्ञानके कारण अनेकांतवाद रूप आगमका उत्साह, विनयपूर्वक पढ़ना सुनना सुनाना, सम्यग्ज्ञानियोंमें आदर, भक्ति भावका होना 'ज्ञानविनय' है। शक्तिप्रमाण चारित्र धारणमें हर्ष करना, दिनदिन विषय कषायोंको घटाना, चारित्रधारियोंके गुणोंमें अनुराग-आदर करना 'चारित्रविनय' है। मनवचन कायसे देवगुरु शास्त्रधर्मकी प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूप विनय करना 'उपचारविनय' है। यह चारों प्रकारका विनय व्यवहारविनयमें ही आता है।

मान कषायके घटनेपर ही निश्चय तथा व्यवहार रूप विनय बनतो है। मेरे द्वारा कोई भी जीव दुखी अथवा अपमानित न हो ऐसा ही विचार सदा रहना चाहिए। कुल जाति आदि आठों प्रकारका मद संसारमें डुबोने वाला है। मद-घमंड-अभिमान इस लोक और पर-लोक दोनोंको बिगाड़ता है। रावण आदि अभिमानियोंकी दुर्दशा से कौन परिचित नहीं? अतः मदको त्याग विनयरूप रहना ही योग्य है। यथायोग्य सबकी ही विनय करना चाहिए। मनुष्य जन्मका मंडन विनय ही है। भगवान गणधर देव तक ऐसा कहते है कि हमारे मनुष्य जन्मकी एक घड़ी भी विनय बिना न जावे। इस प्रकार विनयसम्पन्नताका निरंतर, ध्यान रखना चाहिए— दोहा—विनय बिना विद्या नहीं, विद्या बिन नहिं ज्ञान।

ज्ञान बिना सुख ना मिलै, यह निश्चय कर जान ।।

३ शीलव्रतेष्वनतीचार—शील सदा दिढ जो नर पालें। सो औरनकी आपद टालें ।।

क्रोधादि कषाय रहित आत्मस्वभाव रूप शील तथा अहिंसा आदि व्रतोंमें निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेषु अनतीचार' है और निरंतर ऐसा चितवन करना अथवा ध्यान रखना कि मेरे शीलव्रतोंमें किसी प्रकारका कोई दोष न लगने पावे शीलव्रतेष्वनतीचार भावना है। शीलका अर्थ है आत्माका स्वभाव। आत्म स्वभावके घात करने वाले हिंसा आदिक पांच पाप, हैं

तथापि इनमें कामसेवन एकही पाप दूसरे सब पापोंकी जड़ है। अतः अधिकतर काम सेवन को ही कुशील और ब्रह्मचर्यको शील कहा है।

ब्रह्मचर्य ही तपव्रत संयमका जीवन, स्वर्गादिक शुभगतिका कारण और दुर्गतिके दुःखों का नाशक है। शीलरहित पुरुषका अध्ययन, पूजन, तप आदि सब निरर्थक तथा धर्मकी निंदा कराने वाला है। ऐसा जान ब्रह्मचर्यका दृढतासे पालन करो। धर्मरूप वनके विध्वंस करनेवाले मनरूप मदोन्मत्त हाथीको रोको, चंचल न होने दो। जिसप्रकार मस्त हाथीके पास कोई नहीं जाता उसी प्रकार कामोन्मत्त पुरुषमें कोई गुण नहीं रहता। काम सवर का वैरी है अतः 'सवरारि' खोटा दर्प-घमंड उत्पन्न करता है अतः 'कंदर्प', इससे अनेक मनुष्य तिर्यच परस्पर लड़लड़के मर जाते हैं अतः यह 'मार' कहलाता है।

कुशीलके मार्गमें न तो स्वयं चलो, न दूसरेको ऐसे कुमार्गका उपदेश दो और न कुशील की अनुमोदना ही करो।। प्रत्येक स्त्रीमें माता बहन पुत्रीवत भाव रक्खो। स्त्री भी प्रत्येक पर-पुरुषमें पिता भाई पुत्रका भाव रखती हुई अपना शीलव्रत पाले।

जिस कामने हरि हर ब्रह्मा आदि बड़ेबड़े ऋषि मुनियोंको भी भ्रष्ट करके अपने आधीन कर लिया उसे पार्श्वनाथ महावीर आदि बालब्रह्मचारियोंका स्मरण करते हुए दृढ़ चित्तसे जीतो। शीलधारीको इन्द्रादि देव भी पूजते हैं। शीलके प्रभावसे ही सीताके अग्निकुंडका कमलयुत सरोवर तथा सुदर्शन सेठकी शूलीका सिंहासन हो गया था। बस यदि मनुष्य जन्म सफल हुआ चाहते हो तो शीलको उज्वल बनाते हुए शीलव्रतेष्वनतीचार भावनाका निरंतर ध्यान रक्खो।

४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—ज्ञानाभ्यास करै मन माहीं। ताके मोह महातम नाहीं ॥

अभीक्ष्ण-निरन्तर ज्ञानोपयोग जो चैतन्य आत्माकी परणति है उसका अभ्यास, ध्यान चिंतवन करना सो 'अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना' है। हे आत्मन्! निरन्तर ज्ञान अभ्यास ही करो। इसके बिना मनुष्य पशु समान है अतः ज्ञानाभ्यास बिना एक क्षण भी मत खोओ। योग्य कालमें जिनागमकी स्वाध्याय करो, शास्त्रके अनेकांत रूप अर्थका चिंतवन करो। धर्मके इच्छुक व्यक्तियोंको धर्मोपदेश दो।

ज्ञानाभ्याससे विषयोंकी इच्छा अथवा कषायोंका अभाव होता है। माया, मिथ्यात्व, निदान-शल्य और अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प ज्ञानसे ही नष्ट होते हैं। ज्ञानाभ्याससे ही मन स्थिर होता तथा धर्मध्यान शुक्लध्यानमें अचलता आती है। इसीसे उत्तम क्षमादि गुण प्रकट होते हैं।

ज्ञान समान कोई धन नहीं, ज्ञानदान समान कोई दान नहीं। ज्ञान ही स्वदेश-विदेशमें आदर करानेवाला उत्कृष्ट धन है। इस धनको न कोई चोर चुरा सकता, न कोई भाई बांधव

बँटवा सकता और न ही राजा आदिक कोई बलवान पुरुष छीन सकता है। ज्ञानसे ही सम्यग्दर्शन होता अथवा मोक्ष भी ज्ञानसे ही होता है।

सम्यग्ज्ञान आत्माका अविनाशी धन है। ज्ञान बिना परमार्थ और व्यवहार दोनों नष्ट हो जाते हैं। ज्ञान रहित राजपुत्रका भी निरादर ही होता है। इसलिए अपनेको सम्यग्ज्ञानके अभ्यासमें ही लगाओ, अपनी संतानको पढ़ाओ, तथा दूसरोंको विद्याभ्यास कराओ। सद्विद्या प्रचारके लिए विद्यालय गुरुकुल आदि खुलवाओ। जब तक आयु काय बुद्धि बन रही है तबतक मनुष्य जन्मको एक घड़ी भी ज्ञानाभ्यास बिना न बिताओ। बस ज्ञानधन ही परलोक में साथ जाता है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगकी महिमाकावर्णन करोड़ों जिव्हाओंसेभी नहीं होसकत

कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्मझरैं जे। ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ॥

५ अभीक्ष्ण संवेग—जो संवेग भाव विस्तारै। सुरग मुकति पद आप निहारै ॥

संसार देह भोगोंसे विरक्तता तथा धर्मके फलमें अनुराग संवेग है। इसका निरंतर ध्यान तथा चितवन अभीक्ष्ण संवेग भावना है। संसार देह भोगोंसे विरक्तता के लिए निम्न प्रकार भावना भाना योग्य है—

इस संसार रूपी महावनमें भ्रमण करते हुए इसका अंत पाना महान दुर्लभ है। इसमें जन्म मरण बुढ़ापा दावानल सदा जलती तथा जीवोंको महा दुःख देती रहती है। कभी यह जीव नरक गतिमें वहाँके क्षेत्र संबंधी-गर्मी सर्दी, भूख प्यास आदिकी, पारस्परिक और असुर देवों कृत छेदन भेदनकी सुनने मात्रसे रोंगटे खड़े करने वाली भयानक वेदना सहता है, कभी यह पशुपर्यायमें बांधे तथा पीटे जानेके घोर अकथनीय दुःखोंको भोगता है, सुरगतिमें परविभूति देख देख झुरने जलनेके दुःखोंका कोई वारापार ही नहीं, मनुष्य योनिमें इष्टवियोग अनिष्टसंयोगके, दीनतादरिद्रताके, तथा रोगशोकके दुःखोंमें यह जीव बराबर तड़पा करता है। यदि संसारमें कहीं कुछ भी सुख होता तो फिर भला तीर्थंकर चक्रवर्ति जैसे पुण्याधिकारी पुरुष क्यों इसको त्याग शिव साधनमें लगते। संसारका सत्यार्थ स्वरूप चितवन करनेसे संसार परिभ्रमण से भयवान हो मोक्ष रूप सच्चे निराकुल सुख-प्राप्तिकी लग्न लगती है।

देह-शरीर रोग रूपी सांपोंका बिल है, अनित्य है, दुःखका कारण है, अपवित्र है, निःसार है, धोते धोते भी निरंतर मैल ही उगलता है, पोषण करते करते भी दुर्बल होता जाता है, शिक्षा देते देते भी गुण ग्रहण नहीं करता, क्रोधादि कषायोंको नहीं छोड़ता, मर्दन करते भी दिन दिन कठोर कर्कश होता जाता है, करोड़ों उपायोंसे रक्षा करते करते भी कालके मुखमें प्रवेश करता जाता है। नाटक समयसारमें कविवर पं० बनारसीदासजी कहते हैं—

सवैया—देह अचेतन प्रेत दरी रज-रेत भरी मल खेतकी क्यारी।
व्याधिकी पोट अराधिकी ओट उपाधिकी जोट समाधि सों न्यारी ॥
रे जिय! देह करै सुख हानि, इते पर तो तोहे लागत प्यारी।
देह तो तोहे तजेगी निदान, पै तू ही तजै किन देहकी यारी ॥

दोहा—सुन प्राणी! सद्गुरु कहै, देह खेदकी खान। धरै सहज दुख दोषको, करै मोखकी हान।

शरीरका ऐसा निंद्य स्वभाव चिंतवन करनेसे देहसे राग दूर हो चिन्मूर्ति आत्मामें रुचि होती है। भोग इस जीवके महान शत्रु हैं, संसार रोगको बढ़ाते हैं। मोहके उदयमें यह अज्ञानी जीव भोगोंको सुखदाई समझता है, किंतु यह भोग हैं वज्रसे, विषसे, अग्निसे, काले नागसे भी अधिक दुखदाई। ज्यों-ज्यों मनवांछित भोगोंकी प्राप्ति होती जाती है तृष्णा नागिन लोभरूपी विषकी लहर अधिक अधिक बढ़ाती रहती है। भोग सेवन करते हुए तो भले मालूम होते हैं किंतु इनका फल महा भयानक होता है, यह जीवको, घोर नरकोंमें लेजा पटकते हैं।

विषयभोग का, देहका, संसारका स्वरूप विचार कर इनसे मनको हटा अपने आत्माके सद्-चित्-आनंद रूप भोगमें लगना चाहिये।

इस प्रकार चिंतवन करता हुआ धर्म तथा धर्मके फलमें प्रीति करे। निरंतर ऐसा विचार करना कि धन संपदाका पाना, आज्ञाकारी पुत्र स्त्री आदिका मिलना, रूपवान बलवान विद्वान होना, संसारमें मान्यता पाना, स्वर्गमें अहमिंद्र आदि देव होना, चक्री नारायण प्रति-नारायण यहाँतक कि तीर्थंकर होना यह सब धर्मका फल है, ऐसे अभीक्ष्ण संवेग भावना है।

६ शक्तितस्त्याग—दान देय मन हरष विशेखै। इह भव जस पर भव सुख पेखै ॥

यथाशक्ति अंतरंगमें आत्माके घातक लोभादिक कषायोंका अभाव करना और सुपात्रों के रत्नत्रय गुणमें अनुराग करके उनको आहार आदिक चार प्रकार दान देना शक्तितस्त्याग है। दयाबुद्धिसे साधुओं द्वारा किये जानेवाले ज्ञानदर्शनचारित्रके परित्याग (दान-उपदेश) का नाम शक्तितस्त्याग है (धवला ८ पृ. ८७)।

१ आहारदान २ औषधिदान ३ ज्ञानदान ४ अभयदान यह दानके चार भेद हैं। संसारी प्राणियोंका जीवन आहारपर ही अवलंबित है, आहारसे ही देहकी स्थिति रहती, देहसे रत्नत्रय धर्म पलता तथा धर्मसे मोक्षका सच्चा सुख मिलता है अतः आहारदान जैसा और कोई उपकार नहीं। रोगीके सदा आर्तध्यान बना रहता है; रोगमें स्वाध्याय, सामायिक ध्यान आदि कुछ नहीं बनता। रोगका शमन औषधिसे होता है, रोगके मिटनेपर ही कोई सांसारिक अथवा धार्मिक कार्य किया जा सकता है। अतः औषधिदान परम कर्त्तव्य है। ज्ञान बिना मनुष्य पशु समान है, ज्ञान बिना धर्मका स्वरूप, पापका स्वरूप, देवकुदेव, गुरु-कुगुरु कुछ भी नहीं जाना जा सकता। ज्ञानसे ही इहलोक परलोक संबंधी कार्य बनते हैं।

अतः किसीको ज्ञानदान देना उसका महान महान उपकार करना है। छः कायके जीवोंकी हिंसासे बचना, उनको किसी प्रकारके कष्ट भयसे बचाना अभयदान है।

इस प्रकार त्याग, दान, उपदेशकी भावना रखना शक्तितस्त्याग नामकी छटी भावना है

७ शक्तितस्तप-जो तप तपै खपै अभिलाषा। चूरै करम शिखर गुरु भाषा ॥

'इच्छानिरोधोतपः'-इच्छाका रोकना तप है। चौदह प्रकार अंतरंग और दस प्रकार बहिरंग परिग्रहमें इच्छाका अभाव होना तप है। इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्तिका रुकना तप है। मनको काम क्रोधादिके वश नहीं होने देना तप है। जैसे सोनेको तपानेसे उसका सब मैल दूर हो जाता है इसी प्रकार तपके प्रभावसे आत्मा कर्ममल रहित शुद्ध हो जाता है।

यह शरीर अनित्य है, अस्थिर है, अशुचि है और अनेक दुःखोंका कारण है। इसको नाना भाँति पुष्ट करते हुए तथा संवारते हुए भी यह अपना नहीं होता। अतः इसे साध कर रखना ही योग्य है। इसलिए अनशन अवमोदर्य आदि छः बाह्य तथा प्रायश्चित विनय आदि छः अंतरंग तपोंका यथाशक्ति अभ्यास करते रहना चाहिए जिससे कर्मोका नाश होकर पूर्ण अविनाशी सुखकी प्राप्ति हो। तपोंका विशेष वर्णन अध्याय ९ के सूत्र १९-४४ तक देखिए।

तपके बिना इन्द्रियोंकी विषयोंके प्रति लोलुपता नहीं घटती, न शरीरका सुखिया स्वभाव मिटता और न आत्माको अचेत करनेवाली निद्रा ही जीती जा सकती है। तपके बिना तीन लोककी जीतनेवाले कामदेवको नष्ट नहीं किया जा सकता। तपसे ही कर्मोकी अविपाक निर्जरा होती है और यही मोक्षका साक्षात कारण है। अतः जैसे बने तप करना तथा इसकी भावना रखनी ही उचित है।

८ साधु समाधि-साधु समाधि सदा मन लावै। तिहुँजग-भोग भोगि शिव जावै ॥

साधु=भले प्रकार, आधि=मानसिक पीड़ाओं-चिंताओंको सम्=शमन करना साधु समाधि है। व्रतीसंयमी पुरुषोंके विघ्न दूर कर उनके व्रतशीलकी रक्षा करना अथवा अपना परिणाम बिगाड़ने वाला मरण आ जाय, उपसर्ग अथवा रोग आ जावे, इष्ट वियोग अथवा अनिष्ट संयोग हो जावे तब भी धर्ममें-स्वभावमें दृढ़ रहना साधु समाधि है। ज्ञानी तो उपसर्ग आदि के समय ऐसा विचारता है-मैं तो अखंड अविनाशी ज्ञान दर्शन स्वभाव हूँ, मेरा मरण कभी होता ही नहीं- दोहा-ज्यों तन कंचुक त्याग सों, विनसे नाहिं भुजंग।

त्यों शरीरके नाशसे, अलख अखंडित अंग ॥

वह मृत्युको अपना परम उपकारी मित्र मानता है, मृत्युको वह जीर्णशीर्ण-पुराने सड़े शरीरसे निकाल कर तपव्रत संयमके फल स्वर्ग मोक्ष आदिका दिलाने वाला समझता है। बस रत्नत्रय सहित देहको छोड़ना ही साधु समाधि है, सो महा दुर्लभ है अतः साधु समाधि भावनाका निरंतर चितवन-ध्यान रखना चाहिए।

९ वैयावृत्यकरण—निशदिन वैयावृत्य करैया। सो निहचै भव नीर तरैया ॥

दुखी, क्लेशित, रोगी मुनि श्रावककी निर्दोष विधिसे सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्य है, ऐसे सेवा सुश्रूषाके भाव रखना वैयावृत्यकरण भावना है। निर्दोष भक्ति पूर्वक आहार आदि दान देना कर्मोदयसे लगे हुए दूसरोंके दोषोंको ढकना, धर्मसे चलायमान होते हुए को धर्ममें स्थापन करना इत्यादि सब वैयावृत्य है। आचार्य आदि गुरुजन जो शिष्य आदिको पढ़ाते अथवा उन्हें संयम आदिका उपदेश देते है सो शिष्य आदिका आचार्य आदि द्वारा किया हुआ वैयावृत्य है और शिष्यका गुरुकी आज्ञा मानना उनकी सेवाभक्ति करना आचार्य आदि का शिष्य द्वारा किया गया वैयावृत्य है।

वैयावृत्य करनेसे ग्लानिका अभाव तथा धर्म और धर्मात्माओंमें प्रीति बढ़ती है। वैयावृत्य से ही अरहंतादिक पंचपरमेष्ठीके गुणोंमें अनुराग भक्ति होती है। जिसने रत्नत्रयधारी मुनि अथवा श्रावकका वैयावृत्य किया उसने रत्नत्रयसे ही अपना संबंध कर लिया और अपने को मोक्षमार्गमें लगा लिया। वैयावृत्य न हो तो मोक्षमार्ग ही समाप्त हो जावे।

धन खर्च देना तो सुलभ है, किंतु रोगीकी टहल करना बड़ा दुर्लभ है। फिर सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावककी टहल तो किसी बड़े भाग्यशालीसे ही बनती है। अपनी शक्ति अनुसार छः कायके जीवोंकी रक्षामें तत्पर रहनेसे सब प्राणियोंकी वैयावृत्य हो जाती है। इस तरह की सार्वभौमिक वैयावृत्य भावना ही तीर्थंकरत्वनाम कर्मास्रवको कारण है। निश्चय वैयावृत्य तो संसार परिभ्रमणके थकानसे दुखी अपने आत्माका वीतराग बनाकर अपने चेतकभावमें स्थिर कर निर्मल बनाना है।

१० अरहंतभक्ति—जो अरहंत भगति मन आनें। सो जन विषय कषाय न जानें ॥

अर्हंत—जीवन मुक्त-केवली भगवानके गुणोंमें प्रीति होना अर्हंतभक्ति है। प्रतिदिन जिन मंदिरमें अर्हंत भगवानका अभिषेक, पूजन, स्तवन, दर्शन करना अर्हंत भक्ति है। उनके गुणों का बार बार ध्यान, मनन, चिंतवन करना अर्हंतभक्ति भावना है। वैसे तो अरहंत भगवान गुणोंके भंडार—अनंतगुणोंके धारी होते है किंतु उनमें चार विशेष गुण होते है जो अनंत चतुष्टयके नामसे पुकारे जाते है, यह १ अनंतदर्शन २ अनंतज्ञान ३ अनंतवीर्य और ४ अनंत सुख है जो अर्हंतों—जीवन्मुक्त आत्माओंमें चार घातिया कर्मोंके नाशसे प्रकट हो जाते हैं। इन चारों गुणोंका चिंतवन करना और स्वयं अपनेको भी अनंत चतुष्टय रूप अनुभव करने का अभ्यास वास्तविक अर्हंतभक्ति भावना है। अरहंत भगवानको अथवा स्वयं अपने आपको समोशरणमें आठ प्रातिहार्य सहित (गंधकुटीमें वेदीकी सबसेऊपरकी तीसरी कटनी पर १ स्वर्ण सिंहासनमें कमलके ऊपर चार अंगुल अंतरीक्ष २ अशोक वृक्षके नीचे ३ सिरपर तीन छत्र ४ चमर ढुरते हुए ५ प्रभामंडल सहित ६ दिव्य ध्वनि खिरती हुई ७ दुंदुभी नाद सहित ८ पुष्प

वर्षा होते हुए) चितवन करना अर्हंतभक्ति भावना है।

११ आचार्यभक्ति—जो आचारज भक्ति करैं हैं। सो निर्मल आचार धरैं हैं॥

आचार्यके गुणोंमेंप्रीति होना आचार्यभक्ति है,उनके गुणोंका मननचितवन करना आचार्यभक्ति भावना है। आचार्य भी अनेक गुणधारी होते हैं, इनके विशेष गुण ३६ हैं। आचार्य अनशन आदि १२ प्रकार तप में निरंतर उद्यमशील रहते हैं, उनकी प्रवृत्ति क्षमादि १० लक्षण धर्मरूप होती है, ये मनवचन कायकी ३त्रिगुप्ति सहित दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तपाचार और वीर्याचार पांच ५ प्रकारका आचार स्वयं आचरण करते तथाशिष्योंसे आचरण कराते हैं, ये सामायिक स्तवन बंदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग रूप ६ षट् आवश्यक क्रियाओंमें बराबर सावधान रहते हैं।

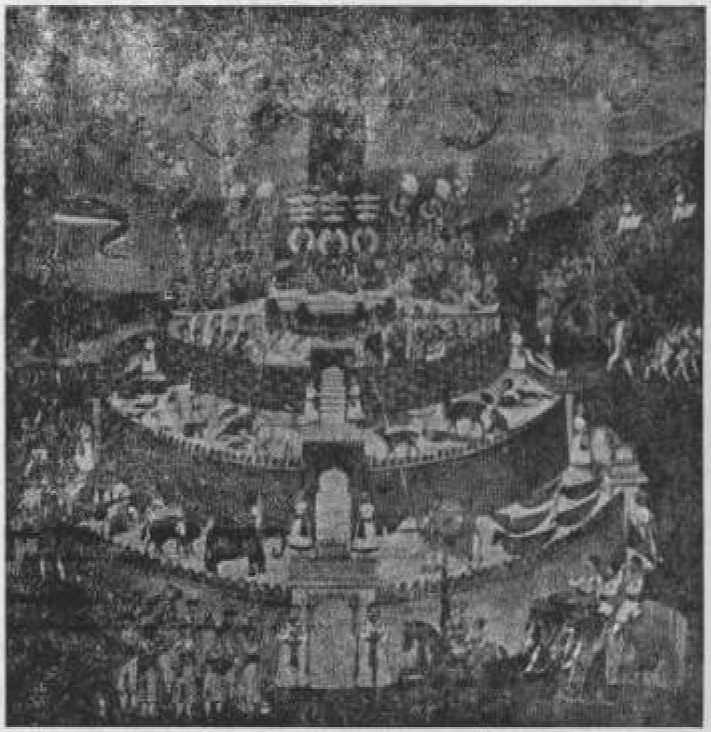

समोशरन

आचार्य मुनि संघके नायक होते हैं, इनके आधार ही धर्म चलता है। ये मुख्यतया तो अपने स्वरूपाचरणमें ही मग्न रहते हैं, हाँ कभी कभी रागअंशके उदयमें करुणाबुद्धिसे दूसरे मुनियों और श्रावकोंको उपदेश देते, जो दीक्षा लेना चाहते उन्हें दीक्षा देते और जो अपने दोष प्रकट करते उन्हें प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं। आचार्य चतुर नाविककी ज्यों शिष्यों को अनेक विघ्नोंसे बचाते हुए संसार समुद्रसे पार लगाते हैं। धन्य हैं वे पुरुष जिनको ऐसे आचार्योंका संयोग प्राप्त है।

१२ बहुश्रुत-उपाध्यायभक्ति—बहुश्रुतवंत भगति जो करई। सो नर संपूरण श्रुत धरई॥

जो मुनि सूत्रकृतांग आदि ११ अंग और उत्पाद पूर्व आदि १४ पूर्वके ज्ञाता होते हैं, ऐसे २५ गुणधारी बहुश्रुती-उपाध्याय हैं। ये प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरण-अनुयोग, द्रव्यानुयोग चारों अनुयोगोंके पारगामी निरंतर परमागमको स्वयं पढ़ते तथा अन्य शिष्यों

को पढ़ाते हैं ! श्रुतज्ञान ही इनका दिव्य नेत्र है। ये सदा अपना और परका हित करनेमें संलग्न रहते हैं। ये स्याद्वाद विद्याके धनी, जैनसिद्धांत और अन्य एकांत वादियोंके सिद्धांतोंको भली प्रकार जाननेवाले बहुश्रुती होते हैं। इनकी भक्ति सो बहुश्रुत-उपाध्याय भक्ति है। जो भव्य पुरुष ऐसे परम गुरुकी भक्ति विनय सहित करते हैं वे स्वयं भी शीघ्र ही शास्त्रसमुद्रके पारगामी बन जाते हैं।

जिन-शास्त्रोंको श्रद्धा प्रेमपूर्वक पढ़ना, शास्त्रके अर्थ दूसरोंको बताना, स्वयं वीतरागता पोषक शास्त्र लिखना, धन लगाकर लिखवाना, शास्त्रोंको शुद्ध करना, दूसरोंको स्वाध्यायमें लगाना, स्वाध्यायके लिए शास्त्रों, पुस्तकों, स्थान आदिका प्रबंध करना इत्यादि बहुश्रुत भक्ति है। यह भक्ति ज्ञानावरणकर्म के नाश करने तथा केवलज्ञान प्राप्त करानेवाली है। इसका निरंतर ध्यान रखना, तद्रूप प्रवृत्ति करना बहुश्रुतभक्ति भावना है।

१३ प्रवचन भक्ति—प्रवचन भगति करे जो ज्ञाता। लहै ज्ञान परमानन्द दाता॥

प्रवचन-शास्त्र सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी अर्हंत भगवान भाषित आगमको कहते हैं। प्र=उत्कृष्ट जो परमात्मा ताका वचन सो प्रवचन-परमागम है छः द्रव्यों और सात तत्वोंका यथार्थ स्वरूप प्रवचनसे ही जाना जाता है। प्रवचन ही कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्तिका उपाय बतलाता है। ऐसे परमागमको योग्य कालमें विनय पूर्वक पढ़ना, सुनना सुनाना, मनन करना इत्यादि 'प्रवचन भक्ति' है। ऐसा चिंतवन करना कि शास्त्र स्वाध्याय बिना जो काल जाता है वह व्यर्थ ही है प्रवचन भक्तिभावना है। स्वाध्याय बिना कषायोंकी मंदता, शुभ ध्यान, तथा संसार देह भोगोंसे विरक्तता नहीं हो सकती। इस लोक और परलोकका सुधार अर्थात् व्यवहारकी उज्वलता और परमार्थका विचार भी आगमके सेवनसे ही होता है। प्रवचन ही सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूप रत्नत्रयकी प्राप्तिका साधन है। प्रवचन भक्ति हजारों दोषोंके नाश करनेवाली है।

१४ आवश्यकापरिहाणि भावना—षट् आवश्यक नित जो साधै। सो ही रत्नत्रय आराधै

अवश्य करने योग्यको आवश्यक कहते हैं, आवश्यकोंकी हानि नहीं होने देनेका ध्यान रखना आवश्यक अपरिहाणि नामकी चौदहवीं भावना है। मुनियों तथा गृहस्थियों के छः छः आवश्यक हैं। १ सामायिक—साम्यभाव रखना २ स्तवन—भगवानकी अनेक नामों द्वारा स्तुति ३ बंदना-पंचपरमेष्ठीमें से किसी एककी अथवा किसी एक तीर्थंकरकी स्तुति ४ प्रति-क्रमण-पिछले दुष्कृतोंका पश्चाताप ५ प्रत्याख्यान-आगामी पापोंका त्याग और ६ कायोत्सर्ग-देहसे ममत्व छोड़ खड्गासन नासादृष्टि धर देहसे भिन्न अपने आत्माका ध्यान यह मुनियोंके षट् आवश्यक हैं। १ नित्य जिनेंद्र पूजन २ निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा ३ स्वाध्याय ४ संयम (मन तथा इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना तथा छः कायके जीवोंकी दया पालना) ५ शक्ति प्रमाण

नित्य इच्छा निरोध रूप तप करना और ६ शक्ति प्रमाण नित्य दान देना यह श्रावकोंके षट् आवश्यक है। यह षट् षट् आवश्यक सब पापोंके नाश करने वाले और भावोंको उज्वल बनाने वाले है। अतः इनका ध्यान प्रत्येक गृहस्थ और मुनिको यथा योग्य रखना चाहिए।

१५ मार्गप्रभावना—धर्म प्रभान करें जे ज्ञानी। तिन शिव मारग रीति पिछानी ॥

मोक्षके मार्गका-सत्यार्थ मार्गका प्रभाव परकट करना 'मारग परभावना' है। मोक्षका मार्ग रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूप है। रत्नत्रय आत्माका स्वभाव है। यह रत्नत्रय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित रूप है। रत्नत्रय आत्मका स्वभाव है। इस रत्नत्रय को मिथ्यात्व राग द्वेष कामक्रोधादिने मलीन कर रक्खा है। ऐसा चिंतवन करना कि मनुष्य जन्म, इंद्रिय पूर्णता, ज्ञानशक्ति, परमागमका शरण, साधर्मियोंका समागम, नीरोग शरीर, तथा क्लेश रहित आजीविका का साधन इत्यादि पुण्य रूप सामग्रीमुझे बड़े ही सौभाग्यसे मिली है;जो मैं ऐसी अनुकूल सामग्री पाकर भी रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गका प्रभाव प्रकट नहीं करूंगा अर्थात् अपने आत्माको मिथ्यात्व आदिसे नहीं छुड़ाऊंगा तो मृत्यु अचानक ही इस सब संयोगको नष्ट कर देगी और मैं देखता ही रह जाऊंगा 'पीछे ज्यों मधु मक्षिका हाथमले पछताय' बस फिर पछताना ही पछताना रह जावेगा—मार्ग प्रभावना नामकी भावना है। ऐसे उत्तम विचार रखने वालेकी बाह्य प्रवृत्ति भी स्वयमेव सत्य धर्मका प्रभाव प्रकट करनेवाली हुआ करती है जिससे अनेक अन्य जीवोंके हृदयमें धर्मका महत्व जम जाता है। जिनेंद्रका उत्सव करना, विनय सहित पूजन करना, भगवानके सम्मुख आनंद पूर्वक भक्ति विभोर हो नृत्य कीर्तन गान करना यह सब सन्मार्ग प्रभावना है। जिन-सिद्धांतोंका ऐसा व्याख्यान उपदेश करना कि जिससे बहुतसे जीवोंका एकांत हठ नष्ट हो जाय, उनका हृदय पापोंसे काँपने लगे, वे कुदेव कुगुरु कुधर्मको त्यागकर वीतराग देव, आरंभ परिग्रह रहित गुरु और दयारूप धर्ममें दृढ हो जावे-उत्तम मार्ग प्रभावना है। वे सद्दृष्टि धन्य हैं जो इस मार्ग प्रभावनाकी भावना भाते हुए इन्द्रादिक देवोंसे पूज्य तीर्थंकर पद या मोक्षका अविनाशी सुख प्राप्त करते हैं।

१६ प्रवचनवत्सलत्व—वत्सल अंग सदा जो ध्यावै। सो तीर्थंकर पदवी पावै ॥

सर्वज्ञ-जिनधर्ममें, सच्चे देव गुरु शास्त्रमें, धर्मके स्थान जिनमंदिरचैत्यालयोंमें, धर्मात्माओं-असंयत सम्यग्दृष्टि देशव्रती तथा महाव्रतियोंमें गऊ बछड़े जैसी प्रीति करना प्रवचन वत्सलता है। मोहका कुछ ऐसा अद्भुत माहात्म्य है कि यह प्राणी संसारको असार, स्त्री पुत्र मित्र भाई बंधु आदि सबको स्वार्थी जानते हुए भी इन्हींसे अनुराग कर करके इन्हींके लिए लड़ता झगड़ता मरता कटता संसार भ्रमण करता है। धन्य हैं वे पुरुष जो मोह रूपी शत्रुको नष्ट करके आत्माके गुणोंमें ही प्रीति करते है। हे आत्मन ! यदि कुछ कल्याण चाहते हो तो धन संपदा, देह स्त्री पुत्रादि से ममता छोड़ अपने आत्मासे, धर्मात्माओं व्रतधारियों साधुओं

स्वाध्याय तथा जिनपूजनसे प्रीति करो।

मनुष्य जन्मका मंडन वात्सल्य ही है। इस लोकमें यशका उपार्जन, धर्मका उपार्जन, तथा धनका उपार्जन और परलोकमें महर्द्धिक देव, चक्री, नारायण, तीर्थंकर आदि पदवियों की प्राप्ति वात्सल्यसे ही होती है। वात्सल्यसे ही शुभ ध्यानकी वृद्धि और दानका देना सफल होता है। पात्रमें अथवा देनेमें प्रीतिके बिना दान निंदाका कारण है। जिनवाणी में जिसके विनय अथवा वात्सल्यता होगी उसीको सच्चा अर्थ सूझ पड़ेगा। बस कहांतक कहें जो प्राणी षट्कायके जीवोंमें वात्सल्यता करते हैं वे ही तीनलोकमें सर्वोत्तम तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव करते हैं।

तीर्थंकर, केवली, अथवा श्रुतकेवलीके पादमूलमें इन सोलह कारण भावनाओं में से यदि कुछ कमका भी चिंतवन तथा आचरण हो तो भी तीर्थंकरनाम कर्मका आस्रव हो जाता है किंतु उनमें दर्शनविशुद्धि और सब जीवोंमें सच्चे सुखकी तीव्र भावना तो अवश्य ही चाहिएं, तथापि इन सबका परस्पर ऐसा संबंध है कि एकके होने पर दूसरी और सब भी हो ही जाती है।

गोत्र कर्म भी उच्चगोत्र और नीच गोत्रके भेदसे दो प्रकारका है—

नीच गोत आस्रवके कारण

परात्मनिंदा प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

शब्दार्थ—पर=दूसरेकी। आत्म=अपनी। निंदा=बुराई। प्रशंसा=बड़ाई। सद्=विद्यमान, सच्ची, जो हों, असद्=झूठी, जो न हों। उच्छादन=ढकना। उद्भावन=प्रकाश करना। पर-निंदा=दूसरोंको बुराई, आत्मप्रशंसा=अपनी बड़ाई। पर सद्गुण उच्छादन=दूसरोंके सच्चे विद्य-मान गुण ढकना। आत्मअसद्गुण उद्भावन=अपने झूठे नहीं हुए हुए गुणोंकाप्रकाश करना।

अर्थ-१ परनिंदा—दूसरे की बुराई करना, २ आत्मप्रशंसा-अपनी बड़ाई बघारना; ३ पर सद् गुण उच्छादन-दूसरोंके विद्यमान गुणोंका ढकना और ४ आत्म असद् गुण उद्भावन-अपने अविद्यमान गुणोंका प्रकाश करना नीच गोत कर्मास्रवके कारण हैं।

उच्चगोत कर्मास्रवके कारण

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

शब्दार्थ-तद् विपर्ययः=इन (नीच गोत आस्रवके कारणों) के उलटे। नीचैः=विनयकी।

दोहा—स्व प्रशंस कहि गुण असत्, पर गुण ढक पर निंद।
नीच गोत आस्रव कहें नायक जे मुनि वृंद ॥१६॥

वृत्ति=प्रवृत्ति। अन् उत्सेकौ=मदरहित। च=और। उत्तरस्य=उत्तर के—दूसरे अर्थात् उच्चगोत आस्रवके।

अर्थ—इन (नीच गोत कर्मास्रवके कारणों) के विपरीत १ अपने दोषोंकी निंदा २ दूसरे के गुणोंकी प्रशंसा ३ अपने होते हुए गुणोंको छिपाना ४ दूसरोंके अविद्यमान गुण भी प्रकट करना और ५ विनय रूप नम्र प्रवृत्ति तथा ६ मदका अभाव-यह उच्चगोत आस्रवकेकारण हैं

अंतराय कर्मास्रवके कारण

विघ्न करणमन्तरायस्य ॥२७॥

शब्दार्थ—विघ्न करणम्=विघ्न-बाधा डालना। अंतरायस्य=अंतराय (कर्म) का।

अर्थ-दूसरोंके लोभ भोगादिमें बाधा डालना अंतराय कर्म आस्रवका कारण है।

विशेष-अंतराय कर्म पांच प्रकारका है १ दानअंतराय २ लाभअंतराय ३ भोगअंतराय ४ उपभोगअंतराय ५ वीर्यअंतराय। परके दानमें विघ्न डालना दानअंतराय कर्मआस्रवका कारण, परके लाभमें बाधा डालना लाभ-अंतराय कर्मास्रवका, परके भोग (केवल एक बार भोगे जा सकनेवाले पदार्थ जैसे भोजन) में विघ्न डालना भोगांतराय कर्मआस्रवका, परके उपभोग (बार बार भोगी जा सकने वाली वस्तुएं जैसे वस्त्र) में बाधा डालना उपभोग अंतराय कर्मास्रवका और परके बल वीर्यके साधनमें विघ्न डालना वीर्य अंतराय करम-आस्रवका कारण है।

इस प्रकार आठों कर्मोंके आस्रवोंके प्रधान प्रधान कारण कहे, विशेष कारण तो असंख्यात है। यहां जो आस्रवोंका विभाग किया है वह प्रदेश बंध की अपेक्षा नहीं किंतु अनुभाग बंधकी अपेक्षासे है। अतः इस नियममें कि किसी भी एक कर्म प्रकृतिके आस्रवके समय उस कर्मके सिवाय दूसरी भी कर्म प्रकृतियोंका आस्रव व बंध होता रहता है कोई बाधा नहींआती

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र, अध्याय ६ की कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन 'सिंह', बी. सी. टी. साहित्यालंकार—कृत कौमुदी समाप्त।

अंत मंगल

दोहा—स्वयंप्रभ वृषप्रभानन जजों ऽनंत वीर्यके साथ।
सुरप्रभ कीर्ति विशालको, नमों जोड़ द्वै हाथ ॥६॥

दोहा—ऊपर के विपरीत अरु, मद-बिन विनय प्रवृत्ति।
ऊंच गोत, पुनिकर विघन, अंतरायकी वृत्ति ॥१७॥

श्री मदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र, अध्याय ६ के कविवर ब्रह्मचारी मास्टर, मुक्तियार 'सिंह' जैन सिंह बी. ए. सी. टी. साहित्यालंकार—कृत दोहे समाप्त।

श्री वीतरागाय नमः

अध्याय ७

मंगलाचरण

दोहा—कर्म अशुभ शुभ नष्ट किय, व्रत संयम तप धार ।
तिन जिनेंद्र के गुण चरण, वंदौं वारम्बार ॥

शुभास्त्रव—व्रतदान

व्रतका स्वरूप

हिंसाऽनृत स्तेयाब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

शब्दार्थ—हिंसा=जीव=घात, बध । अनृत=असत्य, झूठ, मिथ्या भाषण । स्तेय=चोरी । अब्रह्म=कुशील । विरति=बुद्धि पूर्वक विरक्त होना, हटना । व्रतम्=व्रत ।

अर्थ—हिंसा-जीवघातसे, झूठ बोलनेसे, चोरी करनेसे, कुशील सेवनसे और परिग्रह से बुद्धि पूर्वक हटना-विरक्त होना 'व्रत' है ।

विशेष—हिंसा झूठ आदि पापोंको समझकर त्यागना सो व्रत है । कुछ व्यक्ति शंका किया करते हैं कि यह 'व्रत' तो निषेधात्मक है, इन सबमें 'ऐसा न करो, यह न करो' यही बताया जाता है, हमें क्या करना है अथवा क्या करना चाहिए यह तो कुछ बताते ही नहीं । समाधान यह है—प्रथम तो हम लोगोंकी अधिकतर प्रवृत्तियां अशुभ हैं, उनको छुड़ानेका भाव है, दूसरे असत् कर्मोंसे छुटकारा मिलनेपर सत्यकार्योंमें मन वचन कायकी प्रवृत्ति स्वयं ही होने लगती है, तीसरे सबसे बड़ी बात यह है कि संसार प्रवृत्ति रूप है, यहां आचार्य श्री का तात्पर्य जीवको संसारसे छुटकारा दिलाना अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराना है और वह-मोक्ष आत्मा का स्व स्वरूपमें ही स्थित होना है जो प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनोंसे परे है ।

दोहा—हिंसा झूठ स्तेय अरु, मैथुन परिग्रह जोय ।
बुद्धि सहित इन विरतता, व्रत कहलावें सोय ॥१॥

अहिंसाव्रत सब व्रतोंमें प्रधान है, दूसरे व्रत तो अहिंसाकी रक्षाके लिए उसकी बाड़ रूप है, जैसे खेतकी रक्षाकेलिए उसके चारों ओर बाड़ होती है वैसे ही अहिंसा व्रतको पूर्णतया पालनेके लिए सत्यादि अन्य व्रत धारण किये जाते हैं (देखिए 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय')।

व्रतों के भेद

देश सर्वतोऽणुमहती ॥२॥

शब्दार्थ—देशसर्वतः=देशतः=अल्प अंशमें, कुछ+सर्वतः=सर्वांशमें, पूर्णरूपेण। अणु=छोटे। महती=महा। यहाँ देशतः अणुव्रत, सर्वतः महाव्रतमें 'क्रमिक' अलंकार है।

'अणुमहती' नपुंसक द्विवचन प्रथम सूत्रके, 'व्रत' शब्दसे संबंधित होनेके कारण है, 'अणुमहती व्रते'।

अर्थ-हिंसादिसे एकदेश-अल्पांश-कुछ विरक्त होना 'अणुव्रत' और उनसे सर्वतः-सर्वांश में-पूर्णतया विरक्त होना 'महाव्रत' ऐसे दो रूप व्रत हैं।

विशेष—सब जीवोंमें आत्मिक विकासका क्रम समान नहीं होता, यही बात मनुष्योंमें भी है। अधिक मनुष्योंमें तो यह बड़े धीरे-धीरे क्रमवार होता है, कुछ-विरले ही ऐसे होते हैं जिनमें यह विकास बड़ी तेजीसे चलता है। यही कारण है कि अधिक प्राणी तो व्रत तप सम्यग्दर्शन आदिमें धीरेधीरे उन्नति करते और कुछही मनुष्य एकदम ऊंचीऊंची प्रतिज्ञा तप आदिमें प्रवृत्त होते हैं। धीरेधीरे विकास करनेवाले हिंसादि दोषोंके त्याग अथवा अहिंसादि व्रतोंके पालनमें क्रमवार ही उन्नति करते हैं। इस प्रकारके प्राणी जो अहिंसादि व्रतोंका अल्पांशमें पालन करते हैं अणुव्रती अथवा केवल संकल्पी त्रसहिंसाके त्यागी श्रावक है। इन व्रतोंको पूर्ण रूपेण पालनेवाले महाव्रती अर्थात् संपूर्ण त्रस स्थावर हिंसाके त्यागी महाभाग्य मुनि अथवा साधु कहलाते हैं।

अणुव्रतीके त्रस हिंसाका त्याग कहा है, उससे भी स्वस्त्री (पुरुष) सेवन आदि कार्योंमें त्रसहिंसा होती है और वह जानता भी है कि अमुक अमुक कार्योंमें स्थूल सूक्ष्म त्रस जीवोंकी हिंसा होती है फिर भी उसके त्रसजीवोंको मारनेका अभिप्राय न होनेसे तथा लोकमें जिसका नाम त्रस-घात है उसे नहीं करनेसे वह त्रस हिंसाका त्यागी है। यह सम्यग्दृष्टि देशव्रती श्रावक संकल्प पूर्वक त्रसजीवोंकी हिंसा न तो आप करता, न दूसरोंसे कराता और न उसे भली ही मानता है, अतः वह त्रसहिंसाका त्यागी है। उसके स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं है फिर भी वह बिना प्रयोजन स्थावर हिंसा न करता, न कराता और न उसे अच्छी ही

दोहा—देशविरति अरु विरति सब, अणुव्रत बड़व्रत जान।
स्थिरार्थ इन भावना, पांच पांच सब मान ॥२॥

समझता है। स्थूल झूठ चोरी आदिसे तो वह कोसों दूर ही रहता है फिर भी उनके अतीचारों दोषों से बचनेमें प्रयत्नशील रहता है।

महाव्रती मुनिके स्थावर हिंसाका भी त्याग कहा है। मुनि पृथ्वी जलादिमें गमन करते, वायुमें श्वासोश्वास लेते हैं, उनमें त्रस जीवोंका भी सर्वथा अभाव नहीं है क्योंकि त्रसजीव भी ऐसी सूक्ष्म अवगाहना के हैं जो दिखाई नहीं देते। जिनवाणी द्वारा और कभी कभी अवधि आदि द्वारा मुनि यह सब जानते भी हैं फिर भी मुनिके चूंकि प्रमादसे त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका अभिप्राय नहीं है, और लोकमें पृथ्वी खोदना अप्राशुक जलसे क्रिया करना इत्यदिका नाम स्थावर हिसा तथा स्थूल त्रस जीवोंकी विराधनाका नाम त्रसहिंसा है और इनको मुनि करते नहीं अतः वे हिंसाके सर्वथा त्यागी कहलाते हैं। इसी प्रकार मुनियों के असत्य चोरी आदिका भी पूर्ण त्याग है, किंतु केवलज्ञान द्वारा जाननेकी अपेक्षा असत्य वचन योग १२ वें गुणस्थान तक, अदत्त कर्मपरमाणु आदि परद्रव्योंका ग्रहण १३ वें तक, वेदका उदय ९ वें तक, अंतरंग परिग्रह १० वें तक भी होता है फिरभी प्रमाद पूर्वक पापरूप अभिप्राय न होने तथा लोक प्रवृत्तिमें जिन क्रियाओं द्वारा 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है—इत्यादि' ऐसी कहलाने रूप क्रिया उनके न होनेसे वे असत्य आदिके भी पूर्ण त्यागी कहे जाते हैं।

नोट—व्रत (महाव्रत और व्रत) दोनों ही शुभ आस्रव रूप हैं।

व्रत भावनाओं की संख्या

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥३॥

शब्दार्थ-तत्=उनको। स्थैर्यार्थ=स्थिर रखनेके लिए। भावनाः=बार बार चिंतवन।

अर्थ—उन (अणुव्रत महाव्रत रूप अहिंसादि व्रतों) को स्थिर रखनेके लिए प्रत्येक की पाँच पाँच भावनाएं हैं।

विशेष—स्वीकार-ग्रहण करलेने मात्रसे ही व्रतोंका आत्मापर पूरा पूरा प्रभाव नहीं पड़ सकता, वे किसी समय भी भूले जा सकते हैं। उनके लिए विशेष सावधानी और उनको बार बार चिंतवन करते रहनेकी परम आवश्यकता है। इसीलिए कि ग्रहण कियेहुए व्रत जीवनमें गहरे उतर सकें प्रत्येक व्रतके अनुकूल पड़ने वाली बातें बतलाई गई है जिनका व्रतधारीको ध्यान रखना और बार बार विचार करते रहना चाहिए। जिस व्रतमें जिन बातोंका ध्यान रखना व विचार करते रहना कार्यकारी पड़ता है वह उस व्रतकी भावना कहलाती है।

दोहा—वच मन गुप्ति समिति गमन, निक्षेपण आदान।
अहिंसाव्रत पन भावना, मय आलोकित पान ॥३॥

अहिंसात की पांच भावनाएं

वाङ् मनोगुप्तीर्यादान निक्षेपण समित्यालोकितपान भोजनानि पंच ॥४॥

शब्दार्थ—वाङ् मनोगुप्ति=वचन गुप्ति (वचनकी प्रवृत्तिको भलेप्रकार रोकना) और मनोगुप्ति। ईर्या आदान निक्षेपण समिति= ईर्या समिति (चार हाथ पृथ्वी देख यत्नाचार पूर्वक चलना) और आदान निक्षेपण समिति वस्तु तथा भूमिको भले प्रकार देख चीजोंको लेना उठाना धरना)। आलोकितपान भोजनानि=खानेपीनेमें अंतरंग ज्ञानदृष्टिसे देखकर खाजापीना

अर्थ-१ वचनको संभालकर बोलनेका ध्यान रखना २ मनकी प्रवृत्तिको इधरउधर जानेसे रोकनेका चितवन करते रहना ३ चार हाथ पृथ्वी देख यत्नाचार पूर्वक चलनेका विचार रखना ४ चीजको तथा पृथ्वीको देख शोधकर सावधानीसे उठाने रखनेका ध्यान रखना ५ खानेपीनेमें अंतरंग ज्ञानदृष्टिसे क्षुधा रूपी रोगकी औषधि समझ तथा बाह्य नेत्रदृष्टिसे देख शोधकर खानापीना, यह पांच अहिंसाव्रतकी भावनाएं है।

विशेष—यहाँ विचारना यह है कि यह वचन गुप्ति मनोगुप्ति आदि भावनाएं अहिंसाव्रतकी भावनाएं कैसे हैं अर्थात् ये अहिंसाव्रत पालनमें कैसे सहायक है?

कौन नहीं जानता कि वचन-बाण लोह अग्नि आदिके बाणोंसे बहुत तीक्ष्ण होते है? लोहे आदिके बाण तो लगने वालेको ही क्षणिक क्षति पहुँचाते है किंतु वचनबाण लगनेवाले और मारनेवाले दोनोंको क्रोधादि उत्पन्न कराके भवभवमें अहित करते हैं।

मनमें अशुभ विचार आनेसे कभी किसीका और कभी किसीका बुरा चितवन हो जाता है उससे दूसरेका अहित हो वा न हो यह तो उसके कर्माधीन तथा निमित्ताधीन है पर अपना अहित (प्राणोंका घात) तो अशुभ विचार आते ही हो जाता है। देखकर यत्नाचार पूर्वक न चलनेसे दूसरे जीवों-चींटी आदिका घात हो अथवा न हो परंतु अयत्नाचार प्रवृत्तिसे अपनी आत्माका घात तो अवश्य ही होता है और कभी तो साईकिल मोटर आदिसे टकरा कर गड्ढेमें, पानी कीचड़ आदिमें गिरनेसे महान अनर्थ होते देखे जाते है। वस्तुओंको देखकर यत्नाचार पूर्वक न उठाने रखनेसे असंख्य प्राणियोंका घात हो जाता है जिसका हमें पता भी नहीं चलता।

रात्रिको तथा दिनमें भी भलेप्रकार देखेभाले बिना खानापीना स्वयं और परको कितना दुखदाई है, यह कौन नहीं जानता? इस प्रकार खानपान करनेसे सूक्ष्म जीवोंका तो घात होता ही है परंतु रात्रिमें तथा दिनमें भी बिना देखेभाले खानेपीने वालोंकी, इस प्रकार खानपीनके कारण ही कभी कभी मृत्यु तक होती देखी जाती है।

सत्यव्रत की पांच भावनाएं

क्रोधलोभ भीरुत्व हास्य प्रत्याख्यानान्यनुवीचि भाषणं च पंच ॥५॥

शब्दार्थ—भीरुत्व=भय, डर। प्रत्याख्यानानि=त्याग। अनुवीचि=पापरहित शास्त्रानुसार।

अर्थ—१ क्रोधका त्याग २ लोभका त्याग ३ भयका त्याग ४ हास्य-हँसीका त्याग और ५ पापरहित शास्त्रानुसार भाषण-बोलना सत्यव्रतकी पांच भावनाएं हैं।

विशेष-एकेंद्रियसे पचेंद्रिय पशु तकमें तो वचन रूप बोलनेकी शक्ति ही नहीं। भाषा रूप सार्थक वचन एक मनुष्य पर्यायमें ही संभव है। मनुष्य क्रोधके आवेशमें, लोभमें आकर, डरके कारण और हँसीमें इन कारणोंसे असत्य भाषण अथवा झूठ बोलनेमें प्रवृत्त होते हैं, यदि मनुष्य क्रोध लोभ भय हंसीसे दूर रहे तो मिथ्या भाषणका कोई कारण ही नहीं रहता तब उसका सत्यव्रत स्वयमेव पल जाता है। पापरहित शास्त्रानुसार बोलना तो सत्य है ही।

अचौर्यव्रत की पांच भावनाएं

शून्यागार विमोचितावास परोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि सधर्माविसंवादाःपंच॥६॥

शब्दार्थ-शून्यआगार=खाली घर। विमोचित=छोड़ा हुआ। आवास=रहना, बसना। पर-उपरोध अकरण=दूसरेको न रोकना। भैक्ष्यशुद्धि=भिक्षा (खानपान)की विधि में शुद्धि रखना, उसकी त्रुटिको न छिपाना। सधर्म अविसंवाद=साधर्मी भाईयोंसे वादविवाद न करना।

अर्थ—१ शून्य आगार-खाली घरमें रहना २ विमोचित आगार आवास-छोड़े हुए घर वस्तिका आदि में रहना ३ पर उपरोध अकरण—दूसरेको नहीं रोकना ४ भैक्ष्यशुद्धि-खानपान विधिमें शुद्धि रखना, शुद्धिकी कमीको नहीं छिपाना और ५ सधर्म अविसंवाद-साधर्मी भाईयों से वादविवाद न करना यह अचौर्यव्रतकी पाँच भावनाएं हैं।

विशेष-अचौर्यव्रतकी सबसे बड़ी भावना तो लोभका त्याग तथा संतोषवृत्तिका धारण करना है, इसका कथन तो सत्य व्रतकी दूसरी भावनामें आ लिया। यहाँ पर श्री आचार्य का तात्पर्य जो उन्हें कुछ मुनियों तथा श्रावकोंसे इस व्रतमें बाह्य दोष लग जानेकी संभावना सी प्रतीत हुई उनसे उनको बचानेका है।

खाली घरमें रहने अथवा ठहरनेसे जब वहाँ कोई वस्तु ही न होगी तो उसको छिपाकर अथवा मालिकसे बिना पूछे लेनेका कोई प्रसंग ही न उठेगा। छोड़हुए स्थान घर, वस्तिका में रहना इसलिए कहा है कि यदि उस स्थानमें कोई और भी रह रहा है तो आगंतुक व्यक्ति

दोहा—क्रोध लोभ भय हास्य तज, अरु भाषण अनुवीच।
सत्य व्रत द्दि पन भावना, नाशें जन्म अरु मीच ॥४॥

के कारण उसे कष्ट न हो। किसी स्थान, वस्तिका, रेलडिब्बा आदिमें कोई है वहां दूसरा व्यक्ति भी आना चाहता है उसे रोकनेसे उसे दुःख होगा, इसलिए दूसरोंको रोकना मने किया है। खानपान विधिकी त्रुटियां छिपाना तो अपने लिए ही अहितकर है। बहुतसे त्यागी अथवा गृहस्थी भोजन करते समय प्रायः यह ध्यान नहीं रखते कि इस रसोईमें कितने प्राणी भोजन करेंगे और वहां कितना भोजन है, यह ध्यान न रखनेके कारण वह स्वादिष्ट वस्तुओंको अपने भागसे अधिक खा जाते हैं इसमें विशेष चोरीका दूषण आता, है, यह ध्यान तो अपने घर अथवा पराये घर सब जगह भोजन करते हुए रखना ही चाहिए। वादविवाद करना तो सर्वथाही व्यर्थ है फिर सार्धामियोंके साथ तो केवल व्यर्थ ही नहीं अपितु हानिकर भी है, यह उनको तथा अपनेको दोनोंको ही मानसिक कष्टका कारण है। मंदिरके पूजनके धोती दुपट्टे, सामग्रीके थालादि वर्तन, शास्त्रसभामें बैठनेके स्थान, अभिषेक करते समय किसी विशेष स्थान, शास्त्र पुस्तक आदि पर झगड़ना सधर्म विसंवाद है, इससे पापका ही बंध होता है।

ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनाएं

स्त्रीरागकथाश्रवण तन्मनोहरागनिरीक्षण पूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्ट रसस्वशरीर संस्कार त्यागाः पंच ॥७॥

शब्दार्थ—स्त्री राग कथा श्रवण=स्त्रियोंकी रागपूर्वक कथाएं सुनना। तन्मनोहर अंग निरीक्षण=उनके सुन्दर अंगोंका देखना। पूर्वरतानुस्मरण=पहले भोगे हुए विषयोंकी याद। वृष्य इष्ट रस=काम वर्धक इष्ट गरिष्ट रस (पदार्थ) जैसे अधिक खीर,अधिक घी वड़ी मिर्च खटाई आदि। स्वशरीर संस्कार=अपने शरीरका शृंगार।

अर्थ—१ स्त्रिय की रागपूर्वक कथाएं सुननेका त्याग करना २ स्त्रियोंके मनोहर सुंदर अंगोको देखनेका त्याग करना३पहले भोगे हुए भोगोंको स्मरण करनेका त्याग करना ४काम बढाने वाले स्वादिष्ट गरिष्ट पदार्थोंके खानेका त्याग करना और ५ अपने शरीरके शृंगार बनावका त्याग करना ये ब्रह्मचर्यव्रतकी पांच भावनाएं हैं अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रतको भले प्रकार पालनेके लिए इन पांच त्यागोंका सदा ध्यान रखना चाहिए।

दोहा—व्रत अचौर्य पन भावना, मोचित शून्य बसात।
पर अरुद्ध अरु भैक्ष—शुद्धि, धर्मिन अविसंवात ॥५॥
ब्रह्मचर्य पन त्याग पन, तिय सुन लख युत प्यार।
स्मरण पूर्व रत पुष्ट रस, स्व शरीर शृंगार ॥६॥

विशेष—व्रतधारी स्त्रियोंके लिए पहली और दूसरी भावना १ पुरुषोंकी रागपूर्वक कथाएं सुननेका त्याग २ पुरुषोंके सुदृढ़ मनोहर अंगोंको देखनेका त्याग होंगी।

परिग्रहत्यागव्रत की पांच भावनाएं

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेष वर्जनानि पंच ॥८॥

शब्दार्थ—मनोज्ञामनोज्ञ-मनोज्ञ=इष्ट, मनको अच्छे लगनेवाले, अमनोज्ञ=अनिष्ट। इंद्रिय विषय-पांचों इन्द्रियोंके स्पर्शआदि विषय। राग=लोलुपता, प्रीति। द्वेष=विरोध। वर्जनानि=त्याग

अर्थ-पांचों इन्द्रियोंके स्पर्श आदिक इष्ट विषयोंमें राग और अनिष्ट विषयोंमें द्वेषके त्यागका विचार रखना परिग्रहत्यागव्रतकी पांच भावनाएं हैं, अर्थात् परिग्रहत्यागव्रतकी स्थिरताके लिए स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत इन पांच इन्द्रियोंके इष्ट स्पर्श रस गंध वर्ण शब्दरूप विषयोंके प्राप्त होने पर उनमें राग-लोलुपताका त्याग और इन्हीं इन्द्रियोंके अनिष्ट स्पर्शरसादि रूप विषयोंके मिलनेपर उनमें द्वेष-विरोधका निषेध यह पांच भावनाएं हैं।

विशेष-१ स्पर्शन इन्द्रियके विषय चिकना रूखा, कोमल कठोर, हलका भारी, सर्द गर्म पदार्थोंमें रागद्वेषके त्यागकी भावना रखना स्पर्शत्याग भावना, २ रसनाइन्द्रियके खट्टे मीठे कडुवे कषायले चरपरे पदार्थोंमें रागद्वेषके त्यागकी भावना रसत्यागभावना, ३ घ्राण-नाक इन्द्रियके विषय सुगंधित दुर्गंधित रूप पदार्थोंमें रागद्वेष न करनेके विचार गंध त्याग भावना, ४ चक्षुइन्द्रियके विषय सुरूप कुरूप पदार्थोंमें रागद्वेषके त्यागकी भावना रूपत्याग भावना और ५ कानइन्द्रियके विषय सुरीले और कर्णकठोर शब्दोंमें रागद्वेषके त्यागकी भावना शब्द त्याग भावना है।

व्रतोंमें दृढताके लिए अन्य दो भावनाएं

(१) पाप दोष-दर्शन भावना

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्य दर्शनम् ॥९॥

शब्दार्थ-हिंसादिषु=हिंसाआदि पांचों पापोंमें (के करनेसे)। इह=इसलोक। अमुत्र=परलोक अपाय=नाश। अवद्य=निंदा। दर्शनं=देखना, सहना।

अर्थ—हिंसा झूठ आदि पापोंके करनेसे इस लोक और परलोकमें कल्याणका नाश होता है अर्थात् सांसारिक और पारमार्थिक दोनों ही प्रयोजन बिगड़ जाते हैं और निंदाको देखना सहना पड़ता है यानी इन पापोंके करनेवालेकी सर्वत्र बुराई होती है, ऐसा विचार करे। यह

दोहा—इष्टानिष्ट इंद्रिय विषय, रागद्वेष का त्याग।
पांच भावना जिन कही, है व्रत परिग्रह त्याग ॥७॥

'पापदोष-दर्शन' भावना है।

विशेष—जिस वस्तुका त्याग किया जावे उसके दोषोंका ठीकठीक ज्ञान होनेसे ही त्याग स्थिर रह सकता है। हिंसादिका दोष-दर्शन यहाँपर दो प्रकारसे कराया गया है १ इसलोक संबंधी-हिंसा झूठ आदिके सेवनसे पहले तो यहाँ इस संसारमें ही दुःख देखने-सहने पड़ते हैं, सर्वत्र निंदा फैल जाती है २ परलोक संबंधी-इन पापोंमें रत रहनेसे नरक तिर्यंच गतिके घोर दुःख भोगने पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि ये पाप महान दुःखोंके कारण हैं। इनके दोषोंको ध्यानमें रखनेसे भी पापोंसे बहुत कुछ बचाव होता है।

२ दुःख दर्शन भावना

दुःखमेव वा ॥१०॥

शब्दार्थ—दुःखम् एव दुःख रूप ही। वा=अथवा।

अर्थ—अथवा ऐसा विचार करे कि हिंसादि पाँचों पाप दुःख रूप ही हैं। अहिंसादि व्रतों का धारक हिंसादिसे अपनेको होनेवाले दुःखकी भाँति दूसरोंको भी उनसे होनेवाले दुःखकी कल्पना करे। यह 'दुःखदर्शन' भावना है।

विशेष—हिंसादि दुःखके कारण हैं, यहाँ कारणको ही कार्य मानकर हिंसादि पापोंको दुःख रूप कहा है। इन पापोंमें प्रवृत्त होनेवालेको अपने आत्माकी अंतरध्वनि (Conscience) को दबाना पड़ता है, अतः इनमें पहले ही आत्मघात हो जानेसे ये दुःख रूप ही हैं अर्थात् दुःख ही है।

प्रश्न होता है कि यहाँ सबसे अधिक दुःखदाई महापाप 'मिथ्यात्व' को क्यों नहीं लिया ? उत्तर—'अहिंसा आदि अणुव्रत अथवा महाव्रत सम्यग्दृष्टिके ही बनते हैं, उसके मिथ्यात्वका अभाव है ही'।

निरंतर चिंतवन योग्य चार भावना

मैत्री प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥

शब्दार्थ-मैत्री=मित्रता, किसीको दुःख न हो ऐसी चाह। प्रमोद=हर्ष, आनंद। कारुण्य= दया दुःख दूर करनेके भाव। माध्यस्थ्यानि=समभाव, रागद्वेषका अभाव, तटस्थता, उदा-

---

दोहा—हिंसा आदि जु पाप से, दुख इह अरु परलोक।
कारण सब ही हैं कहे, दुःख ताप अरु शोक ॥८॥
सब जीवों में मित्रता, गुणी जनों में प्रीत।
दुखी विमुखमें करुण सम, भाव भावना मीत ॥९॥

हीनता। सत्व_सब जीव। गुणाधिक अधिक गुणवाले, विद्वान, पंडित, साधु। क्लिश्यमान= क्लेशित, पीड़ित, रोगी। अविनयेषु=अविनयी, व्यसनी, मिथ्याती, दुष्टोंमें।

अर्थ-सब जीवोंमें मित्रता अथवा उनको किसी प्रकारका दुःख न होनेकी चाह, अधिक गुणवाले विद्वान पंडित चरित्रवान त्यागी साधुजनोंमें हर्ष प्रीति भक्ति, क्लेशित पीड़ित रोगी जनोंमें दया अथवा उनके दुःख रोगादि दूर करनेके भाव, और अविनयी व्यसनी मिथ्याती दुष्टोंमें साम्यभाव यह क्रमसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना है जिनका मोक्षाभिलाषी प्राणियोंको सतत् चितवन करते रहना चाहिए।

विशेष—मैत्री प्रमोद आदि चारों भावनाएं किसी भी सद्गुण अभ्यासके लिए अधिकसे अधिक उपयोगी होनेके कारण अहिंसा आदिव्रतोंको स्थिरतामें भी विशेष उपयोगी है। इसी विचारसे इनका यहाँ उपदेश है। इनमेंसे प्रत्येक भावनाका विषय अलग अलग है।

१ मैत्री भावना—प्राणी मात्रमें मित्रताकी बुद्धि होनेसे ही प्रत्येक प्राणीके प्रति अहिंसक और सत्यवादीका बर्ताव हो सकता है। अतः इस भावनाका विषय 'प्राणी मात्र' है।

२ प्रमोद भावना—प्रायः अपनेसे बड़े हुओंको देखकर उनमें ईर्ष्या बुद्धि हो आती है। जब तक इस वृत्तिका नाश नहीं हो जाता तबतक अहिंसा सत्यादि व्रत टिक ही नहीं सकते। अतः ईर्ष्याके विरुद्ध उनमें प्रमोद-हर्ष प्रकट करनेकी भावनाका उपदेश है। इसीलिए इस भावना का विषय 'अधिक गुणवान' ही हैं; क्योंकि उनके प्रति ही ईर्ष्या हो सकती है।

३ कारुण्य भावना-किसीको दुखमें देखकर भी यदि करुणा बुद्धिसे उसके दुःख दूर करने की भावना नहीं होती तो अहिंसा जैसे महान व्रतका पालन बड़ा ही दुर्लभ हो जाता है। इस भावनाका विषय केवल 'विशेष दुःखसे दुखी प्राणी' ही हैं।

४ माध्यस्थ भावना-कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जिनको सदुपदेश लगता ही नहीं, जब ऐसे व्यक्ति मिल जावें कि जिन्हें सुधारनेके सभी प्रयत्न निष्फल दिखाई पड़ें तब ऐसोंके प्रति द्वेषभाव न रखकर समभाव रखना ही श्रेयष्कर है। इस भावनाका विषय 'अयोग्यपात्र' ही है

भव तन स्वभाव चिंतवन भावना

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

शब्दार्थ—जगत्काय स्वभावौ=संसार और शरीर दोनोंके स्वभावोंको। संवेग वैराग्यार्थम् =संसार दुःखोंसे भयभीत होने और वैराग्य (वाह्य आभ्यंतर विषयोंमें अनासक्ति) के लिए।

अर्थ—जगत स्वभावका चितवन तो संवेग-संसार दुःखोंसे भयभीत होनेके लिए और शरीर स्वभावका चिंतवन वैराग्य-वाह्यआभ्यंतर विषयोंमेंअनासक्तिके लिए करते रहनाचाहिए

विशेष—संसार-दुःखोंसे डरके बिना और विषयोंमें अनासक्तिके बिना अहिंसादि व्रतोंका

होना असंभव ही है, इसलिए अहिंसा, सत्य आदि व्रतोंको पालनेके लिए संवेग और वैराग्य अत्यंत आवश्यक बताए हैं। संसारमें एकेंद्रिय जीवसे पंचेन्द्रिय तक अथवा नारकियोंसे स्वर्ग के महा ऋद्धिधारी देवों तक सभी दुःखी हैं अर्थात् संसारमें सर्वत्र दुःख ही दुःख है। इस प्रकार संसारके स्वभावका चितवन करनेसे संवेग-संसारके दुःखोंसे भय उत्पन्न होता है। शरीर महा अशुचि है और रोगोंका तो घर ही है, रोग ही है शरीरके कारण ही जीव संसारमें दुःख भोगता फिरता है। इस भाँति शरीरके स्वभावका चितवन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः अहिंसादि व्रतोंको स्थिर रखनेके लिए जगत और कायके स्वभावको भी बार बार चितवन करते रहना चाहिए।

अहिंसादि पांच व्रतोंका तथा उनको स्थिर रखनेकी भावनाओंका वर्णन होचुका। उनको भलेप्रकार समझने और जीवनमें उतारनेके लिए उनके विरोधी दोषोंका स्वरूप भी ठीक ठीक जान लेना आवश्यक है। अतः अब हिंसा आदि पांचों पापोंका स्वरूप कहते हैं—

हिंसा का स्वरूप

प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

शब्दार्थ—प्रमत्त-प्रमाद, अनुत्साह, असावधानी, कुशल कार्योंमें अनादर, कषाय भाव अर्थात् रागद्वेष रूप परिणाम असावधान प्रवृत्ति ५ इन्द्रिय ४ कषाय ४ विकथा (स्त्री कथा, भोजन कथा, राष्ट्र-देश कथा, राजाकी कथा) १ निद्रा १ स्नेह यह १५ प्रमाद हैं। योगात्= योगसे, कारणसे। प्राण-१० द्रव्य प्राण (५ इन्द्रिय+३ बल+१ आयु+श्वासोश्वास) और भाव प्राण (ज्ञानदर्शन)। व्यपरोपणं-वियोग करना, वध करना, मारना।

अर्थ=प्रमादसे किसी जीव (अपने अथवा दूसरे) के भाव अथवा द्रव्य प्राणोंका घात करना 'हिंसा' है।

विशेष-'किसीके प्राण लेना अथवा किसीको दुःख पहुँचाना' यह 'हिंसा' है। है। यह 'प्रमादसे' शब्द जोड़नेके हेतु की व्याख्या निम्न प्रकार है—

मनुष्यके आचार विचार जबतक उच्चकोटिके नहीं होते तबतक मनुष्य और प्राणियों के बीच जीवन व्यवहारमें विशेष अंतर नहीं होता। पशु पक्षियोंकी भाँति मनुष्य भी अपनी क्षुद्र नीच वृत्तियोंसे प्रेरित होकर जाने अनजाने आवश्यकताओंके लिए अथवा बिना किसी आवश्यकताके ही दूसरोंके प्राण लेना, झूठ बोलना, चोरीआदि नीच कार्य किया ही करते हैं।

दोहा—संवेग अरु वैराग्य अर्थ, चिंते भव तन भोग।
हिंसा प्रमत्त योग से करना प्राण वियोग ॥१०॥

किंतु जब वह इनका परिणाम अपने तथा दूसरोंके लिए हानिकर देखते हैं तो उनमें अहिंसा आदि जैसी शुभ भावनाएं जागृत होने लगती हैं। उस समय उनके सामने कुछ प्रश्न आते हैं–१ जीवन निर्वाहमें किसी न किसी प्रकारसे हिंसा तो होती ही है, उस हिंसासे कैसे बचें? २ वह हिंसा दोषमय है या नहीं? ३ जाने या अनजाने हिंसा हो ही जाती है, ऐसी हिंसामें दोष है या नहीं? ४ बहुधा किसीके प्राण बचानेके उपायमें जैसे डाक्टरसे परिणाम उलटा हो जाता अर्थात् प्राण-नाश हो जाता है, यह प्राण-नाश हिंसा दोष में आवेगा या नहीं? ऐसी ऐसी समस्याओंको सुलझानेके फलस्वरूप हिंसा आदिके अर्थ का विचार भी गम्भीर बन जाता है।

अहिंसापर विचारकोंने सूक्ष्मतासे विचारकर निश्चय किया है कि 'केवल किसीके प्राण घात करने या हो जानेमें अथवा दुख देने या दुखी हो जानेमें हिंसा है ही ऐसा नहीं कह सकते'। प्राणघात या दुःखके साथ ही वैसा करनेवालेकी भावना क्या है इसका विचार करके ही हिंसाकी सदोषता अथवा निर्दोषताका निर्णय किया जा सकता है। जब प्राण वध रागद्वेष अथवा प्रमाद–असावधानता सहित होगा तभी वह हिंसाके दोषमें आवेगा अन्यथा नहीं। अतः दोषरूप हिंसा आदिकी व्याख्याके लिए ही 'प्राणव्यपरोपणं–वध' के साथ 'प्रमत्तयोगात–प्रमादसे' शब्द जोड़े गए हैं।

ऊपरकी व्याख्यासे तीन प्रश्न और उठते हैं १ यदि किसी व्यक्तिसे प्रमत्तयोगके बिना ही प्राण-वध हो जाय तो उसे हिंसाका दोषी मानें या नहीं? २ यदि किसीसे प्रमत्तयोग तो हो गया हो और प्राणवध न हुआ हो तो वह हिंसाका दोषी है या नहीं? ३ यदि इन दोनों दशाओंमें हिंसा गिनी जावेगी तो वह किस प्रकारकी होगी?

पहले दो प्रश्नोंके उत्तर ऊपरकी व्याख्यासे ही स्पष्ट है कि पहला व्यक्ति निर्दोष और दूसरा दोषी है। फिर यहाँ एक नई शंका होती है कि जब ऐसा है तो केवल 'प्रमत्त-प्रमाद' को ही हिंसा क्यों नहीं कहा? 'प्राण व्यपरोपण' वाक्यांशके जोड़नेकी क्या आवश्यकता थी? ठीक है, जहाँ प्रमत्त-प्रमाद है वहाँ प्राणव्यपरोपणं–प्राणघात अवश्य है क्योंकि उसमें स्व प्राणघात (आत्म गुणों का घात) तो हो ही जाता है। किन्तु समुदाय द्वारा एकदम और पूर्णरूपेण उसका त्याग बन नहीं सकता। इसके विपरीत केवल 'प्राण-वध' यह स्थूल होने पर भी इसका त्याग सामूहिक जीवन हितके लिए वांछनीय है और यह बहुत कुछ हो भी सकता है। प्रमाद न भी छूटा हो परंतु स्थूल प्राणवध-वृत्तिके कम हो जानेसे भी सामूहिक जीवनमें बहुधा सुख-शांति रह सकती है। दूसरी बात और है-अहिंसा के विकास-क्रमके अनुसार भी पहले स्थूल-'प्राणनाश' का त्याग और फिर धीरेधीरे 'प्रमाद' का त्याग सम्भव है। इसीसे आध्यात्मिक विकासमें प्रमाद जनित हिंसाका त्याग इष्ट होने पर भी सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे हिंसाके स्वरूपमें 'प्राणवध' को स्थान दिया है।

इनमें से पहली—'केवलप्राणवध' को द्रव्य-हिंसा और दूसरी 'प्रमाद' को भावहिंसा कहा है। पहली बहुत अंशोंमें दिखाई देने वाली और दूसरी नहीं दिखाई देने वाली हिंसा है। द्रव्यहिंसाकी सदोषता पराधीन है अर्थात् हिंसककी भावना पर निर्भर है, यदि हिंसककी भावना खराब है तभी उससे होनेवाला प्राणवध दोषरूप होगा, अन्यथा नहीं। इसके विपरीत प्रमत्तजनित-भाव हिंसा स्वयं ही दोषरूप है अतः उसकी सदोषता स्वाधीन है, इसकी सदोषता का आधार प्राणवध अथवा कोई दूसरी बाह्यवस्तु नहीं। स्थूल-प्राण नाश न भी हुआ हो, किसीको दुःख भी न पहुँचा हो अपितु प्राणनाश अथवा दुःख देनेके प्रयत्नमें उलटा दूसरे का जीवन बढ़ ही गया हो अथवा उसको सुखही पहुँच गया हो फिरभी वह दोषरूप ही है।

आचार्योंने इस बातको ध्यानमें रखकर कि गृहस्थमें किस हिंसाका त्याग हो सकता है हिंसाके और भी चार भेद किए हैं १ आरंभिक हिंसा—जो हिंसा गृहस्थियोंको खाना बनाने, शरीर मकानादिके शुद्ध-स्वच्छ रखनेमें होती है २ उद्योगीहिंसा—जो हिंसा गृहस्थियोंको आजी-विकाके लिए किसी व्यवसायके करनेमें होती है ३ विरोधीहिंसा—जो हिंसा गृहस्थियोंको चोर आदि अत्याचारियोंसे अपनी अथवा अपने धन-जनकी रक्षामें होती है ४ सांकल्पिक हिंसा—जो हिंसा केवल किसीके प्राण लेने अथवा दुःख पहुँचानेके संकल्प-इरादेसे की जाती है।

इन चार प्रकारकी हिंसाओंमें से गृहस्थ केवल 'सांकल्पिक हिंसा' का त्यागी हो सकता है, उसको संकल्प-इरादेसे न तो किसीके प्राणघात करने चाहिए और न किसीको किसी प्रकार दुःख देनेका ही संकल्प करना चाहिए। शेष तीन प्रकारकी हिंसाका त्याग गृहस्थमें बन नहीं सकता, यह तो व्रती गृहस्थसे भी ७ वीं प्रतिमा तक सभी से होती है। गृहस्थकी यदि आरंभ, उद्योग तथा विरोधमें अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति होगी तो उसकी उसमें हुई हुई हिंसा भी संकल्पी हिंसामें ही गिनी जावेगी।

मुनियोंके तो सब प्रकारकी हिंसाका त्याग होता ही है।

असत्य—झूठ का स्वरूप

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

शब्दार्थ—असत् = जो न हो, जिस प्रकार न हो, पीड़ाकारी। अभिधानम् = बोलना। अनृतम् = असत्य, झूठ।

अर्थ—जो न हो, जिस प्रकार न हो अथवा पीड़ाकारी वचन बोलना असत्य है।

विशेष—यहां 'असत् अभिधान' के चार रूप हो जाते हैं १ जो न हो सो कहना 'असत्य' जैसे जंगलमें भेड़ियेके न होने पर भी कहना कि भेड़िया है, किसीमें दोष न होने पर भी कहना कि इसमें दोष है, २ जिस प्रकार न हो उस प्रकार कहना सो, 'झूठ' जैसे चेतनको जड़, गोल वस्तुको तिकोनी कहना, ३ जो हो उसका निषेध करना 'असत्य' जैसे किसीके

माँगनेपर रुपए होते हुए कहना कि है नहीं, ४ यथार्थ होते हुए भी पीड़ाकारी वचन 'झूठ' जैसे मूर्खको मूर्ख, अंधेको अंधा कहना। गर्हित—हँसी-मजाकके, चुगलीके, गालीगलौचके, सावद्य-पाप सूचक अथवा पापजनक जैसे तुझे खा जाऊंगा, तेरे घरमें आग लगा दूंगा, और अप्रिय वचन सब पीड़ाकारी वचनमें ही गर्भित हो जाते हैं।

यह सब प्रकारके असत्य भी, 'प्रमत्तयोग' से ही असत्य की गिनतीमें आते हैं। इसका कारण उसी प्रकार समझ लेना चाहिए जैसे 'हिंसा' की व्याख्यामें ऊपर दिया है। इसीलिए 'प्रमत्तयोगात्' की आवृत्ति यहाँ भी कर लेनी। अतः सत्यकी यथार्थ शास्त्रीय अथवा आध्यात्मिक परिभाषा 'सते हितं यत् कथ्यते तत् सत्यम्-जीवोंकी भलाईके लिए जो कहा जावे सो सत्य है'.है।

चोरी का स्वरूप

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

शब्दार्थ-अदत्त=बिना दिया। आदानं=लेना। स्तेयम्=चोरी।

अर्थ-कोई भी वस्तु बिना दिए लेना चोरी है।

विशेष-अधिकारकी अपेक्षा सब वस्तुएं दो प्रकारकी हैं १ वे वस्तुएं जिनपर एक या अधिक व्यक्तियोंका विशेष अधिकार हो जैसे पुस्तक मेज इत्यादि २ वे वस्तुएं जिनपर सब का समान अधिकार हो जैसे हवा आदि। इनमें से कोई भी वस्तु बिना दिए लेना चोरी है।

ऊपरकी व्याख्यासे यह निष्कर्ष निकलता है कि हवा, धूप, वर्तिका आदिको बिना दिए ग्रहण करनेवाले साधु मुनि भी चोरीके भागी होते हैं। हाँ, यदि वे 'प्रमत्तयोग' से ऐसा करते हैं तो अवश्य ही दोषी हैं। अतः इस सूत्रमें भी 'प्रमत्तयोगात्' की पुनरावृत्ति अनिवार्य है। इसी अध्यायके सू० ६ में बताई गई अचौर्य व्रत की भावनाएं विशेषता प्रमत्तयोग से बचानेके लिए ही हैं।

अब्रह्म (कुशील) का स्वरूप

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

शब्दार्थ—मिथुन = स्त्री-पुरुषका जोड़ा अतः मैथुनं=स्त्री-पुरुष की परस्पर स्पर्श करनेकी इच्छा, जारी, स्त्री प्रसंग (पुरुषके लिए), पुरुष प्रसंग (स्त्रीके लिए)। अब्रह्म=जो ब्रह्म-जीवका स्वभाव न हो, उसके प्रतिकूल हो, जीवका पतन कराता हो, कुशील।

दोहा—अयथा कथन असत्य है, स्तेय अदत्तादान।
मैथुन है अब्रह्म अरु, मूर्छा परिग्रह जान ॥११॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष की परस्पर स्पर्श करने की इच्छा कुशील है।

विशेष—मिथुनके सामान्य अर्थ हैं 'जोड़ा'। विशेषरूपसे जोड़ा किसीका हो सकता है १ सजातीय स्त्री-पुरुषका 'स्त्री-स्त्रीका,' 'पुरुष-पुरुषका' २ विजातीय 'मनुष्य-कुतिया का', 'बंदर-स्त्रीका' इत्यादि। ऐसे किसी जोड़ेकी काम रागके आवेशसे हुईहुई मनकी वचनकी अथवा कायको कोई भी प्रवृत्ति मैथुन अथवा कुशील है।

यही नहीं, जहाँ जोड़ा न भी हो, केवल स्त्री या पुरुष कोई एकही काम रागके आवेश में जड़ वस्तुके अथवा अपने हस्त आदिके द्वारा मिथ्या आचरण करता है सो भी मैथुन है क्योंकि मैथुनका असली भावार्थ काम राग जनित चेष्टा ही है।

इसमें भी 'प्रमत्त योगात्' की पुनरावृत्तिकी आवश्यकता है कारण कि 'मैथुन-प्रवृत्ति' प्रमत्तयोगके बिना होती ही नहीं।

परिग्रह का स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

शब्दार्थ मूर्च्छा ममत्व, ममता, आसक्ति।

अर्थ—किसी भी पर-वस्तुमें आसक्ति-ममत्व-लीनता परिग्रह है।

विशेष—पर अथवा पर-संयोग जनित वस्तुएं जड़ चेतन, अंतरंग बाह्यअथवा छोटी बड़ी अनेक प्रकारकी हो सकती है। इस वस्तु-विभिन्नताके कारण ही परिग्रहके दोभेद हो गए हैं-एक बाह्य परिग्रह, इसके दस प्रकार हैं १ क्षेत्र (जंगलकी जमीन) २ वास्तु (घर कोठी बाग कारखाना आदि) ३ सोना ४ चांदी ५ धन (गाय भैंस घोड़ा आदि) ६ धान्य अनाज ७ दास ८ दासी ९ वस्त्र १० बर्तन, दूसरा अंतरंग परिग्रह, यह १४ प्रकार का है १ मिथ्यात्व २ क्रोध ३ मान ४ माया ५ लोभ ६ हास्य ७ रति ८ अरति ९ शोक १० भय ११ जुगुप्सा घृणा १२ पुरुष वेद १३ स्त्री वेद १४ नपुंसक वेद।

जब हम 'हिंसा' के विशाल अर्थपर विचार करते हैं तब उसीमें और सब दोष असत्य आदि समाये हुए मालूम होते हैं। इसी भांति असत्य चोरी आदिमें से किसीभी दोषकी विशाल व्याख्यामें सब दोष आ जाते हैं। यही कारण है कि अहिंसा आदिमें से किसी एक को मुख्य धर्म माननेवाले अन्य धर्मोंको भी उसीमें गर्भित कर लेते हैं।

यहां केवल 'मूर्च्छा-ममत्व' को ही परिग्रह कहनेका कारण यह है कि यदि हम वस्तु के संग्रहको परिग्रह कहेंगे तो बिना किसी वस्तुके नग्न रहने वाले पशु पक्षी तो बिल्कुल अपरिग्रही और चक्री आदि महान परिग्रही ठहरेंगे, किंतु ऐसा नहीं है। चक्रवर्ति भरत घरमें ही निरपरिग्रही समान प्रसिद्ध हैं। बाह्य सामग्रीको मूर्छाका कारण होनेके हेतु परिग्रह कहाहै।

यथार्थ व्रती ।

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

शब्दार्थ—निःशल्यः=निः नहीं+शल्य=कांटा, फांस, चुभन (माया मिथ्या निदान रूप) जो आत्मामें कांटेकी तरह चुभकर दुःख देते रहें=नहीं है शल्य जिनके=शल्य रहित।

अर्थ—शल्य (फाँस, चुभन-माया मिथ्या निदान) रहित जीव ही यथार्थ व्रती है।

विशेष—शल्य तीन हैं १ माया-छल, कपट, ढोंग २ मिथ्यात्व भूल—तत्वोंका अश्रद्धान, असत्य का आग्रह ३ निदान-आगामी भोगोंकी लालसा—वांछा। यह त्रिशूल, तीन शल्य अथवा तीन मानसिक दोष हैं जो मन और शरीर दोनोंको कुरेद कुरेद कर उनमें टीस उत्पन्न करते रहते हैं। जब तक यह बने रहते हैं आत्मा कभी भी स्वस्थ नहीं हो सकता। शल्य सहित जीव यदि कभी अहिंसा आदि व्रत लेभी ले तो भी इन तीन अथवा इनमें से कोई एकके चुभते रहनेसे किसी भी कार्यमें एकाग्र नहीं हो सकता। अतः यथार्थ व्रती बननेके लिए सबसे पहले इन तीन शल्यों का निकालना आवश्यक ही नहीं अपितु नितांत अनिवार्य है। इन तीन शल्यों-काँटों का कुछ विशेष वर्णन निम्न प्रकार है-

माया शल्य-छल, कपट, ढोंगको 'माया' कहते हैं। जैसा सरल मन वचन कायमें हो उसके विरुद्ध ही सोचना, विरुद्धही बोलना अथवा विरुद्धही करना माया है। मायाचार, कपट, कुटिलता अत्यंत निंद्य हैं। इनसे सदाही दुःखके कारण अशुभ कर्मोंका बंध होता है। मायाचारीका व्रत, तप, संयम सब कुछ निरर्थक है। कपट किसी प्रकार छिपाए नहीं छिपता, एक न एक दिन भंडाफोड़ होही जाता है। 'जैसे हांडी काठकी चढ़ै न दूजी बार' मायाचार खुलतेही प्रीति और विश्वास तो रहते ही नहीं वरन् शत्रुता हो जाती है। कपटीका उसकी माँ भी विश्वास नहीं करती, उसके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। कौन नहीं जानता कि दुर्योधनादि कौरव पाँडवोंके साथ कई बार कपट करके (जुआ खेल, लाक्षागृहमें रख) इस लोकमें कितने अपयशके भागी हुए और उन्हें परलोकमें भी तिर्यंच-नरक आदिके महान दुःख भोगने पड़े, त्रिलोक मंडन हाथीके जीवने अपने मुनिपदकी अवस्थामें तनिकसे मायाचारसे पशुगति का बंध किया। अतः ऐसी निंद्य माया-शल्यको कभी पास भी नहीं फटकने देना चाहिए। (माया-शल्यरूप होनेके विशेष कारण और उनके त्यागका उपाय देखिए अध्याय ६ सू० ६ के विशेष आर्जव धर्म वर्णन में)।

दोहा—व्रती तो निःशल्य ही, गृही अरु अनगार।
धारी पण अणुव्रत जो, कहा अगारी सार ॥१२॥

मिथ्या शल्य-मिथ्यादर्शन-यह जीव अनादिसे कर्म बंध सहित है। इसके दर्शनमोह के उदयसे हुआहुआ जो अतत्व श्रद्धान है उसका नाम मिथ्यादर्शन है। जैसा वस्तुका स्वरूप नहीं है वैसा मानना और जैसा है तैसा न मानना, इस प्रकार विपरीत अभिप्राय सहित जो मान्यता है सो मिथ्यात्व, मिथ्यादर्शन अथवा मिथ्या शल्य है (इसका विशेष वर्णन अध्याय ८ सू० १ के विशेषमें देखिए)।

निदान शल्य-निदानके अर्थ हैं 'आगामी बांछा' निदान-आगामी बांछा तीन प्रकारकी होती है १ प्रशस्त—संयम-धारणके लिए उत्तम कुल बुद्धि शुभसंगति आदिकी आगामीबांछा २ अप्रशस्त-अभिमानके लिए अपनी आज्ञा चलानेको उत्तम कुल जाति बल बुद्धि आचार्यत्व गणधरत्व तीर्थंकरत्व इत्यादिकी आगामी बांछा ३ भोगार्थ-संसार-भोगोंके लिए इन्द्रिय-विषय सेवनको राज्य सपदा ऐश्वर्य आदिकी आगामी बांछा। है तो यह तीनों प्रकारके निदान ही शल्य-काँटे-चुभन-कसक, इनमेंसे किसी प्रकारका भी शल्य रहते हुए कभी आत्मिक सच्चे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती, किंतु अप्रशस्त और भोगार्थ निदान तो जीवको अनंत संसारमें रुलाने वाले तथा तिर्यंच और नरकगतिमें पहुँचानेवाले हैं। बांछा करनेवालेका पुण्य भी नष्ट हो जाता है, उसे तो उलटा पापका ही बंध होता है। पुण्यका बंध भी निर्वांछक के ही होता है। सम्यग्दृष्टि को तो इंद्र अहमिंद्र लोकका सुख भी सुखाभास विनाशीक पराधीन और दुःखरूप ही दिखता है—

दोहा—तीन लोकको संपदा, चक्रवर्तिके भोग। काक बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टी लोग ॥

अतः इन शल्योंको महान दुःखोंका कारण समझ इन्हें दूर करनेका सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए।

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

शब्दार्थ—अगार=घर अतः अगारी=घरवाला, गृहस्थ। अनगार=गृहत्यागी, मुनि, साधु।

अर्थ—व्रती १ गृहस्थ २ मुनि दो तरहके होते हैं।

विशेष—प्रत्येक व्रतधारीकी योग्यता समान नहीं होती अतः कम अधिक योग्यताकी अपेक्षा यहाँ व्रतीके दो भेद कहे हैं १ गृहस्थी-श्रावक २ मुनि-साधु।

अगारी (गृहस्थ—श्रावक) का लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अर्थ-अणु—एक देश व्रत पालनेवाला जीव 'अगारा' कहलाता है।

विशेष—जो अहिंसादि व्रतोंको सम्पूर्ण रूपसे पालनेमें समर्थ न हो वह गृहस्थ-मर्यादा में रहकर अपनी त्यागवृत्तिके अनुसार इन व्रतोंको कुछ अंशोंमें पालता है उसे अगारी-अणुव्रती श्रावक कहते हैं। अणुव्रत पाँच हैं १ अहिंसाणुव्रत २ सत्याणुव्रत ३ अचौर्याणुव्रत ४ ब्रह्मचर्याणुव्रत ५ परिग्रह परिमाणाणुव्रत।

१ अहिंसाअणुव्रत—संकल्प पूर्वक त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग—
दोहा—कृतकारित अनुमोदना, संकल्प मनवचकाय। नहीं हने परजीवको, दयाणुव्रत्त कहाय॥

२ सत्याणुव्रत—राग द्वेष भय आदिके वश स्थूल असत्य बोलनेका त्याग—
दोहा—थूल झूठ बोले नहीं, अरु परसे न बुलाय। आपत्तिकारी सत्य भी, आप कहे न कहाय॥

३ अचौर्याणुव्रत—राज समाज दंड योग्य स्थूल चोरीका त्याग—
दोहा—गड़े गिरे भूले हुए, अरु थाती पर-माल। लेय नहीं नहिं देय पर, थूल अचौरी पाल॥

४ ब्रह्मचर्याणुव्रत—पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष सेवनका त्याग—
दोहा-पर स्त्री सेवे नहीं, ना पर सेव कराय। अघभयसे पर पुरुष को, त्यागे शील रहाय॥

५ परिग्रह परिमाणाणुव्रत-आवश्यकतासे अधिक परिग्रह का त्याग करके शेष का परिमाण करना- दोहा-धन धान्य आदिक संग दस, इनका कर परिमाण।
वृद्धि कभी इच्छे नहीं, व्रत इच्छा-परिमाण॥

नोट-पूर्णरूपेण अहिंसादि पाँचों व्रतों अथवा महाव्रतोंको पालने वाले महाव्रती, अनगार, साधु अथवा मुनि होते हैं। इस अध्यायमें अणुव्रती श्रावकोंके ही चारित्रका विशेष वर्णन है।

अगारी (श्रावक) के ७ शील- ३गुणव्रत+४ शिक्षाव्रत

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथि संविभाग व्रत संपन्नश्च ॥२१॥

शब्दार्थः-दिग्देशानर्थ दंडविरति = दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ, दंडव्रत। अतिथिसंविभाग= अतिथि-बिना नियत तिथिको आजाने वाले मुनि अथवा ११वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक, संविभाग-समान विभाग अर्थात् मुनि अथवा उत्कृष्ट श्रावकको आहार आदि दान अपने ही निमित्त बनी वस्तुमें से देना। संपन्नः=सहित।

अर्थः-अगारी-गृहस्थव्रती तीन गुणव्रत १ दिग्व्रत २ देशव्रत ३ अनर्थदंडव्रत और चार शिक्षाव्रत १ सामायिक २ प्रोषधोपवास ३ उपभोग परिभोग परिमाण व्रत ४ अतिथि

दोहा—व्रत दिग्देश अनर्थ विरति, सामायिक उपवास।
नाप भोग उपभोग अरु, वैयावृत सन्यास ॥१३॥

संविभाग व्रत सहित होते हैं। तात्पर्य यह है कि व्रती श्रावक ५ अणुव्रत और ७ शील तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत.इस प्रकार १२ व्रतों का धारी होता है।

३ गुण व्रतों का स्वरूप

१ दिग्व्रत—अपनी त्यागवृत्तिके अनुसार उत्तर दक्षिण आदि दसों दिशाओंका परिमाण निश्चित करके मरण पर्यंत उसके बाहर धर्म कार्योंके अतिरिक्त और सब प्रकारके कार्योंका त्याग करना 'दिग्व्रत' है।

दोहा—पाप निवारण के लिये,दसों दिशा परिमाण। मरने तक लंघे नहीं,सोई दिग्व्रति जान ॥

२ देशव्रत-सर्वदाके लिए दिशाओंका परिमाण निश्चित करलेने पर भी उसमें से प्रयोजन के अनुसार समय-समय पर क्षेत्रका परिमाण निश्चित करते रहना 'देशव्रत' है।

दोहा-दिग्व्रतके परिमाणमें, प्रतिदिन त्याग करेय। देश अवकाशिक व्रतका, अणुव्रती फल लेय

३ अनर्थदंडव्रत—मर्यादित दिशा और क्षेत्रके अंदर भी प्रयोजन रहित पापवर्धक क्रियाओं का त्याग करना 'अनर्थ दंडव्रत' है।

दोहा— दिशा अवधिके भीतरे,बिनामतलब अघहेत। त्यागकरन मुनिवर कहें,अनर्थविरतिव्रतसेत

अनर्थदंड पाँच प्रकारका है १ पापोपदेश-हिंसा आरम्भादि पाप कार्योंका उपदेश देना २ हिंसादान-तलवार आदि हिंसाके उपकरण देना ३ अपध्यान-दूसरोंका बुरा चिंतवन करना ४ दुःश्रुति-रागद्वेष वर्धक खोटे शास्त्रोंका सुनना, पढ़ना ५ प्रमादचर्या-बिना प्रयोजन घास तिनके आदि तोड़ना।

नोट-यह तीनों व्रत अणुव्रत रूपी गुणोंमें गुणा वृद्धि, उन्नति करते हैं, अतः इनका गुणव्रत नाम सार्थक है।

४ शिक्षाव्रतों का स्वरूप

१ सामायिक-किसी नियत समय तक मन वचन कायसे हिंसादि पाँचों पापोंका त्याग करके समता भाव सहित अपने आत्म स्वरूपमें लीन होना 'सामायिक शिक्षाव्रत' है।

दोहा-नियत कालतक पाप सब, त्यागे मनवचकाय। आतमलीन समभावयुत, सामायिकव्रत थाय

सामायिक का विधि विधान

काल-सामायिक का योग्य काल संध्याएं हैं। मुनियोंके लिए चार संध्या हैं १ प्रातःकालीन २ दुपहर के १२ बजेकी ३ सायंकालीन ४ अर्द्ध रात्रिके १२ बजेकी। प्रतिमाधारी श्रावकके लिए तीसरी प्रतिमासे अर्द्ध रात्रिके अतिरिक्त शेष तीन किन्तु पहली दूसरी प्रतिमाधारी तथा साधारण श्रावकके लिए प्रातः तथा सायंकालीन दो। सामायिकका उत्कृष्ट काल ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य दो घड़ी है, जो प्रतिसंध्यासे आधा पहले और आधा बादमें होना चाहिए। अतः सामायिकका उत्कृष्टकाल प्रातःकालमें सूर्य निकलनेसे ३ घड़ी

अर्थात् १ घंटा १२ मिनट पहलेसे लेकर सूर्य निकलनेके १ घ. १२ मि. बाद तक, ऐसे ही दुपहर आदि संध्याओंमें है। इसी प्रकार मध्यम और जघन्य काल भी जानना चाहिए। फिर भी कुछका ऐसा कहना है कि चूंकि सामायिकका काल सूर्य निकलने छिपने अथवा १२ बजे से १ घंटा १२ मि० पहलेसे लेकर १ घं० १२ मि० बाद तक है अतः मध्यम जघन्य सामायिक इस कालके बीचमें किसी भी समय की जा सकती है।

स्थान—कोई एकांत बन, मंदिर, बाग, जहाँ किसी प्रकारकी बाधा अथवा चित्तमें गड़बड़ी डालनेके कारण न हों, जहाँ बहुत सर्दी गर्मी आदिकी बाधा न हो और न जहां मच्छर, मक्खी, आदिकी अधिकता हो, ऐसा शांत निराकुल स्थान ही ध्यानके योग्य है।

आसन—सामायिक खड़े होकर अथवा बैठकर दोनों प्रकारसे की जाती है। खड़े होकर सामायिक करनेके लिए एक 'खड्गासन' ही है किन्तु बैठकर करनेके लिए तीन आसन हैं १ पद्मासन २ अर्द्ध पद्मासन ३ सुखासन-पलौथी।

खड्गासन में सिर ऊपर को सीधा, कंधे पीछेको, छाती कुछ आगेको निकली हुई, हाथ दोनों जांघों के पार्श्वमें लटकते हुए, और दृष्टि नाककी नोक पर अर्थात् नासादृष्टि रहती है। पैरके दोनों पंजोंमें ४ अंगुलका फासला और दोनों एड़ियाँ परस्पर छूती हुई रहती हैं। धोती, बालादि पहलेही ठीक कर लिए जाते हैं कि सामायिकमें कोई गड़बड़ी न हो।

पद्मासन पहले बाएं-पैरकी एड़ीको दाईं-जाँघके ऊपरी सिरपर और फिर दाएं पैर की एडी को बाईं जाँघके ऊपरी सिरे पर रखते हैं।

अर्द्ध पद्मासन—बाएं पैर की एडीको अण्डकोषके नीचे रखकर दाएँ पैरको बाईं जंघाके ऊपरी सिरे पर रखते हैं।

सुखासन-पलौथी साधारण है ही जिसे बालवृद्ध सभी जानते हैं।

इन तीनों आसनोंमें भी छाती, सिर, कंधे और दृष्टि खड्गासनके समान ही रहते हैं। हाथ-बाईं हथेली रखकर नाभिके पास रहते हैं।

विधि—योग्य स्थान में, काल की मर्यादा करके, वस्त्रादि ठीक कर, आसन निश्चित कर, सब सांसारिक संकल्प विकल्पोंको छोड़, स्वस्थ सावधानचित्त हो, पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुंह करके, हाथ लटका सहज सीना निकाल खड़ा हो जावे। पहले नौ ९ बार नमस्कार मंत्र अथवा 'ॐ ह्रीं अ सि आ उ सा नमः' ९ बार भाव सहित पढ़े फिर धरतीमें घुटने टेक ध्यानपूर्वक 'ॐ नमः सिद्धेभ्य' कहकर सिद्धोंको नमस्कार करे; उठकर सावधानता पूर्वक खड़ा हो पहलेकी भाँति ही नौ अथवा तीन बार नमस्कार मंत्र अथवा ९ अथवा ३ बार 'ॐ ह्रीं अ सि आ उ सा नमः' पढ़ हाथ जोड़ मस्तक पर ला तीन आवर्त्त करे अर्थात् मस्तकके समीप जुड़े हुए हाथोंको दाएंको ले जाता हुआ तीन बार घुमावे—प्रत्येक बार भाव सहित

ॐ नमः सिद्धेभ्यः कहता जाय। फिर अपनी दाईं ओरको घूमे और उधर भी ९ बार या ३ बार णमोकार मंत्र अथवा ॐ ह्रीं अ सि आ उ सा नमः भाव सहित पढ़े फिर खड़ा हुआ ही तीन आवर्त्त पहलेकी तरह करे। इसी प्रकार शेष दो दिशाओंमें भी करे। तत्पश्चात् आरम्भ करने वाली दिशामें आ तीनों लोकोंके कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयों तथा जिन-प्रतिमाओंको भाव सहित नमस्कार करे, फिर संसारके जीव मात्रके कल्याणकी भावना भावे। ऐसा करके फिर घुटने टेक सिद्धोंको नमस्कार कर जिस आसन से सामायिक करनीहो उससे स्थित हो जावे।

निश्चित समय तक एकाग्र मनसे णमोकार मंत्रकी, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की, ॐह्रीं अ सि आ उ सा नमः की, अनंत चतुष्टय-अनंतदर्शन अनंतज्ञान अनंतवीर्य अनंत सुख, आदिकी जाप करे, 'शुद्ध चिद्रोहं' जाप करते हुए तद्रूप स्वयं अपने आपका ध्यानकरता जावे। फिर सामायिक पाठ-नित्य भावना, आलोचना पाठ आदि पढ़े।

समयकी समाप्ति पर घुटने टेक 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कह सिद्धोंको नमस्कार करे, खड़ा हो पहलेकी तरह ही प्रत्येक दिशामें ९ या ३ बार णमोकार मंत्र अथवा ॐ ह्रीं अ सि आ उ सा नमः पढ़ पढ़ कर तीन तीन आवर्त्त करे। अंतमें आरम्भ वाली दिशामें फिर तीनों लोकके कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयों तथा जिन प्रतिमाओंको भाव सहित नमस्कार करके जीव मात्रसे क्षमा मांगता हुआ प्रत्येक जीवके कल्याणकी भावना भावे। अब फिर घुटने टेक सिद्धोंको नमस्कार कर सामायिक समाप्त करे।

२ प्रोषधोपवास- दोहा-चउविध का आहार तज, कहलावे उपवास।
एकाशन प्रोषध कहें, मिल प्रोषध उपवास॥ (रत्नकरंड १०९)

सप्तमी और त्रियोदशीको एकाशनके साथ अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास (उप= समीप+ वास=आत्माके समीप वास) करके धर्मजागरणमें तत्पर रहना 'प्रोषधोपवास' शिक्षाव्रत है। प्रोषधोपवासमें भोजनपानका त्याग शक्ति अनुसार उत्तम-उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य रूपसे तीन प्रकार कहा है।

उत्तम-उत्कृष्ट—४८ घंटे—१६ पहरका—सप्तमी तेरस धारणाके दिन आहार पान कुल एक बार, अष्टमी चतुर्दशीको बिना आहार पान, नौमी पंद्रसको आहारपान ४८ घंटेके पश्चात्।

मध्यम के दो भेद—(क) सप्तमी तेरसको उत्तमकी तरह, अष्टमी चतुर्दशीको एक बार जलपान, नौमी पंद्रसको एक बार आहार पान (दुपहरमें);

(ख) सप्तमी तेरसके सायंकालसे नौमी पंद्रसके प्रातःकाल तक अर्थात् १६ पहर निर्जल परंतु यहां भी सप्तमी तेरस व नौमी पंद्रसको दो बेलासे अधिक भोजन व जल आदि न ले।

जघन्यके दो भेद—(क) सप्तमीतेरसको दुपहरमेंभोजन पान संध्याको जलपान, अष्टमी

चौदसमें नीरस जलपान, नौमी पंद्रसको दुपहार में भोजन संध्या को जलपान,

(ख) सप्तमी तेरसको दुपहरमें भोजनपान संध्याको जलपान ४ बजे के लगभग, अष्टमी चौदस में नीरस भोजन पान केवल एक बार ४ बजे के लगभग—८ पहर बाद, नौमी पंद्रस को (क) की भाँति।

३ उपभोग परिभोग परिमाण व्रत—राग कम करनेके लिए परिग्रह परिमाण व्रतके भोग उपभोगमें भी प्रतिदिन और और परिमाण करना 'उपभोग परिभोग परिमाण व्रत' है।

दोहा—परिग्रहके परिमाणमें, प्रतिदिन कर परिमाण। रागघटाने हेतु उप,-भोग भोग परिमाण॥

४ अतिथिसंविभाग व्रत—बिना बदलेकी इच्छाके अतिथि अर्थात् मुनियों, आर्यिकाओं तथा ११ वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकोंको भक्ति सहित शुद्ध आहार, पीछी कमंडल आदि देना 'अतिथिसंविभाग' शिक्षाव्रत है।

नोट-इस व्रतधारीको मध्यम श्रावक और अव्रत सम्यग्दृष्टिको भी दान देनेकी भावना रखनी चाहिए—

दोहा-गुणआगार तपो धनी, मुनि श्रावकको दान। इच्छा-प्रत्युपकार बिन, वैयावृत्य सुजान॥

नोट—इन चारों व्रतोंके पालनेसे मुनि अथवा साधु बननेकी शिक्षा मिलती है, अतः यह व्रत शिक्षाव्रत कहलाते हैं। मुनि बनकर ही अरहंत पदकी प्राप्ति हो सकती है और यही (अरहंत-जीवन्मुक्त होना ही) हमारा आदर्श-ध्येय है।

यहाँ श्रावकोंकी ११ प्रतिमाओं-प्रतिज्ञाओं-श्रेणियोंका स्वरूप भी संक्षेपमें दिया जाता है-

गृहस्थ की ११ श्रेणियाँ

जिनेंद्रदेवने श्रावकोंकी ११ प्रतिमाएं कही हैं, इन आगे-आगेकी प्रतिमाओं में पहली पहली सब प्रतिमाएँ गर्भित रहती हैं अर्थात् ११वीं प्रतिमाधारीको पहलीसे सब प्रतिमाएं-प्रतिज्ञाएं १० वीं वालेको पहलीसे दसवीं तकको सब प्रतिज्ञाएं पालनी आवश्यक हैं इत्यादि

दोहा-श्रावक श्रेणी एकदश, भाषी श्रीजिनराज। तिनमें अपने गुणसहित, पहले भी गुणराज॥

१ दर्शन प्रतिमाधारी

जो सम्यग्दर्शनके २५ दोष रहित शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी, संसार देह भोगोंसे विरक्त, सर्वज्ञ भाषित जीवादिक तत्वोंका श्रद्धानी और जिसको केवल पंचपरमेष्ठी अथवा अपने आत्माकी ही शरण हो ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रावक पहली दर्शन प्रतिमाका धारी होता है—

दोहा-भवतन भोग विरक्त जो, सम्यग्दर्शन शुद्ध। पंच परमगुरु शरण सो, दर्शन सहित प्रबुद्ध॥

२ व्रत प्रतिमाधारी

जो दर्शन प्रतिमाधारी पाँच अणुव्रत अतीचार रहित और सात शीलों अर्थात् ३गुण-

व्रत तथा ४ शिक्षाव्रतोंको माया मिथ्या निदान शल्य रहित हो पालता है वह दूसरी प्रतिमाधारी व्रती श्रावक है दोहा-पन अणुव्रत अतीचार बिन, निःशल्य शील व्रतधार।
व्रतिकोंमें वह दार्शनिक, निश्चय व्रतिकः सार ॥

३ सामायिक प्रतिमाधारी

जो व्रती श्रावक धन कुटुम्ब शत्रु मित्र आदिके सांसारिक संकल्प विकल्पोंको छोड़ एकासन-खड्गासन आदिमें से किसी एकमें स्थित हो नियम पूर्वक प्रतिदिन प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल तीन बार साम्य भाव धारण करके अरहंत आदि परमेष्ठीकी बंदना व उनका अथवा अपना स्वरूप चितवन करता है वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है—
दोहा-परिग्रह चिंता दूर कर, आसन स्थित होय। बंदनतिहुं संध्या करै, सामायिकी है सोय ॥

४ प्रोषध प्रतिमाधारी

जो सामायिक प्रतिमाधारी प्रतिमास दो अष्टमी दो चतुर्दशी इन चार पर्वोंमें अपनी शक्तिको न छिपाता हुआ प्रोषध (एकाशन) सहित अथवा प्रोषध (पर्व)के दिन उपवास सहित शुभ ध्यान-पूजा पाठ स्वाध्याय सामायिक आदिमें लीन रहता है वह प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक है दोहा-चार पर्व प्रतिमास में, बिन निज शक्ति छिपाय।
प्रोषध युत शुभ ध्यान रत, प्रोषध व्रती कहाय ॥ (रत्नकरंड १४०)

पं० प्रवर सदासुखदासजी काशलीवाल जयपुर निवासी टीकाकार-रत्नकरंड श्रावकाचार—
अथ चौथा प्रोषध स्थान कहे हैं—

अर्थ—एक एक मासमें दोय अष्टमी अर दोय चतुर्दशी ऐसे चार जे पर्वदिन तिनमें अपनी शक्ति कूं नाहीं छिपाय करकै आहार पानादिकका त्याग वा नीरस आहार वा अल्प आहार वा कंजिका धारण करि अर शुभ ध्यानमें लीन हुआ नियम धारण करकै चार पर्वमें रहै सो प्रोषधानशन नाम चतुर्थस्थान है ॥४॥

यहाँ प्रश्न यह रह जाता है कि दूसरी प्रतिमाके ७ शीलोंमें तो 'प्रोषधोपवास' शिक्षाव्रत और चौथी प्रतिमामें केवल 'प्रोषध' क्यों ? उत्तर है कि दूसरी प्रतिमामें ७ शीलोंमें अतीचार लग सकते हैं किंतु चौथीमें यह निरतीचार रूप है। अतः इस प्रतिमाको निरतीचार निभाने के लिए ही ऐसा किया गया है फिर भी प्रोषधोपवास करनेकी यहाँ भी मनाई नहीं है किंतु 'शक्ति कूं नहीं छिपाय' शब्द यह स्पष्ट बता रहे हैं कि निरतीचार उत्कृष्ट प्रोषधोपवास तक करना चाहिए।

५ सचित्तत्याग प्रतिमाधारी

जो प्रोषध प्रतिमाधारी दयावान श्रावक भक्ष्य फल सागादिको बिना छेदे भेदे, बिना

अग्निमें पकाये-अचित किये बिना नहीं खाता वह पाँचवीं सचितत्याग प्रतिमाधारी है।

दोहा—कच्चेफल शाकादि जो, नहिं खावें दयवंत। सचित त्यागधारी कहें, तिनको मुनिगुणवंत

६ रात्रिभुक्त-त्याग प्रतिमाधारी

जो सचित त्यागी श्रावक १ अन्न २ पान-दूध जल शरबत आदि ३ खाद्य-पेड़ा बर्फी आदि ४ लेह्य—रवड़ी पान इलायची अन्य औषधि आदिक चार प्रकारका आहार रात्रिमें नहीं करता वह दयावान व्यक्ति रात्रिभुक्तत्याग प्रतिमाधारी है—

दोहा—रात्री में लेवे नहीं, चउ विधिका आहार। रात्रि भुक्त त्यागी वही, दयावान नर सार ॥

७ ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी

जो रात्रि भुक्त त्यागी शरीरको मैलके उत्पन्न करने वाला और मैलकी उत्पत्तिका स्थान जान इससे ग्लानि करता हुआ काम भोगसे दूर रहता है वह सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी कहलाता है दोहा—मैल बीज मल योनि तन, ग्लानि युक्त तेहि जान।
काम भोग से दूर हो, ब्रह्मचारी तेहि मान ॥

८ आरंभ-त्याग प्रतिमाधारी

जो ब्रह्मचारी श्रावक खेती व्यापार नौकरी आदि हिंसाके कारण आरम्भ-कार्यों को न आप करता और न दूसरोंसे कराता है वह आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी है—

दोहा—सेवा कृषि वाणिज्य अरु, हिंसायुत आरंभ। आप करें न करावता, सो त्यागीआरम्भ ॥

९ परिग्रह-त्याग प्रतिमाधारी

जो आरंभत्यागी बाह्य १० प्रकारके परिग्रहका त्याग करके उनसे आत्म बुद्धि हटा लेता है और संतोष पूर्वक जीवन यापन करता है वह परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी है—

दोहा-दसधा परिग्रह त्याग कर, निर्ममता हो रत्त। परिग्रह त्यागीकी सदा, हो संतोष वृत्ति ॥

१० अनुमति-त्याग प्रतिमाधारी

जो परिग्रह-त्यागी संसार संबंधी विवाह वाणिज्य आदि कार्योंमें अपनी अनुमति राय-सम्मत्ति भी नहीं देता वह समबुद्धि श्रावक दसवीं अनुमति त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है—

दोहा-आरम्भ परिग्रह और जो, भव संबंधी कार्य। इनमें अनुमति दे नहीं, अनुमति त्यागी आर्य

११ उत्कृष्ट श्रावक-उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी

जो अनुमति-त्यागी साम्यभाव धारी गुरु द्वारा दीक्षा ले घर छोड़ मुनियोंकी तरह बन वस्तिका आदिमें वास करता हुआ तप करता है और खंड वस्त्र रखता तथा भीक्षा-उद्दिष्ट त्याग—उसके निमित्त न बना हुआ भोजन करता है वह उत्कृष्ट श्रावक उद्दिष्ट त्याग

प्रतिमाधारी है दोहा-गृह त्याग बन मठ तपें, गुरु से दीक्षित होय।
खंड वस्त्र भिक्षा-अशन, उत्कृष्ट श्रावक सोय ।।

यहांतक शुभ आस्रवके कारण व्रतों, नियमों तथा प्रतिमाओंका वर्णन हुआ। इन सब का विशेष फल सन्यासव्रत-समाधि-सल्लेखनासे ही प्राप्त होता है। सल्लेखना व्रत नियमरूपी सुवर्ण मंदिरपर रत्नमयीकलस चढ़ाना है। अतः आगे सल्लेखना-समाधिका वर्णन करते हैं—

सल्लेखना अथवा सन्यास व्रत

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

शब्दार्थ—मारणांतिकीं =मरणके समय होने वाली। सल्लेखनां= सद्‌लेखना=काय तथा कषायका कृष करना, सन्यास; निरुपाय उपसर्ग बुढापा, रोग, दुर्भिक्ष आदि आ पड़ने पर शरीरका धर्मार्थ छोड़ना सन्यास अथवा सल्लेखना है। जोषिता=प्रीति पूर्वक सेवन करनेवाला।

अर्थ-व्रती श्रावक और मुनि मरणके समयकी सल्लेखनाको भी प्रीति पूर्वक सेवन करने वाला होता है।

विशेष—सल्लेखना कहते हैं कृष अथवा कमजोर करनेको, वह दो प्रकार होती है। १ अनशन आदिसे कायका कृष करना २ क्रोधादि कम करके कषायोंका घटाना। यहाँ दोनों प्रकारकी सल्लेखना सहित आत्मा-परमात्माका ध्यान करते हुए शरीर छोड़नेको सल्लेखना अथवा सन्यास कहा है।

सन्यासको सर्वज्ञदेवने तपका विशेष फल बताया है। अतः प्रत्येक व्यक्तिको सन्यास धारण करनेका विशेषही उपाय करना चाहिए।

विधि-जब मनुष्य यह समझे कि ऐसी आपत्ति, बुढापा, रोग, अथवा अकाल आ गया है कि जिसका प्रतिकार-रोक-उपायही नहीं तब उसको चाहिए कि वह सब झंझटोंसे मनको हटा, रागद्वेषादि सब प्रकारका बाह्य अभ्यंतर परिग्रह त्याग मनको शुद्ध करे, फिर सब जीवों-कुटुम्बी, संबंधी, पड़ौसी आदिसे क्षमा मांगे और स्वयं भी सबको क्षमा करदे।

कृत कारित अनुमोदनासे किये हुए सब पापोंकी कपट रहित शुद्ध मनसे निंदा-आलोचना करके और प्रसन्न होकर मरण पर्यंत महाव्रत धारण करे।

फिर शोक, अरति, भयको त्याग सशक्ति उत्साह पूर्वक प्रसन्न मनसे भव-दुःख नाशक शास्त्र पढ़े अथवा सुने, समाधि-छत्तीसा, समाधि मरण आदि पाठ पढ़े, सुने।

धीरे धीरे आहारका त्यागकर पहले दूध और मट्ठे पर निर्वाह करे फिर दूध मट्ठेको छोड़ केवल गर्मजल पीवे, तदनंतर पानीका भी त्याग करके उपवास धारण करे। अंतमें णमोकार मंत्रका उच्चारण अथवा मनन करता हुआ शरीरको छोड़े (मरण करे)।

इसमें न तो शीघ्र मरनेकी इच्छा करे, न बहुत काल जीनेकी इच्छा रक्खे और न मृत्युसे डरे ही। मित्रों संबंधियोंको याद करना और आगामी भोगोपभोगकी इच्छा भी इसमेंवर्जित है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब सल्लेखनामें अनशन आदि द्वारा शरीरका अंत किया जाता है तो यह तो आत्म हत्या—स्वहिंसा हुई, तब यह व्रत कैसे ?

समा—हिंसाका यथार्थ स्वरूप तो रागद्वेष और मोहकी वृत्ति है। सल्लेखनामें माना कि प्राण नाश है पर रागद्वेष और मोह न होनेके कारण हिंसामें नहीं गिना जा सकता। सल्लेखना तो निर्मोह और वीतराग भावकी साधनाकी भावनासे उत्पन्न होती है। इस भावना की सिद्धिके लिए ही यह पूर्ण व्रत बन जाता है। अतः यह हिंसा नहीं है और न यह आत्मघात जैसी बात ही है। आत्मघात तो किसी कषायके आवेशमें किया जाता है और यह है कषायोंकी निवृत्ति रूप।

नोट-संसारी जीवोंकी आयु प्रति समय क्षीण होती रहती है, आयुका क्षीण होना ही मृत्यु है। अतः सल्लेखनाकी भावना प्रतिसमय रखनी चाहिए।

सम्यग्दर्शन के पांच अतीचार-दोष

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टि प्रशंसा संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥२३॥

अर्थ-१ शंका (जिनेंद्र भाषित सूक्ष्म पदार्थोंमें संदेह करना) २ कांक्षा (धर्म साधन करके सांसारिक सुखोंकी इच्छा करना) ३ विचिकित्सा (दुखी दरिद्री जीवोंसे अथवा मुनियोंके बाह्य में मलिन शरीरसे घृणा करना) ४ अन्यदृष्टि प्रशंसा (मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानादिको मनसे अच्छा समझना) और ५ अन्यदृष्टि संस्तव (मिथ्यादृष्टियोंकी वचनसे प्रशंसा करना) यह ५ सम्यग्दर्शनके अतीचार-दोष हैं।

विशेष—ऐसे दोष अथवा पतनको जिससे स्वीकार किये हुए व्रत मलिन होकर धीरेधीरे ह्रासको प्राप्त हों नष्ट हो जायं 'अतीचार' कहते हैं। मनसे अच्छा समझना 'प्रशंसा' और वचनसे गुणगान करना 'संस्तव' है।

सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान चारित्र भी यथार्थ—सम्यक् नहीं कहला सकते। अतः सम्यक् चारित्रको निर्दोष पालनेके लिए पहले सम्यग्दर्शनका निर्दोष होना नितांत आवश्यक है। इसीलिए यहाँ सर्व प्रथम सम्यग्दर्शनके अतीचार बताये है जिनसे बचकर प्रत्येक मुमुक्षु को अपने रत्नत्रयको निर्मल बनाना चाहिए।

अरहंत सर्वज्ञ वीतराग वर्णित तत्त्वोंके स्वरूपमें संदेह करना अथवा अपने आत्माको ज्ञाता दृष्टा, अखंड अविनाशी, पुद्गलसे भिन्न जानकर भी भय (सात प्रकार १ इहलोकका भय २ परलोकभय ३ मरणभय ४ वेदनाभय ५ अनरक्षाभय ६ अनगुप्तभय ७ अकस्मातभय)

को प्राप्त होना शंका नामका दोष है। संशय अथवा तर्क पूर्वक परीक्षाका जैन-सर्वज्ञ दर्शनमें पूर्ण स्थान है। हाँ फिर भी १ सूक्ष्म जैसे परमाणु २ अंतरित-अतीत अथवा अनागत ३ दूरवर्ती जैसे सुमेरु स्वर्ग आदि पदार्थ ऐसे हैं जो संशय-तर्क आदिसे नहीं जाने जा सकते यह तो आत्माके प्रत्यक्षज्ञान (अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान) से ही प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं, ऐसे पदार्थ तर्क-वादसे परे हैं। अतः सर्वज्ञ-भाषित ऐसे पदार्थोंमें संदेहको यहाँ शंका कहा है। ऐसे पदार्थोंमें शंका करनेसे केवल यही पदार्थ बुद्धिमें नहीं आवेंगे सो बात नहीं है किंतु साधक मुमुक्षु इनको असत्य समझ बुद्धिगम्य सत्य पदार्थोंको भी असत्य मान बैठेगा, अतः हानि ही होगी। इसीलिए ऐसी शंकाको त्याज्य कहा है। सर्वज्ञ-भाषित शास्त्रोंपर पूर्णरूपेण श्रद्धा न होनेके कारण ही यह दोष लगा करता है।

धर्मसाधन करके सांसारिक सुखोंकी इच्छा करना कांक्षा है। यदि किसी साधकको धर्मसाधन करके ऐसे सुखोंकी वाँछा हो और वह उसके पहले अशुभ कर्मोंके उदयके कारण प्राप्त न हों तो वह धर्मकार्यमें शिथिल हो सम्यग्दर्शन तथा चारित्र दोनोंसे भ्रष्ट हो जायगा। धर्मसाधनका वास्तविक फल तो अतीन्द्रिय सुख है, और जो धर्मसाधन करके इन्द्रिय सुख की वाँछा करता है उसने तो यथार्थमें धर्मका स्वरूप ही नहीं समझा फिर वह सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता है!

विचिकित्सा नाम ग्लानि या घृणाका है, यदि किसीको दीन, दरिद्री, रोगी, दुःखी से घृणा है तो समझिए कि वह दीन दरिद्री आदि प्राणियोंको बुरा अथवा तुच्छ समझता है। इस दशामें ऐसा व्यक्ति समभावोंसे जो कि मोक्षका एक मूल साधन है कोसों दूर रहेगा। किसी भी वस्तुमें घृणा तात्त्विक दृष्टिके न होनेसे ही हो सकती है अतः विचिकित्सा तो मूल में ही सम्यग्दर्शनकी घातक है। इसलिए विचिकित्सा अथवा दूसरोंसे घृणा करने वालेसे यथार्थ व्रतचारित्र पल ही नहीं सकते। वस्तु स्वरूपको यथार्थ न समझने पर ही विचिकित्सा दोष उत्पन्न होता है।

किसीकी मनसे प्रशंसा या वचनसे गुणगान कोई जबही करता है जब कि वह उसे अच्छा जानता हो, वह फिर स्वय भी वैसाही बननेका प्रयत्न किया करता है। अतः मिथ्यादृष्टि की मनसे प्रशंसा करना अथवा वचनसे उसके गुणगान करना स्वयं भी मिथ्यादृष्टि बनना है जो मोक्षके लिए सबसे बड़ी बाधा है। अतः यह दोनों बातें त्याज्य कही हैं।

सम्यग्दर्शनके १ निःशंकित २ निःकांक्षित ३ निर्विचिकित्सा ४ अमूढदृष्टि ५ उपगूहन

दोहा—शंका कांक्षा विचिकित्सा, दृष्टी-अन्य प्रशंस।
अरु स्तवन अतिचार पन, सम्यग्दर्शन ध्वंस ॥१४॥

६ स्थिति करण ७ वात्सल्य ८ प्रभावना आठ अंग है। यहां इस सूत्रमें सम्यक्दर्शनके पाँच ही अतीचार-दोष बताए हैं, कारण यह है कि इनमेंसे पहले तीन तो निःशंकित आदि पहले तीन अंगोंमें लगने वाले दोष हैं और शेष दो अतीचार अमूढदृष्टित्व अंगमें आते हैं, रहे शेष चार अंग—इसके लिए देखिए अध्याय ६ सूत्र २४ का विशेष।

५ व्रत और ७ शीलों के अतीचारों की संख्या

व्रत शीलेषु पँच पंच यथाक्रमम् ॥२४॥

शब्दार्थ—व्रत शीलेषु=व्रत और शीलोंमें अर्थात् ५ अणुव्रत और ७ शीलोंमें।

अर्थ-पांच अणुव्रतों और सात शीलोंमें भी क्रमसे पांच पांच अतीचार होते है।

विशेष-यहाँ शंका हो सकती है कि ऐसी क्या बात है कि सब व्रतों और शीलोंके पाँच ही अतीचार है। समाधान—यहांपर प्रत्येक व्रत आदिके अतीचार मध्यम दृष्टिसे बताए हैं, विस्तारसे इनसे अधिक और संक्षेपमें इनसे कम भी कहे जा सकते हैं।

अहिंसाणुव्रत के ५ अतीचार

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

शब्दार्थ-बंध इच्छितस्थानमें जानेसे रोकनेकेलिए खूंटे रस्सीआदिसे बांधना। वध=हाथ, लात, कोड़ा आदिसे पीटना। छेद=नाक आदिका छेदना। अति भार आरोपण=बहुत बोझ लादना। अन्नपान निरोधाः=खाना पीना नहीं देना, कम अथवा देरीसे देना।

अर्थ—अहिंसा अणुव्रतके १ बंध २ वध ३ छेद ४ अतिभार-आरोपण और ५ अन्नपान निरोध यह पांच अतीचार हैं।

विशेष—यहांपर 'वध' से तात्पर्य प्राण रहित करनेसे नहीं, प्राण रहित करना तो पूरी हिंसा है, यहां तो अहिंसाव्रतके कुछ दोष दिखाये हैं।

सत्याणुव्रत के ५ अतीचार

मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान कूटलेखक्रिया न्यासापहारसाकारमंत्र भेदाः॥२६॥

शब्दार्थ-मिथ्या उपदेश=शास्त्र विरुद्ध झूठा उपदेश देना। रहोभ्याख्यान=किसीका घरेलू

दोहा—पण अणुव्रत अरु शील सप्त, पांच पांच अतिचार।
उमास्वामि वर्णन किये, वीर कथन अनुसार ॥१५॥
बंधन पीड़न छेदना, अरु लादन अतिभार।
खान देन में त्रुटि करन, अहिंसाव्रत अतिचार ॥१६॥

रहस्य-भेद खोलना। कूटलेख क्रिया=झूठे दस्तावेज आदि लिखना। न्यासापहार=धरोहर के धन वस्तु आदिको रखने वालेके कम माँगनेपर 'इतने ही हैं' यह कहना। साकार मंत्र भेदा: =चुगली खाना अथवा संकेत आदि द्वारा दूसरेका अभिप्राय जान उसे ईर्षाभावसे प्रकट कर देना

अर्थ—सत्याणुव्रतके १ मिथ्योपदेश २ रहोभ्याख्यान ३ कूटलेख क्रिया ४ न्यासापहार और ५ साकार मंत्र भेद यह पाँच अतीचार है।

अचौर्याणुव्रत के ५ अतीचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादान विरुद्ध राज्यातिक्रमहीनाधिक मानोन्मान प्रतिरूपक व्यवहारा: ॥२७॥

शब्दार्थ—स्तेनप्रयोग =चोरीकी प्रेरणा अनुमोदना करना अथवा चोरीका उपायबताना। तदाहृत आदान = चोरीका धन लेना। विरुद्ध राज्यातिक्रम=राज्य आज्ञाका उलघन करना, टैक्स आदि नहीं देना। हीनाधिक मानोन्मान= मान उनमान-पैमाना, गज, बाट, तराजू आदि कम अधिक रखना। प्रतिरूपक व्यवहार=असलीमें नकली, खरीसे खोटी वस्तु मिलाना।

अर्थ—अचौर्याणुव्रतके १ स्तेनप्रयोग २ तदाहृत आदान ३ विरुद्धराज्यातिक्रम ४ हीनाधिक मानोन्मान और ५ प्रतिरूपक व्यवहार यह पांच अतीचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के ५ अतीचार

परविवाहकरणेत्वारिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशा:२८

शब्दार्थ-परविवाह करण=दूसरेके पुत्र-पुत्रियोंका विवाह करना कराना। इत्वरिका=व्यभिचारिणी स्त्री। परिगृहीत=दूसरेकी ग्रहणकी हुई अर्थात् विवाहिता-सधवा विधवा। अपरिगृहीत=दूसरेकी न ग्रहणकी हुई—वेश्या या कुवारी लड़की। आगमन=आना जाना, सहवास करना। अनंग क्रीड़ा=कामअंग-लिंग या योनिको छोड़ अन्य अंगोंमें या अन्य अंगोसे वा अन्य रीतिसे कामसेवन करना। काम तीव्राभिनिवेश=कामसेवनकी अत्यंत अभिलाषा।

अर्थ—ब्रह्मचर्याणुव्रतके १ पर विवाह करण २ परिगृहीत इत्वरिकागमन ३ अपरिगृहीत

दोहा—झूठ सीख प्रकटन रहस्य, कूटलेख अपहार।
मंत्र भेद साकार पन, सत्य अणुव्रत अतिचार ॥१७॥
स्तेययत्न तदु धनग्रहण, राज्यहि आज्ञा टार।
हीनाधिक उन्मान अरु प्रतिरूपक व्यवहार ॥१८॥
पर विवाह रच अरु गमन, गृहीत अगृहित नार।
अनंग काम अतिशय मगन, ब्रह्मचर्य अतिचार ॥१९॥

इत्वरिकागमन ४ अनंग क्रीड़ा और ५ काम तीव्राभिनिवेश यह पाँच अतीचार हैं।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत के ५ अतीचार

क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्ण धन धान्य दासीदास कुप्य प्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

शब्दार्थ—क्षेत्र=खेत। वास्तु=घर। हिरण्य=चांदी। सुवर्ण=सोना। धन पशु-गाय भैंस आदि। धान्य=अनाज—गेहूं चना आदि। दासी=नौकरानी। दास=नौकर। कुप्य=वस्त्र बर्तन आदि। प्रमाण अतिक्रमाः=प्रमाणके उलंघन।

अर्थ—परिग्रह परिमाणाणुव्रतके १ क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम २ हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम ३ धन धान्य प्रमाणातिक्रम ४ दासीदास प्रमाणातिक्रम और ५ कुप्य प्रमाणातिक्रम यह पाँच अतीचार हैं।

नोट—यहां दो दो वस्तुओंका एक एक अतीचार बतानेका अभिप्राय यह है कि जोड़ेमें से एकको घटा बढ़ाकर दूसरेका बढ़ाना घटाना भी अतीचार है।

दिग्व्रत के ५ अतीचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

शब्दार्थ—ऊर्ध्व=ऊंचा। अधः=नीचा। तिर्यक्=तिरछा, टेढा। व्यतिक्रम=उलंघन। क्षेत्र वृद्धि=क्षेत्रको बढाना। स्मृति अंतराधान=यादमें अंतर पड़ना, भूल जाना।

अर्थ-दिग्व्रत के १ ऊर्ध्व व्यतिक्रम (ऊंचाईके प्रमाणरूप व्रतका लंघन) २अधःव्यतिक्रम (नीचाईके प्रमाणरूप व्रतका लंघन) ३ तिर्यक्व्यतिक्रम (तिरछे अर्थात् दिशाविदिशाके प्रमाण रूप व्रतका लंघन) ४ क्षेत्र वृद्धि (प्रमाण-मर्यादा किये हुए क्षेत्रको बढाना) और ५ स्मृति अंतराधान (किया हुआ प्रमाण भूल जाना)। यह पाँच अतीचार हैं।

विशेष—भूलजानेके अर्थ हैं निरुत्साह और निरुत्साह ही दोष है अतः भूलजाने को अतीचार कहा है। किसी दिशाका प्रमाण घटाकर दूसरी दिशाका बढ़ालेना भी तिर्यग्व्यतिक्रम है।

देशव्रत के ५ अतीचार

आनयन प्रेष्यप्रयोग शब्द रूपानुपातपुद्गल क्षेपाः ॥३१॥

शब्दार्थ-आनयन प्रयोग=लानेका प्रयोग। प्रेष्य प्रयोग=भेजनेका प्रयोग। शब्द-अनुपात=

दोहा—सोनाचांदी खेतघर, धन धां दासीदास।
कुप्यमान लंघन करें, व्रत परिग्रह का ह्रास ॥२०॥
ऊपर नीचे विषम दिश, सीमा लंघे जान।
क्षेत्र वृद्धि व्रत भूल पन, दिग्व्रत दोष हि मान ॥२१॥

खांसी, ताली बजा आदिसे इशारा करना। रूपानुपात=रूपसे शरीर, मुंह, हाथ आदि दिखा कर इशारा करना। पुद्गलक्षेप=पुद्गल-कंकर पत्थर आदि फेंकना।

अर्थ—देशव्रतके—मर्यादाके बाहरसे चीजों अथवा प्राणियोंका १ आनयन प्रयोग-लाना २ प्रेष्यप्रयोग, मर्यादासे बाहर चीजों व आदमियोंको भेजना ३ शब्दानुपात ४ रूपानुपात और मर्यादासे बाहर ५ पुद्गलक्षेप यह पांच अतीचार हैं।

अनर्थदण्ड व्रत के ५ अतीचार

कंदर्प कौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग परिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

शब्दार्थ—कंदर्प-हंसी मसखरी करना, अश्लील भंड वचन बोलना। कौत्कुच्य=शरीरसे कुचेष्टा करते हुए भंड वचन बोलना। मौखर्य =धृष्टता पूर्वक आवश्यकतासे अधिक हँसना बोलना। असमीक्ष्याधिकरण= बिना मतलब मन वचन कायकी अधिक प्रवृत्ति। उपभोग परिभोग आनर्थक्यं=मतलबसे अधिक भोग उपभोगकी सामग्री इकट्ठी करना।

अर्थ—अनर्थ दंडव्रतके १ कंदर्प २ कौत्कुच्य ३ मौखर्य ४ असमीक्ष्याधिकरण और ५ उपभोग परिभोग आनर्थक्य यह पांच अतीचार हैं।

सामायिक व्रत के ५ अतीचार

योगदुष्प्रणिधानानादर स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

शब्दार्थ—योग=मन वचन काय। दुष्प्रणिधान=खोटी प्रवृत्ति। अनादर=आदरका अभाव, उत्साह रहितता। स्मृत्युनुपस्थान=स्मृति=याद, अनुपस्थान=न रहना (पाठ का) भूल जाना।

अर्थ—सामायिक शिक्षाव्रतके सामायिकमें १ मनः दुष्प्रणिधान २ वचन दुष्प्रणिधान ३ काय दुष्प्रणिधान ४ अनादर और ५ पाठका भूल जाना यह पांच अतीचार हैं।

दोहा—सीमा बाहर भेजना, मंगवाना ध्वनिकार।
इंकित कंकर फेंकना, देशविरति अतिचार ॥२२॥
हास्य तथा भंडवच क्रिया, और वृथा झकमार।
अति प्रबाध प्रवृत्ति अति, अनर्थ विरति अतिचार ॥२३॥
मन वच काय प्रवृत्ति दुष, जाप अनादर भूल।
पन अतिचार बखानिये, सामायिक प्रतिकूल ॥२४॥

प्रोषधोपवास के ५ अतीचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

शब्दार्थ—अप्रत्यवेक्षित = बिना देखे। अप्रमार्जित = बिना शोधे। उत्सर्ग छोड़ना, डालना। आदान=लेना, उठाना। संस्तर उपक्रमण=कपड़ा चटाई आदि बिछाना।

अर्थ—प्रोषधोपवासके १ अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जित उत्सर्ग २ अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जित आदान ३ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण ४ अनादर (भूखसे व्याकुल हो धर्म कार्योंमें शिथिलता) और ५ स्मृत्यनुपस्थान यह पाँच अतीचार हैं।

विशेष-यहाँ पर पहले तीन अतीचार प्रोषधोपवासमें देनेका कारण यह है कि श्रावक प्रोषधोपवासके समय मुनि-साधु तुल्य होता है अथवा मुनि धर्मका अभ्यास करता है और मुनि धर्ममें बिना देखेशोधे कोई भी चीज उठाना, रखना वा संस्तर करना वर्जित है, अतः प्रोषधोपवासमें यह कार्य बिना देखेशोधे नहीं होने चाहिएँ।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतीचार

सचित्त संबंध संमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥३५॥

शब्दार्थ—सचित=जीव सहित हरे फलादि। अभिषव=गरिष्ट पदार्थ। दुःपक्व=अधपके वा अधिक पके।

अर्थ-उपभोग परिभोग परिमाण व्रतके १ सचित्त आहार २ सचित्त सबंधित आहार (सचित्त पदार्थों से छूए ढके हुए पदार्थ खाना) ३ सचित्त संमिश्र आहार (सचित पदार्थमें मिले हुए पदार्थ खाना ४ अभिषव आहार और ५ दुःपक्व आहार यह पाँच अतीचार है।

विशेष-उपभोग परिभोग परिमाण शिक्षाव्रत है जिसके अर्थ है कि इसमें श्रावक मुनि धर्म पालनका अभ्यास करता है और मुनि भोजनमें कोई सचित्त, सचित्त संबंधित, सचित्त मिश्रित और गरिष्ट पदार्थ लेते नहीं, अतः यहाँपर इन्हें इसशिक्षाव्रतके अतीचार-दोष कहा है

अतिथिसंविभाग व्रत के ५ अतीचार

सचित्त निक्षेपापिधानपरव्यपदेश मात्सर्य कालातिक्रमाः ॥३६॥

शब्दार्थ-निक्षेप=रखना। अपिधान=ढकना। पर व्यपदेश दूसरेकी वस्तुको देना या दूसरे

दोहा—ग्रहण त्याग बिस्तर बिछन, बिन शोधे बिन देख।
ग्रत्ता अनादर भूल पन, प्रोषध दोष हि पेख ॥२५॥
चित स्पर्शचित मिश्रचित, अभिषव दुःपक्वहार।
वीर जिनेश्वर ने कहे, उपभोग-भोग अतिचार ॥२६॥

का नाम लेकर देना कि यह अमुककी है अथवा किसी दूसरेको ही देनेको कह देना। मात्सर्य=ईर्षा, अनादर। काल अतिक्रम -समयको उलंघन करना अथवा टालना।

अर्थ--अतिथि संविभागव्रतके १ सचित्तनिक्षेप (सचित्त पत्ते आदिमें रखकर भोजन देना) २ सचित्तापिधान (सचित्त से ढककर देना) ३ परव्यपदेश (दूसरे दातारकी वस्तु स्वयं देना, दूसरेका नाम लेकर देना या दूसरेसे देनेको कह देना) ४ मात्सर्य (दूसरे दातारसे ईर्षा करके वा अनादरसे देना) और ५ कालातिक्रम (योग्य समयको टाल कुसमय देना) यह ५अतीचार हैं

सल्लेखना के ५ अतीचार

जीवितमरणाशंसा मित्रानुराग सुखानुबंधनिदानानि ॥३७॥

शब्दार्थ-आशंसा=आकांक्षा, इच्छा। निदान=आगामीकालमें विषयोंकी इच्छा।

अर्थ सल्लेखना व्रतके १ जीविताशंसा (जीनेकी इच्छा करना) २ मरणाशंसा (मरनेकी इच्छा करना ३ मित्रानुराग (मित्रोंकि प्रेमको याद करना) ४ सुखानुबंध (पहले भोगे हुए सुखोंकी याद करना) यह पांच अतीचार हैं।

विशेष-ऊपर कहे हुए सम्यक्त्वके ५, बारह व्रतोंके ६० और सल्लेखनाके ५ कुल ७० दोषोंका त्यागी ही निर्दोष व्रती होता है।

दान का स्वरूप

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानम् ॥३८॥

शब्दार्थ_अनुग्रह अर्थ=स्व और परके उपकारके लिए। स्वस्य=स्वका, अपना, स्वार्थका, अथवा धन धान्य आदिकका। अतिसर्गः=त्याग करना।

अर्थ_अपने और परके उपकारके लिए अपना, स्वार्थका अथवा धन धान्य आदिकका त्याग करना 'दान' है।

विशेष-दान दानी (देनेवाले) और पात्र [पाने वाले] दोनोके लिए उपकारक है। देने वाले दानीका मुख्य उपकार यह है कि उसका वस्तुओंसे ममत्व कम होकर उसे संतोष और समभावकी प्राप्ति होती तथा पुण्यबंध होता है। दान-लेनेवाले-पात्रको उस वस्तुसे उसके जीवन निर्वाहमें सहायता मिलतीहै और उसमें सम्यग्ज्ञान आदि सद्गुणोंका विकास होता है। अतः

दोहा—रखन सचित में ढकन चित, देन वस्तु पर द्वेष।
समय उलंघन पंच हैं, दान दोष अवशेष ॥२७॥
इच्छा जीवन मरण की, भोग अरु मित्र न याद।
अरु निदान सल्लेख के, पांच दोष जिन वाद ॥२८॥

दान पारमार्थिक दृष्टिसे सद्गुणोंकी वृद्धिका और व्यवहारदृष्टिसे सामाजिक व्यवस्थाको ठीक रखनेका साधन है।

अपनी पूजा प्रतिष्ठा, मान बड़ाईके लिए कुछ देना दान नहीं है किंतु अपने कल्याण-लोभ कषायकी मंदताके लिए और पात्रोंको रत्नत्रयकी प्राप्ति अथवा रक्षाके लिए शुभ भाव पूर्वक देना ही दान है। कहा भी है—

दोहा-मान बड़ाई कारणे, जो धन खरचैं मूढ। मर कर हाथी होंयगे, धरणी लटकै सूंड ॥

दान में विशेषता

विधि द्रव्य दातृ पात्र विशेषात्तद्विशेषः ३९॥

शब्दार्थ—द्रव्य =देयवस्तु। दातृ=दातार। पात्र=दान पानेवाला। विशेषात=विशेषतासे। तद्=उस [दान] में। विशेषः=विशेषता होती है।

अर्थ-उस (दान) में १ विधिकी विशेषतासे २ द्रव्यकीविशेषतासे ३ दातारकी विशेषता से और ४ पात्रकी विशेषतासे विशेषता-अंतर हो जाता है।

विशेष—साधारणतया धनादि देने रूपसे सब दान समान है, किंतु किसी दानका फल अच्छा, किसी का बुरा किसीका कम अथवा किसीका अधिक होता है। दानोंमें यह अंतर मुख्य ४ कारणोंसे हो जाता है।

१ विधिकी विशेषता-देशकालका ध्यान, नवधाभक्ति और लेनेवालेके सिद्धांतका ध्यान इत्यादि दानकी विधिमें विशेषताए हैं। सिद्धांत तथा नवधाभक्तिमें मनःशुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धिका अर्थ विशेष ध्यान देने योग्य है वह निम्न प्रकार है--

'मुनिराज आदिने उद्दिष्ट आहारका त्याग किया है, ऐसे पात्रोंको कहा जाता है कि हे भगवन्, यह चौका लगानेमें मैंने मनसे भी विकल्प नहीं किया है कि यह चौका मुनिके लिए लगाया है बलिक स्वयंकेलिए लगाया है जिससे आहार-जल शुद्ध है। हे भगवन्, यह चौका लगानेमें मैंने वचनका भी ऐसा प्रयोग नहीं कियाहै कि यह चौका मुनि महाराजकेलिए लगाया है, पर खुदके लिए लगाया है जिससे आहार-जल शुद्ध है। हे भगवन्, यह चौका लगानेमें मैंने कायसे भी ऐसो चेष्टा नहीं को है कि यह चौका मुनिराजके लिए लगाया है परन्तु अपने

दोहा—स्वार्थ धान धन आदि तज, निज पर हित सो दान।
दातृ पात्र विधि द्रव्य से, इस विशेषता मान ॥३९॥

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र, अध्याय ७के कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन, 'सिंह'-बी.ए.सी.टी. साहित्यालंकार-कृत दोहे समाप्त।

लिए ही लगाया है जिससे आहार-जल शुद्ध है' (शास्त्रका स्वरूप पृ० २४, २५)

२ द्रव्य विशेषता-दी जाने वाली वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो पात्रके जीवन निर्वाहमें सहायक होती हुई उसके आत्मिक गुणोंके विकासमें भी निमित्त बनें। जीवन-यात्रामें, आत्म विकासमें, अथवा स्वाध्याय आदिकी वृद्धिमें जितनी जितनी अधिक सहायक वस्तुएं होंगी उतनी उतनी ही उनकी विशेषता बढ़ती जायगी।

३ दातारकी विशेषता-पात्रके प्रति श्रद्धा भक्ति, पात्रके सिद्धांत अनुकूल अर्थात् अन्-उद्दिष्ट आहार दान देना, दूसरे दानियोंके प्रति ईर्षा मात्सर्यका अभाव, दान देते समय अथवा बादमें विषादका अभाव इत्यादि दातारकी विशेषताएं हैं।

४ पात्रकी विशेषता—सत्पुरुषार्थ, आत्मिक विकासमें तत्परता, रत्नत्रयको उत्तरोत्तर वृद्धि पात्र-दान लेने वालोंकी विशेषताएं हैं।

पात्र १ उत्तम २ मध्यम ३ जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके हैं। छटे गुणस्थानवर्ती २८ मूलगुण तथा उत्तर गुणोंके धारक देहसे निर्मम वीतराग साधु—उत्तम, पंचम गुणस्थानवर्ती आर्जिका, ऐल्लकक्षुल्लक तथा अन्य पांचवें गुणस्थानवर्ती प्रतिमाधारी अणुव्रती श्रावक श्राविका-मध्यम, और चौथे गुणस्थानवर्ती अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावकश्राविका-जघन्य पात्र हैं।

श्री समंतभद्राचार्य ने वैयावृत्य (अतिथिसंविभाग) और दानको एक दिखाते हुए इसका व्याख्यान अपने रत्नकरंड श्रावकाचार नामक ग्रन्थमें किया है। यहाँ पर उसके हिंदी दोहे और उनकी व्याख्या पाठकों के हितार्थ दी जाती है—

दान-अतिथि संविभाग-वैयावृत्य

दोहा—गुण आगार तपोधनी, साधू मुनिको दान। इच्छा-प्रत्युपकार बिना, वैयावृत्य सुजान॥
गुणियोंका अनुरागयुत, खेदकरन अति दूर। चरण दावना आदि जो, वैयावृत सुखपूर॥
निर-आरंभी मुनिनका, नवधायुत सत्कार। सद् गुणधारी गृहस्थसे, वही दान है सार॥

अर्थ—गुणोंके भंडार तपस्वी साधु मुनिको भलाईके बदलेकी इच्छा बिना दान देना वैयावृत्य-अतिथि संविभाग है। प्रेम सहित गुणवान संयमी पुरुषोंका खेद दूर करना, उनके पैर दाबना इत्यादि सुखकारी वैयावृत्य है। श्रेष्ठ गुणधारी गृहस्थका निरारंभी मुनियोंको नवधा भक्ति सहित आहारादि दान देना ही उत्तम दान है।

दान का फल

दोहा—जिमि जलरक्तहि धोवता,तिमि मुनिपूजा मान। गृहसंचित सबपाप यह,धोवैनिश्चयजान॥
ऊंच गोत मुनि नमनसे, दान देनसे भोग। पूजा स्तवन भक्ति दे, मानकीर्ति नीरोग॥
पात्र दान तो अल्पभी, मनवांछित फलदेय। सुथल उगा बट बीज तरु, छायाबहुत करेय॥

अर्थ—जिस प्रकार पानी रुधिर-खूनको धो डालता है उसी प्रकार यह निश्चय समझो कि मुनि पूजा गृहस्थमें लगे हुए सब पापोंको धो डालती है। मुनियोंको नमस्कार करनेसे ऊंचा गोत्र (कुल), दान देनेसे भोगउपभोगकी वस्तुएं, मुनिकी पूजा करनेसे सम्मान प्रतिष्ठा, स्तुति करनेसे संसारमें यश कीर्ति और भक्तिसे सुन्दर तथा नीरोग शरीर मिलता है। मुनि अथवा सम्यग्दृष्टि श्रावक आदि सुपात्रको दिया हुआ थोड़ा दान भी उसी प्रकार मन-वांछित फल देता है, जैसे कि उत्तम स्थानमें उगे हुए बड़के बीजका पेड़ बहुत छाया प्रदान करता है।

दान के भेद

दोहा—भोजन औषधि उपकरण बसति दान के भेद। गणधर इनको कहत हैं, हेतु निवारण खेद

अर्थ—श्री गणधरदेव दानके १ आहारदान २ औषधिदान ३ उपकरण-ज्ञान दान और ४ बसतिका-अभयदान यह चार भेद बतलाते हैं और इन्हें दुःखोंके नाश करनेवाले कहते हैं।

नोट१—गृहस्थश्रावक इनही चारों दानोंको करताहै। उपकरणमें शास्त्र, पिच्छिका, कमंडलु, साड़ी, कोपीन, चद्दर, खेस, चटाई, शय्या, स्याही; कागज आदि हैं। बसतिका दान में धर्मशाला, जिनमंदिर, शास्त्र-भंडार, विद्यालय, पाठशाला, विहार इत्यादि हैं। ज्ञानदान और अभयदान यह दोनों ही दान महाव्रती साधु, केवली श्रुतकेवली (ही मुख्यतासे) करते हैं इसीसे श्रावकाचारमें १ आहार दान २ औषधिदान ३ उपकरणदान और ४ बसतिका दान यह ही दानके चार भेद कहे हैं।

नोट २—दानका और विशेषवर्णन अ०९सू.६के विशेष 'उत्तम त्याग' की व्याख्यामें देखिए

चारों दानों में सिद्ध व्यक्ति

दोहा—श्रीषेण सेना-वृषभ, भोजन औषधि माहि। ज्ञान अभय कोण्डेश अरु, शूकर समकोउनाहि

अर्थ—'श्रीषेण' राजा आहारदानमें, सेठकी पुत्री 'वृषभसेना' औषधिदानमें, 'कोंडेश' नामक ग्रामकूट ज्ञानदानमें और मुनिकी रक्षाकरनेवाला 'शूकर' अभयदानमें प्रसिद्ध हैं। इन जैसा दूसरा दानी नहीं।

नीचे इन चारोंकी संक्षिप्त कहानियाँ दी जाती हैं—

राजा श्रीषेण आहार दानी

एक दिन रत्न संचयपुरके राजा 'श्रीषेण' ने आदित्यगति और अरिंजय नामक मुनियों को भक्ति पूर्वक आहार कराया। श्रीषेणकी रानी सिंहनंदिता और आनंदिताने तथा एक ब्राह्मणपुत्री सत्यभामाने इस दानकी हृदयसे प्रशंसा की।

अहारदानके प्रभावसे राजा, दोनों रानियां और सत्यभामा उत्तम भोग भूमिमें उत्पन्न हुए और इसी दानके कारण 'श्रीषेण' का जीव अंतमें शांतिनाथ नामका चक्री तथा १६ वां

तीर्थंकर हुआ। भक्ति पूर्वक किया हुआ आहार दान साधारण मनुष्योंको भी तीर्थंकर जैसा उच्चतम पद दिला देता है।

वृषभ सेना—औषधिदानी

'वृषभसेना' कावेरी नगरके धनपति सेठकी पुत्री थी। यह अत्यंत सुन्दर और बुद्धिमता थी। इसके स्नानजलमें रोग मिटानेका जादू था। यह वहाँके राजा उग्रसेनसे व्याही गई थी। उग्रसेनने किसी संदेहसे क्रोधित हो उसे समुद्र में फिकवा दिया। समुद्रमें गिरते ही रानीने भगवानका ध्यान किया। इसके शीलसे प्रसन्नहो देवोंने इसे सोनेके सिंहासन पर बैठाकर इसकी बहुत बहुत स्तुति-पूजा की। यह देख राजाको अपनी गलतीपर दुःख हुआ और रानी से घर चलनेको कहा, किंतु रानीका मन तो संसारसे विरक्त हो चुका था।

इसी समय वृषभसेनाको गुणधर मुनिके दर्शन हुए। रानीने नमस्कार कर धर्मका स्वरूप और अपने पहले भवका हाल पूछा। मुनिने कहा 'पुत्री! तू पहले भवमें जिन-मंदिरमें झाड़ू बुहारी दिया करती थी। वहाँ एक संध्यामें मुनिदत्त मुनिराज ध्यान कर रहे थे। तू ने उनसे उठनेको कहा। मुनि तो ध्यानमें थे, वे उठते ही कैसे? तूने गुस्समें सारा कूड़ा उनपर डाल दिया। दूसरे दिन तूने अपने अपराधकी क्षमा माँगी और मुनिके अनेक औषधियाँ लगा लगा कर उन्हें शीघ्र ही स्वस्थ बना दिया। उसी औषधिदानके प्रभावसे तेरे स्नान जलमें यह अतिशय हुआ। मुनिकी निंदा करनेसे तुझे झूठा कलंक लगा और उनपर कूड़ा फेंकनेसे तू समुद्रमें फेंकी गई।' यह सुनकर वृषभसेनाका वैराग्य और भी बढ़ गया। इसने इन्हीं मुनिवर से दीक्षा ले ली। अर्जिका बनकर कठिन तप किया और अंतमें समाधि मरण करके स्वर्गमें देव हुई।

कौण्डेश—शास्त्र-ज्ञान—उपकरण दानी

एक दिन जंगलमें वृक्षके कोटर (खोखर) में गोविंद नामक एक ग्वालेको कुछ शास्त्र रक्खे मिले वह प्रतिदिन उनकी पूजाकरने लगा। एक बार पद्मनंदि मुनि आए जिन्हें गोविंद नेभक्ति पूर्वक यह शास्त्र दिये। मुनि स्वाध्याय करके उन्हें उसी कोटरमें रख गए। गोविंद फिर प्रतिदिन उन शास्त्रोंकी पूजा करने लगा।

एक दिन गोविंदको सांपने काटलिया। वह मरकर शास्त्र—पूजा तथा शास्त्रदानके प्रभाव से राजा पुत्र हुआ। कुछ दिनों बाद फिर पद्मनंदि मुनिराजके दर्शन कर इसे अपने पहले भव की याद होआई और संसारसे वैराग्य होगया। इसने इन्हीं मुनिराजसे दीक्षा ले ली। यही कौंडेश नामके प्रसिद्ध मुनि हुए। पहले भवके शास्त्र—ज्ञान दानके प्रभावसे सब शास्त्रों (द्वादशांग) का ज्ञान बहुत ही शीघ्र होगया और ये श्रुतकेवली कहलाए।

देखो ! शास्त्र दानकी महिमाके बल पर एक ग्वाला भी श्रुत केवली बन गया ।

शूकर-अभय-वसतिका दानी

मालवाके घटगाँवमें एक नाई और एक कुम्हार रहते थे। दोनोंने एक धर्मशाला बनवाई कुम्हारने एक मुनिराजको धर्मशालामें ठहरा दिया। नाईने वहाँ से मुनिको निकाल एक पाखण्डी तपसीको ठहराया। इसीपर दोनों लड़ मरे। मरकर नाई बाघ और कुम्हार शूकर (वराह) हुआ।

पहाड़की जिस गुफामें शूकर रहता था उसीमें एक दिन समाधि गुप्त और चित्रगुप्त दो मनि आकर ठहरे। इनके दर्शनसे शूकरको अपने पहले भवकी याद हो आई। इसने मुनियोंको नमस्कर किया और उनसे धर्मोपदेश सुन श्रावकके व्रत लिये। वह बाघ भी उसी पहाड़ पर रहता था, मुनियोंको देख उन्हें खानेको लपका। गुफाद्वार पर शूकरने उनकी रक्षा की। दोनों फिर लड़ मरे।

शूकर मुनि-रक्षा करनेसे देव हुआ और बाघ मुनियोंपर झपटनेसे नरकमें गया।

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र, अध्याय ७ की कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन मुक्तयानंद'सिंह', बी.ए.सी.टी. साहित्यालंकार-कृत कौमुदी समाप्त।

अंत मंगल

दोहा-वज्रधर चन्द्रानन प्रणम, भद्रबाहु भगवान।
भुज-अंगम ईश्वर नमों, नेम प्रभो मन आन ॥७॥

श्री वीतरागाय नमः

अध्याय ८

मंगलाचरण

दोहा—पद्धति-बंध विदार जो, लीन भये निज रूप।
वंदों तिन योगीन्द्रके, युगपद कमल अनूप ॥

बंध तत्व

बंध के कारण

मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बंध हेतवः ॥१॥

शब्दार्थ—मिथ्यादर्शन=झूठा, अतत्व श्रद्धान, महान भूल। अविरति=दोषोंसे विरत न होना, व्रत संयमका न होना। प्रमाद=अनुत्साह, असावधानी, कुशल कार्योंमें अनादर, कर्त्तव्य अकर्त्तव्यमें विचार रहितता। बंध=दो या अधिक चीजोंमें एकपनेका ज्ञान करानेवाला संबंध, यहांपर आत्माके साथ पुद्गल कार्मण वर्गणाओंका निमित्त नैमित्तिक संबंध वा पुराने कर्मों में नए कर्मोंका मिलना— दोहा—जो नव कर्म पुरना सों, मिलें गांठ दृढ होय।
शक्ति बढाय वंश की, बंध पदारथ सोय ॥ (बनारसीदास)
हेतवः=हेतुका बहुवचन, कारण।

अर्थ—१ मिथ्यादर्शन २ अविरति ३ प्रमाद ४कषाय और ५योग बंधके पाँच कारण है।

विशेष—इस सूत्रकी रचनाका कारण यह है कि यदि शिष्यगण 'बंध' को अकारण मान लेंगे तो 'बंध'आत्माका स्वभाव हो जानेसे वे कभीभी इससे छुटकारे(मोक्ष)का प्रयत्न न करेंगे

बंधके हेतुओंकी संख्याके विषयमें तीन परंपराए हैं। एक परंपराके अनुसार कषायह और योग दो हेतु, दूसरीके अनुसार मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग यह चार हेतु और

दोहा—कुश्रद्धाव्रत्त प्रमाद अरु, कषक योग से वंध।
कर्म योग्य पुद्गल ग्रहे,—सकषायी सो वंध ॥१॥

तीसरीके अनुसार इन चारमें 'प्रमाद' बढ़ाकर पांच बंधके हेतु हैं। इस प्रकार संख्यामें भेद रहनेपर तात्विक दृष्टिसे इन तीनों परंपराओंमें कुछ भी अंतर नहीं। प्रमाद एक प्रकारका असंयम ही है अतः अविरति या कषायमें ही आजाता है। बारीकीसे देखने पर मिथ्यात्व और असंयम यह दोनों कषायसे भिन्न नहीं है, अतः कषाय और योगमें ही अन्य तीनों कारण आजाते हैं, फिरभी इस संख्या-भेदका कारण है और वह निम्न प्रकार है—

कोईभी कर्मबंध हो उसमें अधिकसेअधिकप्रकृति प्रदेश स्थितिअनुभाग इन चार अंशों का निर्माण होता है एकही कर्ममें होने वाले चार अंशोंके कारणोंका विश्लेषण करनेके विचारसे शास्त्रमें कषाय और योग यह दो बंध हेतु दिए हैं, इन चार अंशोंमें से प्रकृति, प्रदेशका हेतु 'योग' और स्थिति, अनुभागका हेतु 'कषाय' है।

मिथ्यात्वसे लेकर प्रमादतकके कषाय उत्तरोत्तर सूक्ष्म है परंतु सभी कषाय है (आत्मा को परतंत्र बनाकर जो कारण उसे कषते या घातते है उन कारणोंका नाम कषाय है, इस पर से मिथ्यात्व सबसे प्रबल कषाय सिद्ध होता है)। इनके आगे जो चौथा कारण कषाय है वह मिथ्यात्व, अवरति, प्रमाद तीनों कषायोंसे अतिसूक्ष्म है। वह कषाय ७ वें गुणस्थानसे १० वें तक रहता है, वह भी सज्वलन कषायका ही कार्य है परंतु प्रमादसे अधिक सूक्ष्म है, प्रमाद तक के कषाय तो व्यक्त रह सकते हैं पर यह अव्यक्त-सा ही रहता है। इसीलिए जहां प्रमाद घटकर केवल कषाय रहता है वहांसे गुणस्थानोंकी अप्रमत्तसंज्ञा होजाती है। इसप्रकार विचार करनेसे मिथ्यात्वदि चारों कषायके ही भेद सिद्ध हो जाते हैं। अतः बंधकेकारण पांच अथवा दो कहनेमें कोई अर्थ-भेद नहीं हैं। जहां कषायोंकी तरतम्यता दिखाना इष्ट है वहां पांच और जहाँ सामान्यबंधका वर्णन है वहां दो ही बंधके कारण कहे हैं।

आशंका-जब 'योग' को आस्रवके प्रकरणमें दिखा चुके तब उसे फिर यहां क्यों लिखा?

समा.—आस्रवका अर्थ है 'कर्मपिंडोंका संग्रह होना' और बंधका अर्थ उनकर्मोंमें आत्माको परतंत्र तथा मलिन करनेकी योग्यता प्रकट होना है। आस्रवके प्रकरणमें जो केवल योगको दिखाया है उसका अभिप्राय इतनाही है कि कर्मोंका संचय योग द्वारा होता है। बंध के द्वारा कर्मोंमें आत्माको मलिन तथा परतंत्र करनेकी योग्यता प्रकट होती है, किंतु संचय हुए बिना वह कार्य या परिणमन हो किसमें? वह कार्य कर्मपिंड का सँचय हुए बिना नहीं होगा। इस लिए बंधके प्रकरणमें भी कर्मसंचय के कारण योगोंको दिखलानेकी आश्यकता हुई (तत्वार्थ सार अधि.५ पृ ०६५-६६)।

आध्यात्मिक विकास स्वरूप गुणस्थानोंमें बंधनेवाली कर्मप्रकृतियोंके तर-तम भावके कारणको बतलानेके लिए मिथ्यात्व, अविरति आदि चार अथवा पाँच बंध-हेतु दिए हैं। जिस गुणस्थानमें इन पांचोंमें से जितने अधिक होंगे उस गुणस्थानमें कर्मप्रकृतियों का बंधभी उतना

ही अधिक होगा और जिस गुणस्थानमें यह हेतु कम होंगे वहां कर्मप्रकृतियोंका बंधभी कमही होगा। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें पांचोंही बंधके कारण रहते है,दूसरे सासादनमें मिथ्यादर्शनके अतिरिक्त शेष चार, तीसरे में अनंतानुबंधी कषाय छोड़कर शेष,चौथेमेंमिथ्यादर्शन और अनंतु-बंधीके अतिरक्ति शेष अन्य। पाँचवे में मिथ्याग्दर्शन,अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय बंधके कारण नहीं रहसे। छठेमें उपरोक्त तीनऔर प्रत्याख्यानावरण अर्थात् अविरतिको छोड़; ७,८,९ वेंमें उपरोक्त चार और प्रमादके अतिरिक्त, १० वेंमें केवल सूक्ष्म लोभ और योग बंधके कारण पड़ते है। दसवेंके अंतमें कषायका विच्छेद होकर ११,१२ १३ वेंमें केवल योग रहता और १४ वेंमें अयोगी होनेके कारण बंधका बिल्कुल अभाव है।

बंधके इन पांच कारणोंमेसे सबसे पहले मिथ्यादर्शन संबंधी बंधका अभाव होता है फिर कहीं अविरति आदिका अभाव संभव है। जो व्यक्ति मिथ्यात्वके क्षय व उपशम बिना अविरति आदिका अभाव करनेके लिए व्रतादि ग्रहण करते है उनके व्रत अथवा तप बाल-व्रत व बालतप ही रहते हैं। अतः सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्तिका उपाय करना चाहिए। सूत्र में जिस क्रमसे बंधके कारणोंके नाम कहे है उसी क्रमसे उनका अभाव होता है।

१४८ कर्म-प्रकृतियोंमें से बंधयोग्य कुल १२० प्रकृतियाँ हैं। इनमें से १६ तो मिथ्यात्व के उदयसे, २५ अनतानु बंधी चतुष्कके उदयसे,१० अप्रत्यानावरणके उदयसे, ४ प्रत्याख्यान-आवरणके उदयसे, ६ प्रमादके उदयसे, १ देवायु—प्रमाद व कषायके उदयसे, ५७ संज्वलन व नो नोकषायके उदयसे और १ सातावेदनी योगके उदयसे बंधती है। इस प्रकार सब १२० प्रकृतियोंके बंधके कारण होगए, और अन्य कोई प्रकृति बंधके योग्य न रहनेसे इन पांच कारणोंके अतिरिक्त बंधका और कोई कारण होही नहीं सकता।

मिथ्यादर्शन—अतत्व-श्रद्धान दो तरहसे होता है १ किसी पदार्थके यथार्थ श्रद्धानका अभाव २ किसी पदार्थका अयथार्थ श्रद्धान। पहला मूढदशा में भी हो सकता है जब कि दूसरा विचार दशामें हीहोता है। जब विचार शक्ति जागृत न हुई हो तब अनादि कालीन आवरण के कारण जो तत्वका नैसर्गिक अश्रद्धान होता है उसे अग्रहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। यह इस संसारी जीवके साथ अनादिकालसे चलाआता है। इसीका दूसरा नाम अज्ञानमिथ्यात्व है,यही सामान्य मिथ्यात्व है। एक एकेंद्री से पंचेंद्रीतक सबही मिथ्यादृष्टियोंके होता है।

विचार शक्तिके विकास होनेपर भी जब कु—उपदेश अथवा किसी विपरीत अभिप्रायके कारण किसी एकही दृष्टिको पकड़ लिया जाता है तब वह दृष्टि ग्रहीत मिथ्यादर्शन कहलाती है। यही विशेष मिथ्यात्व है और इसके १ ऐकांतिक २ विपरीत ३ सांशयिक और ४ विनय यह चार भेद हैं। यह मुख्यतासे तो संज्ञी पंचेंद्रियोंमें किन्हीं विशेष संज्ञी जीवोंके ही होते हैं किंतु एकेंद्रीसे असंज्ञी पयतभी पहले संज्ञी पंचेंद्री मनुष्यपर्यायमें एकांत आदिकी बासनासे

वासित हुए एकेंद्रिय आदि पर्याय संयुक्त जीवोंके भी इनकी संभावना हो सकती है (धवला पृ. २७५)।

१ ऐकांतिक-वस्तु अनेक अंत-धर्म-स्वभाव—गुणवाली होतेहुए भी उसे एक गुण वाली ही मानना, जैसे बौद्धोंका पदार्थको सर्वथा क्षणिकही कहना २विपरीत-बिल्कुल उलटीही बात का मानना, जैसे हिंसामें धर्म कहना, गृहस्थमें केवल ज्ञानकी उत्पत्ति, केवली भगवानके कवलाहार, स्त्रीको स्त्री—द्रव्यपर्यायसे मोक्ष होना, परमात्मा-भगवानको 'एक' और उसे ससार का कर्ताहर्ता इत्यादि विपरीत मान्यताएं ३सांशयिक-तत्व श्रद्धानमें संशय रहना,जैसे अहिंसा धर्मका लक्षण है अथवा नहीं ? ४ विनयमिथ्यादर्शन=समस्त देवों—सुदेवों,कुदेवोंमें, सद्धर्म, कुधर्ममें, सद्‌शास्त्रों कुशास्त्रोंमें बिना यथार्थ विचारके समान रूपसे विनय रखना—ऐसे चार प्रकार विशेष-ग्रहीत मिथ्यात्वका स्वरूप है।

यह जीव अनंतबार गृहीत मिथ्यात्व छोड़छोड़कर द्रव्यलिंगी मुनि हुआ, अतीचार रहित महाव्रत पाले किंतु अगृहीत मिथ्यात्व न छुटनेसे इसका ससार परिभ्रमण बनाही रहा,इस ने फिर फिर गृहीत मिथ्यात्व ग्रहण कर लिया। अतः वास्तविक आत्म-विकासके लिए अगृहीत मिथ्यात्वका त्याग अत्यंतही आवश्यक है ; स्व (आत्मा) और पर शरीर स्त्री पुत्र धनादि) में एकत्व-श्रद्धान,परमें कर्तृत्वबुद्धि,पर्याय (नर पशु देव नारक) रूप बुद्धि,राग (शुभ राग) से संवर निर्जराकी मान्यता,परसे हानि लाभकी मान्यता इत्यादि अगृहीत मिथ्यात्व है।

अविरति-पांच इंद्रिय और छटे मनका वश न करना तथा पांच स्थावर और एक त्रस जीवोंकी विराधनाका निषेध न होना अविरति है। मिथ्यात्वमें तो अविरति ही होती है। मिथ्यात्व छूटनेके पश्चात् अप्रत्याख्यानावरणके उदयमेंअविरति और प्रत्याख्यानावरणके उदय में विरताविरति रहती है। अविरतिको असंयम भीकहते हैं। सम्यग्दर्शनके होनेपर देशचारित्र के बलसे एक देश विरति होती है, इसीका नाम अणुव्रत है। मिथ्यात्व छूटनेपर परंतु ही अविरति=का अभाव महाव्रत रूप मुनि दशा तो कुछ महाभाग्यशाली विरलोंको ही प्राप्त होती है

प्रमाद—अनुत्साह, यहां ९ नोकषाय-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुष,स्त्री, नपुंसक वेद-और ४ संज्वलनरूप क्रोध मान माया लोभ कषायोंके तीव्रउदयके कारण व्रत संयममें अनुत्साह। इसके १५ प्रकार हैं-४ विकथा, ५ पंच इन्द्रियोंके विषय, ४ कषाय, १ निद्रा और १ राग।

कषाय-कषक-जो आत्माकोक से अथवा दुःखदे। यहांपर संज्वलन४तथा नोकषाय ९ का मंद उदयही रहता है, क्योंकि अनंतानुबंधी तो मिथ्यादर्शनमें,अप्रत्याख्यान—प्रत्याख्याना-वरण अविरतिमें, और ४ संज्वलन तथा ९ नोकषायका तीव्रउदय प्रमादमें आ जानेसे यहां पर संज्वलन और नोकषायोंका मंदउदय ही शेष रह जाता है।

योग-योगका स्वरूप अध्याय ६ सू० १ की व्याख्यामें देखिए। योग पहले मिथ्यात्व गुण स्थानसे १३ वें सयोग केवली गुणस्थानतक रहता है । ११, १२, १३ वें गुणस्थानोंमें जहां मिथ्यात्वादि चार कारणोंका अभाव हो जाता है वहां भी योगकासद्भाव तो रहता ही है

मिथ्यादर्शन अविरति आदि पांचोंही बंधके हेतु चेतन और अचेतन दो दो प्रकारके होते हैं। मिथ्यात्व आदि रूप जीवके अपने परिणाम तो चेतन-मिथ्यात्व आदिऔर पुद्गल कार्मण वर्गणाओं में मिथ्यात्व आदि फल देनेकी शक्तिका होना अचेतन—मिथ्यात्व आदि है।

योगोंको कर्मके प्रवेश संग्रह करानेमें और कषायोंको उनमें कर्मत्व शक्ति प्रकट करानेमें कारण कहा है (तत्वार्थ सार पृ. २६४)।

असंयम व प्रमाद दोनों कषायके ही कार्य हैं। जब ऐसा तीव्र कषायहोता है जो इंद्रियों से विमुख नहीं होने देता तब संयमका घात होता है, उस कषायकी प्रवृत्ति को असंयम या अविरति कहते हैं । असंयम-जनक कषाय दो प्रकार है १ देश संयमघातक-प्रत्याख्यानावरण यह समल संयमको होने देता है, सूक्ष्म संयमको घातता है २ सर्वसंयमघातक—अप्रत्याख्यानावरण-पूर्ण अविरति।

अविरति या असंयम न रहनेपर भी संज्वलनके उदयसे जो मल उत्पन्न होता है या व्यक्त सूक्ष्म कषाय होता है उसे प्रमाद कहते हैं, इसका कार्य शिष्योंमें, धर्ममें, धर्मके आयत नोंमें प्रेम कराना है, छटे गुणस्थान में यह होता है (तत्वार्थ सार पृ. २६५)।

बंध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः॥२॥

शब्दार्थ-सकषायत्वात्=कषाय सहित होनेसे। जीवः=जीव। कर्मणः=कर्मोंके। योग्यान्= योग्य। पुद्गलान=पुद्गल परमाणुओंको (कर्मोंके होने योग्य पुद्गल परमाणुओंको कार्मण वर्गणा कहते हैं)। आदत्ते=ग्रहण करता है। सः=वह। बंधः=बंध है।

अर्थ—कषाय सहित होनेके कारण जीव कर्मोंके होने योग्य पुद्गल—परमाणुओं अर्थात् कार्मण-वर्गणाओंको ग्रहण करता है, सो बंध है।

विशेष—पुद्गलके २३ भेद हैं,उन सबमें आत्माके साथ बंध होनेकी अथवा कर्मरूप होने की शक्ति नहीं है किंतु कार्मण और नोकार्मण वर्गणारूप जो पुद्गलस्कंध है उन्हींमें यह शक्ति हैजैसे लोहेमें ही चुंबकसे खींचे जानेकी शक्ति है दूसरी पीतल इत्यादि धातुओंमें नहीं।

ऐसे कर्मयोग्य पिंड जगतमें दूसरे पुद्गलोंकी तरह तथा वायु आदिकी भांति सर्वत्र भरे रहते हैं और नए उपजते रहते तथा पुराने नष्ट भी होते रहते हैं। उन सभी पिंडों का जीवों के साथ बंधन होता ही हो यह नियम नहीं है। जिन पिंडोंके साथ जिस जीवके रागद्वेष का

संबंध प्राप्त होता है वे पिंड उस जीवमें बंधजाते हैं, शेष योंही बने रहते है और टूटते फूटते भी रहते हैं। इस प्रकार कर्म पिंडोंसे संसारी जीव सदा बंधता रहता है और जिन कर्मोंके बंधनकी अवस्था शिथिल होती जाती है वे कर्म आत्मासे संबंध छोड़कर जुदे भी होते रहते है (तत्वार्थ सार पृ. २६२)।

कार्मण वर्गणाएं सब लोकमें भरीहुई है। जीव जिस स्थानपर जबभी कषाय करता है तभी वहीं कार्मणवर्गणाएं योगके निमित्तसे जीवकी ओर संचित और कषायका निमित्त पाकर स्वयं अकर्षिक हो तथा कर्मरूप हो जीवके साथ संबंधित होजाती हैं, इसीका नाम बंध अथवा कर्मबंध है।

जीव स्वभावसे अमूर्त होनेपर भी अनदि कालसे कर्म-संबंध वाला होनेसे मूर्तवत हो जानेके कारण मूर्त कार्मण वर्गणाओंको ग्रहण करता है। जैसे दीपक (जीव) बत्ती (कषाय) द्वारा तेल (कार्मण वर्गणाओं) को ग्रहण करके उसे (तेल-वर्गणाओं) अग्नि (कर्म) रूप में परिणत कर लेता है उसीप्रकार जीवकषायों द्वारा कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करके उन्हें कर्मरूप में बदल देता है, यही बंध है। ऐसे बंधमें मिथ्यात्व आदि पांच कारण होते हैं। फिरभी यहांपर केवल कषायके संबंधसे जो बंध कहा है इसके दो कारण है—

एक तो ऐसा कहकर अन्य हेतुओंकी अपेक्षा कषायकी प्रधानता दिखाई है दूसरे कषाय आरंभसे अंतिम बंध दशा १० वें गुणस्थान तक चलती है।

कषाय आत्माके ही भाव है अतः कषाय रूप परिणाम होना भावबंध अथवा आत्मा के परिणामोंका विकाररूप होना 'भावबंध' और उसके निमित्तसे पुद्गल कार्मणवर्गणाओं का पूर्वबद्ध कर्मोके साथ संबंधित होना 'द्रव्यबंध' है।

जीव और कर्मोका मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगसे जो एकत्व परिणाम होता है उसे बंध कहते है [धवला ८ पृ. २]।

अनादि कर्म विशिष्ट जीवही कर्मोका बंध करता है न कि हाथ पैरवाला शरीर (राज वार्तिक पृ.८१२)। जीवमें कर्म बंधते है यह कहना व्यवहारनयसे है। वास्तवमें तो जीव सदाकाल पुद्गल कार्मणवर्गणाओंसे भिन्नही है, जैसे गाय रस्सीसे बंधी कही जाती है, यथार्थ में तो रस्सीकी रस्सीमें ही गांठ आती है, फिरभी रस्सी होती है गाय के ही गलेमें।

बंध के भेद

प्रकृति स्थित्यनुभाग प्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

शब्दार्थ—प्रकृति=स्वभाव। स्थिति=ठहरनेकी मर्यादा। अनुभाग=अनुभव, रस, फल-दान शक्ति। प्रदेश=पुद्गल कर्मवर्गणाओंका समूह। तत्=उस (बंध) के। विधय. भेद है।

अर्थ—बंधके १ प्रकृतिबंध २ स्थितिबंध ३ अनुभागबंध और४प्रदेशबंध ऐसे चार भेद है जब कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको ढकता=आवरण अथवा घात करता है तब उस पदार्थमें ढकने (घात करने) का १ स्वभाव, २ काल, आवरण करनेकी ३ हीनाधिक शक्ति और आवरण करनेवाले पदार्थका परिमाण यह चार अवस्थाएं एक साथ प्रकट होजाती है। आगममें इन्हीं चार अवस्थाओंका नाम १ प्रकृति२स्थिति ३ अनुभाग औरप्रदेशबंध है।

विशेष-बँधने योग्य कर्मोके स्वभावका नाम 'प्रकृतिबंध'; कर्मोके प्रदेशोंकी संख्या का नाम 'प्रदेशबंध' आत्माके साथ कर्मोंसे संबंध रहनेके कालकी मर्यादाका नाम 'स्थितिबंध' और कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिका नाम 'अनुभागसंबंध' है।

योगके वशसे कर्म स्वरूपसे परिणत पुद्गलस्कंधोंका कषायके वशसे जीवमें एक स्वरूपसे रहनेके कालको स्थितिबंध कहते हैं (धवला ६ पृ.१४६)।

प्रकृति और प्रदेशबंध योगसे तथा स्थिति और अनुभागबंध कषायसे होते हैं। कषाय के उपशांत (११ वें गुणस्थानमें जिसके जघन्य एक समय-मरण अपेक्षा और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त एक मिनटका लगभग ७०५ वाँ भाग—काल प्रमाण कषाय उदयरूप नहीं) व क्षीण (१२ वें, १३ वें गुणस्थानमें) होनेपर स्थिति अनुभागबंध नहीं होते। इनतीनों गुणस्थानोंमें एक समय का बंध स्थितिका कारण नहीं,यह जिस एक समयमें होता है उस ही समयमें झड़ भी जाता है। अयोगी केवली भगवानके चारों बंधोंके कारण योग और कषाय दोनों ही नहीं रहते।

आशंका—प्रदेशबंध तो योगसे होजाता किंतुप्रकृति बंध योगसे कैसे? वह तो कषायानुसार ही जिस-तिसरूप होगा।

समा:—नहीं, क्योंकि कर्ममें प्रकृति-स्वभाव पूर्व कर्मो-दयानुसार योगसे ही होता है। योग के तर—तम भावके अनुसार प्रदेशबंधमें भी तर-तम भाव आता है।

प्रकृति बंध दो प्रकारका है १ मूलप्रकृति बंध २ उत्तर प्रकृतिबंध।

मूल प्रकृतिबंध के ८ भेद

आद्यो ज्ञानदर्शनावरण वेदनीय मोहनीयायुर्नाम गोत्रान्तरायाः॥४॥

शब्दार्थ-आद्यः=आदिका अर्थात् प्रकृतिबंध (मूल)।

अर्थ-आदिका=प्रकृति बंध [मूल] १ ज्ञानवरण २ दर्शनावरण ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अंतराय आठ प्रकारका है।

विशेष—जीवके साथ उसके योग और कषायद्वारा एकही समयमें जिस कर्मपुद्गल राशि

दोहा—प्रकृति स्थिति अनुभाग प्र,—देश भेद बंध चार।
प्रकृति बंध है दोय विध, मूल अरु उत्तरार॥२॥

का संबंध होता है वह अनेक स्वभाववाली होती है । वे स्वभाव अदृश्य और असंख्य हैं, फिर भी जीवोंपर उनका प्रभाव देखकर उनकी कुछ गणनाकी जा सकती है । एक या अनेक जीवों पर होनेवाले कर्मके असंख्य प्रभाव अनुभवमें आते हैं । अत. इन प्रभावोंको उत्पन्न करनेवाले स्वभावभी असंख्यही हैं । ऐसा होतेहुए भी आचार्योंने उन सभीको आठ भागोंमें बांट दिया है क्योंकि इन आठ कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले भावोंके अतिरिक्त अन्यभाव नहीं देखेजाते । इस लिए मूलप्रकृतियां आठही हैं ।

प्रकृतिके अर्थ हैं स्वभाव । जैसे नीमकी प्रकृति कडुआपन और गुड़की मीठापन है तैसेही ज्ञानावरणकर्मकी प्रकृति ज्ञानको आवरण करना अर्थात् पदार्थोंको न जाननेदेना है, दर्शनावरणकी दर्शनको ढकना अर्थात् पदार्थोंको न देखनेदेना है, वेदनीयकी बाह्य सामग्री जुटाकर मोहनीयकी सहायतासे सांसारिक सुखदुखका संवेदन कराना है, मोहनीयकर्म २ प्रकार–१ दर्शनमोहनीय जिसकी प्रकृति तत्वार्थका अश्रद्धान कराना २ चारित्रमोहनीय जिसकी प्रकृति असंयम भाव कराना है, आयुकर्मकी प्रकृति भव धारण कराना नामकर्मकी गति शरीर आदि करना, गोत्रकी ऊंचनीचपन प्राप्त कराना और अंतरायकर्मकी प्रकृति दान आदिमें विघ्न करना है । जिसप्रकार एकही बार खाया हुआ अन्न रस, रुधिर आदि अनेक रूप हो जाता है उसीप्रकार एकही आत्माके परिणामसे ग्रहणकी हुई पुद्गल वर्गणाएं ज्ञानावरणादि अनेकरूप होजाती हैं ।

इन आठों कर्मप्रकृतियों में से केवल मोहनीयप्रकृति ही नवीन कर्मबंधमें कारण पड़ती है ।

१ ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३ मोहनीय और ४ अंतराय चार घातिया प्रकृति हैं और शेष अर्थात् १ नाम २ गोत्र ३ आयु और ४ वेदनीय अघातिया ।

आत्माके अनुजीवी गुण–ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य–को जो प्रकट न होने दे सो घातिया प्रकृति । ज्ञानावरण आत्माके ज्ञानको, दर्शनावरण दर्शनको, मोहनीय श्रद्धा तथा चारित्र अर्थात् सुखको और अंतराय वीर्यगुणको घात करता है । घातिया प्रकृति भी दोप्रकारकी होती है १ सर्वघाती २ देशघाती ।

सर्वघाती-जो प्रकृति आत्माके अनुजीवी गुणोंको पूरी तरहसे घाते जैसे केवल ज्ञानावरण और केवल दर्शनावरण । यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि केवल ज्ञानावरण तथा केवल दर्शनावरणसे ज्ञानदर्शनका अच्छी तरह आवरण हो जाने परभी ज्ञानदर्शनकी मंदमंद आभा बराबर प्रकट होती रहती है, नहीं तो जीव जड़ हो जावे ।

देशघाती-जो प्रकृति आत्माके अनुजीवी गुणका एकदेश–कुछ घात करे जैसे मतिज्ञाना

दोहा–ज्ञान दर्शनावरण अरु, वेद मोह अरु आयु ।
नाम गोत्र अंतराय हैं, मूल प्रकृति समुदाय ॥३॥

वरण जो ज्ञान गुणका कुछ ही घात करता है।

घातियाकर्मोंके यह सर्वघाती और देशघाती भेद होनेसे ही आत्मामें क्षयोपशमिक भाव बनते हैं। परंतु जिन कर्मप्रकृतियोंमें देशघाती अंश नहीं है केवल सर्वघातिही हैं उनमें क्षयोपशम भाव नहीं होता, उनमें जब होगा क्षायिक अथवा उपशम भावही होगा, जैसे केवलज्ञानावरण व केवलदर्शनावरण के अभावमें क्षायिक केवलज्ञान क्षायिककेवल दर्शन होगा और मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी सर्वघातोके अभावमें इनका उपशम या क्षय।

जो प्रकृति आत्माके अनुजीवी गुणोंको न घाते सो अघतिया प्रकृति हैं जैसे नाम,गोत्रआदि नामकर्मसे शरीर मिलता है परंतु वह आयुके बिना नहीं ठहर सकता, और ऊंच नीच का व्यवहार शरीरसे ही है। इसलिए आयु, नाम और गोत्र कर्म क्रमसे कहे गए हैं।

प्रश्न—आठ कर्मोंमें अंतराय घातिया कर्मको अघातिया कर्मोंके अंतमें क्यों कहा है?

उत्तर-अंतराय घातिया है तथापि अघातिया कर्मोंकी तरह समस्तपनेसे जीवके गुणोंको घातने में वह समर्थ नहीं है, दूसरा हेतु यह है कि अंतराय कर्म नाम गोत्र तथा वेदनीय इन तीनों कर्मोंके निमित्तसे ही अपना कार्य करता है,अतः इसे अघातिया कर्मोंके अंतमें कहा है।

आशंका—जब अतरायकर्म अघातिया कर्मोंकी तरह समस्तपनेसे जीवके गुणोंको घातने में समर्थ नहीं है, तो इसे अघातिया ही क्यों न मान लिया जाय?

समाः-नहीं, यदि अंतरायको अघातिया मानेंगे तो इसका जीवके अनुजीवी गुणोंको घातना न बनेगा फिर १३ वें गुणस्थानमें अनंतवीर्यके बिना अनंतदर्शन अनंतज्ञान आदि गुण भी असंभव हो जावेंगे और सवही व्यवस्था बिगड़ जावेगी क्योंकि अनंतवीर्यका कार्य आत्मा को उसके अनंत ज्ञान अनंतदर्शन (ज्ञाता दृष्टा) रूप स्वभावमें रखना ही है। अतः यह घातिया ही है और ऐसा ही इसे मानना चाहिए पर यह है देशघाति इसके नाश होते ही अनंत दर्शनज्ञान वीर्य व सुखरूप अनंतचतुष्टय अरहंतोंके १३वें गुणस्थानमें प्रकट होही जाताहै

वेदनीयकर्म मोहनीयकर्म (रागद्वेष) के उदयके बलसे ही घातिया कर्मोंकी तरह जीवों का घात करता है अर्थात् वेदनीयकर्म इंद्रियोंके रूपादि विषयोंमें से किसीमें रति-प्रीति और किसी में अरति-द्वेषका बल पाकर सुख तथा दुःख स्वरूप साता और असाताका अनुभव कराके जीवको अपने ज्ञानादि गुणोंमें नहीं रहने देता परस्वरूपमें लीन करता है अतःघातिया जैसा होनेसे घातियोंके मध्य तथा मोहनीयसे पहले इसको रक्खा है (गो. क गा. १९)।

मूल प्रकृतियोंके उत्तर भेद

पंचनवद्व्यष्टाविंशति चतुर्द्विचत्वारिंशद् द्वि पंच भेदा यथाक्रमम्॥५॥

शब्दार्थ-नव=९। द्वि=२। अष्टाविंशति=२८। चतुः=४। चत्वारिंशद्=४२।

अर्थ-इन आठ मूल प्रकृतियोंके उत्तर भेद क्रम से निम्न प्रकार हैं-

ज्ञानावरणके ५, दर्शनावरणके ६, वेदनीयके २, मोहनीयके २८, आयुके ४, नामके ४२ (१४ पिंड-भेदवाली ६५+२८ अपिंड बिना=भेदवाली=६३), गोत्रके २ और अंतरायके ५ उत्तरभेद हैं। इसप्रकार कर्मोंकी कुल १४८ प्रकृतियां हैं।

ज्ञानावरण की ५ उत्तर प्रकृयिां

मति श्रुतावधि मनः पर्यय केवलानाम ॥६॥

अर्थ—१ मतिज्ञानको आवरण करने—ढकनेवाला मतिज्ञानावरण२श्रुतज्ञानको आवरण करनेवाला श्रुतज्ञानावरण ३ अवधिज्ञानको आवरण करनेवाला अवधिज्ञानावरण ४ मनःपर्यय ज्ञानको आवरण करनेवाला मनः पर्यय ज्ञानावरण और ५ केवलज्ञानको आवरण करनेवाला केवल ज्ञानावरण, इसप्रकार ज्ञानावरण कर्मके ५ भेद हैं।

विशेष—इनमें से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञान आवरणमें तो देशघाती और सर्वघाती दोनों प्रकारको प्रकृतियाँ हैं,जिनमें से मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणकी सर्वघातीका तो प्रत्येक जीवके यथायोग्य उदयाभावी क्षय होता है अर्थात् यह किसी जीवके भी सर्वघातीरूप उदयमें नहीं आती। किंतु अवधिज्ञानावरण और मनः पर्यय ज्ञानावरणकी सर्वघाती प्रकृतियोंका उदय लगभग सब संसारी जीवोंके होता है और अवधिज्ञान तथा मनः पर्ययज्ञान अपने अपने सर्वघाती आवरणके यथायोग्य उदयाभावी क्षय से होते हैं। केवल ज्ञानावरणमें मात्र सर्वघाति प्रकृतिही होती है, देशघाति नहीं। इसी कारण केवलज्ञानमें क्षयोपशमिकभाव नहीं है, क्षायिक ही है।

केवल ज्ञानावरणके निममित्तसे पूर्णज्ञानका लोप नहीं होता, यदि ऐसा हो तो जीवके अचेतन हो जानेसे जीवके अभावका ही प्रसंग—दोष आ जावेगा। अतः इससे बचे हुए ज्ञान पर जो मतिज्ञान आदि अभावरूप आवरण होते हैं वह मतिज्ञानावरणआदि कहलाते हैं।

आशका—'अभव्य जीवके मनः पर्यय तथा केवलज्ञानकी शक्ति है अथवा नहीं ? यदि है तो उसके अभव्यपनेका अभाव हुआ, यदि नहीं तो उसके इन दोनों ज्ञानोंकी आवरण रूप प्रकृतियोंका कहना व्यर्थ ठहरा'।

समाः—द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा तो अभव्यके मनः पर्यय और केवलज्ञानकी शक्तिका संभवपना है किंतु पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा उसके उस शक्तिका अभाव है अर्थात् उसकी

दोहा—पन नव दो अठवीस चउ, दोचालिस दो पाँच।
ज्ञानावरण जु आदि के क्रम से भेद यूं साँच ॥४॥

कोई पर्यायभी ऐसा नहीं होगी जिसमें उसके मनः पर्यय और केवलज्ञानप्रकट हो सकें

प्रश्न-ऐसा होनेपर भव्य और अभव्यका भेद कैसे ?

उत्तर शक्तिके सद्भावकी अपेक्षा भव्य और अभव्यका भेद नहीं है किंतु यह भेद उस शक्तिके प्रकट और न प्रकट होनेकी योग्यताकी अपेक्षासे है। जिसके सम्यग्दर्शन आदिकी व्यक्ति—प्रकटपनेकी योग्यता है वह भव्य और जिसके ऐसी योग्यता नहीं है वह अभव्य है।

आशंका-ज्ञानके आठ भेद हैं तब ज्ञानावरण की पांचही प्रकृतियां क्यों, आठ क्यों नहीं ?

समाः—वास्तवमें ज्ञानके तो ५ ही भेद हैं, मति, श्रुत, अवधि ही मिथ्यात्वके उदयमें विपरीत होजाने के कारण कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहलाने लगते हैं।

दर्शनावरण की ९ उत्तर प्रकृतियां

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥

शब्दार्थ—चक्षुः=नेत्र। अचक्षुः=नेत्रके अतिरिक्त अन्य इंद्रियां तथा मन। चक्षुरचक्षुरवधि केवलानां=चक्षु दर्शनका आवरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण। निद्रा=नींद। निद्रा-निद्रा=नींदपरनींद। प्रचला=घुमेर। प्रचलाप्रचला=घुमेरपर घुमेर। स्त्यानगृद्धि=वेहोशीकीनींद-ऐसी नींद जिसमें व्यक्ति सोतेसोते कुछ काम करतो ले पर उसे मालूम न हो कि उसने कुछ किया है।

अर्थ—दर्शनावरणके १ चक्षुदर्शनावरण २ अचक्षुदर्शनावरण ३ अवधि दर्शनावरण ४ केवलदर्शनावरण ५ निद्रा ६ निद्रानिद्रा७प्रचला८प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यान=गृद्धिभेद हैं।

विशेष—पदार्थकी महासत्ता (सामान्य अर्थात् आत्मा) का अवलोकन मात्र अर्थात् आत्म संवेदन-अनुभवन मात्र-अथवा अंतश्चित्प्रकाशका नाम 'दर्शन' है (देखिए अ. १ सू१५अ२सू.९.)

नेत्रोंद्वारा आत्मा-संवेदन मात्र अथवा नेत्रोंद्वारा किसी पदार्शको जनानेसेपहले उस पदार्थ के जाननेमें उपयोगकी पूर्वअवस्था-अतर्चित्प्रकाश चक्षुदर्शन है। ऐसे अंतश्चित्प्रकाशको रोकने वाली कर्मप्रकृतिका नाम चक्षुदर्शनावरण प्रकृति है,अथवा जिस प्रकृतिके उदयसे आत्मा-जीव चक्षु रहित एकेंद्री, दोइंद्री,तेइंद्री, हो उसे चक्षु दर्शनावरण प्रकृति कहते हैं।

नेत्रके अतिरिक्त और किसी इन्द्रिय अथवा मनसे किसी पदार्थको जाननेसे पहले उस पदार्थ के जाननेमें उपयोगकी पूर्व अवस्था-अंतश्चित्प्रकाश—आत्मसंवेदन अचक्षुदर्शन है। ऐसे आत्मसंवेदनको रोकनेवाली कर्मप्रकृतिका नाम अचक्षुदर्शनावरण प्रकृति है, अथवा जिसके

दोहा—मति श्रुत अवधि मनपर्यय, केवल आवरण ज्ञान।
दर्शन चक्षु अचक्षु अवधि, केवल गृद्धयस्तान ॥५॥

उदयसे नेत्रके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों तथा मनसे सामान्य अवलोकन-दर्शन-अंतर्चित्प्रकाश-आत्मसंवेदन न हो उसे अचक्षुदर्शनावरण प्रकृति कहते हैं।

इसीप्रकार अवधिदर्शनसे जो अंतर्चित्प्रकाश-आत्मसंवेदन-सामान्य अवलोकन होता है उसको आच्छादन करने—ढकनेवाली अवधि दर्शनावरणप्रकृति है। और जो प्रकृति केवल दर्शन नहीं होने देती उसे केवलदर्शनावरण प्रकृति कहते हैं।

थकान व खेद होनेपर उनके दूर करनेके लिए जो नींद आती है वह निद्रा दर्शनावरण प्रकृतिके कारण है, इसमें जीव उठाए जानेपर जल्दी जग बैठता है और थोड़ीसी आवाज से भी सचेत हो जाता है। नींदपर नींद आना निद्रानिद्रा दर्शनावरण प्रकृतिके कारण होता है इसके उदयमें ऐसी नींद आती है कि जीव नेत्रोंको उघाड़ नहीं सकता और कंकड़पत्थर तिनके आदिको कुछ न गिनता हुआ उन्हींपर सो जाता है।

प्रचला दर्शनावरण प्रकृतिके उदयमें जीव बैठेबैठे ही घूमता है, नेत्रोंको कुछ उघाड़े हुए ही सो जाता है, देखते हुए भी कुछ नहीं देखता! प्रचलाप्रचलाके उदयमें बहुत घुमेर आती है। इसमें मुंहसे लाला-राल बहने लगता है, बैठे बैठे अथवा चलते चलते भी गाढ़ निद्रा ले लेता है, सुई आदि चुभानेपर भी सचेत नहीं होता।

स्त्यान (स्वप्नमें) गृद्धि (दीप्यते)—स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण प्रकृतिके उदयमें मनुष्य-जीव सोता हुआही चैतन्य-सा होकर अनेक कार्य कर जाता है फिर बेहोश जा होता है और जागने पर भी उसे मालूम नहीं होता कि मैंने क्या क्या कर डाला है। इसीमें जीव बड़बड़ाता और कभीकभी दांतोंको भी कड़कड़ाया करता है।

प्रश्न-निद्रातो पाप प्रकृति है किंतु सो लेनेपर जीवोंको सुख दिखता है, सो कैसे?

उत्तर—नींद आती है सो तो पापही का उदय है क्योंकि सोनेमें आत्माका स्वभाव दर्शन वीर्य घात होता है, किंतु सोनेसे थकान खेद आदि भी मिटते हैं इसका कारण इसके साथ ही सातावेदनीयका उदय अथवा असाताका मंद उदय है उसमें यह नींद सहकारी-मात्र पड़ती है, इससे यह प्राणी सुख भी मानता है, परमार्थसे सुख कुछभी नहीं है।

इनमें से पाँचों निद्रा और केवलदर्शनावरण तो मात्र—सर्वघाति अंशवाली प्रकृतियां हैं इसलिए पाँचों निद्राओंके उदयमें दर्शन गुण काम नहीं करता लब्धिरूप रहता है चक्षु अचक्षु तथा अवधि दर्शनावरणमें प्रति समय दोनों प्रकारके अर्थात् सर्वघाति और देश-घातिके अंश पाये जाते हैं।

दर्शनके चार भेद किंतु यहां दर्शन वरणको ९ प्रकारका कहा-इसका कारण यह है कि निद्रा आदिक सामान्य आवरण—कर्म है। संसारीजीवके पहले दर्शन उपयोग होता है और यह निद्रादिक उस उपयोगमें बाधक है। अतः इन पाँचोंकी भी दर्शनावरणमें गिनती है।

वेदनीय की २ उत्तर प्रकृतियां

सदसद्वेद्ये ॥८॥

शब्दार्थ—सत्=साता, इंद्रिय सुखकी बाह्य कारणरूप सामग्री जुटाकर मोहनीयके सहायसे सुख अनुभव करानेवाली। असत्=असाता, दुःखकी बाह्य कारणरूप सामग्री जुटाकर मोहनीय के सहायसे दुःख अनुभव करानेवाली। वेद्ये=दो वेदनीय, जो दोरूप वेदन करावे।

अर्थ—वेदनीयकर्मकी दो उत्तर प्रकृतियां हैं १ सातावेदनीय २ असातावेदनीय।

विशेष—इंद्रियोंका अपनेअपने रूपादि विषयका अनुभव करना वेदनीय (अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं-गो.क.गा.१४)। जिस प्रकृतिके उदयमें शरीर तथा मन संबंधी सुख अथवा सुख सामग्रीकी प्राप्ति हो सो सातावेदनीय और जिसके उदयसे अनेक प्रकारके दुःख अथवा दुःखकी सामग्री प्राप्त हो सो असाता वेदनीय है।

वास्तवमें सुख दुखका वेदन—अनुभवन तो चारित्र मोहनीयकर्मकी कषाय वेदनीय और अ-किंचित कषाय वेयनीय कराती है। इस वेदनीयकर्मका कार्य तो सुखदुखकी बाह्य कारण रूप सामग्री जुटाना—मात्र है (मोक्ष मार्ग प्रकाशक अधिकार २ पृ.५९-६०)। यह बाह्य सुख दुःख कारण रूप सामग्री कषायवेदनीय तथा नोकषायवेदनीय के होने पर ही सुख दुःखका अनुभव करा सकती है, अन्यथा नहीं। फिर भी यहां रूढीसे कारणमें कार्य का उपचार करके इसको भी वेदनीय कहा है। यहांपर 'वेदनीय' शब्द रूढि वाचक है। यही कारण है कि वेदनीयका उदय १० वें गुणस्थानसे ऊपरके सब गुणस्थानोंमें रहते हुएभी जीव को इंद्रिय और मन-जनित सुख दुःखका अनुभवन बिलकुल भी नहीं होता, वहांपर तो उसे एक विलक्षण अतीन्द्रिय आत्मिक सुख बिना किसी कर्म-कारणके अनुभवमें आता है।

मोहनीय की २८ उत्तर प्रकृतियां

दर्शन चारित्रमोहनीयाकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाअनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशःक्रोधमानमायालोभाः॥९॥

शब्दार्थ-तदुभयानि=उन दोनोंका मिला हुआ अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व। अकषायौ=अकषाय और कषाय ऐसे दो प्रकार। रत्यरति रति और अरति। अनंतानुबध्यप्रत्याख्यान=अनतानुबंधी और अप्रत्याख्यान। विकल्पाः=भेद। एकशः=क्रमसे।

अर्थ-दर्शन मोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय यह चार

मोहनीयकर्म क्रमसे ३,२,९ और १६ प्रकारके है । जिनमें से दर्शनमोहनीय १सम्यक्त्व मोहनीय २ मिथ्यात्व मोहनीय और ३ सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय तीन प्रकारका है, चारित्र मोहनीय १ अ-किंचित कषायवेदनीय २ कषायवेदनीय दो प्रकार है फिर इनमें से अकषाय वेदनीय १ हास्य २ रति ३ अरति ३ शोक ५ भय ६ जुगुप्सा ७ स्त्री वेद ८ पुरुष वेद और ९ नपुंसक वेद ऐसे ९ प्रकार और कषाय वेदनीय १ अनंतानुबंधी २ अप्रत्याख्यान ३ प्रत्याख्यान और ४ संज्वलनके भेदों सहित क्रमसे एकएकको १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभके साथ मिलाकर १६ प्रकारका होता है ।

विशेष—मोहनीयकर्म दो प्रकारका होता है १ दर्शन मोहनीय २ चारित्र मोहनीय ।

दर्शनमोहनीय अभव्यके तो बंध और उदय दोनों अपेक्षासे एक ही प्रकार का है अर्थात् मिथ्यात्व, उसके इसका कोई भेद नहीं बनता क्योंकि उसके बंधताभी मिथ्यात्व है और उदय भी मिथ्यात्वका ही होता है । किंतु जब कोई मिथ्यादृष्टि भव्य जीव करण लब्धिमें तीनों करण करने के पश्चात प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब साथहीसाथ उस उपशम (दबे हुए) मिथ्यात्व द्रव्यके तीन खंड हो जाते है जैसे चना-धान्यके दलने पर भूसी दल और कण तीन रूप हो जाता है वैसे ही मिथ्यात्व रूप कर्म द्रव्य भी उपशम सम्यक्त्व यंत्रसे १मिथ्यात्व २ सम्याक् मिथ्यत्त्व (मिश्र) और ३ सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन तीन रूप ही उदयमें आने लगता है । अतः मिथ्यात्वके यह तीन भेद उदय और सत्ताकी अपेक्षा है, बध तो केवल एक मिथ्यात्वका ही होता है ।

जिसके उदयसे सर्वज्ञ भाषित मार्गसे पराङ.मुखता और तत्वार्थ श्रद्धानमें निरुत्साह तथा हिताहितकी परीक्षामें असमर्थता होती है वह 'मिथ्यात्व' है ।

जिसके उदतसे तत्वोंके सुश्रद्धान और कुश्रद्धान रूप दोनों प्रकारके भाव दहीगुड़के मिले हुए स्वादके समान मिले हुए होते है उसे 'सम्यक् मिथ्यात्व अथवा मिश्र' प्रकृति कहते है इसके उदयमें जीवके समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी मिली दृष्टि—श्रद्धा-रुचि युगपत् एक साथ होती है, जैसे अरहंत भगवान और अन्य देवतामें एक साथ श्रद्धा ।

इतना रसहीन मिथ्यात्व कि जिसका उदय सम्यक्त्व को न रोक सके 'सम्यक् प्रकृति' मिथ्यात्व है, इसके उदयकी वेदता हुआ जीव सम्यग्दृष्टि (क्षयोपशमिक) ही है । अतःइसका नाम सम्यक्प्रकृति है । किंतु जबतक इसका उदय बना रहेगा तबतक पूर्ण निर्मल-क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि यह भी दर्शनमोहनीय मिथ्यात्वकी प्रकृति है और सम्य-क्त्वमें मलिनता उत्पन्न करती ही रहती है ।

चारित्रमोहनीय दो प्रकार है १ कषायवेदनीय २ अकषायवेदनीय ।

कषायवेदनीय ४ अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ ४ अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान

माया लोभ ४ प्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान माया लोभ और ४ संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इस प्रकार १६ प्रकारका है।

जो क्रोध मान माया लोभ अनंत संसारका कारण हो और सम्यग्दर्शनको प्रकट होने दे वह अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी है। यह चौकड़ी आत्माके चारित्र गुणको तो घातती ही है साथ ही अनंत संसारका होनेसे उसके कारण सम्यक्त्व गुणको भी घाततीहै, यही इसकी द्विस्वभावता है

जो क्रोध मान माया लोभ अ—किंचित+प्रत्याख्यान—त्याग आवरणी-ढकनेवाली अर्थात् जो थोड़े—एक देश त्याग—संयमको भी न होने दे वह अप्रत्याख्यानावरणी कषाय चौकड़ी है।

जो क्रोध मान माया लोभ प्रत्याख्यान—(पूर्ण)त्यागको×आवरणी-ढकनेवाली हो अर्थात् जो पूर्ण त्याग—सकल संयमको न होने दे वह प्रत्याख्यानावरणी कषाय चौकड़ी है।

जो क्रोध मान माया लोभ सं—साथसाथ (संयम)के×ज्वलन-प्रकाशमान रहें अर्थात् जिनके होनेपर संयमभी प्रकाश रहे यानी जो संयम (सकल चारित्र—महाव्रत) पालने में बाधा न डाले वह सँज्वलनकषाय चौकड़ी है(सर्वार्थ,वचनिका पंजयचंद पृ.०६१४)। अथवा सं=संयम-यथा-ख्यात चारित्रको जो ज्वलन—जलावे सो संज्वलन कषाय है। इसका उदय ६ टे से१०वें गुण स्थानतक रहता है अतः यहांतक यथाख्यात चारित्र नहीं होपाता,वह ११वेंसे प्रारंभ होता है।

जिसके उदयसे अपने और परकेघात करनेके परिणाम हों तथा परके उपकार करनेके अभाव रूप भाव व क्रूर भाव हों क्रोध कषाय है। तीव्र मंदपनेकी अपेक्षा इसके क्रमसे चार दृष्टांत हैं १ तीव्रतर—पाषाणकी रेखा-जैसा जो बहुत अधिक कालमें मिटे२तीव्र—पृथ्वी की रेखा-गाड़ीकी लीक-जैसा जो उससे कम कालमें मिट जावे ३ मंद—धूलकी रेखा जैसा जो अल्प कालमें मिटे और ४ मंदतर—जलकी रेखा"जैसा जो तत्कालही मिट जावे।

जिसके उदयसे जाति,कुल, बल, ऐश्वर्य, विद्या, रूप, तप, और प्रभुता आदिके गर्वसे उद्धत रूप तथा अन्यसे नम्रीभूत न होनेरूप परिणाम हों सो मान कषाय है। इसके भी तीव्रमंदकी अपेक्षा क्रमसे चार दृष्टांत हैं१तीव्रतर-पाषाणके स्तंभ-जैसा जो टूट तो जावे पर या झुके नहीं २ तीव्र-हड्डी-जैसा जो किसी कारण विशेषसे कुछ काल पीछे झुक जावे ३ मंद-नमे काठ-जैसा जो नमनेका कारण मिलनेपर थोड़ेही कालमें झुक जावे और४मंदतर-बेलकी डंडी-जैसा जो तत्काल-तुतुही झुक जावे।

जिसके उदयसे दूसरेको धोखादेने अथवा ठगनेके लिए मन वचन कायमें कुटिलता आवे सो माया कषाय है। इसके तीव्रमंदके चार दृष्टांत १ बांसकी जड़की कुटिलता २ मेंढेके सींग की ३ गोमूत्रकी और ४ लेखनीकी कुटिलता-टेढापन हैं।

जिसके उदयसे अपने उपकारक द्रव्योंमें अभिलाषा-वांछा हो सो लोभ कषाय है। इस के भी तीव्रमंदके चार दृष्टांत हैं१किरमिची रंग२काजलका रंग ३ कीचड़कारंग४हलदीका रंग

अकषाय-नोकषाय-किंचितकषाय वेदनीयके १ हास्य २ रति ३ अरति ४ शोक ५ भय ६ जुगुप्सा ७ स्त्रीवेद ८ पुरुषवेद और ९ नपुंसकवेद ऐसे ९ भेद है।

जिसके उदयसे हँसी आवे उसे हास्य प्रकृति कहते है। जिसके उदयसे विषयोंमें उत्सुकता या आसक्तता हो सो रति नोकषाय, रतिसे उलटी अरति है। जिसके उदयसे शोक व चिंता हो सो शोक है। जिसके उदयसे उद्वेग प्रकट हो सो भय प्रकृति है। जिसके उदयसे अपने दोषोंको ढकना और अन्यके कुल शील आदिकमें दोष प्रकट करना हो अथवा तिरस्कार या ग्लानिरूप भाव हो वह जुगुप्सा नोकषाय है। जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेकी इच्छा हो सो स्त्रीवेद स्त्रीसे रमने की इच्छा सो पुरुषवेद और स्त्रीपुरुष दोनोंसे रमनेके भाव हों सो नपुंसकवेद नोकषाय है।

नोट—स्त्री पुरुष और नपुंसकोंके शरीर में लिंग—चिन्हरूप गुप्त अंगोंकी रचना सो तो अंगोपांग नामक नामकर्मके उदयसे होती है, इसको द्रव्यवेद कहते है, और रमनेकी इच्छारूप जो भाव होता है सो वेदनामक नोकषाय कर्मरूप पुद्गलद्रव्यके उदयसे होता है, वह भाववेद कहलाता है।

कर्मभूमिके मनुष्य और तिर्यंचोंमें द्रव्य वेद से भिन्न भी भाव वेद हो सकते हे जैसे पुरुष के स्त्री अथवा नपुंसक भाव वेद, स्त्रीके पुरुष या नपुंसक भाववेद, फिरभी भाववेद एक जन्ममें एक ही रहता है (पंचसंग्रह पृ.६६)। किंतु देवो और भोग भूमिजोंके जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेदभी होता है। नारकियोंके तो तो केवल नपुंसक वेद ही होता है।

वेदनोकषायके उदय अथवा उदीरणा होनेसे जीवके परिणामोंमें बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है जिसके होनेसे यह जीव गुण अथवा दोष का विचार नहीं कर सकता। अतः ज्ञानी जीवको परमागम भावनाके बलसे यथार्थ स्वरूपानुभवन आदि भावसे ब्रह्मचर्य अंगीकार करना ही चाहिए (गो. जी. गा. २७१)।

इसप्रकार दर्शनमोहनीयकी तीन और चारित्रमोहनीयकी १६ कषाय तथा ९ नोकषाय पच्चीस, कुल मिलाकर मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियाँ हुई।

दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृति और चार अनानुबधी क्रोध मान माया लोभ यह सात प्रकृतियां सम्यक्त्वका घात करती हैं, अप्रत्याख्यानावरणी चोकड़ीके उदय रहते देश चारित्र अर्थात् श्रावकके व्रत नहीं होते, प्रत्याख्यानावरणी चोकड़ीके उदयमें महाव्रत नहीं होते और संज्वलन चोकड़ीके उदयमें यथाख्यात चारित्र नहीं होता।

आयु कर्म की ४ उत्तर प्रकृतियां

नारक तैर्यग्योन मानुष दैवानि ॥१०॥

शब्दार्थ—तैर्यग्योन=तिर्यचयोनि।

अर्थ_१ नरकआयु २ तिर्यंच-पशुआयु ३ मनुष्यआयु और ४ देवआयु यह आयुकर्मकी प्रकृतियाँ हैं

विशेष-जिस कर्मके सद्भावसे जीव-आत्मा किसी विशेष पर्याय-गतिमें जीवे और अभाव से मरणको प्राप्त हो जावे उसे 'आयु' कर्म कहते हैं।

जो कर्मप्रकृति नरक पर्यायमें उपजावे, रक्खे सो नरकायु, जो तिर्यंच पशु पर्यायमें उपजावे–रक्खे सो तिर्यंचायु, जो मनुष्य पर्यायमें उपजावे–रक्खे सो मनुष्यायु, और जो देव पर्याय में उपजावे, रक्खे सो देवायु कर्मप्रकृति है।

जिस पर्यायमें जीव उत्पन्न होता है वहांपर उसका जीना मरना उस पर्याय संबंधी आयु कर्मके आधीन है, वह उस पर्याय संबंधी सुखदुःख उस पर्यायमें ही आयु पर्यंत भोगता है।

प्राणोंमें आयु प्राण मुख्य है। यह जीवित रहनेका सर्वोत्कृष्ट निमित्त है। इसके सद्भाव में जीवन है, अभावमें मरण। अन्नादिक तो आयुको रखनेमें सहकारी–मात्र है। भव-धारण का मुख्य कारण आयुकर्म है।

नाम कर्म की ४२ उत्तर प्रकृतियाँ

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माण बंधन संघातसंस्थान संहनन स्पर्श रस गंध वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभग सुस्वर शुभ सूक्ष्म पर्याप्तिस्थिरादेय यशःकीर्ति सेतराणि तीर्थंकरत्वंच॥११॥

अर्थ–१ गति २ जाति ३ शरीर ४ अंगोपांग ५ निर्माण ६ बंधात ७ संघात ८ संस्थान ९ संहनन १० स्पर्श ११ रस १२ वर्ण १४ आनुपूर्वी १५ अगुरुलघु १६ उपघात १७ परघात १८ आतप १९ उद्योत २० उच्छ्वास २१ विहायोगति यह इक्कीस तथा १ प्रत्येकशरीर २ त्रस ३ सुभग ४ सुस्वर ५ शुभ ६ सूक्ष्म ७ पर्याप्ति ८ स्थिर ९ आदेय और १० यशः कीर्ति यह दस तथा इन की उलटी १ साधारणशरीर २ स्थावर ३ दुर्भग ४ दुःस्वर ५ अशुभ ६ बादर ७ अपर्याप्ति ८ अस्थिर ९ अनादेय और १० अयशः कीर्ति यह दस और एक तीर्थंकरत्व इसप्रकार नामकर्मकी ४२ उत्तर प्रकृतियां हैं।

विशेष-मूलकर्म आठ हैं, जिनमें सात जीव विपाकी (जिसका फल जीवकी उपयोग आदि शक्तिमें हो) और एक नामकर्म जीवविपाकी तथा पुद्गलविपाकी (जिसका फल–रस पुद्गल शरीरमें हो) दोनों प्रकारकी है। साधारणतः सभी कर्म जीवोंके रागद्वेष आदि परिणामों का निमित्त पाकर बंधते है, अतएव उनका विपाक–फल जीवमें ही होता है अर्थात् उनके

दोहा–नारक पशु नर आयु सुर, चउ गति जाति इत्यादि।
सब मिल नव्वै–तीन हैं, नाम प्रकृति जिन वाद ॥७॥

उदयका निमित्त पाकर जीवमें उस उस प्रकारकी योग्यता-कलुषता आती है। फिरभी जीव विपाकी, पुद्गल विपाकी आदिका कारण-जीवका संसार-जीव और पुद्गल इन दो के मेल से होता है। संसारमें रहते हुए यह विविध गतियोंमें जन्मता मरता है, उसीके अनुसार नाम कर्मके उदयमें नाना शरीरोंको धारण करता है।

नीचे नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंका विशेष विवरण दिया जाता है-

१ जिसके उदयसे आत्मा एक भव-पर्यायसे दूसरे भव-पर्यायको गमन करे और उस भव रूप भाव रक्खे सो गति नामकर्म प्रकृति है। यह चार प्रकार है १ नरकगति २ तिर्यंचगति ३ देवगति ४ मनुष्यगति। जिसके उदयसे आत्मा तिर्यंच अथवा मनुष्य पर्यायसे नरकमें जावे और वहां नरक रूप भाव रक्खे सो नरकगति नामप्रकृति, जिसके उदयसे आत्मा नरक, तिर्यंच, देव अथवा मनुष्य पर्यायसे तिर्यंच पर्यायमें जावे और वहां तिर्यंचरूप भाव रक्खे सो तिर्यंच नामप्रकृति, जिसके उदयसे आत्मा तिर्यंच अथवा मनुष्य पर्यायसे देव पर्यायमें जावे और वहां देवरूप भाव रक्खे सो देवगति नामप्रकृति, और जिसके उदयसे आत्मा नरक, तिर्यंच, देव अथवा मनुष्य पर्यायसे मनुष्य पर्यायमें जावे और वहां मनुष्य रूप भाव रक्खे सो मनुष्यगति नामप्रकृति है।

२ तिर्यंच आदि गतियोंमें जो अविरोधी समान धर्मोंसे आत्माको एक रूप करती है सो जाति नामप्रकृति है। इसके ५ भेद हैं-१ एकेंद्रिय २ दो इंद्रिय ३ ते इंद्रिय ४ चौइंद्रिय और ५ पंचेंद्रियजाति नामकर्मप्रकृति। जिसके उदयसे आत्मा एकेंद्रिय जाति हो उसे एकेंद्रिय जाति नामकर्म प्रकृति कहते हैं, इत्यादि।

३ जिसके उदयसे आत्माके शरीरकी रचना होती है उसे शरीर नामकर्मप्रकृति कहते हैं। यह भी ५ प्रकार है--१ औदारिकशरीर नामकर्मप्रकृति २ वैक्रियिकशरीर नामकर्मप्रकृति ३ आहारकशरीर नामकर्मप्रकृति ४ तैजसशरीर नामकर्मप्रकृति और ५ कार्मण शरीर नामकर्म प्रकृति। जिसके उदयसे औदारिकशरीरकी रचना हो सो औदारिकशरीर नामकर्मप्रकृति है, इत्यादि इस कर्मके उदयसे भिन्न २ शरीरोंको धारण करानेसे आत्मा संकोच विचाररूपहोता है

४ जिसके उदयसे अंग उपांगोंका भेद प्रकट हो सो अंगोपांग नामकर्मप्रकृति है। मस्तक, पीठ, हृदय, उदर, बाहु, हाथ, जांघ, पांव यह आठ अंग हैं और इनके ललाट, नासिका आदि भागों को उपांग कहते हैं। यह प्रकृति तीन प्रकारकी है १ औदारिकशरीरांगोपांग २ वैक्रियिक शरीरांगोपांग और ३ आहारकशरीरांगोपांग। जिसके उदयसे औदारिकशरीरमें अंग उपांगोंका भेद प्रकार हो सो औदारिक शरीरांगोपांग नामकर्मप्रकृति है, इत्यादि।

५ जिसके उदयसे अंग उपांगोंकी यथास्थान और यथाप्रमाण रचना हो सो निर्माण नाम कर्म प्रकृति है। इसके १ स्थाननिर्माण और २ प्रमाणनिर्माण दो भेद हैं। जिसके उदयसे

नाक कान आदिका योग्य स्थानमें निर्माण हो सो स्थाननिर्माण नामकर्मप्रकृति और जिसके उदयसे उनकी योग्य लंबाईचौड़ाईआदिकी रचना हो उसे प्रमाणनिर्माण नामकर्मप्रकृतिकहते हैं

६ जिसके उदयसे शरीर नामकर्मके वश से आहारवर्गणाके पुद्गलस्कंधोंके प्रदेशोंका मिलना हो सो बंधन नामकर्मप्रकृति है। यह पांच प्रकार की है१औदारिकबंधन २ वैक्रियिक बंधन ३ आहारकबंधन ४ तैजसबंधन और ५ कार्मणबंधन नामकर्मप्रकृति। जिसके उदयसे औदारिक बंधन हो सो औदारिकबंधन नामकर्मप्रकृति है, इत्यादि।

७ जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंके परमाणुओंके स्कंध परस्पर छिद्र रहित मिले हुए हों उसे संघात नामकर्मप्रकृति कहते हैं, यह भी औदारिक आदि शरीरनाम धारक ५ प्रकार है। जिसके उदयसे औदारिक शरीरमें छिद्र रहित संधियां-जोड़ हों सो औदारिकसंघात नाम कर्मप्रकृति है; इसी प्रकार वैक्रियिकसंघात नाम आदि प्रकृतियां हैं।

८ जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंका आकार बने सो संस्थान नामकर्मप्रकृति है यह छः प्रकार है १ समचतुरस्रसंस्थान-जिसके उदयसे ऊपर नीचे और मध्यमें समान विभाग से शरीरके अवयवोंकी सुन्दर यथास्थान रचना हो २ न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान जिसके उदयसे शरीरका नाभिसे नीचेका भाग न्यग्रोध (वट वृक्ष) जैसा पतला और ऊपरका स्थूल व मोटा हो ३ स्वातिसंस्थान—जिसके उदयसे शरीरके नीचेका भाग स्वाति (साँपकी बांबी) जैसा स्थूल या मोटा और ऊपर पतला हो ४ कुब्जक संस्थान—जिसके उदयसे शरीर कुबड़ा हो ५ वामन संस्थान-जिसके उदयसे शरीर बहुत छोटा हो और ६ हुंडक संस्थान जिसके उदय से शरीर विषम-बेडौल हो।

९ जिसके उदयसे शरीरके अस्थि पंजरादि (हाडादि) के बंधनों—संगठनमें विशेषता हो सो संहनन नामकर्मप्रकृति है। यह भी छः प्रकार है १ वज्रवृषभनाराचसंहननप्रकृति-जिसके उदयसे वृषभ (वेष्ठन) नाराच (कीले) और संहनन (अस्थि पंजर) यह तीनोंही वज्र के समान अभेद्य हों २ वज्रनाराचसंहननप्रकृति-जिसके उदयसे नाराच और संहनन तो वज्रमय हों और वृषभ सामान्य हों ३ नाराचसंहननप्रकृति-जिसके उदयसे हाड तथा संधियों के कीले तो हों परंतु वज्रमय न हों और वेष्ठन भी वज्रमय न हों ४ अर्द्ध नाराचसंहननप्रकृति-जिसके उदयसे हाडोंकी संधियाँ अर्द्धकीलित हों अर्थात् एक तरफ तो कीले हों दूसरी तरफ न हों ५ कीलक संहननप्रकृति-जिसके उदयसे हाड परस्पर कीलित हों और ६ असंप्राप्तासृपाटिका संहनन प्रकृति-जिसके उदयसे हाडोंकी संधियां तो कीलित न हों किंतु नसों स्नायुओं और मांस से बंधी हों

१० जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्श गुण प्रकट हो सो स्पर्शनामकर्मप्रकृति है। यह८प्रकार है १ मृदु—कोमलस्पर्श नामकर्मप्रकृति २ कर्कश—कठोरस्पर्श ३लघु—हलकीस्पर्श ४ गुरु-भारी स्पर्श ५ स्निग्ध-चिकनास्पर्श ६ रूक्ष-रूखास्पर्श ८ उष्णस्पर्श नामकर्मप्रकृति।

११ जिसके उदयसे देहमें रस (स्वाद) उत्पन्न हो उसे रस नामकर्मप्रकृति कहते है। यह पांचप्रकार है १ आम्ल-खट्टारस २ मधु-मीठारस ३ कटु-कड़ुवारस ४ कषायला रस और ५ तिक्त-चरपरारस नामकर्मप्रकृति।

१२ जिसके उदयसे देहमें गंध प्रकट हो सो गंध नामकर्मप्रकृति है। इसके दो भेद है १ सुगंध २ दुर्गंध नामकर्मप्रकृति।

१३ जिसके उदयसे शरीरमें वर्ण—रंग प्रकट हो सो वर्ण नामकर्मप्रकृति है। इसके पांच भेद हैं १ कृष्ण २ नील ३ रक्त-लाल ४ पीत-पीला और ५ शुक्ल-श्वेत नामकर्मप्रकृति।

१४ जिसके उदयसेमरण होनेपर मरणसे पहलेके शरीरका आकार बना रहे नए शरीर की वर्गणा ग्रहण न करे वह आनुपूर्वी नामकर्मप्रकृति है। यह चार प्रकार है १ जिसके उदय से मरण होनेपर नरकगति प्राप्त करनेके लिए आत्माके प्रदेश पहले शरीरके आकार रहे सो नरकगत्यानुपूर्वीहै, इसीप्रकार २ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी ३ देवगत्यानुपूर्वी और ४ मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्मप्रकृति हैं।

यहांतक की १४ नाम कर्मप्रकृयियां पिंड-उत्तरोत्तर भेदवाली प्रकृतियां है अर्थात् इनके उत्तरोत्तर ६५ भेद हैं—(गति ४+जाति ५+शरीर ५+अंगोपांग ३+निर्माण २ बंधन५ + संघात ५+संस्थान ६+ संहनन ६+स्पर्श ८+रस ५+गंध२+वर्ण ५+आनुपूर्वी ४=६५) शेष २८ प्रकृतियां अपिंड-बिना भेदवाली हैं।

१५ जिसके उदयसे शरीर न तो बहुत भारी और नबहुत हलका होवह अगुरुलघु नामप्रकृतिहै

नोट-यहांपर शरीर सहित आत्माके संबंधमें अगुरु (अ) लघु कर्मप्रकृति कही है, वैसे तो सब द्रव्योंमें अगुरु (अ) लघु नामका एक स्वभाविक गुण है जो इस कर्मप्रकृति से भिन्न है इस अगुरुलघु गुणसे एक द्रव्य अथवा गुण दूसरे द्रव्य अथवा गुणरूप नहीं होता,किसी द्रव्य के अनेक अनंत गुण बिखर कर जुदे जुदे नहीं हो जाते। इसीसे सब द्रव्योंमें शुद्ध अथवा अशुद्ध अवस्था में षटगुण हानिवृद्धिरूप परिणमनचलता रहता है। अगुरुलघु नामका आत्मा में एक प्रतिजीवी गुण है जिसका पूर्ण विकास सिद्धोंमें गोत्रकर्मके नाशसे होता है।

१६ जिसके उदयसे शरीरके ऐसे अवयव हों कि उनसे उसीका बंधन अथवा घात हो जैसे बारहसिंगकी सींग सो उपघात नामकर्मप्रकृति है।

१७ जिसके उदयसे पैने सींग,नख,डंक आदि ऐसे अवयव हों जो परको घातें सो पर घात नामकर्मप्रकृति है।

१८ जिसके उदयसे आतपकारी शरीर हो सो आतप नामकर्मप्रकृति है,इसका उदय सूर्य के बिमानों में जो बादर पर्याप्त जीव पृथ्वीकायिक मणि स्वरूप होते हैं उनके ही होता है अन्यके नहीं।

१६ जिसके उदयसे उद्योत—शीतल चमकरूप शरीर हो सो उद्योत नामकर्मप्रकृति है, इसका उदय चन्द्र विमानोंके पृथ्वीकायिक जीवोंमें और पटबीजने,जुगनू आदिके होता है।

२० जिसके उदयसे शरीरमें उच्छ्वास उत्पन्न हो सो उच्छ्वास नामकर्मप्रकृति है।

२१ जिसके उदयसे विहाय—आकाशमें गमन हो सो विहयोगति नामकर्मप्रकृति है। यह दो प्रकार है १ प्रशस्त-शुभ जो हाथी बैल आदिको गति जैसी सुन्दर चालका कारण हो २ अप्रशस्त-अशुभ जो ऊंट गधेकी गतिके समान असुन्दर गमनका कारण हो। मुक्त होने पर जीवके तथा चेतना रहित पुद्गलके जो गति होती है वह स्वभाविक गति है, उसमें कर्म जनित कारण नहीं है।

२२ जिसके उदयसे एक शरीर एक ही आत्माके भोगनेका कारण हो सो प्रत्येकशरीर नामकर्मप्रकृति है।

२३ जिसके उदयसे एक शरीर बहुतसे जीवोंके उपभोगमें आवे साधारणशरीर नाम कर्म प्रकृति है। जिन अनंत एकेंद्रिय जीवोंके आहार आदि चार प्रर्याप्ति, जन्ममरण, श्वसोश्वास, उपकार तथा उपघात एकही समयमें साथ साथ होते हैं उन्हें साधारण जीव कहते हैं, ऐसे जीव वनस्पति कायमें ही होते है अन्य स्थावरोंमें नहीं।

२४ जिसके उदयसे आत्मा द्वींद्रिय आदिक शरीर धारण करे सो त्रस नामर्मप्रकृति है।

२५	,,	"एकेंद्रिय शरीर	,,	स्थावर ,,	।
२६	,,	शरीर दूसरोंको प्यारा लगे	,,	सुभग ,,	।
२७	,,	,, ,, बुरा ,,	,,	दुर्भग ,,	।
२८	,,	मनोज्ञ स्वर-आवाज हो	,,	सुस्वर ,,	।
२९	,,	बुरा ,, ,,	,,	दुःस्वर ,,	।
३०	,,	शरीर रमणीक सुन्दर हो	,,	शुभ ,,	।
३१	,,	,, असुन्र हो	,,	अशुभ ,,	।

३२ ,, ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो कि जो न तो दूसरे किसी पदार्थ को रोकसके औरनस्वयं किसी दूसरे पृथ्वी जल अग्निपवन पहाड़ आदिसे रुके सोसूक्ष्मशरीर नामकर्मप्रकृतिहै

३३ जिसके उदयसे अन्यको रोकने योग्य वा अन्यसे रुकने योग्य स्थूल शरीर प्राप्त हो सो बादरशरीर नामकर्मप्रकृति है।

३४ जिसके उदयसे आहार आदिक पर्याप्तियां पूर्ण हों सो पर्याप्ति नामकर्मप्रकृति है। यह छः भेद रूप है १ आहारपर्याप्ति २ शरीरपर्याप्ति ४ इंद्रियपर्याप्ति ५ भाषापर्याप्ति और ६ मनः पर्याप्ति। एकेंद्रिय जीवोंके भाषा और मनके अतिरिक्त चार' द्वींद्रियसे असंगीपंचेंद्री तकके मनके अतिरिक्त ५ और सैनी पंचेंद्रिय जीवोंके छहों पर्याप्तियां होती हैं।

३५ जिसके उदयसे जीव छहों पर्याप्तियोंमें से एक भी पूरी न कर सके सो अपर्याप्त नाम कर्मप्रकृति है।

३६ जिसके उदयसे १रस २रुधिर ३मॉस ४मेद ५ हाड ६ मज्जा और ७ वोर्य सात धातुएं और १ वात १ पित्त ३ कफ ४शिरा ५ स्नायु ६ चाम ७जठराग्नि सात उपधातुएं अपने अपने स्थानमें स्थिर रहें, उपवास तप आदिसे भी अग उपांगोंमें स्थिरता बनी रहे, रोग नहीं आवे सो स्थिर नामकर्मप्रकृति है।

३७ जिसके उदयसे किंचित उपवास आदि करनेसे तथा कुछही सर्दी गर्मी लगजानेसे अंगोपांग कृष होजावें, धातु उपधातुकीस्थिरता न रहे अथवा रोग होजावें सो अस्थिर नामकर्मप्रकृतिहै

३८ जिसके उदयसे शरीर प्रभा सहित हो सो आदेय नामकर्मप्रकृति है।

३९ „ " प्रभा रहित अनादेय „ ।

४० „ यशः (उत्तम गुणोंकी) कीर्ति (ख्याति, प्रसिद्धि)हो सोयशःकीर्तिनामकर्मप्रकृति है

४१ „ पापरूप दुर्गुणोंकी प्रसिद्धि हो सो अयशःकीत „ „।

४२ „ अचिंत्य विभूति सहित अरहंतपना प्राप्त हो सो तीर्थंकरत्व „ „।

इस प्रकार १४ पिंडप्रकृति जिनके उत्तरोतर भेद६५और २८अपिंड प्रकृति सब मिलकर नामकर्म की कुल १४+२८=४२ अथवा ६५+२८=९३ प्रकृतियां हुई।

यहां नामकर्म प्रकृतियोंके संबंधमें तीन प्रश्न उठते हैं१प्राणापान पर्याप्तिसे ही उच्छ्वास प्रकट हो जाता है तब उच्छ्वास प्रकृति अलग क्यों? २ तैजस शरीरसे ही शरीरमें प्रभा हो जानी चाहिए फिर आदेय प्रकृति क्यों? ३ तीर्थंकर प्रकृतिको अलग क्यों कहा? और तीर्थंकर के समान गणधर चक्री आदि भी बड़ी विभूतिको पाते हैं, उनकी प्रकृतियोंक्यों नहींबताई?

उत्तर-१ प्राणापान पर्याप्ति तो शक्ति-कारणरूप है औरउच्छ्वास प्रकृति व्यक्ति-कार्यरूप

२ तैजस शरीर तो सब संसारी जीवोंके होता है किंतु सबमें प्रभा और समान प्रभा देखनेमें नहीं आती, इसलिए विशेष विशेष प्रभा आदेयकर्मकेउदयसे होती है(राजवार्तिकपृ.८७७)

३ तीर्थंकरप्रकृति उसकी प्रधानता दिखानेको अलग कही है। गणधर, चक्री आदि तो उच्च गोत्र आदिके उदयसे होते है किंतु तीर्थंकर मोक्षमार्ग प्रवर्तते है, यह फल चक्री आदि के नहीं होता, इसीलिए गणधर चक्रीपन आदिकी अलग प्रकृति है ही नहीं।

गोत्र कर्म की २ उत्तर प्रकृतियाँ

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अर्थ—उच्च गोत्रप्रकृति और नीच गोत्रप्रकृति यह गोत्रकर्म की दो प्रकृतियाँ है।

विशेष—देवों, भोगभूमिके मनुष्योंके उच्चगोत्र और नारकी, तिर्यंचोंके नीचगोत्र ही होता

है, परंतु कर्मभूमिके मनुष्योंके उच्च और नीच दोनों गोत्र होते हैं। वास्तवमें करणानुयोगकी दृष्टि से ज्योंका त्यों गोत्रका निर्णय महान कठिन है किंतु बहुधाकी अपेक्षासे आचार्योंनेनिम्न पहचान बताई है—संतानक्रमसे चले आये हुए जो जीवके आचरण हैं उनहीको गोत्र संज्ञा है परम्परा अथवा आम्नाय—क्रमसे उच्चा-आचरण उच्चगोत्र का कार्य और परंपरा अथवा आम्नाय—क्रमसे नीच आचरण नीच गोत्रका कार्य है (गो.क.गा. १३)।

जिसके उदयसे लोक पूज्य इक्ष्वाकु आदि उच्चकुलोंमें जन्म हो सो उच्चगोत्र प्रकृति और जिसके उदय से निंदा, दरिद्री, दुखी चांडाल आदिके कुलमें जन्म हो सो नीच गोत्रप्रकृति है

अंतराय कर्म की ५ उत्तर प्रकृतियां

दान लाभ भोगोपभोग वीर्य्याणाम् ॥१३॥

अर्थ-दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-बलमें विघ्न करने वाली अथवा इन्हें रोकने वाली पाँच अंतराय कर्मकी प्रकृतियां हैं।

विशेष-अंतरायके अर्थ रोक अथवा बाधा है, जो कर्म दान लाभ आदिमें रोक लगावे अथवा बाधा डाले उसे अंतराय कर्म कहते हैं।

१ जिसकेउदयसे देना चाहे और देनेकी वस्तु भी हो तो भी दान नकर सके सो दानांतराय कर्मप्रकृति है,

२ जिसके उदयसे प्रयत्न करनेपर भी लाभ न हो लाभांतराय कर्मप्रकृति है,

३ ,, "भोग-इच्छा तथा भोग्यवस्तु होतेहुए भी भोग न सके सो भोगांतराय"

४ ,, "उपभोग" उपभोग वस्तुहोते हुए उपभोग न कर सके सो उपभोगांतराय"

दोहा-एक बार ही भोगवें.सो चीजें हैं भोग। बार बार जो भोगवें,कहलावें उपभोग॥

५ जिसके उदयसे बल प्राप्तिके साधन मिलते हुए भी बल-शक्ति-उत्साह न हो सो वीर्यांतराय कर्म प्रकृति है।

वास्तव में तो अंतरायकर्म आत्माकी शक्तियोंमें बाधा डालता है और उसके क्षयोपशम अथवा क्षयसे आत्माकी शक्तियोंका विकास होता है। दानांतरायके क्षय अथवा क्षयोपशम से अभय दान आदि रूप शक्ति,लाभांतरायके क्षय, क्षयोपशमसे आत्मा में से योग्य शक्तियों लाभ-विकास,भोग तथा उपभोग अंतरायके क्षय अथवा क्षयोपशम यथा अपनेसे ज्ञानादि गुणोंके भोगनेकी शक्तिका विकास, तथा वीर्यांतरायके क्षय अथवा क्षयोपशम आत्मा की सर्व

दोहा-ऊँच नीच दो गोत की, अंतराय की पांच ॥८॥
दान लाभ उपभोग अरु, भोग वीर्य ही सांच ॥४॥

शक्तियोंका बल-विकास।

इस प्रकार ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंके बंध भेदकहे। आगे स्थिति बंध कहेंगे, यह दो प्रकार है १ उत्कृष्ट स्थितिबंध-एक समयके बँधे हुए कर्मोंका आत्मा के साथ अधिक से अधिककालतक संबध२जघन्य स्थितिबंध-एक समयके बँधेहुए कर्मोंका आत्माके साथ कमसे कम कालतक संबंध। पहले सब कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबंध कहते हैं-

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतरायका उत्कृष्ट स्थितिबंध

आदितस्तिसृणामंतरास्य च त्रिंशत्सासागरोपमकोटीकोटयःपरा स्थितिः॥१४॥

शब्दार्थ—आदितः=आदिके। तिसृणा=तीन(कर्मों)की। त्रिंशत्सागरोपम कोटी-कोट्यः ३० कोड़ाकोड़ी (३ पद्म) सागरकी। पराः=उत्कृष्ट।

अर्थ-आदिके तीन कर्मोंकी अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीयकर्मकी तथा अँतरायकर्मको उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ीकोड़ी सागरको है।

मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट स्थितिबंध

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

अर्थ-मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट स्थितिबंध सप्ततिः=७० कोड़ाकोड़ी सागरका है।

नाम और गोत्रका उत्कृष्ट स्थिति बंध

विंशतिर्नाम गोत्रयोः ॥१६॥

शब्दार्थ-विंशति=२०। नामगोत्रयोः=नाम और गोत्र दो कर्मोंकी।

अर्थ-नामकर्म और गोत्रकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबंध २० कोड़ीकोड़ी (२ पद्म) सागरका है

विशेष-इन सातों कर्मोंका यह उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक जीवोंके ही होता है अन्यके नहीं (सर्वार्थसिद्धि पृ. ६२५)।

आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थिति बंध

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

शब्दार्थ-त्रयस्त्रिंशत्=३३। सागरोपमाणि=सागरकी। आयुषः=आयु कर्म का।

दोहा—दर्शन ज्ञानावरण अरु, वेदनीय अंतराय।
कोड़ा कोड़ी तीस दधि, थिति उत्कृष्ट कहाय ॥९॥
मोह कर्म सत्तर कही, नाम गोत्र की बीस ॥
तेंतिस सागर आयु की, भाखी उमा नीश ॥१०॥

अर्थ-आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबंध ३३ सागरका है।

विशेष-यह उत्कृष्ट स्थितिबंध संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोंके होता है।

वेदनीयकर्मका जघन्य स्थिति बंध

अपरा द्वादश मुहूर्त्तावेदनीय स्य ॥१८॥

शब्दार्थ-अपरा=जघन्य, कमसे कम। द्वादश=१२।

अर्थ-वेदनीयकर्मका जघन्य स्थितिबंध १२ मुहूर्त अर्थात् ६ घंटे ३६ मि. का है।

नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थिति बंध

नाम गोत्रयोरष्टौ ॥१६॥

अर्थ-नाम और गोत्र दोनों कर्मोंकी जघन्य स्थिति ८ मुहूर्त-६ घंटे २४ मि. की है।

विशेष-वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मको जघन्य स्थितियोंका बंध क्षपक श्रेणी सूक्ष्म सांपराय १० वें गुणस्थानमें ही होता है (राजवार्तिक पृ. ८६४)।

शेष पाँच कर्मों की जघन्यस्थिति

शेषाणामंतर्मुहूर्त्ता ॥२०॥

शब्दार्थ-शेषाणां=बाकी (कर्मों) की अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय और आयु कर्मकी। अंतर्मुहूर्त्ता=अंतमुहूर्त अर्थात् ४८ मिनटके अंदर अथवा लगभग।

अर्थ-शेष-ज्ञानावरण, मोहनीय, अंतराय और आयु कर्मकी जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त है।

विशेष-ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मोंका जघन्य स्थितिबंध क्षपक श्रेणीके १० वें गुणस्थानमें ही और मोहनीयका ६ वें गुणस्थानमें ही होता है। आयुकर्मका जघन्य स्थितिबंध संख्यातवर्षकी आयु वाले कर्मभूमिके मनुष्य तिर्यंचोंके ही होता है।

मध्यम् स्थितिबंध असंख्यात प्रकार है।

अनुभाग बंध

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

शब्दार्थ-विपाकः=फल, कर्म प्रकृतिकी फलदेनेकी शक्ति, जीवको कर्मका सुख दुःख इत्यादि रूप वेदन-अनुभवन करानेकी सामर्थ्य। अनुभवः=अनुभव, अनुभाग।

अर्थ-कर्मोंमें (कषायानुसार तीव्र मंद) फलदेनेकी शक्ति होनेको अनुभाग बंध कहते हैं।

दोहा-बारह मुहूर्त वेदनी, नाम गोत की आठ।
बाकी की अन्तमुहूर्त, थिति जघन्य कहि पाठ ॥११॥

विशेष—शुभ परिणामोंसे शुभ प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट और अशुभमें हीन अनुभाग बंध होता है तथा अशुभ परिणामोंसे अशुभमें उत्कृष्ट औरशुभमें हीन अनुभागबंध ।

स यथानाम ॥२२॥

शब्दार्थ-स=वह (अनुभाग बंध) । यथानाम=कर्मकी प्रकृतियोंके नाम अनुसार ।

अर्थ-कर्मप्रकृतियोंका जैसा नाम है वैसाही उनका अनुभव होता है, जैसे ज्ञानावरणका फल ज्ञानको ढकना और दर्शनावरणका आत्माकी दर्शन शक्तिको रोकना है । इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें जिसका जैसा नाम है वैसीही उसमें फलदानशक्ति है ।

विशेष-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव,भवके निमित्तसे कर्मका पचना-विपाक-जीवको फल देना दो प्रकार होता है १ स्वमुख फलोदय-जो कर्म जिस प्रकृति रूप बंधे उसका उसीरूपमें उदय आकर फल देना २ परमुख फलोदय-जो कर्म जिस प्रकृति रूप बंधे उसका उससे अन्य प्रकृति रूप होकर फल देना, इसे संक्रमण भी कहते हैं । मूल प्रकृतिके जो ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं उन का तो स्वमुख फलोदय ही है अर्थात् ये अपने अपने बंधके अनुसार ही उदय आते हैं, कोई कर्म अन्य कर्मरूप होकर उदय नहीं आता । किंतु उत्तर प्रकृतियोंके जो समान जातिके कर्म हैं तिन का द्रव्य,क्षेत्र आदिके निमित्तसे परमुख फलोदय भी हो सकता है । इनमें आयु कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंका पर मुख फलोदय नहीं होता.मनुष्यायु नरक तिर्यंच आदि रूप होकर उदय नहीं आ सकती, और दर्शन मोहके तथा चारित्रमोहके भी परस्पर उलटना नहीं है अर्थात् दर्शनमोह तो चारित्रमोहरूप हो और चारित्रमोह दर्शनमोहरूप हो उदय नहीं आ सकते

कर्मका विपाक—फलोदय किसमें और कहां हो इस अपेक्षासे १४८ कर्म प्रकृतियां चार प्रकार की हैं १ जीवविपाकी २ पुद्गलविपाकी ३ भवविपाकी और ४ क्षेत्रविपाकी ।

१४८ कर्म प्रकृतियोंमें से चारों घातिया कर्मोंकी ४७, वेदनीयकी २, गोत्रकी २ और नाम कर्मकी २७ (गति ४+जाति ५+विहायोगी २ त्रसस्थावर २+सूक्ष्म बादर+पर्याप्त-पर्याप्त २+सुस्वरदुःस्वर २+सुभगदुर्भग२+आदेयानादेय २+यशः कीर्ति अयशः कीर्ति २+श्वासोश्वास १+तीर्थंकरत्व १=२७) कुल ७८ जीवविपाकी प्रकृतियां हैं अर्थात् इनका फल जीव की उपयोग आदि शक्तिमें होता है ।

शरीर ५+बंधन ५+संघात ५+संस्थान ६+संहनन ६+अंगोपांग ३+स्पर्श ८+रस ५+गंध २+वर्ण ५+प्रत्येक साधारण २+स्थिरास्थिर २+शुभाशुभ २+अगुरुलघु १+

दोहा—कर्मविपाक अनुभाग है, सो हो प्रकृति अनुसार ।
ता पीछे हो निर्जरा, कही दोय परकार ॥१२॥

उपघात १+परघात १+आतप १+उद्योत १+निर्माण १=६२ यह नामकर्मकी ६२प्रकृतियां पुद्गलविपाकी हैं—यह पुद्गलशरीरको ही रस देती हैं।

आयुकर्मकी चार प्रकृतियां भवविपाकी हैं—इनका फल भव धारण-मात्र ही है।

नामकर्मकी चार आनुपूर्वी प्रकृतियां क्षेत्रविपाकी हैं—इन का फल विग्रहगतिमें जीवके प्रदेशों के आकार रूप ही है।

फलोदय पीछे कर्मों की दशा

ततश्च निर्जरा ॥२४॥

शब्दार्थ-ततः=उस (अनुभव) के पश्चात्। निर्जरा=झड़ना, पृथक-अलग होना।

अर्थ—उस अनुभव-फलोदयके पश्चात् कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है अर्थात् कर्म फलदेकर आत्माके संबंधसे पृथक हो जाते हैं।

विशेष-जैसे खाया हुआ आहार पचकर झड़ जाता है वैसेही कर्म पककर झड़ जाते है अर्थात् वे आत्माके संबंधसे अलग हो जाते हैं, यही निर्जरा है। यह दो प्रकार है१सविपाक (अकुशल मूला-अबुद्धिपूर्वा) निर्जरा-कर्मकी स्थिति पूरी होनेपर स्वयमेव पककर झड़ना जैसे आमका स्वयं डालीपर पकना, इसके भी दो भेद हैं [क] अकाम निर्जरा-प्रतिकूल संयोगों में, लाचारीमें मंद कषाय रूप भावोंसे कर्मोंका फलदे झड़ना[ख]सकाम निर्जरा-कामना-इच्छा गृद्धता सहित कर्मोंके फल-भोगद्वारा कर्मोंका झड़ना। २ अविपाक (कुशलामूला-बुद्धिपूर्वा) निर्जरा-कर्मका उसकी स्थिति पूर्ण होने से पहलेही तप आदि द्वारा पककर झड़ना, जैसे आम का पालमें पकना।

सूत्रमें आया हुआ 'च' शब्द यह प्रकट करता है कि अनुभव—फलोदयके अतिरिक्त निर्जराके आत्मानुभव, संवर आदि भी कारण हैं।

विपाक निर्जरा—फलकालसे जिन कर्मोंके फल भोगनेके योग्य बाह्य-निमित्त मिल जाते हैं वे फलदेकर खिरते हैं, जिनके फल कालमें साधक निमित्त नहीं मिलते वे यों ही खिर जाते हैं उनका फल भोगना नहीं पड़ता,अतः फल कालमें फल भोगकर अथवा बिना फल भोगे ही कर्मोंका जो खिरना है वह विपाक निर्जरा है (तत्वार्थ सार अधि. ७ गा ३ पृ. ३५६)।

अविपाक निर्जरा-कर्मोंका उदय (फल) काल प्राप्त न हुआ हो तो भी तप द्वारा उन्हें परिपक्व हुई उदयावलीमें प्रवेश कराकर बंधनसे छुड़ा दिया जाता है उस समय की उस निर्जराको अविपाक निर्जरा कहते हैं (तत्वार्थ सार अधि.७ गा. ४)।

फल देनेका नाम उदय है, परंतु फल न देकर भी जो खिरना है उसे भी कभी कभी प्रंथकार उदय कह देते है, क्योंकि कर्म फलदेया न दे परंतु बंधनकी दृढ अवस्था से उसकी

शिथिल अवस्था दोनोंही दशाओंमें हो जाती है । फल भोगनेमें आना या न आना यह बात केवल कर्माधीन ही नहीं है किंतु बाह्य निमित्तका होना न होना भी फलमें कारण होता है तप द्वारा जो कर्म खिपाये जाते है उनके भुगाने वाले बाह्य निमित्तों का एकदम एकत्रित होना कठिन तथा असंभव बात है अतः तप द्वारा खिपने वाले कर्म बिना फल दिये खिरजाते हैं परंतु भोगनेमें कर्मोंके खिरनेसे और बिना भोगेही खिरनेवालेकर्मोंके खिरनेसे बंधनकी शिथिल अवस्था दोनोंमें एकसी होती है । इस समानता को देखकर ही ग्रंथकार अविपाकज निर्जरा वाले कर्मोंको भी उदयावलीमें प्रविष्ट होनेवाले मानते है और उनका वेदन होना भी बताते है। परंतु भोगनेका नाम जो उदय है वह उदय यहां नहीं होता। यदि इस उदीर्ण उदयावलीमें फल भोगनेका नियम हो तो निर्जरा का यह दूसरा—अविपाक भेद ही न बनेगा, और फल भोगनेवालेके नवीन कर्म भी नियमसे बधते रहेंगे। ऐसी दशामें मुक्त होना असंभव हो जायगा । अतः मानना चहिए कि निष्काम तपश्च करने वालेके जो कर्म खिहते हैं वे बिना फल भोगे भी खिराये जाते है ।

आशंका—इसमें कर्मकृत नाशका दोष आवेगा ?

समा:—जो कर्म किया जाता है उसका जहां कोई भी फल संभव नहीं होता वहां कर्मकृत नाशका दोष आता है । बांधे हुए कर्मोंसे जीव परतत्र हो जाता है अतः कर्मबंध निष्फल नही हुआ । इसलिए बद्धकर्मोंको भोगकर ही खिपानेका नियम (अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्) मानना असंगत है ।

आम आदि कच्चे फल पालमें रखनेसे असमयमें भी पकजाते है उसीप्रकार जीवोंके कर्म उदयकाल आनेसे पहले भी तप आदि प्रयोग द्वारा परिपक्व हो जाते हैं । बिना फल दिये भी कर्म खिर जाते है-खिर सकते है यह इसीका उदाहरणहै । कर्मका जीवसे संबंध छोड़नेके सम्मुख होजाना ही इसके परिपाकका अर्थ है । कर्म संबंध छोड़नेके सम्मुख होना हुआ फल देसके या नहीं—इसका कोई नियम नहीं-उदाहरणका तत्पर्य भी यही है ।

पकनेका अर्थ है—कच्चा न रह जाय, पालमें पके या वृक्षपर पके । इसी प्रकार कर्मका भोगनेके योग्य होजाना कर्मका परिपाक है । भोगनेके योग्य होने का अर्थ है कि जीवके साथ दृढ़बंधनको शिथिल होजाना जिससे आगे संबंध न रह सके । फल पकनेपर वृक्षसे स्वयं जुदा हो जाता है, कर्मका परिपाक होतेही आत्मासे जुदा—उसमें बंधनकी शिथिलता हो जानेसे उसका वहां पूर्व रूपसे रहना अशक्य हो जाता है ।

भोगनेका अर्थ यह है कि पके हुएका जो उपयोग हो सकता है वह उपयोग हो जाना, जैसे फलका उपयोग यह है कि उसे खाकर जीव सुखी दुखी हो जाये, इसी प्रकार कर्मको भोग कर उसके द्वारा सुखी दुखी बनना कर्मके भोगनेका मतलब है । जिस तरह यह नियम

नहीं कि पके फलको कोई खाये ही उसीप्रकार उदयमें आनेपर उसका फल भोगा ही जाय यह नियम नहीं हो सकता। इसलिए फल के उदाहरणसे यह सिद्ध है कि अविपाक निर्जरा फल बिना दिये ही हो जाती है (तत्वार्थ सार पृ. ३५७-३५८)।

उदयावलीमें तो सभी कर्म आते हैं परंतु अविपाकवाला तपस्वी उनका अनुभव नहीं करता और जो जीव कर्मके उदय या उदीरणाका अनुभव करते हैं उनके उन कर्मोंकी निर्जरा सविपाक मानी जाती है (तत्वार्थ सार पृ. ३६०)।

प्रदेश बंध

नामप्रत्ययाःसर्वतोयोगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताःसर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतः प्रदेशाः ॥२४॥

शब्दार्थ-नाम=ज्ञानावरणादि नामकी प्रकृतियां। प्रत्ययाः=कारण, प्रत्ययका बहु वचन। सर्वतः=सब भवों वा सब समयोंमें। योग विशेषात्=मन वचन कायकी क्रियारूप योगोंसे। सूक्ष्म=बादर-स्थूलके उलटे। एकक्षेत्रअवगाह=दूधपानीके समान एकही स्थानमें स्थान रखने वाले। स्थिताः=ठहरेहुए। सर्वात्मप्रदेशेषु=आत्माके समस्त प्रदेशोंमें। अनंतानंत प्रदेशाः= अनंता नंत प्रदेशवाले पुद्गलस्कंध।

अर्थ—संसारी जीवोंके सब भवों वा सब समयोंमें उनकी मन वचन कायकी क्रिया रूप योगोंसे ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतियोंके कारणभूत आत्माके सब प्रदेशोंमें एकक्षेत्र अवगाह ठहरे हुए अनंतानंत सूक्ष्मप्रदशरूप पुद्गलस्कंधोंके आत्माके साथ संबंधको प्रदेश बंध कहते हैं

विशेष-प्रदेशबंध एक प्रकारका संबंध है। इस संबंधके संसारी जीव और पुद्गल कर्म स्कंध दो आधार हैं, इनके विषयमें निम्न आठ प्रश्न उठते हैं जिनका उत्तर इस सूत्रमें है—

प्रश्न-१ संसारीजीवोंके यह पुद्गलकर्म स्कंधकासंबंध कहां और कब होता है? २यह सब के समान होता है अथवा असमान? यदि असमान तो क्यों? ३इस संबंधसे क्याबनता है? ४ वे कर्मस्कंध स्थूल होते हैं अथवा सूक्ष्म? ५ उनका सब आत्म प्रदेशोंमें बंध होता है या कुछ हीमें? ६ जीव प्रदेशवाले क्षेत्रमें स्थित कर्मस्कंधोंका ही जीव प्रदेशोंके साथ बंध होता है या उससे भिन्न क्षेत्रमें रहे हुओंका? ७ वे बंधके समय गतिशील होते हैं या ठहरेहुए? और ८ वे कर्मस्कंध संख्यात, असंख्यात, अनंत या अनंतानंत कितने प्रदेशवाले होते हैं?

उत्तर—१ संसारी जीवों के यह पुद्गल कर्मस्कंध का संबंध उसके सब भवों तथा सब समयों-कालोंमें होता है। २ संसारी जीवोंके कर्म बंध असमान होता है क्योंकि सभीके मान-

दोहा—प्रकृति योग्य नित योग से, खेत इक थित स्कंध।
सूक्ष्म नंता नंत सर्व,—आत्म प्रदेश हि बंध ॥२३॥

सिक, प्रदेशबंमें भी तर-तम भाव आजाता है। ३इसंबंधसे सूक्ष्महीपुद्गलस्कंधोंमें ज्ञानावरणादि प्रकृति बनती है। ४ कर्मयोग्य पुद्गलस्कंध स्थूल नहीं, होते है, कर्म वर्गणामें सेसूक्ष्मस्कंधों का ही ग्रहण होता है। ५ प्रत्येक कर्मकि अनंत स्कंधोंका सभी आत्म-प्रदेशोंमें बंध होताहै ! ५ प्रत्येक कर्मके अनंतस्कंधोंकासभी आत्म प्रदेशोंमें बंध होता है। ६ जीव-प्रदेशके क्षेत्रमें ही स्थित कर्म स्कंधोंका बंध होता है उनके बाहरके क्षेत्रमें स्थित कर्म स्कंधों का नहीं.दूसरे शब्दोंमें विस्रसोपचय रूप स्कंधोंका बंध होता है (गो. क.गा. ८१, पंचाध्यायी उत्तरार्ध पृ. ५५)। वे ७ कर्मस्कंध बंध के समयस्थिर-ठहरे हुए ही होते हैं,गति शील स्कंधों चलते होनेसे बंधको प्राप्त नहीं होते। ८ बंधनेवाले सभी कर्मयोग्य स्कंध अधतानंत परमाणुओंके बने होते है, उनमें से कोई भी स्कंध सख्यात, असंख्यात अथवा अनंत परमाणुओंका नहीं होता !

शुभ और अशुभकी अपेक्षा बंधभी पुण्य बंध और पाप बंध कहलाता है-

पुण्य-शुभ प्रकृतियां

सद्वेद्य शुभायुर्नाम गोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

शब्दार्थ-सद्वेद्य=सातावेदनीय। शुभ=प्रशस्त, सराहने योग्य।

अर्थ-सातावेदनोय, शुभआयु, शुभनाम, और शुभ गोत्र यह पुण्य प्रकृतियां हैं।

विशेष-घातियाकर्म जो आत्माके अनुजीवी गुण-ज्ञान दर्शन सुख वीर्यको घात करते हैं वह तो सभी पाप रूप हैं। अघातिया कर्म पुण्य और पाप दोनों रूप हैं। इनकी६८प्रकृतियां पुण्य रूप हैं-१ सातावेदनोय २ मनुष्यायु ३ देवायु४तिर्यंचायु५उच्चगोत्र और६३नामकर्म की (१ मनुष्यगति २ देवगति ३ पंचेंद्रिय जाति ४ निर्माण ५ समचतुरस्र सस्थान ६ वज्रर्षभ-नाराच सहनन ७ मनुष्य गत्यानुपूर्वी ८ देवगत्यानुपूर्वी ९ अगुरुलघु १० परघात ११ उच्छ्वास १२ आतप १३ उद्योत १४ प्रशस्त विहायोगति १५ प्रत्येक शरीर १६ त्रस १७ सुस्वर १९ शुभ २० बादर २१ पर्याप्ति २२ स्थिर २३ आदेय २४ यशः कीर्ति २५ तीर्थंकरत्व २६-३० पांच शरोर ३१ ३३ तीन अंगोपांग ३४_३८ पांच बंधन ३९-४३ पांच संघात ४४-५१ आठ प्रशस्त स्पर्श ५२-५६ पांच रस-प्रशस्त ५७.५८ दो गंध ५९-६३ पांच प्रशस्त वर्ण)।

पाप अशुभ प्रकृतियां

अतो ऽन्यत पापम् ॥२३॥

दोहा-शुभ वेदनि शुभ आयु शुभ,—नाम गोत्र उच्च पुण्य।
शेष प्रकृति सब पापमय, वर्णत मुनि गण-गुण्य ॥१४॥

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र,अध्याय ८ के कविवर मास्टर ब्रह्मचारी मुंशित यार सिंह, जैन बी. ए. सीः टीः साहित्यारलंकार 'सिंह' कृत दोहे समाप्त।

शब्दार्थ-अतः=इसलिए। अन्यत्=दूसरी, शेष प्रकृतियां।

अर्थ-इसलिए दूसरी (६८ पुण्य प्रकृतियोंके अतिरिक्त) शेष प्रकृतियां पापरूप है।

विशेष-घातिया कर्मों-ज्ञानावरणकी ५+दर्शनावरणकी ९+मोहनीय २८+अंतराय की ५=४७, असातावेदनीय १+नरकाय १+नीच गात्र१और नामकर्म की ५०(नरक तिर्यंच गति २+एकें द्रियादि जाति ४+संस्थान ५+सहनन ५+नरकतिर्यंच ानुपूर्वी २+उपघात १+ अप्रशस्त विहायोगति १+स्थावर २+सूक्ष्म २+अपर्याप्ति १+साधारण शरीर १+अशुभ १+दुर्भग १+अस्थिर १+दुःस्वर १+अनादेय १×अयशः कीर्ति १+स्पर्श, रस, गंध वर्णकी अप्रशस्त २०=५०) इस प्रकार सब मिलाकर १०० एक सौ अशुभ अथवा पाप प्रकृतियां है।

नोट-सब कर्मप्रकृतियां १४८ है, किंतु यहाँ पुण्यकी ६८ और पापकी १०० कुल १६८ हो गई। बात यह है कि स्पर्श रस आदिकी २० प्रकृतियां पुण्य और पाप दोनों रूप होती हैं अतः वह दोनों में गिनाई गई है। यह ऐसे ही है कि जैसे नीमके पत्तोका कडुवा रस ऊंट को अच्छा और मनुष्यको बुरा लगता है।

नोट २-मोहनीयकर्मकी १ सम्यक्मिथ्यात्व (मिश्र) प्रकृति २ सम्यक् मोहनीय प्रकृति इन दो प्रकृतियोंका बंध नहीं होता, पाप प्रकृतियोंमेंसे बंध ९८ का ही होता है।

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र, अध्याय ८ की कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन मुक्तयानंद 'सिंह', बी. ए. सी. टी., साहित्यालंकार-कृत कौमुदी समाप्त।

अंत मंगल

दोहा-वीर सेन महाभद्र जी, प्रणम देययश पाय।
अजित वीर्यके युगचरण, प्रणमों में हर्षाय ॥८॥

श्री वीतरागाय नमः

अध्याय ६

मंगलाचरण

दोहा-भेदज्ञान आघात से, संवर निर्जर कर्म ।
वंदों तिन के पदकमल, जिन पायो शिव शर्म ॥

संवर और निर्जरा तत्व

संवर का स्वरूप

आस्त्रव निरोधः संवरः ॥१॥

शब्दार्थ-आस्त्रव=आना, कर्मोंका आना, कर्मोंकि आनेके द्वार । निरोधः=रोक, रुकना ।

अर्थ-कर्मोंके आनेका रुकना 'संवर' है ।

विशेष-आस्त्रवके ५ मिथ्यात्व, १२ अविरत, २५ कषाय और १५ योग कुल ५७ भेद हैं । इनका जितना निरोध होगा उतनाही संवर कहलायगा । अध्यात्मिक विकासका आरम्भ संवरसे ही होता है । अतःज्योंज्यों संवर बढता जायगा त्योंत्यों गुणस्थानकी भी वृद्धि होतीजायगी

प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें आस्त्रवके कुल ५७ कारण विद्यमान रहते हैं, यहाँ किसी का भी संवर नहीं होता है । आगेके गुणस्थानोंमें पांचों मिथ्यात्वका उपशम, क्षयोपशम, या क्षयरूप अभाव रहता है । बारह अव्रतोंका चौथे गुणस्थानतक ही जोर रहता है । पांचवें में व्रतोंका एकदेश पालन होता है । छटे और आगेके गुणस्थानोंमें १२ अव्रतोंका अभाव रहता है । कषायोंका अस्तित्व ११ वेंतक चलता है और योगोंका १३ वेंतक । १४ वें गुणस्थानमें आस्त्रवोंका बिल्कुल अभाव होकर पूर्ण संवर होजाता है।

संवरका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे होता है । सम्यग्दर्शन प्रकट हुए पीछे जीवके कुछ वीतराग भाव होते हैं और कुछ सराग भाव । इनमें से वीतराग भावोंद्वारा ही संवर होता है । सराग-

---

दोहा-संवर है आस्त्रव रुकन, तद् उपाय छः मित्र ।
गुप्ति मिति धर्म अनुप्रेक्षा, परिषहजय चारित्र ॥१॥

अर्थ-तप से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं।
भाव तो बंधका ही कारण है, भलेही शुभराग हो अथवा अशुभ।
दोहा-बेड़ी हेम अरु लोह की, पंडित बेड़ी जान। भाव शुभाशुभ दोउ तजें, सो ज्ञानी गुणवान॥
शुभसे पुण्य और अशुभसे पापबंध होता है।

संवर दो प्रकार का है १ द्रव्य संवर २ भाव-संवर-
दोहा-भाव संवर परिणाम वह, रोके आस्रव कर्म। द्रव्य आस्रव का रोकना, द्रव्य संवरकाधर्म॥

अर्थ-आत्माके वह परिणाम जो कर्मोंके रोकनेमें कारण हों भावसंवर और जो पुद्गल मय कर्मों-कर्मवर्गणाओंके आनेको रोके सो द्रव्यसंवर है।

संवर के उपाय

स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः॥२॥

शब्दार्थ-सः=वह (संवर)। गुप्ति=मन वचन काय की यथेच्छ प्रवृत्तिको रोकना। समिति=यत्नाचाररूप प्रवृत्ति। धर्म=स्वभाव, इष्ट सुखमें जो धरे। अनुप्रेक्षा=भावना, बारबार चितवन करना। परीषहजय=वेदना, कष्टको क्लेश रहित भावोंसे सहना। चारित्र=आत्मामें स्थिर होना, संसार परिभ्रमणकी कारण रूप क्रियाओंका त्याग।

अर्थ-वह (संवर) तीन गुप्तियोंसे, पांच समितियोंसे, दश धर्म पालनसे, बारह भावनाओंसे, बाईस परीषहोंको जीतने और पांचप्रकार चारित्र पालन इन छः उपायोंसे होता है।

विशेष-यह सूत्र मुख्यतया चरणानुयोगकी दृष्टिसे है। गुप्ति, समिति आदि के भेद तथा स्वरूप आगे सूत्र ४,५,६,७,९,१८ में देखिए।

जिस जीवके सम्यग्दर्शन होता है उसके अर्थात् सम्यग्दृष्टिके ही यह छः उपाय यथार्थ बन सकते हैं, मिथ्यादृष्टिके इनमें से एकभी उपाय सच्चा नहीं होता, इसी-लिए मिथ्यादृष्टि के संवर होही नहीं सकता।

यहां 'स' शब्द गुप्ति आदिकसे साक्षात संबंध बतलाता है जिसका तात्पर्य है कि 'संवर' गुप्ति आदिक उपायोंसे ही होता है। अन्य उपाय जैसे तीर्थोंमें स्नान करना, अतिथिका भेष मात्र दीक्षा लेना, देवताको आराधना, उसके लिए मस्तक आदि काटकर चढाना इत्यादि सब झूठे हैं, उनसे संवर नहीं हो सकता (सर्वार्थसिद्धि)।

संवर तथा निर्जरा का कारण विशेष

तपसा निर्जरा च॥३॥

शब्दार्थ-तपसा-तपसे, 'स्वरूप विश्रांत निस्तरंग चैतन्य प्रतपन' तप (संस्कृत टीका प्रवचन सार गा. १४) से, १२ अनशनआदि तपसे। निर्जरा=झड़ना, अलग होना, आत्मासे कुछ कर्मोंका संबध हटना (देखिए अध्याय८सूत्र२३का विशेष)। च=और, यहांपर 'और संवर'

विशेष-यद्यपि १० प्रकारके धर्मों 'उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन ब्रह्मचर्य में 'तप' आ गया है परन्तु संवरके उपायोंमें तप सबसे प्रधान उपाय होने से यहां पृथक भी कहा है। तपके प्रभावसे नए कर्मोंका संवर होता है और पहले प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा होती है।

आशंका-तपका फल तो स्वर्ग,राज्यादिककी प्राप्ति कहा है फिर इससे संवर निर्जरा कैसे

समा:-यह कोई दोष नहीं, क्योंकि एक कारणसे अनेक कार्य होते पाये जाते है, जैसे अग्नि से पचना, जलना तथा प्रकाश कई कार्य होते देखे जाते है वैसेही तपसेभी स्वर्ग आदि को प्राप्ति और कर्मका नाश दोनों कार्य होते हैं। तपका प्रधान फल तो समस्त कर्मोंका क्षय होकर आत्माका मुक्त होना ही है। खेती करनेका प्रधान फल तो धान्यही उत्पन्न होना है किंतु धान्य के साथ घास आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं,स्वर्ग तथा राज्यादिक की संपत्ति तो घास चारे आदिके समान है (सर्वार्थसिद्धि)।

वास्तविक बात तो यह है कि तप 'स्वरूप विश्रांत रूप निस्तरंग चैतन्य प्रतपन' से तो कर्मोंकी निर्जरा ही होती है इससे स्वर्गादि नहीं मिलते, हां इस निस्तरंग चैतन्य प्रतपन रूप तपमें कभी कभी रागरूप तरंग आ जाती है जिसका फल स्वर्गादि भोग संपत्ति है फिरभी वह उस तपके समय होनेके कारण उपचारसे तप द्वारा प्राप्त कह दी जाती है।

१२ प्रकार अनशनआदि तपसे भी उतनीउतनी ही निर्जरा होती है जितनेजितने वह तप 'स्वरूप विश्रांत निस्तरग चैतन्य प्रतपन' रूप होते है। इस निस्तरंग चैतन्य प्रतपन के बिना तो तप बालतप ही है। यह प्रतपन सम्यग्दृष्टिके ही संभव है अतः मिथ्यादृष्टिके संवर निर्जरा (कार्यकारी-अविपाक) होतीही नहीं।

गुप्ति का स्वरूप

सम्यग्योग निग्रहो गुप्तिः ॥४॥

शब्दार्थ-सम्यक्=भलेप्रकार,सम्यग्दर्शन सहित। योगनिग्रहः=कायवचनमनकी प्रवृत्तिरोकना

अर्थ-भलेप्रकार सम्यग्दर्शनसहित शरीरवचन मनकी प्रवृत्तिको रोकना गुप्ति है।

विशेष—मन वचन कायकी प्रवृत्तिका अंतर्मुख होकर आत्मामें लीन हो जाना वास्तविक गुप्ति है। सूत्र २ में बताए हुए छः उपायोंमें से यहां प्रथम उपाय 'गुप्ति' का स्वरूप बताया है। वे गुप्ति तीन हैं १ कायगुप्ति २ वचनगुप्ति ३ मनोगुप्ति।

कायकी प्रवृत्तियोंको सम्यग्दर्शन सहित भलेप्रकार रोकना कायगुप्ति है। वचनकी प्रवृत्ति

दोहा—तप से संवर निर्जरा, योग सु रोक है गुप्ति।
ईर्या भाषा एषणा, निक्षेप उत्सर्ग समिति ॥२॥

को सम्यग्दर्शन सहित रोकना वचनगुप्ति है। मनकी रागद्वेषरूप प्रवृत्ति को सम्यग्दर्शन सहित रोकना मनोगुप्ति है।

यहां 'सम्यक्' शब्द यह बतलानेके लिए है कि विषय सुखको अभिलाषाके लिए योगों की प्रवृत्तिका रोकना 'गुप्ति' नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि योगोंकी प्रवृत्ति रोकनेसे १ सत्कार न चाहे २ लोगोंसे पूजा न चाहे ३ 'यह त्यागी अथवा मुनि बड़े ध्यानी हैं' ऐसी प्रसिद्धि न चाहे ४ इस लोक परलोक संबंधी विषय अभिलाप न करे। सम्यग्दृष्टि जीव ही विषय सुख की अभिलाषासे रहित हो सकता है, अतः यहां 'सम्यक् के अर्थ सम्यग्दर्शन सहितहो जाते हैं

अनादि अज्ञानी जीवने कभीभी सम्यक् गुप्ति धारण नहींकी। अनेक बार द्रव्यलिंगी मुनिहो होकर शुभ-उपयोगरूप गुप्तिसमिति आदिका पालन किया फिरभी संसार भ्रमण बना ही रहा। सम्यग्दर्शनके बिना गुप्ति आदि कुछभी सम्यक्-यथार्थ नहीं होते। इस-लिए सर्वप्रथम कर्त्तव्य सम्यक् प्राप्त करना है, ऐसा होनेपर ही गुप्ति समिति आदि सच्ची, संवर निर्जराकी कारण तथा भवको छेदनेवाली हो सकेंगी अन्यथा कदापि नहीं।

'बाह्य मन वचन कायकी चेष्टा मेटै, पाप चिंतवन न करै, मौन धरै, गमनादिन करै; सो गुप्ति मानै है सो यहां तो मन विषै भक्ति आदि रूप प्रशस्त रागादि नाना विकल्प हो हैं, वचन कायकी चेष्टा आप रोक राखी है, तहां शुभप्रवृत्ति है अर प्रवृत्ति विषै गुप्तिपनो बनै नाहीं। तातैं वीतराग भाव भए जहां मन वचन कायकी चेष्टा न होय सो ही सांची गुप्ति है' (मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार ७ पृ. ३३५)।

गुप्तिमें प्रवर्तनेवाले के योगोंका विग्रह होजाता है इसलिए योगोंके निमित्तसे आने वाले कर्मोंका आना बंद पड़ जाता है। कर्मोंका आना बंद हुआ कि तुरन्त संवर हुआ।

आगे जब मुनि गुप्तिरूप रहनेमें असमर्थ हो आहार विहार उपदेश आदि क्रिया करते हैं तब उनकी निर्दोष प्रवृत्ति होनेके उपाय बतलाते हैं-

समिति

ईर्या भाषैषणादान निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

शब्दार्थ-ईर्या=चलना। भाषा=बोलना। एषणा=आहार, भोजन। आदान निक्षेपः=उठाना रखना। उत्सर्ग=छोड़ना। समिति=स=भले-सम्यक प्रकार+इति=प्रवृत्ति=सम्यक् प्रकार प्रवृत्ति

अर्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग यह पांच समिति है।

विशेष-यहाँ संवरके दूसरे उपाय 'समिति' का विशेष वर्णन है। सूत्र ४ का 'सम्यक्' शब्द इन पाँचों समितियोंके साथ भी संबंधित है अर्थात् १ सम्यक्ईर्या २ सम्यक्भाषा ३ सम्यक्एषणा ४ सम्यक्आदान निक्षेप और ५ सम्यक् उत्सर्ग समिति ऐसे पांच सार्थक नाम हैं

१ भलेप्रकार सावधानता पूर्वक चार हाथ पृथ्वी देखकर चलना सम्यक्ईर्या समिति, २

२ हित मित प्रिय वचन बोलना सम्यक् भाषा समिति, ३ शरीर रक्षार्थ निर्दोष भोजन करना सम्यक् एषणा समिति ४ वस्तु तथा पृथ्वीको भले प्रकार देख शोधकर सावधानता पूर्वक उठाना रखना सम्यक् आदान-निक्षेपण समिति और ५ शरीरका मल मूत्र कफ तथा अन्य अनुपयोगी वस्तुओंका पृथ्वीको भले प्रकार देखभाल कर जीव जंतु रहित स्थानमें छोड़ना सम्यक् प्रतिष्ठापन समिति है।

समिति पालनमें सम्यग्दृष्टि साधुके जितने अंश वीतरागभाव होता है उतने अंश तो संवर होता है और जितने अंश राग होता है उतने अंश बंध। ऐसे मिश्र रूप भावमें यह सरागता है और यह वीतरागता है इस प्रकारकी यथार्थ पहचान सम्यग्दृष्टिकेही होती है इसीसे वह शेष रहे हुए राग भावको हेय-त्यागने योग्य समझता है। मिथ्यादृष्टि तो सरागभावको ही संवर रूप मानता है और प्रशस्त-शुभरागरूप कार्योंको उपादेय (ग्रहण-योग्य) समझता है, यही उसकी भूल, भ्रमणा अथवा अज्ञानता है।

गुप्ति-समितिमें अंतर-गुप्तिमें मन वचनकायकी सत् असत् तथा यथेच्छ स्वच्छंद प्रवृत्ति क्रियाका निषेध मुख्य है, समितिमें वचन और कायकी सत्रूप यथार्थ क्रियाका करना प्रधान है।

बहुरि पर—जीवनिकी रक्षाके अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति ताकौं समिति मानें है। सो हिंसाके परिणामनि तैं तो पाप हो है, अर रक्षाके परिणामनि तैं संवर कहोगे तो पुण्यबंधका कारण कौन ठहरेगा?···तो समिति कैसे हो है—मुनिनकैं किंचित राग भए गमनादि क्रिया हो है तहां तिन क्रियानि विषैं अति आशक्तताके अभावतैं प्रमादरूप प्रवृत्ति न हो है, बहुरि और जीवनिकौं दुखीकरि अपना गमनादि प्रयोजन न साधै है, तातैं स्वयमेव ही दया पलै है ऐसें साँची समिति है (मोक्ष मार्गप्रकाशक अधि. ७ पृ. ३३५)।

समितियोंके अनुसार प्रवर्तनेवाले साधुके असंयम निमित्तककर्म नहीं आते इसलिए संवर हो जाता है (तत्वार्थ सार पृ. ३४२)।

नोट—यह गुप्ति—समितिरूप-वर्तन मुनियोंके लिए तो है ही परंतु गृहस्थको भी जहां तक बन पड़े इनके पालनका अभ्यास करते रहना चाहिए।

आगे समितिरूप प्रवर्तते हुए मुनिके प्रमाद दूर करनेको दसप्रकार धर्मका वर्णन करते हैं—

दस धर्म

उत्तम क्षमा मार्दवार्जव शौच सत्य संयम तपस्त्यागाकिंचन ब्रह्मचर्याणिधर्मः॥६

शब्दार्थ-क्षमा-सहनशीलता। मार्दव=मृदु—कोमल भाव। आर्जव=ऋजु-सरल भाव।

दोहा—सुक्षमा मार्दव आर्जव, शौच सत्य तप त्याग।
संयम आकिंचन अरु, ब्रह्मचर्य दस पाग ॥३॥

शौच=पवित्रता। सत्य=हितमित प्रिय वचन बोलना। संयम=भलेप्रकार आत्म-स्वरूपमें जमना आकिंचन=परिग्रह-मूर्छा—ममत्वका त्याग। ब्रह्मचर्य=ब्रह्ममें चर्या, आत्मामें रमण।

अर्थ-उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तमआकिंचन और उत्तमब्रह्मचर्य यह दस धर्म है।

विशेष-इस सूत्रमें 'उत्तम' शब्द क्षमा, मार्दव आदि सबके साथ है। यहांपर उत्तम क्षमा आदिसे तात्पर्य रागरूप क्षमा आदिका नहीं है, रागरूप क्षमा आदि तो आस्रवबंधके ही कारण है। यहां पर तो उत्तम क्षमादिको स्वरूप—अनुभवनसहित क्रोधादि कषायोंके अभावरूप क्षमादि समझना चाहिए, इसी प्रकारके ही क्षमादिसे आस्रवका रुकना-संवर और कर्मोंका झड़ना—निर्जरा हो सकते हैं।

भगवान अरहंत देवाधि देवके मुखार बिंदसे प्रकट हुआ दस लक्षण धर्म आत्मा का ही स्वरूप है, परवस्तु नहीं है सो क्रोधआदिक कर्मजनित उपाधि दूर होनेपर स्वयमेव आत्मका स्वभाव क्षमादि प्रकट होआते हैं। क्रोधके अभावसे क्षमा गुण, मानके अभावसे मार्दव,माया के अभावसे आर्जव, लोभके अभावसे शौचधर्म, असत्यके अभावसे संयम, इच्छाके अभावसे तप, परमें ममताके अभावसे त्याग धर्म, पर—द्रव्योंसे भिन्न आत्मानुभवन होनेसे आकिंचन और वेदोंके अभावसे आत्म स्वरूपमें रमण-स्थिरता होनेसे ब्रह्मचर्यधर्म प्रकट होता है।

अब संवरके तीसरे उपाय 'दस धर्म' का विशेष वर्णन किया जाता है—

धर्म धर्म गाते तो सबही है पर धर्मका वास्तविक स्वरूप कितने समझते है यह किसीसे छिपा नहीं है। संसारमें 'धर्म' शब्द कितनेही अर्थोंमें प्रयोग होता है। अधिक-तर धर्मका अर्थ पुण्यका कियाजाता है, कहते हैं—'धर्मकरो, दानकरो, पुण्यकरो। इसका दूसरा अर्थ कर्त्तव्य है, कहा जाता है 'माता पिता देश धर्मकी सेवा करना हमारा सबका धर्म है' तीसरे 'धर्म' नामका एक द्रव्य समस्त लोकमें व्याप्त है जिस का काम जीव और पुद्गलको हलन-चलनरूप क्रिया करनेमें सहायता देना है। चौथे 'धर्म' शब्द 'धृ'—धरना-रखना संस्कृत धातुसे बना है सो जीवको उत्तम सुख-मोक्षमें धरे सो धर्म है। पांचवें धर्मके अर्थ स्वभावके है,अग्नि का स्वभाव-धर्म जलाना, पकाना और प्रकाश देना, पानीका धर्म दाहका बुझाना शीतलता है इत्यादि। कहा भी है-'वत्थु स्वभावो धम्मो'-वस्तुका जो स्वभाव है वही उसका धर्म है।

प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्वभावमें ही रह सकती है। उसकी दूसरे द्वारा विकार रूप की हुई स्थिति तो क्षणिक होती है जो विकारके हटतेही दूरहो जाया करती है। एक वस्तुके अविरोधी स्वभाव कई होसकते हैं, जैसे अग्निका स्वभाव जलाना, पकाना, और प्रकाश करना तीनोंही है। यहां हम 'जीव—आत्मा' का स्वभाव धर्म जानना चाहते है। क्रोध मान माया लोभ असाता आदिमें जीव चिरकाल नहीं रह सकता,इसके विपरीत क्षमा शौच सत्य आदि

में शांतिपूर्वक सदा हो रह सकता है। इससे सिद्ध है कि क्षमा सत्वादि ही जीवके धर्म है, क्रोधादिक नहीं। इसीलिए सूत्रमें क्षमा मार्दव आदिको ही धर्म कहा है। इनकी विशेष व्याख्या अलग अलग निम्न प्रकार है—

१ उत्तमक्षमा-क्षमा नाम सहनशीलताका है। बदला लेनेकी शक्ति होते हुए भी दूसरोंके कड़वे वचन अथवा बुरे कृत्य सह लेना ही क्षमा है न कि अशक्त होनेके कारण कुछ सहना। अशक्त होकर अपमान पूर्वक कटु वचन अथवा किसीका बुरा व्यवहार सहना तो केवल कायरता है। मनमें भी बदला लेनेका भाव न आना उत्तम क्षमा है।

क्षमा ही अपने प्राणोंकी, धनकी, यशकी और धर्मकी रक्षा है। इसीसे व्रत, शील,संयम और सत्यका पालन होता है; कलहके घोर दुःखसे, बैरसे अथवा समस्त उपद्रवोंसे क्षमा ही रक्षा करती है। इसके विपरीत क्रोध धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थोंको समूल नष्ट कर देता है। यह अपने प्राणोंका घात करता है। इसीसे प्रचंड रौद्र ध्यान प्रकट हो आता है। क्रोधी क्षण मात्रमें स्वयंही कुएं, नदी आदिमें डूब मरता है, शस्त्रघात विषपान आदि अनेक कुकर्मों द्वारा आत्मघात कर बैठता है। क्रोधीके दया तो होती ही नहीं। वह अपने पिताको, माताको, भाईको, मित्रको, पुत्रको, स्वामीको, सेवकको, गुरुको बात की बातमें मार डालता है। क्रोधी समस्त धर्मका नाश करनेवाला और घोर नरकका पात्र होता है। क्रोधीके सत्य वचन भी नहीं हो सकता। वह अपने आपको, धर्मको और समभावोंको दग्ध करनेवाली कुवचनरूप अग्नि ही उगला करता है। क्रोधसे श्रद्धान भ्रष्ट, ज्ञान कुज्ञान और आचरण विपरीत होकर अन्यायमें ही प्रवृत्ति होती है। क्रोधसे इसभव और परभवमें अनेकों दुःख भोगने पड़ते है, तुंकारी, द्वीपायन मुनिकी कथा इस संबंधमें प्रसिद्ध ही हैं। क्रोधसे महान महान अनर्थ हो जाते हैं अतः इस क्रोधरूपी पिशाचको दूरसे ही प्रणाम करके अपने भावोंको सदा शांत और सहन शीलरूप रखना प्रत्येक प्राणीका धर्म है।

अब यहां क्रोध वैरीको जीतने और क्षमारूप रहनेके उपाय कहते हैं—

क्रोध आनेके कुल कारण पाँच है १ अपनेको कोई कटु वचन कहे २ अपना कोई बिगाड़ करे ३ कोई अपनी मर्जीके विरुद्ध काम करे ४ अपनेको कोई पीटे अथवा मारे और ५ कोई यही सब व्यवहार अपने इष्ट संबंधीके साथ करे। इन सब दशाओंमें क्रोधपर विजय पानेका अचूक उपाय केवल एक है और वह यह है कि जब ऊपरके कारणोंमेंसे कोई एक अथवा अधिक आ उपस्थित हों तब एकदम मन भड़क उठे और गुन गुनावे—

"तैं करमपूरब किये खोटे, सहै क्यों नहिं जीयरा!
अति क्रोध अग्नि बुझाय प्राणी· साम्य जलले सीयरा" ॥

फिर कुछ स्थिर शांत चित्त हो स्थितिपर विचार करे।

सर्व प्रथम यह विचारे कि इसके ऐसे दुष्व्यवहारका क्या कारण है। यदि ऐसा व्यवहार किसी मेरे अथवा मेरे इष्ट संबंधीके खोटे व्यवहारके कारण है तो पहले स्वयंको ही दोषी समझ उसपर कुपित होनेके बजाय उससे क्षमा याचना करे, हाँ यदि वह उस समय अधिक आवेशमें हो तो स्वयं चुप रहे और अनुकूल समय मिलने पर फिर कभी क्षमा करावे। यदि कोई दुष्टचित्त अकारण ही ऐसा व्यवहार करे तो विचारे कि यह व्यर्थ स्वयंही पाप कर्म बांध रहा है,इसकाहोन हारहो बुरा है। गाली या कटुवचनअथवा मेरे इष्ट संबंधी किसीसे भी छूते तक नहीं फिर यह मेरा अथवा किसीका बिगाड़ ही क्या सकते हैं ? यह तो पागल है जो अकारण ही अपने भावोंको दूषित व क्लेशितकर रहा है। अभी यह मारतातो नहीं,पागल-बावला तो मारता है, ईंटे फेंकता है, अपने परायेका बोध उसे होता ही नहीं। यदि कोई अकारण अपनेको अथवा अपने किसीसंबंधीको मारने लगे तो ऐसासोचे कि यह केवल मारता पीटता ही तो है, प्राण तो नहीं लेता।

'क्षमा वीरस्य भूषणम्'—क्षमा वीर-पुरुष का भूषण है, जो धीरवीर पुरुष है वह कभी भी क्षमा से नहीं डिगता। सच्चा क्षमाधारी तो यहां तक बढ़ता है कि यदि कोई उसे जान तक से मारता है तो वह विचारता है कि यह मुझे मेरे इस शरीर रूपी शत्रु से ही तो छुड़ाता है, इसी तुच्छ शरीर के कारण तो मुझे जन्म मरण के दुःख भोगने पड़ रहे हैं। यह मेरा बड़ा हितैषी है, कहीं मेरे प्राण बेहोशी में निकल जाते तो मैं खोटे परिणामों से मर कर नरकादि के महान दुःखों को भोगता अब तो मैं अपने स्वभाव में लीन हुआ इस दुष्ट शरीर को छोड़ूंगा, वह विचारता, है-

दों०-जियरे!तनतुव शत्रु है, दुख उपजावें सोय। सो इस तन को हनत जो,वह तेरा हितु होय॥

यह है वास्तविक उत्तम क्षमा। ऐसा ही उत्तम क्षमा से गजकुमार,पांडव,सुखमाल आदि मुनियों ने संसार को चकित करके अविनाशी निर्वाण पद पाया है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्

यहां सार बात तो यह है कि जब तत्व ज्ञान के अभ्यास से किसी पदार्थ में इष्ट अनिष्ट की कल्पना नहीं रहती तब क्रोधादि कषाय स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती और फिर तभी सच्चा धर्म बनता है।

२ उत्तममार्दव—मृदुः भावः इति मार्दवः मृदु-कोमल, कठोरता रहित भावों का होना 'मार्दव' कहलाता है और निज स्वभाव रूप अत्यंत कोमल परिणामों का होना 'उत्तम मार्दव है। मृदु परिणामी को साधु पुरुष भी साधु मानते हैं। मान रहित कोमल परिणामी को जैसा गुण ग्रहण कराना चाहें, जैसी कला सिखाना चाहें उसे वैसी ही कला तथा गुण प्राप्त हो जाते हैं। समस्त धर्म और ज्ञान का मूल विनय है। विनयवान सबको प्रिय होता है। विनय मानव का परम आभूषण है क्योंकि यह उसका धर्म—स्वभाव है। कोमल परिणाम-

विनयके बिना कभी सुख शांति नहीं मिलती-दो०-विनय बिना विद्या नहीं,विद्या बिन नहिं ज्ञाना
ज्ञान बिना सुख ना मिलै. यह निश्चय कर जान ॥

मृदुलता कोमलता का उलटा मद-अभिमानहै। घमंडी पुरुष किसी कोअच्छा नहीं लगता, उससे सभी दूर रहना चाहते है। कठोर परिणामी के दया तो होती ही नहीं, वह संसार में निर्दयी, कसाई आदि नामों से पुकारा जाता है। जैसे कठिन कठोर पाषाण में जल प्रवेश नहीं करता वैसे ही अभिमानी के हृदय में सदुपदेश प्रवेश नहींकर पाता।मानीका संसारबिना किये ही शत्रु बन जाता है।

मद आठ प्रकार का होता है १ कुलमद २ जातिमद३ज्ञानमद ४ रूपमद ५ धनमद ६ बलमद ७तपमद८प्रभुतामद । किसी भी प्रकार का मद करना इसलिये निरर्थक है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो अनंत चतुष्टय-अनंत दर्शन ज्ञान वीर्यसुखरूप है, जब तक अपना यह निज रूप प्रकट नहीं होता तब तक हीन ही हीनहै। आत्माएं शक्ति रूपसे सभीसमान है, अतः अभिमान किससे और कैसा जाय ? यह जीव निगोद से निकलकर अनेकों बार फिर नरक निगोद में गया' तिर्यंचों में नीच से नीच पर्याय धारण की,फिर कुलजाति कामद क्यों? अरे ओ-

बस्यो निगोद माहिं तें आया। दमड़ी रूंकन भाग बिकाया ॥
गीताछन्द-रूंकन बिकाया कर्म वश तैं देव इक इंद्री भया ॥
उत्तम मुआ चांडाल हुआ भूप कीड़ों में गया ॥
जीतव्य जोबन धन गुमान कहा करै जल बुद्‌बुदा।
कर विनय बहु गुणि बड़े जन की ज्ञान का पावै उदा ॥

धन-लक्ष्मी तो कभी किसी के पास स्थिर रहती ही नहींफिर उसका अभिमान ही क्या ! इसके मदका खोखलापन नीचे का कवित्त जो एक स्त्री-रत्न ने-अपने पति द्वारा 'लक्ष्मी' पुकारे जाने पर कहा था भले प्रकार दिखा देता है-

कवित्त-जांउं कहूं न रहूं घर में सहूं सुख औ दुःख सभी कठिनाई।
नीचन ऊंचन के वह जात है आवत आत न नेक लगाई ।।
मेरे हु देखत गई कितक धर मैं न दियो पग पौरि पराई ।
कारण क्या कछु रोष पिया ! जातें मुहि सिंधु-सुता कहलाई ??

रूप, बल-काया के मद की व्यर्थता नीचे के काया तथा आत्मा के संवाद से स्पष्ट हो जाती है, मरते समय आत्मा काया से कहता है-

सोलह सिंगार विलेपन भूषण से निसि बासर तोहि संभारो।
पुष्टि करी बहु भोजन पान दे धर्म अरु कर्म सबहि बिसारो ।।

सेये मिथ्यात अन्याय करे बहु तुझ कारण जीव संहारो।
भक्ष गिण्यो न अभक्ष गिण्यो अब तो चल संग तू काय हमारो॥

इस पर काया उत्तर देती है-

ये अन होनि कहो क्या चेतन भांग खाई कि भए मतवारे!
संग गई न ग्यऊं कबहूं यह तो लख स्वभाव अनादि हमारे!!
इन्द्र नरेंद्र धणेंद्र के नहिं संग गई तुम कौन विचारे!
कोटि उपाय करो किम् चेतन! तोहु चलूं नहिं संग तिहारे!!

मद-घमंड का फल बड़ा भयानक होता है। 'घमंडी का सिर नीचा, कहावत के अनुसार घमंडी को सदा नीचा देखना पड़ता है। नरकादिके घोर दुःख तो भोगने ही पड़ते है किन्तु यहां भी उसके दुःखों तथा अपकीर्ति का ठिकाना नहीं रहता। प्रतिनारायण रावण त्रिखंडो जैसे श्लाका पुरुष ने मदोन्मत्त हो कितने घोर कष्ट उठाए और महान अपयश का पात्र बना, यह बालवृद्ध सबही जानते हैं। इतना महान और विद्वान होतेहुएउसको संसार आज तक बुरा कहता तथा धिक्कारता आ रहा है और न मालूम कब तक उसको अपकीर्ति संसार में रहे! अतः अभिमान अथवा कठोर परिणाम को त्याग कोमल परिणामी बनना परमावश्यक आत्मा का निज धर्म है।

अब देखना यह है कि जब जीव का स्वभाव 'मार्दव' है तो क्या कारण है कि उसमें कठोर परिणामों का संसर्ग हो आता है और कौन उपाय ऐसे है जिनसे वह अपने मार्दव स्वभाव को प्राप्त-प्रकट कर सके।

अभिमान करने का मुख्य कारण अपने आप को दूसरों से बड़ा अथवा अच्छा समझना और दूसरों को नीचा दिखाने के भाव होते है। यह भाव जीव के निजी स्वभाव नहीं है किंतु उसके खोटे कर्मों का ही विपाक-फल है। मनुष्य में विवेक है बुद्धि से कर्मों पर विजय प्राप्त करनी है। अतः उसको मद-घमंड से बचकर अपने मार्दव गुण में लीन होने के लिये परमात्म प्रकाश के कुछ दोहे नीचे लिखे जाते है जिनपर उसे मनन करते रहना चाहिए—

दोहा—तीन लोक के जियन में, मूरख करते भेद।ज्ञानी सबको ज्ञानमय,मानें एक अभेद॥१॥
सभी जीव है ज्ञानमय, जन्म मरण से मुक्त। सब में सम हि प्रदेश है,सब हैंसम गुण युक्त॥२॥
परिग्रह से निज बड़ गिनत,सो न जान परमार्थ। भाषा श्री जिनदेव ने,करत कथनपरमार्थ॥३॥
बाल वृद्ध अरु अघु गुरु, सब कर्मन के हेत। निश्चय से सब जीव ही सदाकाल सम चेत॥४॥
नहिं जाने सब जीव सम,तिस न होयसम भाव।भवसागरसे तिरनको,हैसमभाव हिनाव॥५॥

३ उत्तम आर्जव-ऋजोभावः इति आर्जवः ऋजु सीधे सरल भाव का होना आर्जव है,

अत्यंत सीधे सरल भावोंका होना जिनमें लेश मात्र भी छल, कुटिलता,मायाचार,टेढ़ा-पन न होउत्तम आर्जवकहलाताहै।आत्माका सबसे सीधाऔरसरलभावतोकेवलहंसना—जानना मात्र है । इस ज्ञाता दृष्टापन-जानने देखने-मात्रमें जितनाजितना संकल्प विकल्परूप टेढ़ा-पन आता जायगा उतनाउतना ही यह जीव अपने निज आर्जव धर्मसे दूर हट कर विकारको प्राप्त होता हुआ दुखी और व्याकुलहोता जायगा । इसलिए प्रत्येक भव्य विवेकी का कर्त्तव्य है कि वह अपने मन वचन कायमें किसी प्रकारकी कुटिलता न लाकर अपने सरल स्वभावमें स्थिर हो,ज्ञाता दृष्टा मात्र रहकर संसारकी सब अपने तथा परसे संबंध रखनेवाली अलटन पलटन बस देखता जानता रहे उनमें किसीभांतिभी संकल्प विकल्प न करे;यही महान पुरुषार्थ है

जैसा मनमें सोचना वैसा ही वचनसे कहना और तदनुसार ही कायसे व्यवहार-आचरण करना आर्जव-सीधा सच्चा धर्म है । आर्जव धर्म सुखका देने वाला और पापका नाश करने वाला है । यह अतींद्रिय सुखका पिटारा तथा संसार-समुद्र पार करनेको जहाज है । माया चार, कपट, कुटिलता अत्यंत नींद्य है, इससे सदा ही दुःखके कारण अशुभ कर्मका बंध होता रहता है । 'माया तैर्यग्योनस्य—मायाचार—छल—कपटसे तिर्यच=पशु योनिका बंध होता है । त्रिलोकमंडन हाथी के जीव ने मुनि अवस्था में जरासे माया से पशु योनिका बंध किया । मायाचारी का व्रत,तपसबकुछ निरर्थक है। कपटकिसीप्रकारछिपाये नहींछिपता ,एकनएक दिन भंडाफोड़ होही जाता है। काठकी हांडी दूजी बार नहीं चढ़ती । मायाचार खुलतेही प्रीति और विश्वास तो रहतेही नहीं अपितु शत्रुता हो जाती है । कपटी का माताभी विश्वास नहीं करती । उसके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं । कौन नहीं जानता कि दुर्योधन आदि कौरव पांडवोंके साथ कई बार कपट (जुआ खेल, लाक्षागृह में रख) कितने अपयशके भागी हुए ? इसके विरुद्ध पांडव अपने सरल व्यवहारसे यहाँ भी धर्मके अवतार आदि श्रेष्ठ नामों से प्रसिद्ध हुए और अंतमें भी उन्होंने स्वर्ग तथा मोक्षके सुख प्राप्त किए। कपट रहितकी वैरीभी प्रशंसा करते हैं, यदि उससे कोई अपराध भी बनपड़ता है तो तुरंत क्षमा करदिया जाता है ।

कपटरूप होनेका मुख्य कारण तो जीवका दुष्कर्म है । पूर्वकृत खोटे कर्मके उदय काल में मनुष्य अपनी कमी छिपाने, मान पोषण करने अथवा लोभके कारण दूसरे व्यक्तियोंसे छल रूप व्यवहार किया करता है। जब वह दूसरोंके साथ कपट करता है तब यह नहीं सोचता कि यदि मेरे साथ कोई कपट करे तो मुझे कितना खेद और संताप होगा । दूसरेके दुःख और कष्टकी वह चिंता ही नहीं करता। किसीके साथ छल करते समय यदि वह जराभी यह सोच लिया करे कि इसका परिणाम मेरे अथवा दूसरेके लिए क्या होगा तो मनुष्य अपने आर्जव धर्म-सरल स्वभावपर चलता हुआ अनायासही पूर्व कृत कर्मों का नाश करता चला जायगा और एक दिन वह अपने निज स्वभावको प्राप्त कर जीवन-मुक्त हो जायगा, बस फिर तो सिद्ध परमात्मा बना हुआही समझिए ।

४ उत्तम शौच—'शौच' का अर्थ है पवित्रता, स्वच्छता, निर्मलता तथा उज्वलता। 'उत्तम' शब्द शौचका विशेषण है, यहां उत्तमसे तात्पर्य पूर्णसे है। सो पूर्ण पवित्रता आत्मा का धर्म स्वभाव हैअर्थात् आत्मा स्वयं तो स्वभावतः पूर्ण रूपेण पवित्रही है। इसमें अपवित्रता-मैलापन आत्मासे भिन्नकर्मरूप पुद्गलकृत है। आत्मा का शरीरसेअनादिका संबंधहै संबंध से ही अपवित्रता आती है।निरमेल बिना मेल की प्रत्येक वस्तु शुद्धही रहती है, जहां उसमें दूसरी वस्तुका मेल हुआ कि उसमें अशुद्धता आई। शुद्ध घी अथवा सोनेमें दूसरे द्रव्यका मेल-सयोग हुआकि उनका खरापनगया। नमात्र एक वस्तुही अशुद्धताका प्राप्त होतीहै अपितु संबंध में आने वाली सभी वस्तुओं में विकार आजाता है। यही कारण है कि आत्मा और पुद्गलरूप शरीरका अनादि संयोग होने से दोनोंमे ही अशुद्धता आई हुई है। अतः शौच-पवित्रता के भी दो भेद हो गए है १ बाह्य २ आभ्यंतर।

देह, वस्त्रादिककी उज्वलताको बाह्य शौच और आत्माको लोभादि कषायोंसे छुड़ा कर निर्मल बनाने को आभ्यंतर शौच कहते है। जिस प्रकार बाह्य शौचके बिना अंतरंग शौच नहीं बनता उसी प्रकार अतरग शौचके बिना देहादिका बाह्य शौच कुछ कार्यकारी नहीं।

धर्म तो आत्मा जीवके लिए है। अतः वास्तविक शौच धर्म आत्माको मिथ्यात्व कषायादि पापों से छुड़ाकर उज्वल करना है। बहिरात्मा स्नान आदिसे ही अपनेको शुद्ध मान लेते हैं। यह शरीर जो कि रुधिर, मल मूत्र आदि से भरा है कभीभी शुद्ध नहीं होता किन्तु इसके छूनेमात्रसे ही अन्य केशर चंदन-जैसी सुगंधित वस्तुएं भी मलिन हो जाती हैं। धर्म शौच तो आत्माको स्वच्छ निर्मल बनानेसे होता है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग तथा परमात्मा-आत्मा के ध्यान से शौच धर्म होता है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों में प्रवृत्ति करने वाले सदा ही मैले रहते है। जो पुरुष पर—धन, पर स्त्री के इच्छुक हैं अथवा जीव घात करने वाले हैं वे भले ही करोड़ों रुपये दान करें, अनेक तीर्थों में स्नान करें, सब तीर्थ क्षेत्र को बंदें, घोर तप करें, शास्त्रों का पठन पाठन करें तथापि उनके शौच धर्म कदापि नही हो सकता। आत्मा के शौच गुणको घातने वाले मिथ्यात्व और क्रोध मान माया लोभ कषाएं है। कषाएं है तो सब ही दुःखदाई किंतु इनमें लोभ कषाय तो महान अनर्थकारी तथा अशुचिकर है। 'लोभ पाप का बाप बखान' कहवात के अनुसार वास्तव में लोभ ही सब पापों की जड़ है। लोभ से ही जीव हिंसादि पापों तथा क्रोधादि कषायों में प्रवृति करता है। अतः प्रत्येक आत्मार्थी का कर्त्तव्य है कि वह संतोष धारण करके लोभ से सदा ही दूर रहे और धीरे धीरे तृष्णा रूपी पिशाचनी का दमन करता जावे,बस तभी शौचधर्मप्रकट होसकता है।

१ भोग का २ उपभोग का ३ जीने का ४ इंद्रिय—विषयों का लोभ होना संभव है।

इन चारों ही प्रकार के लोभ का त्याने करने से शौच होता है। मलिनता तथा ग्लानि का सबसे मुख्य कारण लोभ है। लोभ के छूटते ही आत्मा में अत्यंत प्रसन्नता या निर्मलता भासने लगती है वही असली शौच है (तत्वार्थ सार पृ० ३४३)।

५ उत्तम सत्य-हितमिताप्रिय वचन बोलना सत्य है। कपट तथा स्वार्थ रहित हितके, थोड़े और मीठे शब्द ही मुंह से निकलना उत्तम सत्य कहलाता है। सत्य वचन दया धर्म का मूल है, अनेक दोषों को दूर करने वाला है, इस लोक और परलोक में सुख शांन्ति का देने वाला तथा संसार समुद्र से पार करने वाला जहाज है, सत्य से ही मनुष्य-जन्म भूषित होता हैं। सत्यवादी की देव भी सेवा करते है। सत्य के बिना व्रत तप संयम सब निष्फल हैं। सत्य के प्रभाव से सब आपदाएं नष्ट हो जाती हैं। इसलिए ऐसे वचन बोलो जो स्वपरहितकारी हों, प्रमाणीक हों, गर्व रहित कोमल हों। पर-पीड़क सत्य भी न कहो, पीड़ाकारी वचन सत्य हो ही नहीं सकता। सत्य परिभाषा बड़े बड़े आचार्यों ने 'सतेहितं यत् कथ्यते तत् सत्यम्—जीवों के हित के लिए जो कहा जाय सो सत्य है' की है। केवल मनुष्य—जन्म में ही साथ कि वचन बोलने की शक्ति पाई है, ऐसी दुष्प्राप्य वस्तु का दुरुपयोग नहीं करना चहिये।

जिस प्रकार विष मिलने से मिष्ट भोजन कडुवा और मृत्युकारी बन जाता है तथा अन्याय सेवन से धर्म और यश का नाश हो जाता है इसी प्रकार असत्य वचन से अहिंसादि सब श्रेष्ठ गुणों का नाश हो जाता है। असत्य बोलने से बैर, शोक, कलह, बधन मरण, सर्वहरण, बन्दीगृह, दुर्ध्यान, मृत्यु आदि के दुःख यहीं इसी भव में भोगने पड़ते हैं। राजा बसु तथा सत्यघोष की कथा कौन नहीं जानता कि उनको झूठ बोलने के कारण कितने दुःख उठाने पड़े। झूठ बोलने वाले को परलोक में भी नरकादि के महान कष्ट भोगने पड़ते है।

मनुष्यके असत्य बोलनेके कुछ कारण है जिनका जानना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि कारणके जाने तथा हटाये बिना असत्य भाषण छूटना असंभव है। उन कारणों में सबसे प्रथम और मुख्य कारण 'लोभ' है। अधिकतर लोभमें आकर ही मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए झूठ बोलता है। दूसरा कारण है 'डर' मनुष्यको सत्य बोलने से जब अपने ऊपर कोई आपत्ति आती दिखाई देती है वह उस समय झूठ बोलकर बचने का प्रयत्न करता है। तीसरा कारण है 'नोरंजन', बहुतसे मनुष्य हंसी मजाकमें कौतूहलके लिए झूठ बोलते हैं, इसोमें उन्हें आनद आता है। दूसरोंको पीड़ाकारी—गाली गलौच अपमानकारक वचन मनुष्य प्रायः 'क्रोध' अथवा 'अभिमान' के वश कहता है। अतः मनुष्यको सत्यवादी बननेके लिए लोभ, डर, झूठा—मनोरंजन, क्रोध, अभिमान आदि पापों से बचनेका सदा प्रयत्न

करते रहना चाहिए ।

सत्यवादी गुरुतुल्य पूज्य, मातासम विश्वासपात्र और मित्रके समान प्रिय होता है सत्य के प्रभावसे अग्नि, जल, विष, सिंह, सर्प, दुष्ट देव मनुष्य आदि कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते सत्य बोलनेवालेको सब विद्याएं सहजही सिद्ध होजाती हैं । कर्मोंकी निर्जरा भी सत्यसे ही होती है । इसलिए सदा सत्य—हितमित मधुर वचनही उच्चारण करो, संसार में सुन्दर श्रेष्ठ मीठे वचनोंकी कमी नहीं है, फिर भला क्यों स्व-परको दुखदाई वचनों का प्रयोग करते हो ? वचनोंसे ही मनुष्यका ऊंच नीचपन जाना जाता है । नीच पुरुषों के बोलनेके निंद्य कटुक वचन कभी मत कहो । वचनके तीर लोहे—अग्निके तीरोंसे भी अधिक कष्टदाई होते हैं । जो दूसरोंको पीड़ाकारी वचन कहते हैं अथवा झूठा कलंक लगाते हैं उनके पापसे यहीं—इसलोकमें ही उनकी बुद्धि भ्रष्ट होजाती, जिह्वा गल जाती, वे अंधे होजाते अथवा औरभी अनेक प्रकारके कष्ट उन्हें सहने पड़ते हैं और वे परलोकमें नरकादिके महान दुःख भोगते हैं सत्यके प्रभावसे यहां ही उज्वल यश-युधिष्ठिर, वचनसिद्धि होती अथवा ज्ञानका विकास प्रतिदिन बढ़ता जाता है और फिर वे ही इन्द्र चक्री, तीर्थंकर आदिकी विभूति पाकर मोक्ष सुख लाभ करते हैं ।

६ उत्तम संयम-सं-भलेप्रकार शुद्ध स्वरूपमें यम'जमना-स्थिर होना संयम है । पांचों इन्द्रियों तथा मनको इनके विषयों से रोकने पर संयम होता, कषायो को नाश करने का उद्यम करने से संयम होता, रसों का त्याग करने से तथा उपवास आदि करने और परिग्रह की लालसा का त्याग करने से संयम होता है । त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करना संयम है, शरीर के अंग-उपांगों की प्रवृत्ति का रोकना संयम है, दया रूप परिणाम होना, शुद्ध आत्मा अथवा परमात्मा का ध्यान करना संयम है ।

संयम दो प्रकार है १ इन्द्रिय संयम २ प्राणि संयम । पांचों इंद्रियों तथा मनको विषयों से रोकना इन्द्रिय संयम और छः कायके जीवों की रक्षा करना प्राणि संयम है । जिसकी इंद्रियां और मन विषयों से नहीं रुके तथा जिसने १ पृथ्वी २ जल ३ अग्नि ४ वायु ५ बनस्पति और ६ त्रसकाय के जीवों की हिंसा का निरोध नहीं किया उसका बाह्य परीषह सहना, दीक्षा लेना तथा तपश्चरण करना सब वृथा है । संसार में दुखी जीवों को संयम ही शरण है । संयम बिना आयु निष्फल है । संयम ही दुर्गति रूप सरोवर के सुखाने को सूर्य है । संसाररूप विषम वैरी का नाश संयम से ही होता है, से ही होता संसार-परिभ्रमण इसके बिना मिट नहीं सकता । ज्ञानी पुरुष तो ऐसा विचार करते है कि हम संयम में रहें, हमारी एक मिनट भी संयम बिना न जावे ।

७ उत्तमतप—'इच्छा निरोधो तपः'—इच्छाका रोकना तप है। चौदह प्रकार अंतरंग और दस प्रकार बहिरंग परिग्रहमें इच्छाका अभाव होना तप है। इंद्रियोंकी विषयोंमें प्रवृतिका रुकना तप है। मनको काम क्रोधआदिके वश नहीं होने देना तप है। वास्तवमें तो 'स्वरूप विश्रांत निस्तरंग चैतन्य प्रतपन'ही तप है और यही उत्तमतप कहलाता है। जिसप्रकार सोने को तपानेसे उसका सब मैल दूर होजाता है इसी प्रकार तपके प्रभावसे आत्मा कर्ममल रहित शुद्ध होजाता है।

यह शरीर अनित्य है, अस्थिर है, अशुचि है; अनेक दुःखोंका कारण है। इसको खूब पुष्ट करते हुए तथा सजाते हुएभी यह अपना नहीं होता, इसलिए इसे साधकर रखनाही ठीक है अतः १ अनशन २ अवमोदर्य ३ वृत्तपरिसंख्यान४ रस परित्याग ५ विविक्तशय्यासन और६ कायक्लश इन छहों बाह्य तपोंको यथा शक्ति पालन कर के शरीरको अपने आधीन रखनाही कार्य कारी है। साथही १ प्रायश्चित २ विनय ३ वैयावृत्य ४ स्वाध्याय ५ व्युत्सर्ग और ध्यान इन छः अंतरंग तपोंके अभ्यास में भी रत होना चाहिए जिससे कर्मोंका नाश होकर पूर्ण अविनाशी सुख की प्राप्ति हो। तपोंकी विशेष व्याख्या सूत्र १९, २० में देखिए।

तपके बिना इंद्रियोंकी विषयों के प्रति लोलुपता नहीं घटती। तपके बिना तीन लोकको जीतने वाले कामदेवको नष्ट करनेकी शक्ति नहीं आ सकती। तपके बिना शरीरका सुखिया स्वभाव नहीं मिटता और न आत्माको अचेत करनेवाली निद्रा ही जीती जा सकती है। तपसे ही कर्मोंकी अविपाक निर्जरा होती है और यही मोक्षका साक्षात कारण है। वास्तविक तप तो दिगंबर मुनिके ही बनता है। अतः जैसे बने तप करनाही उचित है।

८ उत्तम त्याग-सर्व विभाव भावोंका त्याग करना ही निश्चय त्याग है। आत्मामें सबसे बड़े विभाव भाव मिथ्यात्व तथा क्रोध मान लोभ आदि कषाएं हैं। इनमें भी विशेष दुखदाई तथा जीव-आत्मको। संसारकी चौरासीलाख योनियोंमे भ्रमण करानेवाला और उसके स्वरूपको भुलानेवाला मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वका त्याग होतेही अन्य विभावोंका तथा बाहरी त्याग स्वयंही होने लगते है। जहाँ आत्माको भेदज्ञानद्वारा अपने ज्ञाताद्रष्टा स्वरूपकी पह-चान तथा झलक आई त्योंही उसकी शनै शनैअथवा शीघ्रता से अन्य सब पर-पदार्थोंसे त्याग रूप परणति होजाती है। अतः असली त्याग तो मिथ्यात्वका त्याग करना है। मिथ्यात्व और कषायोंका छोड़ना अतरंग-निश्चय-उत्तम त्याग है।

बाह्यत्याग—दानके ५ भेद हैं १ पात्रदान २ दयादान ३ अन्वयदान ४ समदान और ५ सकलदान।

पात्रदान

मुनि,अर्जिका, ऐल्लक,क्षुल्लक,ब्रह्मचारी आदि धर्म पात्रोंको दानदेना पात्रदान है। पात्र के तीन भेद हैं १ उत्तम २ मध्यम ३ जघन्य। महाव्रती मुनि उत्तम, प्रतिमा धारी अणु

श्रावक मध्यम और व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। इनको दिया जानेवाला दान भी चार प्रकारका है १ आहारदान २ औषधिदान ३ ज्ञानदान ४ अभयदान।

१ आहारदान—मुनि अर्जिका ब्रह्मचारी आदि पात्रोंको यथाविधि भक्ति विनय आदर के साथ शुद्ध भोजन कराना आहारदान है। इस संसारी जीवका जीवन आहारपर ही निर्भर है। आहारसे ही देहकी स्थिति रहती है, देहसे रत्नत्रयधर्म पलता और रत्नत्रयसे मोक्ष का अविनाशी सच्चासुख मिलता है। आहार बिना अनेक रोग उत्पन्न होजाते हैं। आहारके बिना न ज्ञानाभ्यास बने, न व्रत संयम पले और न सामायिक ध्यानादि हो सके। आहार बिना चिंता, शोक, भय, क्लश समस्त संताप प्रकट होआते हैं। आहार बिना प्राणी चेष्टा-रहित मृतक समान होजाता है यहाँतक कि मरणही हो जाता है। अतः अहारदान समान और अन्य कोई उपकार नहीं है।

२ औषधिदान-मुनि आदि व्रती त्यागियोंके रोग ग्रस्त होजाने पर उनको निर्दोष औषधि देना, उनकी चिकित्सा-इलाजका प्रबंध करना औषधिदान है। रोगीके सदा काल आर्तध्यान बना रहता है। रोगमें स्वाध्याय, सामायिक, ध्यान आदि कुछ नहीं होते। रोगीको उठना बैठना, सोना चलना, खाना पीना सब दूभर होजाते है। रोगके कारण जीव अपघात तक कर बैठता है। औषधिसे रोग शमन होता है। रोगके मिटनेपर ही कोई सांसारिक अथवा धर्म कार्य किया जा सकता है। इसलिए बीमारको औषधि देकरउसका उपकार करना बड़ा ही श्रेष्ठ है।

३ ज्ञानदान—मुनि आदिको ज्ञानाभ्यासके लिए शास्त्र, अध्यापक आदिका समागम-सामान जुटादेना ज्ञानभ्यादान है। ज्ञान बिनामनुष्य पशुही जैसाहै। ज्ञानाभ्यास बिना अपना और परका ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञानबिना धर्मका स्वरूप, पापका स्वरूप देव कुदेव गुरु कुगुरु, धर्म अधर्म कुछ नहीं जाना जा सकता। ज्ञान सेही लोक परलोक संबंधी कार्य बनते हैं। अतः किसीको ज्ञानदान देना उसका महान परम उपकार करना है।

४ अभयदान—शहर गांवके बाहर एकांत शांत स्थानमें मुनि आदि व्रती त्यागियोंके ठहरनेको मठ आदि बनवा देना जिससे वे वहाँ निर्भय रूपसे निर्विघ्न ध्यान आदि कर सकें अभयदान है। छः कायके प्राणियोंकी हिंसासे बचना, उनको किसी प्रकारके कष्ट भयसे बचाना अभयदान है। निःशल्य अहिंसाव्रत धारी केही वास्तविक अभयदान बनता है।

दयादान—करुणादान

दीन दुखी जीवोंको उनके दुःख दूर करनेके लिए उनकी आवश्यकतानुसार दान करना दयादान है। यदि कोई दरिद्री भूखा हो तो उसको भोजन देना चाहिए। गरीब रोगियों को मुफ्त दवा बाँटना, उनकी चिकित्साका प्रबंध करना चाहिए। यदि कोई निर्धन विद्यार्थी हो तो उसको पुस्तक, छात्रवृत्ति देकर ज्ञानाभ्यासका साधन जुटा देना चाहिए। यदि दीन

दुर्बल जीवको कोई सतारहा हो उसकी रक्षा करना प्रत्येक समर्थ व्यक्तिका कर्त्तव्य है। नंगे को वस्त्र देना, प्यासेको पानी पिलाना, विपत्तिमें फंसेहुए जीवकी करुणाभावसे सहायता करना, किसी अनाथका पालन-पोषण करना अथवा विधवा अनाथिनीकी निष्काम सेवा करना यह सब दयादान है।

समदान

समाज, जाति बिरादरीमें सब व्यक्ति एक समान है। धनी निर्धनका भेद होतेहुए भी सबके अधिकर बराबर होते है उनमें छोटा बड़ापन नहीं होता। अतः समाज उन्नतिके लिए तथा प्रेम संगठनके लिए जो द्रव्य-धन मन तन लगाया जावे वह सब समदान है, जैसे विद्यालय औषधालय खोलना, प्रीतिभोज करना, सभा समिति स्थापित करना, प्रचारकों द्वारा प्रचार कराना धर्मशाला बनवाना, योग्य वरको कन्या देना, योग्य कन्या ग्रहण करनाइत्यादि।

अन्वयदान

अपने पुत्र पुत्री, भाई बहन आदि संबंधियोंको, द्रव्यादि देना अन्वय दान है।

सकलदान

सर्व त्याग करके मुनिव्रत लेना 'सकलदान' है।

इन पांचों दानोंमें से पात्रदान भक्तिसे, करुणादान दया भावसे, समदान सामाजिक-प्रेम से, अन्वयदान संबंधके स्नेहसे और सकलदान वैराग्यसे किया जाता है।

९ उत्तमआकिंचन—आत्माकी अपने गुणोंके सिवाय जगतमें अन्य कोई भी वस्तु नहीं है, इस दृष्टिसे आत्मा-जीव अकिंचन है, आत्माकी अकिंचन रूप (अपने गुणोंके अतिरिक्त कुछ न होनेरूप) परणतिको आकिंचन कहते है।

'मेरा कुछ नहीं है' ऐसा जो मानता है उसे अकिंचन कहते है, उसके अकिंचनत्व रूप परिणाम या प्रवृत्तिको 'आकिंचन्य' कहते है (तत्वार्थ सार अधि. ६ पृ. ३४५)।

जीव संसारमें मोहवश जगतके सब चेतन अचेतन पदार्थोंको अपनाता है, किसीसे पुत्र स्त्री आदिके नाते जोड़ ममता करता है, गाय भैंस मकान वस्त्र आदि वस्तुओं से प्रेम जोड़ता है, शरीरको तो अपना, नहीं स्वयं आप ही, समझता है।

परिग्रहके अभाव अर्थात् नहीं होनेको आकिंचन कहते हैं। कोई किसी प्रकारका भी परिग्रह न होना उत्तम आकिंचन है। परिग्रह दो प्रकारका है १ अंतरंग २ बहिरंग। अंतरंगपरिग्रह १ मिथ्यात्व २ क्रोध ३ मान ४ माया ५ लोभ ६ हास्य ७ रति ८ अरति ६ शोक १० भय ११ जुगुप्सा १२ नपुंसक वेद १३ स्त्री वेद ४ पुरुष वेद चौदह प्रकारका होता है। बहिरंग परिग्रह १ धन २ धान्य ३ दास ४ दासी ५ खेत ६ मकान ७ सोना ८ चांदी ६ बर्तन १० वस्त्र दस प्रकारका है। इन सब परिग्रहोंमें सबसे अधिक कष्टप्रद मिथ्यात्व है। इसीने जीवको अनादिकालसे संसारचक्रमें फंसा रक्खा है। इसका त्याग किये बिना वास्तवमें और

कोई त्याग, व्रत आदि बनते ही नहीं। धर्मका प्रारंभभी मिथ्यात्वके त्यागसे ही होता है। बाह्य परिग्रह तो पशु पक्षी आदि तिर्यंचोंके भी नहीं होता। दोनों प्रकारके अर्थात् बाह्य आभ्यंतर परिग्रहोंके पूर्णरूपेण त्यागी तो १२ वें गुणस्थानवर्ती मुनिही होते हैं, इससे पहले गुणस्थानों में क्रमशः इनका त्याग होताजाता है।

परिग्रहके समान और बोझ नहीं। जितने दुःख, दुर्ध्यान, क्लेश, वैर, वियोग, शोक, भय, अपमान आदि हैं वे सब परिग्रह—मूर्छावालेके ही होते हैं। सब दुःख और पापोंकी जड़ मूर्छा है। जिसप्रकार नदियोंसे समुद्रकी तथा ईंधनसे आगकी कभी तृप्ति नहींहोती उसीप्रकार परिग्रहसे आशा तृष्णा रूपी गड्ढा कभी नहीं भरता—

अब तक अगणित जड़ द्रव्यों से प्रभु! भूख न मेरीशांत हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी पर रिक्त रही वह रिक्त रही॥
सोचा करता हूँ भोगों से बुझ जावेगी इच्छा ज्वाला!
परिणाम निकलता है लेकिन मानो पावक में घी डाला॥

बस तृष्णारूपी गड्ढा बिना तलीका गड्ढा है जिसमें कितनीही सामग्री डालिए एक का भी पता न चलेगा। हां परिग्रहकी इच्छा-मूर्छा जितनीजितनी कम होती जायगी अथवा परिग्रह की आशाका जितना त्याग होता जायगा उतनाही यह तृष्णारूपी गड्ढा भरता चला जायगा और एक दिन वह आवेगा कि इच्छाका सर्वथा अभाव होकर पूर्ण आकिंचन आत्म-स्वभाव प्रकट हो निराकुल सुखकी प्राप्ति हो जायगी।

१० उत्तम ब्रह्मचर्य—समस्त विषयों से अनुराग छोड़ ब्रह्म-ज्ञायक स्वभाव आत्मा में चर्या, रमण सो ब्रह्मचर्य-उत्तम ब्रह्मचर्य है। समस्त विषयों में स्पर्शन इंद्रिय का विषय महान अनर्थकारी और दुखदाई है। इसने बड़े बड़े मुनि, ऋषि, ब्रह्मा आदि तक को भ्रष्ट कर डाला है। इसीलिए लोक में पुरुष के लिये स्त्री—संसर्ग त्याग और स्त्री के लिए पुरुष संसर्गत्याग ही ब्रह्मचर्य प्रसिद्ध है। अणुव्रतों के वर्णन में कहा है—

दो०-पर स्त्री सेवैं नहीं, ना पर सेव कराय। अघभय से पर पुरुष को, त्यागे शील रहाय॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारी पर स्त्री के साथ न तो आप रमन करे और न दूसरों को पर स्त्री सेवन की प्रेरणा करे, इसी प्रकार स्त्री भी पाप के भय से पर—पुरुष रमन का त्याग करे, तब उनके ब्रह्मचर्य अणुव्रत पलता है।

पुरुष को चाहिए कि वह परस्त्री—अपने से बड़ी को माता समान, समान वयवाली बहन सम और छोटी को पुत्रीवत समझे। इसी प्रकार स्त्री को चाहिए कि वह पर-पुरुष को पिता, भाई व पुत्र की दृष्टि से देखे। सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक ब्रह्मचारी तो स्त्री-मात्र का और ब्रह्मचारिणी पुरुष-मात्र के त्यागी होते हैं, उनका अपने स्त्री, पुरुषों—पत्नि पत में भी

विकार भाव नहीं होता।

अब्रह्मचर्य-कुशील महापाप है, संसार परिभ्रमण का बीज है। कुशीलसेवन से यश मलीन, धर्मभ्रष्ट और सत्यार्थ बुद्धि नष्ट हो जाती है। कामी पुरुष को सैंकड़ों भयानक रोग जैसे आतशक सुजाक आदि लगे ही रहते है, उसे क्षण-मात्र को भी साता नही मिलती। कामातुर व्यक्ति पशु तुल्य माता पुत्री बहन आदि से भी रमने लगता है एक संस्कृत कवि ने तो उसे पशु से भी नीच और अपूर्व अंध कहा है देखिए—

दिवा पश्यति नोलूको मनुजो रात्रि न पश्यति।
अपूर्वः कोपि कामांधो दिवारात्रं न पश्यति।।

अर्थ—उल्लू दिन में नहीं देखता, मनुष्य रात्रि में नहीं देखता परन्तु कामांध कोई अपूर्व—अनोखा ही अन्धा है कि यह न रात में कुछ देखता है और न कुछ दिन में हीं। उस के नेत्र कामवासना में अन्धे हुए हुए कर्त्तव्य अकर्त्तव्य कुछ नहीं देख पाते।

कामांध व्यक्ति परभव में भी नरक तिर्यंच गति के दुःखों का ही भागी होता है।

ब्रह्मचर्य ही तप व्रत संयम का जीवन, स्वर्गादिक शुभ गति का कारण और दुर्गति के दुःखों का नाशक है। शील रहित पुरुष के अध्ययन पूजन तपादि सब निरर्थक तथा धर्म की निंदा कराने वाले है। ऐसा जान ब्रह्मचर्य का दृढ़ता से पालन करो। धर्म रूप बन के विध्वस करने वाले मनरूप मदोन्मत्त हाथी को रोको, चंचल न होने दो जिस प्रकार मस्त हाथी के समीप कोई नहीं जाता उसी प्रकार कामोन्मत्त पुरुष में कोई गुण नहीं रहता। काम संवर का वैरी है अतः'संवरारि,' खोटा दर्प-घमड उत्पन्न करता है अतः 'कदर्प,' इससे अनेक मनुष्य तिर्यंच परस्पर लड़ लड़ के मर जाते है अतः 'मार कहलाता है।

कुशील के मार्ग में न स्वयं चलो, न दूसरों को ऐसे कुमार्ग में चलने का उपदेश दो और न अब्रह्मचर्य-कुशील की अनुमोदना ही करो। ब्रह्मचारी शीलधारी को इंद्रादिदेव भी पूजते है। कौन नहीं जनता कि ब्रह्मचर्य—शील के प्रभाव से ही'सीता'के अग्नि कुन्ड का कमल युत सरोवर तथा 'सुदर्शन सेठ' की शूली का सिंहासन हो गया था ? बस यदि मनुष्य जन्म सफल किया चाहते हो तो अपने शील को उज्वल बनाते हुए ब्रह्मचर्य रूप अपने धर्म का निरंतर ध्यान रक्खो। इस प्रकार उत्तम ब्रह्मचर्य रूप अपने स्वभाव में रमण करते हुए शीघ्र ही मोक्ष लक्ष्मी के अधिकारी बन जाओगे।

बहुरि बन्ध आदिक के भयतैं वा स्वर्ग मोक्ष की चाहतैं क्रोधादिक न करैं है, सो यहाँ क्रोधादिक करने का अभिप्राय तो गया नाहीं। जैसे कोई राजादिक का भय तैं वा महंतपना का लोभ तैं पर स्त्री न सेवैं है तो वाको त्यागी न कहिए, तैसे ही यहु क्रोधादिक का त्यागी नाहीं। तो कैसे त्यागी होय—पदार्थ अनिष्ट इष्ट भासे क्रोधादिक हो है, जब

तत्व के अभ्यास तैं कोई इष्ट अनिष्ट न भासै तब स्वयमेव ही क्रोधादिक न उपजें, तब सांचा धर्म हो है।

कर्मास्रव रागद्वेष आदि निमित्तों द्वारा होता है, (उत्तम क्षमा मार्दव आदि रूप) धर्म उन राग द्वेष आदि का विरोधी है इसलिए क्षमा आदि से संवर हो जाता है। (तत्वार्थ सार अधि० ६ पृ० ३४६)।

नोट—अवसर्पिणी ६ टे काल के अंत में भरत ऐरावत के आर्यखण्डों में जेठ बदी १२ को प्रलय आरम्भ होता है और ४६,४६ अर्थात् कुल ९८ दिन पीछे तदनुसार भादों सुदी ५ से आर्यखण्ड में फिर उत्सर्पिणीका आरम्भ होता, प्रलय कालीन दृश्य बदलता और मनुष्यों की हलचल आरम्भ हो जाती है। उस समय उनको सुखी शांत रूप जीवन बिताने के लिए क्षमा मार्दव आदि धर्म उपदेश आवश्यक होता है। ज्ञात होता है कि इसी कारण दशलक्षण पर्व का प्रारंभ भादों शुक्ला ५ से हुआ करता है।

बारह अनुप्रेक्षा

अनित्याशरण संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ धर्मस्वाख्याततत्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

शब्दार्थ—स्वाख्याततत्व=स्व—अपना+आख्या-प्रसिद्ध+तत्व=अपने नाम से प्रसिद्ध तत्व अथवा अच्छे श्रेष्ठ नाम से प्रसिद्ध तत्व अर्थात् स्वरूपका। अनुचिंतनम्-बार२चिंतवन करना

अर्थ-अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि,आस्रव,संवर, निर्जरा,लोक,बोधि-दुर्लभ और धर्मके स्वरूपका बारबार चिंतवन करना अनुप्रेक्षाएं हैं।

विशेष—इस सूत्रमें संवरके चौथे उपाय 'अनुप्रेक्षा' का वर्णन है। बारबर अथवा गहरे चिंतनको अनुप्रेक्षा कहते है। तात्विक और गहरे चिंतनद्वारा स्व और परका ज्ञान होकर आत्मतत्वमें रमणता आती है। इसीसे रागद्वेष वृत्तियां रुकतीं तथा नवीन कर्मोंके आस्रवका संवर और पुरानोंकी अविपाक निर्जरा होती है। आचार्योंने ऐसे बारह विषयोंके गहरे चिंतनको जिन से सवर निर्जरा हो बारह भावना-अनुप्रेक्षा कहा है। उनका कुछ वर्णन नीचे दिया जाता है—

१ अनित्यभावना-संसारमें जो कुछ भी उत्पन्न होता है उसका नाश नियम से अवश्य होता है। जवानी के साथ बुढापा और जन्मके साथ मरण लगा ही हुआ है—

दो०—अध्रुव ऽ शरण जग एक अन्य, अशुच्यस्रव विधि रोक।
झरन लोक दुर्लभ धरम, बारह भावन थोक ॥४॥

Whosoever drinks the cup of life must end it by drinking the cup of Death
धन धान्य, स्त्री पुत्र,मित्र बंधु बांधव सब ही क्षणभंगुर हैं। यहां पर्याय रूप से कुछ भी नित्य-स्थिर नहीं है। अनादिकालसे इस अखंड अविनाशी जीवने मोहके वश नश्वर पर्यायको ही आपा मान रक्खा है। 'मैं द्रव्य अपेक्षा शाश्वत नित्य आत्म द्रव्य हूँ, मनुष्य देव आदि जीव और पुद्गल की संयोग जनित पर्याय हैं, शरीर, धन धान्यदिक पुद्गल परमाणुओं की स्कंधरूप पर्याय हैं, इनका मिलना बिछुड़ना नियम से होता रहता है' इस प्रकार का चिंतन अनित्य भावना है। इससे अनित्य पर्याय में स्थिरता की बुद्धि नहीं रहती। —कवि 'युगल' कहते हैं—

झूठे जग के सपने सारे, झूंठी मन की सब आशाएं
तन जीवन यौवन अस्थिर हैं, क्षणभंगुर पल में मुरझाएं ॥१॥

२ अशरणभावना—जिस संसार में हरि हर ब्रह्मा, इन्द्र आदि पदवी धारक भी काल के ग्रास होते हैं वहाँ भला किस का शरण ?। जैसे बन में सिंह के पंजे में आये हुए हिरण की कोई रक्षा नहीं कर सकता उसी प्रकार इस प्राणी को काल रूपी सिंह से कोई भी देव दानव, मंत्रतंत्र, कोट किला आदि बचाने में समर्थ नहीं-

सम्राट महाबल सेनानी, उस क्षण को टाल सकेगा क्या ? !
अशरण मृत-काया में हर्षित—निज जीवन डाल सकेगा क्या ? ! ॥२

३ संसार भावना-संसार कितना विकट तथा दुःखमय है, इसके लिए क्या कहें ! यहां कोईभी प्राणी तोसुखीनहीं दिखता। चारों गतियोंमेंयहजीव ऐसे२महानदुखभोगताहै किजिनका नाम सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं और सारा संसार एक दम बीहड़ महाभयानक दिखने लगता है, वास्तव में यह है भी ऐसा ही डरावना। धन्य हैं वे महापुरुष जिन्होंने संसार बन्धन का जाल काटकर निराकुल शिव सुख प्राप्त कर लिया है। ज्ञानी विचारताहै-

संसार महा दुख सागर के, प्रभु ! दुखमय सुख आभासों में।
मुझ को न मिला सुख क्षण भर भी, कंचन कामिनि प्रासादों में ॥३॥

४ एकत्व भावना—जीव एक-अकेला ही पैदा होता, अकेला ही मरता, अकेला ही बालक, युवा और बुड्ढा होता है। अकेला ही सुखी दुखी होता, अकेला ही पुण्य पाप करता, अकेला ही कर्मों की निर्जरा करता और अकेला ही मोक्ष पाता है। यहाँ स्त्री पुत्र, माता पिता, धन धान्या आदि कोई भी तो किसी का साथी नहीं। इस जीव को जब कोई दुःख आ घेरता है तब कुटुंबीजन भले प्रकार जानते हैं कि इसे महान वेदना है किन्तु भला क्या कोई उसके दुःख को तनिक कुछ भी बँटा सकता है, कदापि नहीं। ऐसा जानते हुए भी यह अज्ञानी प्राणी कुटुंब, तन, धन आदि से मोह नहीं छोड़ता। ज्ञानी तो सोचता है कि- मैं एकाकी एकत्व लिये, एकत्व लिये सबही आते।

तन धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड़ चले जाते ।४।

५ अन्यत्व भावना-दो०-अन्य देह पितु मात अन्य, सुत स्त्री सब अन्य ।
कर्म योग से हों सभी, सभी जीव से अन्य ॥ 'सिंह'

यह जीव तन मन वचन, मात पिता, पुत्रकलत्र धनधान्य मकानादि सभी से भिन्न-अन्य है। सब बाह्यपदार्थ आत्म स्वरूप से भिन्न हैं। अतः भिन्न रूप चिंतन करते हुए 'स्व' में लीन होने से ही कर्मों की निर्जरा हो सकेगी-

मेरे न हुए ये मैं इन से, अति भिन्न अखंड निराला हूँ।
निजमें पर से अन्यत्व लिये, निज सम-रस चखने वाला हूँ ॥५॥

६ अशुचित्व भावना-यह देह नितांत निंदनीय वस्तुओं का समूह है, उदरके जीव-कृमी और निगोदिया जीवों से भरा है । अत्यंत दुर्गंधमय तथा मलमूत्र का घर है। इस देह में लगाये हुए बड़े पवित्र सुगंधित और मनोहर द्रव्य भी घिणावने और अत्यंत दुर्गंधित हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि तो विचारता है- जिसके शृंगारों में मेरा, यह महँगाजीवनघुल जाता।
अत्यंत अशुचि जड़ काया से, मुझ चेतन का कैसा नाता? ॥६॥

७ आस्रव भावना-यह जीव कर्मोंका मारा हुआ संसारमें दुःख भोग रहा है। कर्म बंध के कारण आस्रव हैं। आस्रव १ मिथ्यात्व २ अविरत ३ प्रमाद ४ कषाय ५ योग पांच प्रकार है। इनमें पहले चारही स्थिति तथा अनुभाग बंधके कारण हैं, यह चारों मोहकर्म के उदयसे होते है। योग तो समय-मात्र को बंध करते हैं,स्थिति और अनुभाग नहीं करते इसीलिए महान वैरी मोहको ही जीतना चाहिए-

दिन रात शुभाशुभ भावों से, मेरा व्यापार चला करता।
मानस वाणी और कायासे, आस्रव का द्वार खुला रहता ॥७॥

दहो-शांत भाव में लीन हो,तज मिथ्यादिक भाव।उसी पुरुष का सफल है,आस्रव भावन भाव ॥

८ संवरभावना-कर्मोंके आने अर्थात् आस्रवका रुकना संवर है। आस्रव मिथ्यात्व अविरत आदि पांच प्रकार है। मिथ्यात्वका रुकना-अभाव सम्यग्दर्शन से चौथे गुण स्थानमें; अविरतका महाव्रत पालनेसे छटेमें,प्रमादकी रोक ७ वें गुणस्थान में अप्रमत्त होनेसे, कषायों का अभाव १२ वेंगुणस्थान में कषायों के क्षय से, योगोंका संवर अयोगकेवलीके योगनिरोध करनेसे होता है। गुप्ति,समिति,धर्मअनुप्रेक्षा,परीषह-जयऔरचारित्र संवरके विशेषकारण हैं।

शुभ और अशुभ की ज्वाला से, झुलसा है मेरा अन्तस्थल।
शीतल समकित किरणें फूटें, संवर से जागे अन्तर्बल ॥८॥

९ निर्जरा भावना-ऐसा चिंतवन करना कि सम्यक्त्व सहित तपव्रत।दिसे ही कर्मोंको निर्जरा होती और समस्त कर्मोंकी निर्जरा से ही सच्चा सुख मिलता है निर्जरा भावना है।

ज्ञान सहित तपसे निर्जरा होती है, अज्ञान सहित उलटे तपसे तो हिंसादिक होकर कर्मबंध ही होता है-कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिना कर्म झरैं जे।

ज्ञानीके छिन माहिं त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ॥ छःढाला-दौलतराम निदान रहिततथा अभिमान रहित तपसे निर्जरा होती है, निदान और अभिमान सहित तप तो बंधका कारण है। वैराग्य भावनासे निर्जरा होती है, यदि कोई संसार देह भोगमें आसक्ति युत तप करता है तो उसके निर्जरा नहीं अपितु बंध ही होगा। सम्यक्त्व वैराग्य सहित तथा निदान अभिमाय रहित तपकी अग्निसे कर्म किस प्रकार जल जल कर झरते हैं सो सुनिए-

फिर तप की शोधक वह्नि जगे, कर्मों की कड़ियां टूट पड़ें।
सर्वांग निजात्म प्रदेशों में, अमृत के निर्झर फूट पड़ें ॥९॥

१० लोकभावना-सर्व अनंतानंत अलोकाकाशके बीचों बीच स्थित लोकके आकारको कि लोक कितना बड़ा है, इसकी क्याक्या अनादि रचना है, इसमें कौन कौन जाति के जीवों का कहां कहां निवास है, इत्यादि लोकके स्वरूपका चितवन करना लोक भावना है। इसप्रकार लोक स्वरूप चितवन करते हुए निज ज्ञान चक्र लोकमें रमण कर वहीं स्थिर होना शाश्वत सुख प्राप्त करना है। बस ज्ञानी तो इक तान होकर कहता है-

हम छोड़ चलें यह लोक तभी, लोकांत विराजें क्षण में जा।
निजलोक हमारा वासा हो, शोकांत हुए फिर हमको क्या ? ॥१०॥

११बोधिदुर्लभ भावना-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्‌चारित्र रत्नत्रय रूप बोधि का होना अतिशय कठिन है। निगोद से निकलना, फिर एकेंद्रिय-स्थावर से त्रस गति पाना, उसमें भी उत्तम देश कुल, विद्या, बल, स्वास्थ्य, धर्म समागम उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इस प्रकार चिंतवन करना बोधि दुर्लभ भावना है। अतः हम सब की भावना भी यही रहे कि-

जागे मम दुर्लभ बोधि प्रभो ! दुर्नय तम सत्वर टल जावे।
बस ज्ञाता दृष्टा रह जाऊं, मद मत्सर मोह विनश जावे ॥११॥

१२ धर्मभावना-धर्मके स्वरूपको बराबार चितवन करना तथा निज धर्म-स्वभाव में लीन होना धर्म भावना है। धर्मका स्वरूप इसी अध्यायके सूत्र ६ के विशेषमें देखिए-

चिर रक्षक धर्म हमारा हो, हो धर्म हमारा चिर साथी।
जग में न हमारा कोई था, हम भी न रहें जग के साथी ॥१२॥

बारह भावनाओंके विषयमें जो पाठक विशेष जानकारी किया चाहें वे ज्ञानार्णव,स्वामी कार्तिकेय अनु प्रेक्षा आदि ग्रंथ देखें।

यह बारह भावनाएं ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि हैं। अतः निरंतरही इनका चिंतवन मनन करते रहना चाहिए।

'बहुरि अनित्यादि चिंतवन तैं शरीरको बुरा जानि—हितकारी न जान तिनतैं उदास होना ताका नाम अनुप्रेक्षा कहै है। सो यहु तो जैसे कोऊ मित्र था तब उसतैं राग था, पीछै वाका अवगुण देखि उदासीन भया सो ऐसी उदासीनता तौ द्वेषरूप है। जहां जैसा अपना वा शरीरादिकका स्वभाव है तैसा पहचान भ्रमको मेटि भला जानि राग न करना, बुरा जानि द्वेष न करना, ऐसी साँची उदासीनताके अर्थ यथार्थ अनित्यादिका चिंतवन सोई साँचो अनुप्रेक्षा है।' (मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृ. ३३६)।

परीषह सहन का उपदेश

मार्गाच्यवन निजरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

शब्दार्थ-मार्ग=संवरका मार्ग—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र। अच्यवन=न गिरना, न चिगना, न डिगना। अर्थ-लिए। मार्गाच्यवननिर्जरार्थ=संवरके अथवा मोक्षके मार्ग सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र से न डिगने और कर्मोंकी निर्जराके लिए। परिषोढव्याः=विशेष रूप से-सम- भावोंसे सहन करने योग्य। परिषहाः=शारीरिक उपद्रव तथा मानसिक चिंताएं, पोड़ाएं।

अर्थ-रत्नत्रयरूप संवरके अथवा मोक्षके मार्गसे न डिगे इसलिए और कर्मोका नाश करने के लिए मानसिक तथा शारीरिक कष्टोंको समभावोंसे सहना चाहिए—

विशेष-सूत्र २ में आचार्य श्रीने 'परिषह-जय' भी संवरका एक उपाय बताया है। सूत्र ८ से १७ तक-परिषहोंका लक्षण सू. ८ में, उनके नाम सू. ६ में, उनके स्वामी सू. १०-१२ में, उनके कारण १२-१६ में, कारणकी अपेक्षा एक जीवके युगपत् संभवित परिषहों की संख्या सू. १७ में, इन पांच बातों पर प्रकाश डाला है।

मोक्षमार्गसे च्युत न होने और कर्मोंके क्षयार्थ जो मानसिक व शारीरीक पीड़ाएं—यातनाएं किसी मोक्षार्थीको आतो है उनको परीषह कहते है और उनका समभावों से सह लेना 'परीषह-जय' कहलाता है।

क्षुधादि लगनेपर उनके प्रतिकार न करनेको ही बहुतसे व्यक्ति परीषह—जय मान बैठते है, वास्तवमें आएहुए कष्ट का केवलप्रतिकार न करना परीषह-जय नहीं है। परीषह-जय तो प्रतिकार-उपाय न करतेहुए तत्संबंधी कोईभी विकल्प न उठनेपर ही होता है। किसीने भूख आदि मेटनेका उपाय तो न किया किंतु वह भूखादि अनिष्ट संयोग होनेपर अंतरंगमें कुढता रहा और रति आदिका कारण इष्ट सामग्री मिलने पर सुख मानता रहा तो भला दुःख सुख रूप भावोंसे संवर निर्जरा कैसे संभव है? इसीलिए दुःख सुखके के कारण

दोहा—धर्म स्थिर अरु निर्जरार्थ, जय—परिषह द्वै बीस।
क्षुत्पिपासा आदि जो, भाषी जिन जगदीस ॥५॥

मिलनेपर प्रति कार न करतेहुए अंतरंगमें किसी प्रकार दुख सुख न मानते ज्ञाता दृष्टा मात्र बने रहनेपर ही यथार्थ परीषह—जय होता है।

परीषहों के नाम

क्षुत्पिपासा शीतोष्ण दंशमशक नाग्न्यारति स्त्री चर्या निषद्या शय्याक्रोशवध याचना लाभ रोग तृणस्पर्श मल सत्कार पुरस्कार प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥९॥

शब्दार्थ—क्षत्=भूख। पिपासा=प्यास। शीत=सर्दी। उष्ण=गर्मी। दंश मशक डांस मच्छर। नाग्न्य=नंगापन। चर्या=चलना। निषद्या=आसन। शय्या=सोना। आक्रोश=दुर्वचन। सत्कार पुरस्कार=आदर मान। प्रज्ञा=बुद्धि, विद्वता।

नोट—इस सूत्र में 'दर्शनानि' के आगे 'परीषहाः परिषोढव्याः' की अनुवृत्ति इस से पहले सूत्र से लेनी चाहिए।

अर्थः-१ भूखकी २ प्यासकी ३ सर्दीकी ४ गर्मीकी५ डांस मच्छर आदिके काटने की ६ नंगेपनकी ७ अरति-संयममें अरुचिकी ८ स्त्री (अवलोकन वा स्पर्शन) की ९ (पैदल) चलनेकी १०आसन-बैठने की११सोनेकी१२दुर्वचनोंकी १३वधकी-मारने—पीटनेकी। १४ याचना-मांगने की १५ अलाभ—आहारादि न मिलनेकी १६ रोगकी १७ तृणस्पर्श-कांटादि चुभनेकी १८ मल-मैले शरीरकी १९ आदर-सत्कार न होनेकी २० द्विताके मदकी २१ अज्ञान-ज्ञानन होनेकीओर २२ अदर्शन-अश्रद्धानकी ऐसी २२ परीषहसंमभावों से सहन करने योग्य हैं।

विशेष-भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, दंशमशक, चर्या शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल की यह ११ परीषह-पीड़ाएं असाता वेदनीय कर्म के उदय अथवा उदीरणामें होती है। छटे गुणस्थानसे आगे वेदनीयकी उदीरणा तो होती ही नहीं, हां उदय हो सकता है किन्तु आगे असाताका उदय साता रूप होकर उदय आता है और वह भी ध्यान लीन होनेके कारण बिना पता चले स्वयमेव खिर जाता है। छटे गुणस्थानवर्ती मुनिको अथवा इससे नीचे गुणस्थानोंमें ही यह क्षुधा तृषा आदिकी पीड़ाएं हुआ करती हैं। इसलिए उनका सहना अथवा जीतना सातवें गुणस्थानसे पहले-पहले ही बनता है।

प्रश्न-आगेके गुणस्थानोंमें श्री आचार्य ने परीषहोंका वर्णन फिर क्यों किया? इस के उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि परीषहोंके कारणस्वरूप कर्मोंकासत्तामें रहने से उनका वहां पर वर्णन उपचारसे अर्थात् कहने मात्र है।

मुनियों को तो विशेष रूपसे इनके जीतनेका उपदेश है, श्रावकोंको भी जहांतक हो सके नरकादिके दुःखोंका तथा आत्म-स्वरूपका चिंतवन करते हुए इनपर विजय पानेका प्रयत्न करते रहना चाहिए। भूख प्यास शीत आदिकी पीड़ाको समता सहित

सहन करनेका सबसे उत्तम तथा अचूक उपाय आत्माके स्वरूपको बिना भूख बिना प्यास का, अस्पर्श, अरोग आदि समझना और ऐसा ही स्वयं कोबार बार चिंतवन करना और फिर उन-भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदिको धैर्य रूपी जलसे शांत करना है। सम्यग्दृष्टि विचारता है—

दो० मैं नितखुलइकशुद्ध अरु,दर्शन ज्ञानस्वरूप। परद्रव्य इकपरमाणुभी,नहिं होवे मम रूप॥३८
कर्मोदय के फल विविध,वरणे श्री जिनराव। तेतो मम स्वभाव नहीं,मैंइक ज्ञायकभाव॥१६८

अनंत बल के धनी 'मुझे' क्षुधा संबंधी निर्बलता कैसी !! आत्मीक रसके पीने वाले 'मुझे' क्षणिक प्यासके बुझानेवाले जलकी इच्छा कैसे हो सकती है !!

परीषहों का विशेष वर्णन सूत्र १३, १४, १५ में देखिए।

१० वें गुणस्थानसे १२ वें तक परीषह—उपचार से

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

शब्दार्थ—सूक्ष्म सांपराय वीतरागे=१० वें गुणस्थानवाले वीतराग मुनिमें (के)। छद्मस्थवीतरागयोः=११और १२ वें गुणस्थानवाले वीतरागी मुनियोंके। चतुर्दश=१४परीषह।

अर्थ—१० वें,११वें और१२वें गुणस्थानवाले वीतरागी मुनियों के१४परीषह होती है।

विशेष—आत्म विकास में सर्व प्रथम मोहनीय कर्म का अभाव होता है। १० वें सूक्ष्म सांपराय नामके गुणस्थानमें मोहका उदय अत्यंत ही अल्प नहीं-जैसा ही होता है, ११ वें उपशांत कषायमें मोहनीयकी सत्ता तो रहती है किंतु वह पूर्णतया उपशम दशामें रहता है और १२ वें क्षीणकषायमें मोहका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः इन तीन गुण स्थानोंमें मोहनीयके उदयमें होनेवाली परीषह नहीं हो पाती। अदर्शन परीषह दर्शन मोहनीयके उदयमें और १ नग्नता २ अरति ३ स्त्री ४ निषद्या ५ आक्रोश ६ याचना ७ सत्कार—पुरस्कार परीषह चारित्र मोहनीयके उदयमें होता है। (देखो आगे सू० १४,१५)। अतः २२ परीषहोंमें से यह ८ परिषह १० वें ११ वें १२ वें गुणस्थानोंमें नहीं होती। इसलिए परिशेष न्यायसे इन गुणस्थानोंमें (२२—८)=१४ परीषहोंका होना बनता है। वे १४ परीषह १ क्षुधा २ तृषा ३ शीत ४ उष्ण ५ दंशमशक ६ चर्या ७ शय्या ८ बध ९ अलाभ १० रोग ११ तृणस्पर्श १२ मल १३ प्रज्ञा और १४ अज्ञान रूप होती है।

निश्चयनयसे तो इन गुणस्थानोंमें कोईभी परीषह नहीं किंतु इनमें ऊपर जो १४ परीषहोंका होना कहा है वह व्यवहारनय अर्थात् उपचारसे कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि

दो०— गुण स्थान, दस ग्यारवें, बारह में दस चार।
सब बादर सांपराय में, जिन में ग्यारह धार ॥६॥

वास्तवमें हैं तो नहीं किंतु निमित्तादि की अपेक्षा कहनेका उपचार-व्यवहार किया गया है। इस प्रकार जाननेसे ही दोनों नयोंका ग्रहण बनता है, किंतु दोनों नयोंके ज्ञानको समान रूपसे यथार्थ जानना अर्थात् इन गुणस्थानोंमें 'परीषह है यहभी ठीक और 'परीषह नहीं है' यहभी ठीक ऐसी भ्रमरूप मान्यता न यथार्थ है और न इस प्रकार दोनों नयोंका ठीक ग्रहण ही बनता है। व्यवहार-उपचार तो अभूतार्थ होता है व्यवहार को व्यवहाररूपसे अर्थात् अभूतार्थपनेसे-असत्य रूपसे और निश्चयको यथार्थपने सेसत् रूपसे जानना दोनों नयोंका वास्तविक ग्रहण है।

उपचार से-जिन भगवान के परीषह

एकादश जिने ॥११॥

शब्दार्थ-जिने=१३ वें १४ वें गुणस्थानमें स्थित सयोगी अयोगीकेवली भगवानमें (के)।

अर्थ-१३ वें गुणस्थानमें सयोगी और १४ वें गुणस्थानमें अयोगी केवली भगवानके ११ परीषह-क्षुधा २ तृषा ३ शीत ४उष्ण५ दंशमशक ६चर्या ७ शय्या८ वध ९रोग १०तृण स्पर्श ११ मल-का होना संभव (उपचार से) है।

विशेष-जब सूत्र ९, १० के विशेषानुसार ७ वें से १२ वें तकके गुणस्थानोंमें ही कोई परीषह नहीं होती तो १३ वें में स्थित केवलीके जहां अनंतवीर्य प्रकट होआता है भला फिर कैसे किसी परीषहका होना संभव हो सकता है। फिरभी यहां जो भूख प्यास आदि ग्यारह परीषहोंका होना बताया है वह वेदनीयकर्मरूप निमित्तकी अपेक्षा कहनेका उपचार मात्र कियाहै। वास्तवमें उनके फलोदयरूप एकभी परीषह नहीं होती अर्थात् केवली भगवान के वेदनीयकर्मका परीषहरूप फल नहीं होता।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब केवली भगवान को भूख नहीं लगती और न वह आहार (कवलाहार) करते हैं तो फिर उनके औदारिक शरीरकी स्थिति कुछ कम करोड़ पूर्व वर्षतक कैसे रह आती है ?

उत्तर-आहार छः प्रकारका होता है १ नोकर्म आहार २ कर्म आहार ३ कवलाहार ४ लेपाहार ५ ओज आहार ६ मनसा आहार। यह छः प्रकारके आहार यथासंभव देहकी स्थिति के कारण हैं। केवली के कर्म के क्षयसे अनंतलाभ प्रकट होने से उनके परमौदारिक शरीरके साथ अपूर्व असाधारण पुद्गलोंका प्रतिसमय संबंधहोता रहता है, और चूंकि समस्त प्राणियोंके शरीरकी स्थितिका मूल कारण आयुकर्मका उदय है, यह आयुकर्मका उदय केवलीके भी है अतः यह कर्म नोकर्म ही केवलीके देहकी स्थितिके कारण है और कुछ नहीं।

मनुष्यों और तिर्यंचोंके कवलाहार, वृक्ष जातिके लेपाहार, पक्षियोंके अण्डोंके ओज आहार होता है। शुक्र नामकी धातुकी उपधातु 'ओज' है, अण्डोंको पक्षी सेते हैं वह उष्णता ओज

आहार नहींहै । देवोंकीक्षुधामनसे तृप्तहो जाती अतःउनका आहार मनसाआहार कहलाताहै ।

छटे से नवें गुणस्थान तक परीषह

बादर साम्पराये सर्वे ॥१२॥

शब्दार्थ-बादर=स्थूल,मोटी,तेज । साम्पराये=कषायवालोंमें । सर्वे=सबकी सब२२परीषह

अर्थ-स्थूलकषायवाले अर्थात् प्रमत्त छटे,अप्रमत्त सातवें, अपूर्व करण आठवें और अनिवृत्त करण नवें गुणस्थानवाले मुनियोंके यथायोग्य सब परीषहोंका होना संभव है ।

विशेष-छटेसे नवें गुणस्थानतक बादर सांपरायवाले गुणस्थान हैं । इनमें परीषहों के कारण ज्ञानावरण, मोहनीय, अंतराय और वेदनीय चारों कर्मोंका उदय रहता है, अतः यहां सभीपरीषहोंका होनासंभव है । हां जितने अंशमें मुनि उनकेउदयमें एकत्व बुद्धिछोड़ता जायगा उतनाउतना ही उसके परीषह-जय होता जायगा । अदर्शन परीषहका कारण दर्शन मोहनीय का उदय है, यह उदय सातवें गुणस्थानसे आगे होता नहीं, इसलिए सातवें से आगे अदर्शन परीषह नहीं हो सकती । सूत्र ९ का विशेष यहां भी ध्यानमें रखना चाहिए ।

नोट—छटे गुणस्थानसे पहले तो बादर सांपराय है ही अतः वहां भी सबही परीषह उदय में आ सकती हैं और आती भी रहती है ।

ज्ञानावरण के उदयमें होने वाली परीषह

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

शब्दार्थ—ज्ञानावरणे=ज्ञानावरणकर्मके उदयमें । प्रज्ञा=ज्ञान, विद्वता, अज्ञाने=ज्ञान न होने—अज्ञानकी (दो परीषह) ।

अर्थ—ज्ञानावरणकर्मके उदयमें प्रज्ञा परीषह तथा अज्ञान परीषह होती है ।

विशेष-यहां प्रश्न होता है कि ज्ञानावरणकर्म के उदयमें अज्ञानका होना तो बनता है किंतु प्रज्ञा-ज्ञानका होना कैसे संभव है और प्रज्ञाका अस्तित्व ही न बनने से उसका मद-अहंकार ही क्या ?

समा—ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई मंद प्रज्ञा ही अहंकार उपजाती है । १३ वें १४ वें गुणस्थानमें सब ज्ञानावरणके नाश हो जानेसे वहां प्रज्ञाका मद नहीं होगा, प्रज्ञा अथवा विद्वता का मद क्षयोपशम ज्ञानी के ही होता है और उसके ज्ञानावरण का उदय विद्यमान है ही, अतः प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरणकर्मके उदयमें ही होती है । हां

दोहा—उदय ज्ञानावरण में, परीषह ज्ञान अज्ञान ।
भेद अरु दर्शन मोह में, अलाभ अदर्शन जान ॥७॥

बहुतसे जीवोंके मोहके उदयमें भी ऐसा भाव होता है कि 'मैं महा पंडित हूँ, मेरी बराबरी करने वाला अन्य कोई नहीं,' किन्तु यहां इसका ग्रहण नहीं है। चौथे, पांचवें, छटे गुणस्थानवर्ती ज्ञानी जीव मोहनीय कर्मके उदयमें जितनी जोड़ रूप बुद्धि कर लेता है उसको भी उतना ही यह ज्ञान-प्रज्ञा का मद आ जाता है किंतु वही ज्ञानी जब अपने पुरुषार्थ से उस मोहनीय के उदय में उससे जितने अंश अपनी बुद्धि को हटाता जाता है उतना ही उस के प्रज्ञा परीषह जय हो जाता है।

दर्शन मोहनीय और अंतराय के उदय में–परीषह

दर्शन मोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

शब्दार्थ–दर्शन मोहांतराययोः=दर्शन मोहनीयऔर अंतराय दोनों (कर्मोंके उदय) में। अदर्शन अलाभौ–अदर्शन और अलाभ दो (क्रम) से।

अर्थ–दर्शन मोहनीय (सम्यक् प्रकृति) कर्मके उदयमें दीक्षा आदिमें अनुत्साहरूप रुचि अदर्शन परिषहऔर अंतरायकर्मके उदयमें अलाभ (लाभ न होने रूप) परीषह होती है।

चारित्र मोहनीय के उदय में होने वाली परीषह

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्री निषद्याक्रोश याचना सत्कार पुरस्काराः ॥१५॥

अर्थ–चारित्रमोहनीय कर्मके उदयमें १ नाग्न्य २ अरति ३ स्त्री ४ निषद्या ५ आक्रोश ६ याचना ७ सत्कार पुरस्कार यह सात परीषह होती है।

वेदनीय कर्म के उदय में होने वाली

वेदनीये शेषा ॥१६॥

अर्थः–वेदनीय कर्म के उदय में शेष रही ११ परीषह–१ क्षुधा २ तृषा ३ शीत ४ उष्ण ५ दंशमशक ६ चर्या ७ शय्या ८ वध ९ रोग १० तृणस्पर्श ११ मल-होती है।

विशेष–वेदनीय कर्म का उदय हो किंतु जो मोहनीय और अंतराय कर्म का उदय न हो तो जीव के विकार नहीं होता जैसे १३, १४ वें गुण स्थानों में क्योंकि यहाँ पर जीवके अनंतदर्शन अनंतज्ञान अनतवीर्य अनंतसुख प्रकट हो जाता है (देखो सू० ११ का विशेष)।

वेदनीय कर्मका उदय होऔर मोहनीय कर्मका मंद उदय हो तो भी वह विकारका निमित्त नहीं होता (देखो सू० १० का विशेष) तबभी जीवके बहुत पुरुषार्थ प्रकट हो जाता है।

दोहा–नाग्न्य अरति अरु याचना, नारि निषद्याक्रोश।
पुरस्कार युत सात यह, चरित मोह के जोश ॥८॥

८ वें से १४ वें गुणस्थान तक संपूर्ण परीषह-जय रहता है अर्थात् यहाँ कोई परीषह फलोदय रूप नहीं होती। इन गुणस्थानों में परीषहों का जो अस्तित्व कहा है वह जिन कर्मों के कारण जो परीषह हो सकती है वहाँ उनके उदय का अस्तित्व होने से उपचार मात्र कही है अर्थात् कहने मात्र को हैं, वास्तव में है नहीं !

शंका—चर्या और शय्या को वेदनीय-निमित्तक और निषद्या को मोहनीय—निमित्तक कहा है। ये तीनों परीषह एक श्रेणी की है, फिर क्या कारण है कि ऐसा भेद किया गया है ? यदि चर्या और शय्या परीषह वेदनीय-निमित्तक होते है तो निषद्या को भी वेदनीय निमित्तक क्यों न मानें ?

समा-प्राणि-पीड़ा रूप परिणाम मोहोदय से होता है और निषद्या परीषही जय में इस प्रकारके परिणामपर विजय पानेकी मुख्यता है इसलिए इसे चारित्रमोहनीय—निमित्तक कहा है।इस अपेक्षासे चर्याऔर शय्याको भी मोहनीय निमित्तक कह सकतेथे परवहाँ कंटक आदिके निमित्तसे होनेवाली वेदनाकी मुख्यता करकेयह दोनों परीषह वेदनीय-निमित्तककहीं है।

तात्पर्य यह है कि इन तीनों परीषहों में प्राणि-पीड़ा और कंटकादि-निमित्तक वेदना ये दोनों कार्य संभव है अतः इन दोनों कार्यों का परिज्ञान कराने के लिये निषद्या को मोहनीय और शेष दो को वेदनीय निमित्तक कहा है।

एक जीव के एक साथ संभवित परीषहों की संख्या

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोन विंशतेः ॥१७॥

शब्दार्थ-एकादयः=एक आदि। भाज्या=भाग की हुई। युगपत्=एक साथ। एकस्मिन्= एक (जीव-मुनि) में। एकोनविंशते=एक कम बीस १९।

अर्थ-एक जीव-मुनि में एक साथ एक को आदि लेकर (अधिक से अधिक) उन्नीस परीषह तक हो सकती है, (क्योंकि एक साथ शीत उष्ण दो विरोधी परीषहों में से कोई एक और शय्या चर्या निषद्या इन तीन विरोधी परीषहों में से कोई एक ही परीषह होगी)।

विशेष-२२ परीषहों में से एकसाथ एकजीव-आत्मा-मुनि में शीत तथा उष्ण यह दोनों परीषह नहीं हो सकतीं क्योंकि शीत और उष्ण का परस्पर अत्यंत विरोध है। इसी प्रकार चर्या, शय्या तथानिषद्या इन तीन में से जब कोई सी एक होतीहै तब शेषदो नहींहो सकतीं क्योंकि चर्या[चलना], शय्या[सोना]और निषद्या [खड़ा होना] इनमें भी परस्पर विरोध होने से

वेदनीय के उदय में, शेष परीषह मान
एक आदि उन्नीस तक, परिषह युगपत् जान ॥९॥

जब चलना होगा तब सोना व खड़ा होना नहीं बन सकता, ऐसे ही जब शय्या होगी तब निषद्या व चर्या न होंगी, जब निषद्या होगी तब शय्या व चर्या न हो सकेंगी। अतः किसी के एक साथ एक, किसी के दो, किसी के तीन इस क्रमसे उन्नीस परीषह तक संभव हो सकती है अधिक नहीं।

प्रश्न-प्रज्ञा और अज्ञान में भी परस्पर विरोध है फिर इनका एक साथ होना कैसे?

उत्तर-प्रज्ञा परीषह श्रुतज्ञान की अपेक्षा से और अज्ञान परीषह अवधिज्ञान की विवक्षा से होती है, इसलिए इन दोनों का एक साथ होना बन जाता है।

चारित्र के पांच भेद

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमितिचारित्रम्॥१८॥

अर्थ—चारित्र के ५ भेद हैं १ सामायिकचारित्र (सब पाप क्रियाओंकेत्यागरूप समभावमें लीनता) २ छेदोपस्थापनाचरित्र (दोषका प्रायश्चित लेकर फिर व्रत धारण करना) ३ परिहारविशुद्धिचारित्र (मिथ्यात्व और जीवोंको पीड़ा के त्यागसे विशेष शुद्धि) ४ सूक्ष्म सांपरायचारित्र (दसवेंगुणस्थानका सूक्ष्मलोभ सहित चारित्र) ५यथाख्यात चारित्र (आत्म स्वभावमें पूर्ण स्थिरता)।

विशेष—मात्र हिंसादिक पापोंके त्यागको चारित्र मानकर अणुव्रत महाव्रत आदिरूप उपयोगको उपादेय समझना ठीक नहीं है। महाव्रत अणुव्रत तो आस्रव बंधका कारण हैं किंतु चारित्र संवर निर्जरारूप होनेसे मोक्षका कारण है, अतः अणुव्रत महाव्रत आदि आस्रव भावोंके चारित्रपना नहीं बनता। कषाय रहित उदासीन भावका नाम ही चारित्र है। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् कुछ वीतराग भाव और कुछ सराग भाव होते हैं, उनमें जो भाव जितने अंश वीतराग—उदासीनरूप हैं वही चारित्ररूप हैं और वही संवरके कारण हैं।

आशंका—ऊपर कहा है कि अणुव्रत महाव्रतोंको चारित्रपना नहीं बनता तो फिर इन्हें अन्यत्र चारित्रके भेदोंमें क्यों कहे हैं?

समाः—वहाँ व्यवहारचारित्रके वर्णनमें इनको चारित्रके भेद करके कहा है। व्यवहार नाम उपचारका है, उपचार कहने मात्रको कहते हैं, फिर बात यह है कि महाव्रत आदि होनेपर ही वीतराग चारित्र होता है। ऐसा संबंध जानकर महाव्रत आदिमें चारित्रका उपचार किया है, निश्चयसे तो निः कषायभाव ही सच्चा चारित्र है।

१ सामायिक चारित्र-सब सावद्य-पाप कर्मों तथा शुभाशुभ भावोंको छोड़ अपने शुद्ध

दोहा—सामायिक छेदस्थापना, अरु विशुद्धि—परिहार।
यथाख्यात सांपराय—अल्प, चारित पंच प्रकार ॥१०॥

आत्माके स्वरूपमें लीन होना सामायिक चारित्र है, यह छटेसे नवें गुणस्थानतक होता है।

२ छेदोपस्थापना चारित्र-कोई मुनि प्रमाद वश सामायिक चारित्रसे चिग सावद्य रूप हो जावे, फिर प्रायश्चित द्वारा उस सावद्य व्यापार जनित दोषको छेद अपनेको संयम-चारित्र में स्थिर करे तब उसके छेदोपस्थाना चारित्र होता है। यह चारित्र भी छटेसे नवें गुण स्थान तक ही होता है।

३ परिहार विशुद्धि चारित्र—मिथ्यात्व तथा जीवोंकी पीड़ाके परिहार—परित्याग विशेष त्यागसे विशेष विशुद्धिका होना परिहार विशुद्धि चारित्र है। जन्मसे ३० वर्षतक सुखी रहकर दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकरके पादमूलमें आठ वर्षतक प्रत्याख्यान नामक नवें पूर्व के अध्ययन करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके यह चारित्र होता है। वह जीवोंकी उत्पत्ति और मरणके ठिकाने, कालकी मर्यादा, जन्म, योनिके भेद,द्रव्य क्षेत्रके स्वभाव, विधि व विधान का जाननेवाला, प्रमाद रहित, अति कठिन आचरण का धारी, महा वीर्यवान होता है। विशुद्धताकेबलसे उसके विशेष निर्जरा होती रहती है।

इस संयमवाला मुनि जीव-राशिमें विहार करता हुआभी हिंसासे लिप्त नहीं होता। यह संध्या कालोंको छोड़कर दो कोसतक प्रति दिन गमन करता है, रात्रिमें गमन नहीं करता। वर्षा कालमें वह नियमानुसार चाहे गमन करे चाहे न करे।

परिहार विशुद्धि चारित्रका जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है क्योंकि यह छटे सातवें गुण स्थानोंमें होता है जो अंतर्मुहूर्तमें गुणस्थान पलट जाय तो यह संयम छूट जाता है, इसका उत्कृष्ट काल ३८ वर्ष कम १ करोड पूर्व वर्ष है क्यों कि मनुष्यकी उत्पत्तिके दिनके ३० वर्ष बाद दीक्षित होकर ८ वर्ष तीर्थंकर के निकट रहनेके पश्चात् यह चारित्र होता है और व्रती मनुष्यकी उत्कृष्ट आयु १ करोड़ पूर्व वर्ष है।

४ सूक्ष्म सांपराय चारित्र—उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणीमें अति सूक्ष्म (लोभ) कषायके उदयसे दसवें सूक्ष्मसांपराय नामके गुणस्थानमें जो सयम होता है वह सूक्ष्म सांपराय चारित्र है। इस चारित्रमें यथाख्यात चारित्र परिणामोंसे कुछ ही हीन परिणाम होते हैं।

५ यथाख्यात चारित्र—चारित्रमोहनीयकर्मके सर्वथा उपशमसे ११वें में अथवा इसी कर्मके सर्वथा क्षयसे १२ वें१३वें और १४ वें गुणस्थानोंमें यथावस्थित वीतराग निर्विकार आत्म—स्वभावकी उपलब्धि वा प्रकटता यथाख्यात चारित्र है।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि,सूक्ष्मसांप राय और यथाख्यात चारित्रका क्रमवार कथन है, सो अगले अगले चारित्रमें पहले पहलेसे अनंतगुणी विशुद्धता होती है।

यहाँ तक अर्थात् सू० १८ तक दूसरे सूत्र में वर्णित संवर के छः कारणों *का वर्णन* हुआ आगे निर्जरा तत्व का वर्णन चलेगा—

निर्जरा तत्व

इसी अध्यायके सूत्र ३ 'तपसा निर्जरा च' में बताया है कि तपसे निर्जरा होती है, तप दो प्रकार है १ वाह्यतप २ आभ्यंतरतप।

वाह्य तप के भेद

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशवाह्यतपः

शब्दार्थ—अनशन=अन्+अशन=नहीं खाना, भोजनका त्याग, व्रत उपवास करना। अवमौदर्य-अवम्=खाली, औदर्य=पेट=खाली पेट, पेटका कुछ खाली रखना अर्थात् अल्प आहार करना, वृत्तिपरिसंख्यान=भोज्य पदार्थ, घर आदिकी संख्याका नियम—आखड़ी। रस परित्याग=गुड़, घी दूध, दही, तेल, नमक छः रसोंमें से एक, कुछ अथवा सबका त्याग। विविक्तशय्यासन=निरुपद्रव, एकांत शून्यस्थानमें सोना, बैठना, रहना। कायक्लेश=शरीरसे ममत्व त्याग उसे कठिन कठिन तपोंमें लगाना, शरीरको साधना। बाह्य=बाहरके, जो इंद्रियोंसे देखने ग्रहण करनेमें आवें।

अर्थ-सम्यक् अनशन, सम्यक् अवमौदर्य, सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान, सम्यक् रसत्याग, सम्यक् विविक्तशय्यासन और सम्यक् कायक्लेश वाह्यतप हैं-यह बाह्यतपके छःभेद हैं।

उपचार से-जिन भगवान के परीषह

एकादश जिने ॥११॥

विशेष—श्री, अमृतचन्द्राचार्यके शब्दोंमें 'स्वरूप विश्रांत निस्तरंग चैतन्य प्रतपन' तप है (प्रवचन सार गा. १४ संस्कृतटीका)। वास्तवमें 'स्वरूप विश्रांत निस्तरंग चैतन्य प्रतपन' ही तप ठहरता है क्योंकि यही १४ वें गुणस्थानतक ध्यानरूप मे चलता है और इसीसे १३ वें १४ वें गुणस्थानोंमें शेष कर्मोंकी निर्जरा होती है। इन्हीं आचार्य द्वारा तात्वार्थसार अधि. ७ पृ. ३६० पर कहा हुआ तपका लक्षण 'पर' कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्' (भलेप्रकार कर्मोंके नाशके लिए जो तपा जाता है वह तप है) भी पूर्णरूपेण ठीक उतरता है, चौदहवें गुणस्थानके अंततक ध्यानरूप तपद्वारा कर्मोंका नाश होता है। 'इच्छा-इंद्रिय निरोधो तपः' यह तो ११ वें गुणस्थानतक ही कार्यकारी है, १३वें१४वें मे इंद्रिय और मन का व्यापार है हो नहीं और इच्छाका अभाव तो १० वें गुणस्थानके अंतमें हो जाता है फिर भी पहली दशामें समझने के लिये इसका भी ग्रहण कर लिया गया है। इसलिए)आध्यात्मिक (ज्ञाता

दोहा—अनशन अवमौदर्य वृत्ति,—परिसंख्या रसत्याग।
विक्तशय्यासन क्लेशतन, बाहिज षट् तप लाग ॥११॥

दृष्टा चैतन्य स्वरूपमें मग्नताके) बलकी साधनाके लिए इंद्रियद्वार और मनको जिन जिन उपायोंसे तपाया जाता है वे सभी तप हैं।

तपके बाह्य और आभ्यंतर ऐसे दोभेद हैं। जिसमें है शारीरकी क्रियाकी प्रधानता होती है तथा जो बाह्यद्रव्योंकी अपेक्षावाला होनेसे दूसरोंको भी दिख सकता है वह बाह्यतप है, इसके विपरीत जिसमें मानसिक (मनको आत्माके जोड़रूप) क्रियाकी प्रधानता हो और जो मुख्यरूपसे बाह्य द्रव्योंकी अपेक्षा न रखनेके कारण दूसरोको भी न दिख सके वह आभ्यंतर तप है। बाह्यतपकी महत्ता आभ्यंतरतपमें उपयोगी होनेकी दृष्टिसे ही मानी गई है। इस सूत्रमें भी 'सम्यक्' शब्दकी अनुवृत्ति इसी अध्याय के सू ४ से आती है।

१ सम्यक् अनशनतप-'अशनका स्वभाव मेरा नहीं' बारबार ऐसी भावना होना और अपने चैतन्य स्वभावमें भाव जाना अंतरंग अनशनतप है और बाह्यमें भोजन नहीं करना सो बाह्यअनशन तप है। लौकिक ख्याति, लाभ, मंत्रसाधन, रोगभय आदिकी प्रवृत्तिकी इच्छा रहित संयमकी सिद्धिके लिए, राग भावोंके विनाशके लिए, कर्मोंके क्षयके लिए, ध्यान और स्वाध्यायकी प्राप्तिके लिए जो भोजनका त्याग रूप उपवास व्रतादि करना है सो सम्यक् अनशनतप है। हाँ यदि आहारको छोड़े विषय कषाय आरम्भ को न छोड़े तो केवल क्लेश—मात्र ही है, कर्मनिर्जरा तो क्लेश छोड़ साम्यभावसे होती है।

२ सम्यक् अवमौदर्यतप-संयमकी वृद्धिके लिए, निद्राको जीतनेके लिए, वात पित्त कफ रूप त्रिदोषको प्रशमनके लिए, संतोष स्वाध्याय आदिकी सुखसे सिद्धिके लिए न्यून आहारता-कमखाना—कुछ खाली पेट रखना सम्यक् अवमौदर्यतप है। जो कीर्ति मान के लिए, मिष्ट भोजनके लिए कपटसे अल्प भोजन करते हैं उनका कमखाना निष्फल है, तप नही है पाखंड है। यदि अल्पाहारसे चित्तमें संतोष न आवे, केवल दिखावेके लिए अथवा आज मैं ने अल्पाहारका नियम लिया है इसलिए थोड़ा खानाचाहिए आदि अभिप्राय से कम भोजन करना अवमौदर्य तप नहीं है। बच्चा जैसे थोड़ा खाना खा पीकर खेल कूदकी धुनमें बाहर भाग जाता है इसी तरह मुनि आत्म-क्रीड़ाकी धुनमें जो कुछजैसा शुद्ध भोजन मिले उसे थोड़ासा खाकर संतुष्ट हो चल देता है, उसे यह ध्यानभी नहीं आता कि 'मैं भूखा रह गया हूं, आगे जल्दी भोजनकी सुविधा बने तो ठीक है,' तब यह तप बनता है।

३ सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यानतप—आशाके अभावके लिए आहारके इच्छुक साधु का एक घर व स्थान आदिका संकल्प करके चित्तको रोकना सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यानतप है। भाव यह है कि जब मुनि आहारके लिए बन वस्तिका मंदिर आदिसे चले तो ऐसी प्रतिज्ञा करे कि एक, दो या पाँच घर ही भोजनके लिए जाना, अथवा रास्ते तथा चौहटेमें ही भोजन मिले तो लेना नगरमें नहीं जाना, विशेष, प्रकारके भोजन वा भाजनका नियम करना, विशेष

दातार जैसे पुरुषके हाथसे ही अथवा स्त्रीके हाथसे ही मिलेगा तो करेंगे नहीं तो नहीं इत्यादि ऐसे नियम करे और नियमानुसार आहारकी विधि न मिलने पर प्रसन्न मन अपनेको धन्य मानते हुए वापिस आ उपवास धारण कर ध्यान स्वाध्यायादिमें लग जावे सो सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यानतप है। जब भोजन करे तब गऊ आदि पशुकी भांति आहार करे, इधर उधर न देखे भोजनकी ओरही ध्यान रहे उसके यह तप होता है।

४ सम्यक् रसपरित्याग तप—इन्द्रियोंका उद्धतपना व अभिमान रोकनेके लिए, नींद न आनेके लिए, स्वाध्याय सहज सुखसे करनेके लिए घी आदिकपुष्ट रसोंका छोड़ना सम्यक् रस परित्यागतप है। व्रती श्रावक भी सप्ताह में प्रतिदिन रसत्यागका निम्नप्रकार अभ्यास करे-

दो०-सब्जी गुड़ शशि भौम में,घृतपय बुध गुरुवार। दही तेल शुक्र शनिश्चर,नमक तजो रविवार

प्रश्न—जैसे वृत्तिपरिसंख्यानतप में प्रतिज्ञा की ऐसे ही इसमें फिर दोनोंमें अंतर क्या?

उत्तर-वृत्ति परिसंख्यानमें तो अनेक रीतियोंकी संख्या है, यहां केवल रसका ही त्याग है। दूसरे रस परित्याग तो बहुत दिनसे चलता आ रहा हो उसे श्रावक जान भी जाय किंतु वृत्तिपरिसंख्यान बहुत दिन का नहीं होता यह तो चर्या के लिए चलते समय किया जाता है।

५ सम्यक् विविक्तशय्यासनतप-किसी प्रकार की बाधा के अभाव के लिए ब्रह्मचर्य-स्वाध्याय तथा ध्यान दिककी सिद्धिके लिए निरुपद्रव एकांत शून्य स्थान में सोना,बैठना, रहना सम्यक् विविक्तशय्यासनतप है।

६ सम्यक् कायक्लेशतप-इन्द्रियजनित सुखकी इच्छा मेटनेके लिए, शांति पूर्वक परीषह सहने के लिए, मोक्ष मार्ग की अथवा सर्वज्ञ कथित धर्मकी प्रभावना के लिए गर्मी में जलते पहाड़ के शिखर पर, जाड़ों में नदी-किनारे और वर्षा में पेड़ के नीचे खड्गासन अथवा पद्मासन से तप-ध्यान करना सम्यक् कायक्लेश तप है।

मुनि देह से निर्मम, विषयों से विरक्त और अपने आत्मस्वरूप में लीन रहते है अतः उन्हें कायक्लेश आदि तपोंमें खेद नहीं होता,भले ही दूसरोंको ऐसा प्रतीत हो कि उनको क्लेश या खेदहै फिर भी देहादिसे निस्पृह होनेके कारणउनके चित्तमें किसी प्रकारका क्षोभनहीं होता।

प्रश्न—परीषह और कायक्लेश में क्या अंतर हैं?

उत्तर—स्वयमेव अथवा अचानक कोई आपत्ति—पीड़ा या दुःख आजावे सो परीषह और अपने द्वारा की हुई (दूसरोंको दिखनेवाली) पीड़ा आदि कायक्लेश है।

बाह्यतपभी विशेष करके छटे सातवें आदि गुणस्थानवर्ती मुनियों के ही बनते हैं किंतु दूसरा अर्थात् अवमौदर्य नाम का तप तो गृहस्थियों के लिये भी विशेष लाभदायक है। जो व्यक्ति भूख से कुछ कम खावेगा वह कभी बीमार न होगा और वह सांसारिक तथा धार्मिक सभी कार्य उत्तम रीति से कर सकेगा।

शुभ अशुभ इच्छा मिटने पर ही उपयोग शुद्ध होता है तब ही निर्जरा होती है। प्रश्न होता है कि अहारादिरूप अशुभकी तो इच्छा दूरभए ही तप होता है परन्तु अनशन-उपवास आदि प्रायश्चित्तादि शुभ कार्य हैं उनकी इच्छा तो रहती ही है ?

उत्तर-ज्ञानी पुरुषों के उपवास आदि की इच्छा नहीं होती, उनके तो एक शुद्धोपयोग की इच्छा रहती है (वह भी नीची दशामें)। उपवास आदि से शुद्धोपयोग बढ़ता है इसी-लिए उपवासादि करते हैं और यदि उपवास आदिसे शरीरकी वा परिणामोंकी शिथिलता से शुद्धोपयोग शिथिल होता समझते हैं तो आहारादि ग्रहण करते है। जो उपवासादिक ही से सिद्धि होती तो अजितनाथ आदिक तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर केवल दो उपवास ही क्यों करते ? उनके तो शक्ति भी बहुत थी, परन्तु जैसे परिणाम हुए वैसे ही बाह्य साधन से एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया।

आभ्यंतर तप के भेद

प्रायश्चितविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

शब्दार्थ—प्रायस=अपराध, चित=शुद्धि, प्रायश्चित=अपराध की शुद्धि, विनय=नम्रता, शिष्टाचार। वैयावृत्य=सेवा, टहल। स्वाध्याय=स्व-आत्मा-ज्ञानका अध्ययन। व्युत्सर्ग= परिग्रहमें ममत्वका त्याग। ध्यान=दूसरे सब पदार्थोंके विचरों को रोककर एक पदार्थ-विषयका विचार। उत्तरम्=अगला, दूसरा अर्थात् आभ्यंतरतप है।

अर्थ—१ सम्यक् प्रायश्चित २ सम्यक् विनय ३ सम्यक् वैयावृत्य ४ सम्यक् स्वाध्याय ५ सम्यक् व्युत्सर्ग और ६ सम्यक् ध्यान आभ्यंतरतप है।

विशेष—१ वीतराग स्वरूप के लक्ष द्वारा प्रमादसे लगेहुए दोषोंसे अतरंग परिणामों को भले प्रकार शुद्ध करना सम्यक् प्रायश्चितहै। आवश्यक कर्त्तव्योंको न करने और छोड़ने योग्य क्रियाओंके न छोड़नेसे जो पाप होता है उसकी शुद्धि करके भावों को उज्वल करना उत्तम प्रायश्चित नाम का आभ्यंतर तप है।

२ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय में, इनके साधन, साधक तथा इनके धारियोंमें आदर बुद्धि द्वारा परिणामोंको कोमल स्वच्छ बनाना सम्यक् विनय आभ्यंतरतप है।

३ भक्तिभाव सहित शरीरकी क्रिया तथा अन्य द्रव्योंसे पूज्य पुरुषों की सेवा टहल करके अंतरंग भावों की शुद्धता करना सम्यक् वैयावृत्य आभ्यंतरतप है।

दोहा—प्राश्चित वैयावृत विनय, स्वाध्याय व्युत्सर्ग।
ध्यान कहे तप अंतरंग, साधन गति अपवर्ग ॥१२॥

४ सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके साधनरूप शास्त्रोंका आलस्य रहित भले प्रकार अभ्यास करके आत्मशुद्धि को बढ़ाते जाना सम्यक् स्वाध्याय नाम का आभ्यंतरतप है।

५ बाह्य आभ्यंतर परिग्रहको त्याग आत्माके भावों को निःसंग शुद्ध बनाना सम्यक् व्युत्सर्ग पांचवां आभ्यतरतप है।

६ मनकी सकल्प-विकल्प रूप चंचलताको छोड़ वीतराग लक्षद्वारा तत्व चिंतनवनसे भावोंको निर्मल करना सम्यक् ध्यानतप है।

इन अंतरंग तपोंमें वाह्य प्रवर्तन-क्रिया सो तो वाह्य तपों सदृश ही है अर्थात् जैसे अनशन आदि वाह्य क्रिया है तैसे यहभी वाह्य क्रिया है अतः प्रायश्चित आदि वाह्य साधन अंतरंग तप नहीं कहे जा सकते। 'ऐसी वाह्य क्रिया होतेहुए जो अंतरंग भावों को शुद्धता होती है उसका नाम अंतरंगतप है'। इसमें भी इतनी बात विशेष है कि जब बहुत शुद्धता होती है तबतो शुद्धोपयोगरूपपरिणति होती है,वहां निर्जरा हीहोती है बंध नही होता। किंतु थोड़ीशुद्धतामें शुभोपयोगका भी अंश रहता है, वहां जितनी शुद्धता हुई उससे तो निर्जरा और जितना शुभ भाव है उससे बंधही होता है। इसप्रकार जब मिश्रभाव एक साथ होता है तब बंध और निर्जरा दोनोंही साथसाथ चलती है।

आभ्यंतर तपों के भेद (उत्तर)

नव चतुर्दश पंच द्वि भेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

शब्दार्थ—प्राक्ध्यानात्=पिछले सूत्रमें आयेहुए आभ्यंतरतपोंमें 'ध्यान' से पहलोंके।

अर्थ—ध्यानसे पहलेके आभ्यंतरतपों के क्रमसे ९, ४ १०, ५ और २ भेद है अर्थात् प्रायश्चितके ९, विनयके४,वैयावृत्यके १०, स्वाध्यायके ५ और व्युत्सर्ग के २ उत्तरभेद हैं।

विशेष-इन उत्तर भेदोंका तथा ध्यानके भेदोंका वर्णन आगेके सूत्रोंमें देखिए।

१ सम्यक् प्रायश्चित तप के ९ उत्तर भेद

आलोचना प्रतिक्रमण तदुभय विवेकव्युत्सर्ग तपश्छेदपरिहारोपस्थापना।२२।

शब्दार्थ—तदुभय वे दोनों अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों मिलेहुए। उपस्थापना=फिर स्थापित होना-करना।

अर्थ-प्रायश्चित आभ्यंतर तपके १ आलोचना-अपने दोषोंका निर्मल भावोंसे गुरुके

दोहा-प्रायश्चित नव चउ विनय,वैयावृत दस भेद।
स्वाध्ययाके पाँच व्युत,-सर्ग कहे दो भेद ॥१३॥

सामने प्रकाशन २ प्रतिक्रमण-'अपराध मिथ्या होवे' ऐसी भावना ३ तदुभय-आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों मिले हुए ४ विवेक-समझके साथ सदोष आहार आदिका पुनःत्याग रूप भाव ५ व्युत्सर्ग-शरीरमें ममत्वका त्याग ६ तप-अनशन आदि तप करना ७ छेद-पहली कुछ दीक्षाका छेदना ८ परिहार-कुछ कालको संघसे बहिष्कार और ९ उपस्थापना समस्त दीक्षा छेदकर फिरसे दीक्षा लेना यह ९ उत्तर भेद हैं।

विशेष—दोष अथवा भूलकी शुद्धि करनेके अनेक प्रकार हैं, वे सभी प्रायश्चित हैं। ऊपर संक्षेपसे उनके ही ९ भेद कहे हैं। इनका कुछ विशेष वर्णन निम्न प्रकार है—

आलोचना-एकांतमें बैठेहुए प्रसन्नचित गुरु—आचार्यके सम्मुख देश कालकी मर्यादाको जानेवाले शिष्यका आलोचना संबंधी १० दोषोंको छोड़तेहुए अपने प्रमादसे लगेहुए दोषोंको विनयपूर्वक कहना आलोचना है। आलोचना संबंधी १० दोष निम्न प्रकार हैं—१आकंपित दोष—अपराधदोष-अपराध-दंडके डरसे गुरुको उपकरण आदि भेट करके दोषोंको कहना २ अनुमापितदोष-अपनेको दुर्बल बीमार विचारकर यह सोचना या कहना कि गुरुजी मुझे थोड़ा ही दंड दें तो दोष कहूँ ३ यदृष्टदोष-केवल अपने दूसरों से देखेहुए दोषोंको आलोचना करना ४ बादरदोष-केवल बड़ेबड़े दोषोंकी आलोचना करना और छोटे दोषोंको दोषरूप ही न समझना ५ सूक्ष्मदोष-कठिन प्रायश्चित-दंडके भयसे बड़ेदोषोंकी आलोचना इस अभिप्राय से करना कि गुरुजी यह समझे कि यह तो छोटे अपराध भी नहीं छिपाता ६ प्रच्छन्नदोष गुप्त दोषके प्रकट होनेके भयसे उपायांतरोंसे अपने दोषका प्रायश्चित गुरुसे जान लेना ७ शब्दाकुलितदोष-सामूहिक प्रतिक्रमणके दिन बहुत शोर गुलमें जिससे गुरुपूर्ण तया न सुन सकें आलोचना करलेना ८ बहुजनशंकित दोष-आलोचना संबंधी बताये प्रायश्चितमें विश्वास न करके शंकित रहते हुए अन्य साधुओं से उसीका प्रायश्चित पूछते रहना ९ अव्यक्तदोष-किसी भी दुष् अभिप्रायसे गुरुसे आलोचना न कर किसी अपने समान मुनिसे ही आलोचना करलेना १० तत्सेवितदोष-अपना अपराध गुरुको न कहकर उस अपराधके सदृश जो दोष किसी दूसरे मुनिको लगा है उसका प्रायश्चित जान स्वयं ही वैसा प्रायश्चित ले लेना।

मुनितो गुरुके निकट आलोचना एकांतमें ही करता है किंतु अर्जिका गुरु-आचार्यके सम्मुख किसी दूसरी अर्जिकाके साथही करती है।

प्रतिक्रमण—गुरुके बतायेहुए धर्माचरणमें कर्म उदयकी परतंत्रतासे प्रमाद द्वारा जो कुछ मुझसे अपराध होगया है वह मिथ्या होवे, इसप्रकार प्रकटरूपसे शब्द कहकर आत्मसाक्षी

आलोचन प्रतिक्रमण तदु,—भय विवेक व्युत्सर्ग।
तपः छेद परिहार उप—थापन प्रायश्चित वर्ग ॥१४॥

पूर्वक शुद्धभावोंसे दोषोंका स्वयं शोधन करना प्रतिक्रमण प्रायश्चित है।

तदुभय-कोई दोष तो आलोचना मात्रसे शुद्ध होजाता है और कोई प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है तथा कोई दोष आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंसे शुद्ध होता है। जिस प्रायश्चितमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करने होते हैं वह तदुभय प्रायश्चित है।

प्रश्न—जब प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक ही होता है तो तदुभय व्यर्थ क्यों नहीं ?

उत्तर—यह ठीक है कि प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक ही होता है किंतु आलोचना पूर्वक किये हुए प्रतिक्रमण में गुरु की आज्ञा से मोटे मोटे दुःस्वप्न आदि दोषों के प्रतिकार के लिए स्वयं प्रतिक्रमण की आज्ञा मिल जाने पर शिष्य स्वयंभी प्रतिक्रमण कर लेता है किंतु तदुभय में आलोचना-प्रतिक्रमण गुरुद्वारा ही कराये जाते है, अतः तदुभय का विधान व्यर्थ नहीं है।

विवेक—जिस अन्न-पान, उपकरण, क्षेत्रादिमें शिष्यकीअधिक आसक्तिहो उसके किसी नियत समयके लिए त्यागकी गुरु आज्ञाको समझपूर्वक सादर स्वीकार करना विवेक प्रायश्चित है।

व्युत्सर्ग-दोष कोदूर करनेके लिए जिन-स्मरण पूर्वक किसी नियत कालतक देहसे ममत्व त्याग रूप गुरु आज्ञाका सादर पालन व्युत्सर्ग प्रायश्चित है जैसा कि श्री अकंपनाचार्य की मौन रहने की आज्ञा न सुननेके अपराध शोधनमें बलि आदि मंत्रियोंसे विवाद करने वाले मुनिराजने उस रातको विवाद स्थानपर ही ध्यान लगाकर किया था।

तप-दोषकी निवृत्तिके लिए अनशन आदि तपरूप गुरुआज्ञाका पालन तप प्रायश्चित है।

छेद—कोई बड़ा अपराध बन जानेपर उसकी शुद्धि के लिए अपनी १ दिन, १५ दिन, आदि की दीक्षा छेद लेनेकी गुरु आज्ञाका सादर पालन छेद प्रायश्चित है।

परिहार-किसी अपराध शोधनके लिए कुछ कालको गुरुकी संघ से बहिष्कार आज्ञा की स्वीकारिता परिहार नामका प्रायश्चित है।

उपस्थापना-किसी महान अपराधके शोधन रूप आचार्यगुरु की समस्त दीक्षा कालको छेदनेकी आज्ञाकी स्वीकारिता और फिर से दीक्षाका ग्रहण उपस्थापना प्रायश्चित है।

आचार्य-गुरुवर जिनके समीप प्रायश्चित लिया जाता है उनमें निम्न ८ गुणहोने चाहिए

१ आचारवान-पंचाचार के पालने वाले,

२ आधारवान-प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोगों के ज्ञाता,

३ व्यवहारवान-द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार व्यवहार को जानने वाले,

४ प्रकर्ता-कुल-समस्त संघ की वैयावृत्य करने में समर्थ,

५ अपायोपायविदर्शी-रत्नत्रय के नाश तथा रक्षा के दोष गुण दिखाने वाले,

६ अवपीड़क-हितैषी, प्रभावयान,

७ अपरिस्रावी—शिष्यके दोषोंको दूसरोंपर प्रकट न करनेवाले, और
४ निर्यापक—संसार—समुद्रसे पार करनेवाले।

२ सम्यक् विनय तप ४ के भेद

ज्ञान दर्शन चारित्रोपचाराः ॥२३॥

शब्दार्थ—उपचार=व्यवहार।

अर्थ—विनय आभ्यंतर तप के ४ भेद हैं-१ ज्ञान विनय २ दर्शन विनय ३ चारित्रविनय और ४ उपचार विनय।

विशेष-वस्तुतः विनय गुणरूप से तो एक ही है, यहां जो विनयके भेद कहे हैं वे ज्ञान दर्शन आदि विषयकी दृष्टिसे हैं।

आदर पूर्वक मोक्षकी सिद्धिके लिए आलस्य रहित हो शुद्ध मनसे अपनी शक्ति अनुसार सम्यग्ज्ञानका ग्रहण, मनन-अभ्यास, स्मरण ज्ञानविनय है,

बहुमान-आदर सहित आत्मीय भावोंसे जिनेंद्र-वचनोंमें पूर्ण प्रतीति रखना दर्शनविनयहै,

शक्ति प्रमाण चारित्र धारणमें हर्ष करना, दिन प्रतिदिन विषय कषायोंको घटाना, चारित्रधारियोंके गुणोंमें अनुराग आदर करना चारित्र विनय है, और

मन वचन कायसे देव गुरु शास्त्रकी प्रत्यक्ष परोक्ष दोनोंरूप विनय करना उपचार विनय है

३ सम्यक् वैयावृत्य तप के १० भेद

आचार्योपाध्याय तपस्विशैक्ष ग्लानगण कुल संघ साधु मनोज्ञानाम् ॥२४॥

अर्थ-१ आचार्य(आचरण व्रतादि धारण करानेवाले) २ उपाध्याय (मुनियोंके पाठक) ३ तपस्वि (महातपी) ४ शैक्ष (शिष्यमुनि) ५ ग्लान (रोगग्रस्तमुनि) ६ गण (बड़े मुनियोंकी परिपाटीके) ७ कुल (दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्य) ८ संघ (चार प्रकार-ऋषि यति मुनि अनगार—संघके साधु)९साधु (बहुत कालके दीक्षित)और१०मनोज्ञ(लोक में प्रशंसावान मुनि) इन दस प्रकारके मुनियोंकीसेवा टहलकरके भावोंकी शुद्धता करना१०प्रकार का वैयावृत्यतप है

विशेष—वैयावृत्यके अर्थ सेवा, सुश्रुषा, टहलके है। सेवा-सुश्रुषाके पात्र-सेवाके योग्य जो मुनि हैं उनके दस भेद होनेसे वैयावृत्यके भी १० भेद हो गए हैं।

पंचाचार—दर्शनाचार ज्ञानाचार, तपाचार, वीर्याचार-इन पांच आचारोंको स्वयं पालने

दोहा—ज्ञान दरसन चारित्र उप,-चार विनय चउ भेद।
वाह्याभ्यंतर उपधि द्वै, हैं व्युत्सर्ग हि भेद ॥१५॥

वाले और शिष्योंसे आचरण करानेवाले 'आचार्य-गुरु' होते हैं।

श्रुतज्ञानके पारंगत महाव्रतादिके धारण करनेवाले तथा दूसरे साधुओंको पढ़ाने वाले 'उपाध्याय' हैं, यह उपाध्याय-पद आचार्यद्वारा दिया हुआ ही होता है।

जो मुनि महा कठिन उपवासादि धारणकी प्रधानता रखते, वे 'तपस्वी' कहे जाते हैं।

श्रुत ज्ञानकी शिक्षा लेनेकी मुख्यतावाले मुनि 'शैक्ष' कहलाते हैं।

जिन मुनियोंका शरीर रोगादि बाधाओं सहित है वे 'ग्लान' कहे जाते हैं।

वृद्ध मुनियोंके समुदायके मुनियोंको 'गण' कहते हैं।

जिन्होंने एकही आचार्यसे दीक्षा ली हो ऐसे समुदायके मुनि 'कुल' कहलाते हैं।

ऋषि(ऋद्धिधारी),यति श्रेणी चढनेवाले),मुनि (अवधि,मनःपर्यय, केवलज्ञानी),अनागार (सामान्य साधु) इनके समूहके मुनियोंको 'संघ' कहते हैं।

जो मुनि विद्वान,अच्छा वक्ता,महाकुलीनऔर लोक मान्य समझा जाता हो वह'मनोज्ञ'है

अपने भावोंकी शुद्धताके लिए इन दस प्रकारके मुनियोंकी मन वचन कायसे तथा बाह्य औषधि भोजन पान आदिसे उनसे अंतर बाह्य मल आदिको दूर करके सेवा सुश्रुषा करना दस प्रकारकी वैयावृत्य है।

प्रश्न-जब संघवैयावृत्य मेंही सब मुनियोंका वैयावृत्य आजाता है फिर मुनियोंके दस भेद गिनाकर वैयावृत्यका दस प्रकारका विधान क्यों ?

उत्तर-सामान्यसे तो चार प्रकारके संघकी वैयावृत्यमें ही सबका वैयावृत्य आ जाता है फिरभी विशेषरूपसे रोगी मुनिको वैयावृत्य 'ग्लान वैयावृत्य' होगी, इसी प्रकार आचार्य आदिककी जानना।

४ सम्यक् स्वाध्याय तप के ५ भेद

वाचना पृच्छना ऽ नुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः ॥२५॥

शब्दार्थ-पृच्छना=पूछना। आम्नाय=घोखना, रटना।

अर्थ—१ वाचना (आत्म कल्याणके लिए निर्दोष ग्रंथोंका स्वयं पढ़ना, दूसरोंको सुनाने अथवा पढ़ानेके लिए पढ़ना) २ पृच्छना (आत्म कल्याणके लिए पदार्थका स्वरूप निश्चय करने तथा संशय निवारणको प्रश्न करना) ३ अनुप्रेक्षा (आत्म कल्याणके लिए निश्चित कियेहुए पदार्थ स्वरूपको बारबार मनन चिंतवन करना) ४ आम्नाय (आत्म कल्याण के लिए पाठको शुद्धता पूर्वक घोखना) और५धर्मोपदेश (आत्म कल्याणके लिए

दोहा-आर्य आदि दस विधि मुनी, इन सेवा के भाव।
दस विधि वैयावृत्य तप, चउन मोक्ष को चाव ॥१६॥

मिथ्यामार्ग तथा संदेह निवृत्तिके लिए, पदार्थका स्वरूप कहनेको श्रोताओंमें सम्यग्दर्शन चारित्रकी प्रवृत्तिके लिए धर्म उपदेश करना) यह स्वाध्यायके पाँच भेद हैं।

विशेष—सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि, निर्मलज्ञानकी प्राप्ति, ज्ञानकी स्थिरता, संशयका नाश, परवादियोंकी शंका-निरसन, वैराग्य और तपकी वृद्धि, अज्ञानता और प्रमादसे व्रतोंमें लगने वाले दोषोंका शोधन, कषायोंके जीतने, इंद्रियोंके वशमें रखने, मोक्षके उपायोंमें लगे रहने इत्यादिके लिए स्वाध्याय तपका विधान है।आजकलतो सबसेबड़ातथासुसाध्य तपस्वाध्यायही है

५ सम्यक् व्युत्सर्ग तप के २ भेद

वाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥२६॥

शब्दार्थ_उपध्योः'उपधि_परिग्रह' शब्दकी षष्टीका द्विवचन अर्थात् वाह्य अंतरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका (त्याग)। व्युत्सर्ग=त्याग।

अर्थ-व्युत्सर्गतप दो प्रकारका है १ वाह्य उपधित्याग (धन धान्यआदि बाह्य परिग्रहका त्याग) २ आभ्यंतर उपधित्याग मिथ्यात्व क्रोधादि अंतरंग परिग्रहका त्याग)।

विशेष—वास्तवमें अहंकार—ममकारके छोड़नेरूप त्याग तो एकही है,फिरभी त्यागने की वस्तु वाह्य और आभ्यतर दो प्रकार होनेसे व्युत्सर्ग तपके उपरोक्त दोभेद होगए हैं।

प्रश्न—जब 'व्युत्सर्ग' का विधान प्रायश्चिततपमें करदिया गया तो यहाँ इसका पृथक विधान व्यर्थ क्यों नहीं ?

उत्तर-प्रायश्चितमें व्युत्सर्ग किसी अतीचार—दोषकी निवृत्तिके लिए है किंतु यहां त्याग तपका निरपेक्ष स्वतंत्ररूपसे विधान है। इस तपका अभिप्राय परिग्रह त्याग, भावों-परिणामों से भयकी निवृत्ति और विशेषरूपसे शरीरसे ममत्वत्यागका है।

आशंका-पंच महाव्रतोंमें परिग्रह-त्यागका उपदेश, दश धर्मोंमें त्यागधर्मका, नो प्रकार के प्रायश्चितमें व्युत्सर्गनाम प्रायश्चितका, पुनःव्युत्सर्ग तपका कथन बारबार एकही कथनसे पुनरुक्त दोष आता है।

समाः-नहीं, क्योंकि पांच महाव्रतोंमें ग्रहस्थ संबंधी उपधि-परिग्रह त्यागकी, त्याग धर्ममें आहारादि विषयक आसक्तिके कम करनेकी, व्युत्सर्ग प्रायश्चितमें परिग्रह त्याग धर्ममें लगने वाले दोषोंके मार्जनकी, और व्युत्सर्गतपमें वसतिकादि वाह्य व मनोविकार तथा शरीरादि आभ्यंतर उपधिमें आसक्तिके त्यागकी मुख्यता है अतः पुनरुक्ति दोष नहीं आता।

दोहा-श्रुत बाँचन अरु पूछना, अनुप्रेक्षा आम्नाय।
करनधर्मउपदेश हैं, भेद पाँच स्वाध्याय ॥१७॥

६ सम्यक् ध्यान का लक्षण तथा उत्कृष्ट काम

उत्तम संहननस्यैकाग्र चिंता निरोधो ध्यानमान्तमुहूर्त्तात् ॥२७॥

ध्यान के भेद

आर्त्त रौद्र धर्म्म शुक्लानि ॥२८॥

शब्दार्थ—संहनन=शरीरकी गठन, बनावट। एकाग्र=एक अग्र=एक पदार्थ-विषया चिंता=चित्तकी वृत्ति। निरोधः=निरोध, रोक ठहराव। अंतर्मुहूर्त्तात्=अंतमुहूर्ततक।

अर्थ—वृत्तिका—योगोंका अन्य सब विकल्पोंसे हटकर किसी एक विषयमें लगना 'ध्यान' है, यह (ध्यान) उत्तम संहननवाले व्यक्तिके अधिकसे अधिक अंतमुहूर्ततक हो सकता है।

विशेष-यहां 'ध्यान'का लक्षण तथा उत्कृष्ट ध्यानकी अपेक्षा उसके स्वामी अर्थात् 'ध्याता' का वर्णन है। सामान्यसे तो ध्यान छहों संहनन वालोंके हो सकता है। ध्यान करतेहुए ध्याताका चितवन जबतक चञ्चलपनसे होता है उसे 'भावना' कहते हैं और जब उसका चितवन एकाग्र होजाता है तब वह 'ध्यान' है। जघन्य ध्यानभी जघन्य अंतमुहूर्तसेकम नहीं होता 'एकका मुख्य चितवन होय अर अन्य चिता रुके, ताका नाम ध्यान है। सर्वार्थसिद्धि सूत्रकी टीका विषै यह विशेष कह्या है-जो सर्वचिता रुकनेका नाम ध्यान होय तो अचेतन-पन होय जाय। बहुरि ऐसीभी विवक्षा है-जो संतान अपेक्षा नाना ज्ञेयका भी जानना होय,परंतु यावत वीतरागता रहे-रागादिक करि आप उपयोगकौं भ्रमावै नाहीं, तावत निर्विकल्प दशा कहिए है' (मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृ. ३११)।

अर्थ-ध्यान ४ प्रकार है १ आर्त्तध्यान २ रौद्रध्यान ३ धर्म ध्यान ४ शुक्लध्यान।

विशेष-किसी विषय में चितवन का रुकना—लगना 'ध्यान' है। आर्ति नाम दुखःका है: दुःखानुभवन में चिन्ता का रुकना-लगना आर्त्तध्यान है, जैसे किसी प्रियवस्तुके वियोग के दुःखमें ही चितवनका रुकना-लगना। रुद्रके अर्थ है निर्दया-क्रूर-खोटे, खोटे विषय में ही चितवन का लगना रौद्रध्यान है जैसे हिंसा झूठ आदि विषयोंमें चितवनका लगना।

दोहा—चिंता रुक एकाग्रमन, ध्यान कहावै सोय।
संहनन उत्तम वान के, अंतरमुहरत होय ॥१८॥
दोहा—ध्यान चार विध आर्त्त अरु, रौद्र धर्म अरु शुक्ल।
मोक्ष हेतु जिनराज ने, कहे धर्म अरु शुक्ल ॥१६॥

रत्नत्रय अथवा दशलक्षण धर्मरूप विषयमें चिंतवनका रुकना धर्मध्यान है जैसे अरहंतके स्वरूपमें चिंतवनका रुकना। शुक्ल के अर्थ हैं स्वच्छ, सो स्वच्छ निः कषाय भावोंसे किसी भी एक पदार्थपर चिंतवनका लगना शुक्लध्यान है।

इनमें से पहले दो ध्यान अप्रशस्त—खोटे हैं तथा पापास्रव के कारण हैं और धर्म तथा शुक्लध्यान प्रशस्त-अच्छे हैं और पुण्यास्रव और कर्मों के नाशके हेतु हैं।

मोक्ष के कारणभूत ध्यान

परे मोक्ष हेतू ॥२९॥

शब्दार्थ-परे=अगले दो। हेतू='हेतु' का द्विवचन अर्थात् दो कारण।

अर्थ-अंतके दो ध्यान अर्थात् धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं।

नोट—इससे—परिशेष-न्यायसे—यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि पहले दो अर्थात् आर्त्त और रौद्रध्यान संसार परिभ्रमण के कारण हैं।

विशेष-धर्मध्यान और शुक्लध्यान का पहला पाया-पृथकत्ववितर्क ये दोनों शुभ कषायके सद्भावमें होते हैं अतः इनमें मिश्र उपयोग रहता है। धर्मध्यानके मिश्र उपयोगमें जितने अंश शुभकषाय है उससेतो सातिशय पुण्यास्रव होता है और जितने अंशवीतराग भाव है वह संवर निर्जराका कारण है, इसीलिए आचार्य श्री ने इसध्यानको भी मोक्षका हेतु कहा है। पृथकत्ववितर्क शुक्ल ध्यानमें अति मंद शुभ अव्यक्त कषाय का उदय होता है, अतः यहां भी शुभ-शुद्धरूप मिश्र उपयोग रहता है,यह मिश्र उपयोग किंचित अंश शुभरूपहै उससे विशेष सातिशय पुण्य बन्ध होता है और बहु अंशशुद्ध रूपहै उससे विशेष संवर निर्जरा होती है।

नोट१-सूत्र २८ के विशेष में शुक्लध्यान को निःकषाय भावोंसे होना कहा और यहां शुक्लध्यानके पहले पायेमें अतिमंद अव्यक्त कषायका उदय बताया है, फिर भी इन दोनोंमें विरोध नहीं है क्योंकि सूत्र २८ में अव्यक्त-अबुद्धिपूर्वक होने की अपेक्षा कहा है जो यहां नहीं—सा ही है।

नोट२-धर्मध्यान प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतके पूर्ण रूप से, संयतासंयतके एकदेशरूप से होता है और असंयत सम्यग्दृष्टि में तो धर्मध्यान की मात्र योग्यता रहती है। शुक्ल-ध्यानका तो आजकल अभाव ही है।

प्रत्येक ध्यान के चारचार उत्तर भेद है, इनमें आर्त्तध्यान के पहले भेद को कहते हैं-

अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान

आर्त्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

शब्दार्थ-अमनोज्ञस्य=अप्रियवस्तुके। संप्रयोगे=संयोगमें। तद् विप्रयोगाय=उसकेदूर करने

के लिए। स्मृति-याद-चिन्ता का सम्-एक सा, अनु-बारबार, आहारः=ग्रहण, स्मृति समन्वाहारः=याद=चिताका एकसा बार बार ग्रहण।

अर्थ-अप्रिय वस्तु के संयोग होने पर उसकी दूर करने के लिए बारम्बार चिता (याद-ध्यान) करना पहला अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान है।

विशेष-यह अनिष्टसंयोगज ध्यान द्वेष भाव से होता है।

इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान

विपरीत मनोज्ञस्य ॥३१॥

शब्दार्थ—विपरीतं='संप्र योगे तद् विप्र योगाय-संयोग के होनेपर दूर करने के लिए' के विपरीत अर्थात् वियोग के होने पर मिलाने के लिए। मनोज्ञस्य=प्रियवस्तु के।

अर्थ-प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिये बारबार चिता—ध्यान करना इष्ट वियोगज नामका दूसरा आर्त्तध्यान है।

नोट-'स्मृति समन्वाहार' की यहाँ भी पर भी पुनरावृत्ति है।

विशेष—इससे पहले सूत्र में अनिष्ट पदार्थ का संयोग बताया है यहां पर उससे उलटा इष्ट पदार्थ का वियोग लेना चाहिए। उस वियोग हुए हुए इष्ट पदार्थ की प्राप्ति के लिए एकाग्रचिंतन-मनकी एकाग्रता इष्ट बियोजग आर्त्तध्यान है।

पीड़ा चिंतन आर्त्तध्यान

वेदनायाश्च ॥३२॥

शब्दार्थ—वेदनायाः=वेदना—दुःख का [स्मृति समन्वाहार'-बारबार चिंतन)।

अर्थ वेदना दुःख रोग के होने पर उसकी व्याकुलताको दूर करनेकी चिता में मन का एकाग्र होना पीड़ा चितन अथवा रोग-चिंता आर्त्तध्यान है।

दो०—अप्रिय वस्तु संयोग नित,—चिंत हटाना काम।
पहला आर्त्तध्यान है, अनिष्ट संयोगज नाम ॥२०॥
दोहा—प्रिय पदार्थ के मिलन का, चिंतन बारम्बार।
दूजा आर्त्तध्यान है, इष्ट वियोगज आर ॥२१॥
दो०—पीड़ा नित चिंतन कहा, जनित वेदना आर्त।
भविष्य भोग नित चित है, नाम निदान हि आर्त ॥२२॥

निदानज आर्त्तध्यान

निदानंच ।।३३।।

शब्दार्थ-निदान-आगामी काल संबंधी विषय भोगों की इच्छा।

अर्थ-आगामी काल संबंधी विषय सुख के कारण भूत पदार्थों की इच्छा रूप चिंता में मन की एकाग्रता निदानज नाम का आर्त्तध्यान है।

विशेष-मैं स्वर्ग में देव, इंद्रादि बनूं, राज पुत्र आदि होऊं, अनेक भोग संपदाओं का स्वामी हो जाउं इत्यादि इच्छारूप चिन्ता में मग्न रहना निदानज आर्तध्यान है। अध्याय ७ सू० १८ के विशेष में निदान-शल्य वर्णन में निदान तीन तीन प्रकार कहा था सो वहीं से देखिए-उनपर अगामी इच्छा को चिंता में रत-मग्न रहना निदानज आर्त्तध्यान है।

इस प्रकार यह चार प्रकार काआर्त्तध्यान मुख्यता से कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के विशेष बल से होता है। आर्त्तध्यान के होने मे जीवका अज्ञान भाव और कषाएं कारण है। इसमें पाप का विशेष संचय होता है और यह आत्मा में अति अशांति बढ़ाता है। यह असाता के उदयमें होता है और तिर्यंचगति का कारण है।

आर्त्तध्यान के स्वामी

तदविरतदेशविरत प्रमत्तसंयतानाम् ।।३४।।

शब्दार्थ-तत्-वह (आर्त्तध्यान)। अविरत-पहले से चौथे गुणस्थानवर्ती जीव।

अर्थ-वह-आर्त्तध्यान-अविरत (पहले से चौथे गुणस्थान वालों), देशविरत (पांचवें गुण-स्थानवालों) और प्रमत्तसंयम [छटे गुणस्थान वालों] के होता है।

विशेष-निदानज आर्त्तध्यान छटे गुणस्थानवर्ती मुनियों के नहीं होता। चौथे, पांचवे, छटे गुणस्थान में जो आर्त्तध्यान होता हैवह इतना मंद और मंदतर होताहै किवह तिर्यंचआयु के बंध का कारण नही पड़ता।

पुराणों में मुनियोंद्वारा निदान करने के उदाहरण मिलते हैं पर इससे यह अर्थ नहीं, लेना चाहिए कि उन्होंने प्रमत्तसंयत अवस्था में निदान किया, प्रथम तो भावलिंगी को आगामी भोगों में आकांक्षा होती ही नहीं और कदाचित् होतीहै तो उस समयवह भावलिंगी नहीं रहता, उसके छटा गुणस्थान नही रहता।

रौद्रध्यान के भेद तथा स्वामी

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्योरौद्रमविरतदेशविरतयोः ।।३५।।

दोहा—अविरत देशविरत प्रमत्त,—के हो आर्त्त ध्यान।
मत्तसाधु के हो नहीं, आर्त श्रुहि ध्याय निदान ।।२३।।

अर्थ-रौद्र ध्यान के भी चार भेद हैं १ हिंसानंदी रौद्रध्यान [हिंसा में आनंद मानना और उस आनद में मन की एकाग्रता] २ मृषानंदी रौद्रध्यान [झूठ में आनंद मानना और उस आनंद मानना और उस आनंद में चिंतन का रुकना] ३ चौर्यानंदी रौद्रध्यान (चोरी मे आनंद मानना और उस आनंद में ही चिंतन का लगना) और ४ परिग्रहानंदी रौद्रध्यान (परिग्रह में आनंद मानना और उसमें चिंतन का रुकना) रौद्रध्यान पहले से चौथे गुणस्थान वाले अविरतों के और पांचवें गुणस्थानवर्ती देशविरतों के होता है।

नोट-'स्मृति समन्वाहारः' की यहां भी पुनरावृत्ति है।

विशेष-यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान मुख्यता से कृष्णनील कापोत इन तीन लेश्याओं की तीव्रता में होता है। इस ध्यान का फल नरक गति है।

प्रश्न—जब यह ध्यान नरक गति का कारण है तो सम्यग्दृष्टि अविरत और देशविरत के यह कैसे संभव है ?

उत्तर-चौथे पांचवें गुणस्थान में रौद्रध्यान उनके सम्यग्दर्शन तथाव्रत के प्रभाव से नरकगति का कारण नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि के तो यह ध्यान अनंतानुबंधी के अभाव में मंद ही होता है और देशविरति के तीन अशुभ लेश्या न रहने से मंदतर होता है।

धर्म ध्यान के ४ भेद

आज्ञापायविपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

शब्दार्थ-अपाय=नाश,छुटकारा । विपाक-कर्म फल। संस्थान=आकार। विचय=विचार, विचयाय=विचार के लिये। धर्म्यम्=धर्म ध्यान।

अर्थ-धर्मध्यानके ४ भेद है आज्ञाविचय [जिन वाणीको प्रमाण मान कर उसपर विचार के लिए चिंतनका रुकना] २ अपायविचय [स्व और परके मोक्षके विचरके लिए मनको एकाग्रता] ३ विपाकविचय [कर्मोंके फलपर विचारके लिए चितवनका लगना]४संस्थानविचय

दोहा०—पहले पन गुण थान तक, रौद्र ध्यान हो जान।
हिंसाऽनृत स्तेय अरु, परिग्रह—आनंद मान ॥२४॥
दो:— आज्ञापाय विपाक अरु, संस्थान विचयाय।
धर्म ध्यान चउ विध कहा, नित तिस को ही ध्याय ॥२५॥

(आकार-लोक, जीवादि पदार्थोंके आकार पर विचार का रुकना)।

विशेष-उपदेष्टा के अभाव में, कर्मोदय से मंदबुद्धि होने पर, सूक्ष्म तथा दूरवर्ती पदार्थों का निर्णय न होने पर सर्वज्ञके कहे आगम-वाक्योंको प्रमाण मानना जिन-आज्ञा मानना है। ऐसे सर्वज्ञकथित आगमवाक्य पर विचार करते हुए चिंतनका रुकना आज्ञाविचयध्यान है।

'प्रयोजनभूत कथन की परीक्षा करि जहां सांच भासै तिस मतकी सर्व आज्ञा मानै सो परीक्षा किये जैन मत ही सांचा भासै है। जातैं याका वक्ता सर्वज्ञ वीतराग है, सो झूठ काहे को कहै ऐसे जिनआज्ञा मानै सौ सांचाश्रद्धान होय ताका नाम आज्ञासम्यक्त्व है। बहुरि जहां एकाग्र चिंतवन होय ताही का नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान है। जो ऐसे न मानिए अर विना आज्ञा माने सम्यक्त्व वा धर्मध्यान होजाय तो जो द्रव्यलिंगीमुनि मुनि भया, आज्ञानुसार साध न करि ग्रैवेयिक पर्यंत प्राप्त होय ताकै मिथ्यादृष्टिपना कैसे रह्या ? तातैं किछु परीक्षा करि आज्ञा माने ही सम्यक्त्व वा धर्मध्यान हो है'

धर्मध्यान चौथेसे ७ वें गुणस्थान तक सदा शुक्ललेश्यामें हो [ज्ञानार्णव अधि० ४१श्लोक १४] होता है। यह ध्यान संसार देह भोगों से अत्यंत विरक्त व्यक्ति के बनता है, यहआतींद्रिय और आत्मिक आनंद का देनेवाला है। विषयों में इन्द्रियों की लंपटताका न होना, शरीर नीरोग, बलवानकांतिवान सुगन्धहोना, मलमूत्र कम होना, चित्तका प्रसन्न होना, तथा सोम्य आकृति और उच्चारण धर्मध्यानोके चिन्ह हैं। इसके प्रभावसे जीवस्वर्गमेंसर्वार्थसिद्धि पर्यंत उत्पन्नहोते है। धर्मध्यानी आजकलभी लोकांतिकदेवतथा आठवें स्वर्गतकका देवहो सकता है।

संस्थानविचय धर्मध्यान चार प्रकारका है १ पिण्डस्थ २ पदस्थ ३ रूपस्थ ४ रूपातीत।

पिण्डस्थध्यान-इसमें ध्यान करने वाला मनवचन काय शुद्ध करके एकांत स्थान में पद्म अथवा खड्गआसनसे तिष्ठ अपने पिण्ड—शरीरमें आत्माका ध्यान करता है। इसकी निम्न ५ धारणाएं हैं-

१पार्थिवी धारणा-इस में मध्यलोकको क्षीरसमुद्र केसमान निर्मल देखकर उसके बीचों बीच ताये हुए सोनेके रंगका जंबूद्वीपजितना एक लाख योजन व्यासवाला एक हजार पांखुड़ीका कमल विचारे। इस कमल केमध्य सुमेरु पर्वत समान पीतवर्ण एक ऊंची कर्णिका विचारे। फिर इस कर्णिका रूपी सुमेरुपर पाण्डुकवनमें पांडुक शिला पर स्फटिकमणिका एक धवल, स्वच्छ

सिंहासन विचारे और यह सोचे कि मैं इसी सिंहासनपर कर्मोंका नाश करनेके लिये तिष्ठा हूं, इसका अभ्यास करे ।

२ अग्निधारणा-ध्यान करने वाला व्यक्ति उसी सिंहासनपर बैठा अथवा खड़ा हुआ यह सोचे कि मेरे नाभिस्थानमें भीतर ऊपरको मुख खिला हुआ १६ पांखुडीका एक श्वेत कमल है । उसके प्रत्ति पत्ते [पांखुडी] पर क्रमसे अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ऐसे १६ स्वर और बीचमें हँ पीले लिखे सोचे । इसीके ऊपर हृदय स्थानमें एक काला औंधाखिला आठ पांखुड़ो का कमल विचारे इस कमल के पत्तोको ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अंतराय वेदनीय नाम गोत्र आयु ऐसे आठकर्मरूप सोचे । नाभिवाले पहले कमलके हं के से धुवां निकलकर फिर अग्निशिखा निकल कर बढती है और दूसरे हृदयस्थ कमलको जलाने

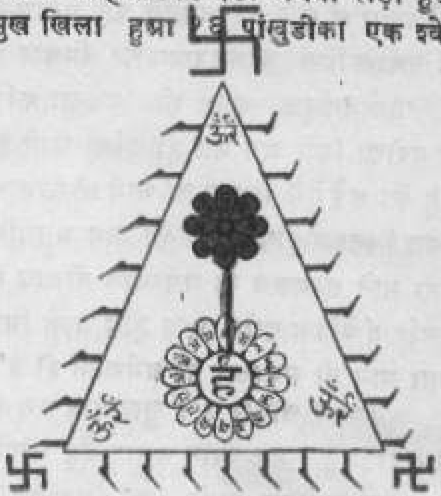

लगती है । जलातीहुई शिखा अपने मस्तक पर आ जाती है और फिर शरीर के दोनों तरफ रेखारूप आकर नीचे दोनों कोणों से मिलती हुई शरीर के चारोंओर त्रिकोणरूप हो जाती है इस त्रिकोण की तीनों रेखाओं पर' र र र र 'अग्निमय, तीनों कोणों के बाहर अग्निमय स्वस्तिक'卐' भीतर तीनों कोणों' में अग्निमय 'ऊँ र' ' लिखे हैं, ऐसा विचारे । यहअग्निमंडल भीतरतो आठ कर्मोंको और बाहर शरीरको दग्ध करके राखरूपहो शांत हाजाताहै,अग्निशिखा जहांसे उठी थी वहीं समा जाती है, ऐसा सोचना 'अग्निधारणा' है ।

३ पवनधारणा-दूसरी धारणाके अभ्यास के पश्चात् यह सोचे कि मेरे चारों ओर पवन-वायु मंडल घूम रहा है । हवा ने सांय सांय करते हुए सब राख उड़ा डाली । इस मंडल में सब ओर स्वाय स्वाय सोचे

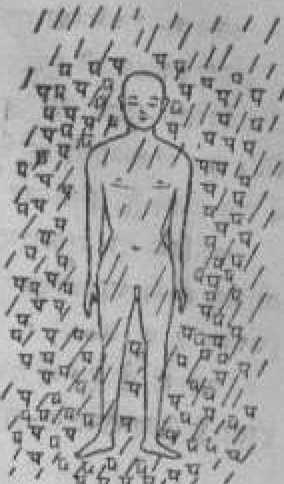

४ जल धारणा— तीसरी धारणाका अभ्यास होजाने पर यह सोचे कि मेरे ऊपर जोरके बादल छाये हुए हैं, पानी खूब पड़ पड़ बरसरहा है, पानीने कहीं कहींथोड़ी बहुत बची हुई राख (कर्मरूपी) भी धोडाली है और मैं—आत्मा अब निर्मल स्वच्छ रह गया हूं। जलमंडल पर सब ओर प प प प' लिखा सोचे।

५ तत्वरूपवती धारणा—चौथी धारणाके अभ्यास होने पर अपने को सर्वकर्म तथा शरीर रहित शुद्ध सिद्ध समान अमूर्तीक स्फटिकवत निर्मल अनंतदर्शन अनतज्ञान अनंतवीर्य अनंतसुख सूक्ष्मत्व अवगाहन अगुरुलघुत्व अव्याबाधादि अनंत चैतन्य गुणोंका समुदायरूप एक अखंड चेतनघन अनुभवकरे।

इस प्रकार पिण्डस्थ (शरीरस्थ) शरीर में स्थित आत्मा का ध्यान है।

पदस्थ ध्यान–इसध्यान में साधक-ध्याता अपनी इच्छानुसार भिन्न भिन्न पदों पर विचार करता है, जैसे हृदयस्थान में आठ पाँखुडीका खिला सफेद कमलसोचकर उसकी आठ पखड़ियों-पत्तोंपरक्रमसे आठ पद पीले लिखेसोचे-१ णमोअरहंताणं २णमोसिद्धाणं ३णमोआइरीयाणं ४ णमोउवज्झायाणं ५ णमोलोएसव्वसाहूणं ६सम्यग्दर्शनाय नमः ७सम्यग्ज्ञानायनमः ८ सम्यक् चारित्रायनमः और एक एक पदपर रुकता हुआ उसका अर्थ विचारे और उस अर्थको अपने स्वरूपसे मिलावे। अथवा अपने हृदयपर या मस्तकपर या दोनों भोहोंके मध्यमें या नाभिमें ह्रं या ॐ को चमकते सूर्यके समान विचारे अथवा अरहंत, सिद्ध आदि का स्वरूप विचारता हुआ स्वको तद्रूप देखे, इत्यादि।

रूपस्थध्यान-ध्याता अपने चित्त में यह सोचे कि मैं समवसरणमेंसाक्षात तीर्थंकर भगवान को स्वर्णसिंहासनपर कमलके ऊपर अंतरीक्ष परम वीतराग छत्र चमरादि आठ प्रातिहार्य सहित देख रहा हूं अथवा तद्रूप अपने आप ही तिष्ठा हूं, १२ सभाएं लगी हैं जिनमें देव देवी, मुनि अर्जिका, मनुष्य स्त्रियां पशु आदि बैठे हैं दिव्यध्वनिकी घोर गर्जना हो रही है। अथवा ध्याता किसीभी अरहंत प्रतिमाको चित्तमें लाकर उसके द्वाराअरहंतका स्वरूप विचारे

रूपातीतध्यान इस ध्यानमें अपनेको शुद्ध स्फटिकमय सिद्ध भगवान जैसाहीदेखकर परम निर्विकल्प हुआ ध्यावे।

शुक्ल ध्यान के ४ भेद सू. ३९ में दिए हैं, प्रथम उनके स्वामियोंको बताते हैं—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

दो पहले शुक्ल ध्यानों के स्वामी

शब्दार्थ—शुक्ले=दो शुक्ल ध्यान । आद्ये=पहले दो । पूर्वविदः=१४ पूर्वोंके जाननेवालेके ।

अर्थ-आदिके दो शुक्ल ध्यान ११ अंग १४ पूर्वके जाननेवालेके होते हैं ।

विशेष—सूत्रमें 'च' शब्द धर्म ध्यानसे जोड़के लिए है अर्थात् श्रुतकेवलीके धर्म ध्यानभी होता है । श्रुतकेवली छटेसे १२ वें गुणस्थान तक हो सकते हैं और धर्मध्यान ४ थे से ७ वें तक होता है, इसप्रकार उनमें धर्मध्यान भी बनजाता है ।

आदिके दो शुक्लध्यानोंका पूर्वविद—श्रुत केवलीके होनेका कथन उत्कृष्टता से है वैसे तो यह दोनों ध्यानप्रवचन मात्रिका (५ समिति+३ गुप्ति) के ज्ञानवाले तकके भी होते हैं (धवला १ पृ. ३०२) ।

आठवें से ११ वें तक पहला शुक्लध्यान और १२ वें गुणस्थानमें दूसरा शुक्ल ध्यान होता है (सर्वार्थसिद्धि—जयचन्दजी कृत वचनिका पृ. ७४८, वृहद्द्रव्य संग्रह) ।

दो अंतिम शुक्ल ध्यानों के स्वामी

परे केवलिनः ॥३८॥

शब्दार्थ-परे=अंत के दो । केवलिनः=१३ वें १४ वें गुणस्थानवर्ती केवली सर्वज्ञोंके ।

अर्थ-अंतिम दो प्रकारका शुक्लध्यान केवली (सयोगीः अयोगी) सर्वज्ञ भगवानके होता है, तीसरा १३ वें गुणस्थानके अंतिम अंतमुंहूर्तमें और चौथा १४ वेंमें होता है ।

शब्दार्थ-पृथक्त्व=अनेक, भिन्नभिन्न, नानाप्रकार । वितर्क श्रुतज्ञान । क्रिया=मन वचन काय श्वासोश्वासका हलन चलन । अप्रतिपाती_नहीं गिरनेवाला । व्युपरत_वि+उपरत=विशेषरूपसे योगकी क्रियाका मिटना। अनिवर्ति=न गिरना ।

अर्थ-शुक्लध्यानके ४ भेद हैं-१पृथक्त्ववितर्क वीचार(श्रुत ज्ञानके अवलंबनद्वारा अनेक प्रकारसे एक द्रव्यसे दूसरेपर, एक पर्यायसे दूसरीपर, एक शब्द अथवा वचनसे दूसरे शब्द अथवा वचनपर, अथवा मन वचन कायमें से किसी एक योगसे दूसरेमें पलटतेहुए भी किसी एक विषयपर चिंतन रुकना-लगना) २ एकत्ववितर्क अवीचार (श्रुतज्ञानके अवलंबनद्वारा बिना पलटेहुए किसी एक द्रव्य, पर्याय अथवा योगमें चिंतन रुकना)३सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति (बादर काय योगी बन सूक्ष्मकाययोगके निरोधकरूप न गिरते हुए आत्माकी आत्मामें एकाग्रता और ४ व्युपरतक्रिया अनिवर्ति (विशेषरूपसे मिट गई है योगकी क्रिया जिसकी ऐसे अनिवर्ति

शुक्ल ध्यान के भेदों के नाम

पृथक्त्वैकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रिया ऽ प्रतिपातिव्युपरतक्रियाऽनिवर्तीनि ॥३९॥

रूप) अर्थात् न गिरतेहुए आत्माकी आत्मामें एकाग्रता।

विशेष-शुक्लध्यानके यह चारों भेदएक दूसरेसे उत्तरोत्तर शुद्ध होते गए हैं। पृथक्त्ववितर्क वीचारमें अर्थ-द्रव्यपर्याय, व्यंजन-शब्द वचन, योगकी पलटनहोतेहुए भी एक ज्ञेयपर चिंतनका रुकना मध्यम अंतर्मुहूर्तसेकम नहीं होताफिर भी यह ध्यान समुच्चयरूपसे अपनीअनेक ध्यान संतानोंका स्वामी होनेसे पलटनवाला ध्यान कहलाता है। यह ध्यान ८ वेंसे ११ वें गुणस्थानतक होता है, इसमें शुक्ल लेश्याकी तर-तम रूपसे विशुद्धि होती है। यह चारित्र-मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय अथवा उपशम करता है।

एकत्ववितर्क अवीचारध्यानमें एकही ज्ञेय और एकही योग रहता है, पलटन नहींहोती। यह ध्यान१२वें क्षीणकषायनामके गुणस्थानमें होता है। इसका फल तीन घातिया कर्म-ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतरायका नाश होना है।

सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति—यह ध्यान श्रीअरहंत भगवानके १३ वें गुणस्थानके अंतिम अंतर्मुहूर्तमें होता है। जब नाम गोत्र वेदनीय इन तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति आयुके समानअंतर्मुहूर्त होती अथवा केवलसमुद्घात द्वारा हो जाती है तब बादरकाययोगसे सूक्ष्म काययोगमें आ, सूक्ष्मकाययोग निरोध (नष्ट) करनेके लिए यह ध्यान होता है।

केवल समुद्घात-१३ वें गुणस्थानका अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहनेपर यदि नाम गोत्र वेदनीयकर्मोंकी स्थिति आयुकर्मकी स्थितिसे अधिक हों तो उनकी स्थितिको आयुकर्मकी स्थितिके समान करनेके लिए केवलसमुद्घात होता है। इस समुद्घात का कुल काल८ समय मात्र है। पहले समयमें खड्गासन केवली की आत्माके प्रदेश शरीरसेबारहभी फैलकर दंडाकार (१२ प्रमाणअंगुल-उत्सेधांगुलअर्थात् महावीर भगवानके हाथ की अंगुलीकी चौड़ाईकी आधी से ५०० गुणी-व्यास अथवा ३७ ... प्रमाण अंगुल परिधिके और वातवलयको छोड़ १४ राजू ऊंचे) होजाते हैं, पद्मासन स्थित के दंडाकारकी व्यासरूप चौड़ाई३६प्रमाण अंगुल और ऊंचाई खड्गासन दंडाकार सम होती है। दूसरे समयमें आत्मप्रदेशकपाटरूप(खुले किवाड़ोंके सदृश) फैल जाते हैं। पूर्वदिशाकी ओर मुंहखड़े केवलीके आत्मप्रदेश किंचित कम१४राजू

दोहा—वितर्क पृथक्त्वैकत्व अरु, सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति।
व्युपरतक्रियाऽनिवर्तीनि हैं, शुक्ल ध्यान चउ भांति ॥२६॥
पूर्वविद के आदि दो, केवलि अंतिम दोय।
ति इक योग तन योग अरु, अयोगि के क्रम होय ॥२७॥

ऊंचे७राजू चौडे१२अंगुल मोटे होते हैं तथा इसी दिशा पद्मासन स्थितके ऊंचे चौड़े उतने ही और मोटे३६ अंगुल होते हैं। उत्तरदिशाकी और मुंह खड़े केवलीके आत्माप्रदेश किंचित कम १४राजूऊंचे,नीचे७राजू क्रमसे घटतेहुए मध्यलोकके निकट१राजू क्रम से बढ़ब्रह्मस्वर्गके निकट ५ राजू और क्रमसे घट ऊपर १ राजू चौड़े, तथा १२ अंगुल मोटे होते है, तथा इसी दिशा पद्मासन केवलीके ऊंचे चौड़े वैसेही और ३६ अंगुल मोटे होते हैं। तीसरे समयमें आत्म प्रदेश वातवलयको छोड़ सर्वलोक में फैल प्रतर—रूप और चौथे समयमें वातवलयमें भी फैल लोकपूर्ण हो जाते हैं।

दंडरूप क्रियासे पहले नाम गोत्र वेदनीय कर्मकी स्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग थी वह दंड कपाट प्रतर लोकपूर्ण क्रियामें क्रमसे घटती हुई आयु स्थितिसे संख्यात गुणी (अंत मुंहूर्त) रह आती है। लोकपूर्णक्रियाके पश्चात् स्थितिकाण्डक घातद्वारा यह संख्यातगुणी स्थिति आयुकी स्थिती समान हो जाती है।

पांचवें समयमें लोक पूर्णसे प्रतर, छटेमें प्रतरसे कपाट और सातवेंमें कपाटसे दंडरूप हो आठवें में मूलशरीरमें प्रवेशकर अंतर्मुहूर्त विश्रामकर फिर योगनिरोधकी क्रिया होती है।

दण्डाकारके दो समयों तथा प्रवेशके एक समयमें औदारिककाययोग, कपाटके दो समयोंमें औदारिकमिश्रकाययोग, प्रतरके दो समयों तथा लोक पूर्णके एक समयमें कार्मण काय योग होता है।

ऊपर तीसरे ध्यानमें वर्णित बादरकाययोगसे सूक्ष्मकाययोगमें आनेका क्रम यह है कि केवलीभगवान बादरकाययोगके अवलंबनसे प्रथम बादर मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं फिर बादर वचनयोगको तदनतर बादर श्वासोश्वासको सूक्ष्म कर देते हैं। फिर सूक्ष्ममनोयोग अथवा सूक्ष्मवचन योगके अवलंबनसे बादरकाययोगको भी सूक्ष्मकाययोग कर देते हैं।

अब इस ध्यानमें सूक्ष्मकाययोगको भी निरोध—नष्ट करके चौथे ध्यानको प्राप्त होतेहुए अयोगी हो जाते हैं।

नोट-छद्मस्थके चितानिरोधका नाम ध्यान है और केवली का योग निरोध—नष्ट करना तथा अयोग अवस्थामें ठहरना ध्यान है। केवलीके इस ध्यानका फल समस्त आस्रवका निरोध तथा सब कर्मोंका नाश है।

व्युपरतक्रिया ऽ निवर्ति-इस ध्यानमें अयोगी जिन अयोग अवस्थामें स्थित होता हुआ पांच स्वर अक्षर अ इ उ ऋ लृ उच्चारण कालमात्र अंतर्मुहूर्तके एक एक समयमें कर्म निषेकोंको नाश करता हुआ द्विचरम समयमें७२और अंत—चरमसमयमें १२ अथवा१३(तीर्थंकर) प्रकृतियोंको क्षय करता है। इस प्रकार चित्-चमत्कारमात्र अनंतगुणोंका पिंड सिद्ध बन ऊर्ध्वगमन स्वभावसे तीन लोकके शिखर सिद्धशिलाके ऊपर तनुवातवलयके अंतमें जाकर

विराजमान होजाता है।

शुक्ल ध्यान में योगों की व्यवस्था

त्र्येक योग काययोगा ऽ योगानाम् ॥४०॥

शब्दार्थ-त्र्येक=त्रि+एक=तीन, एक। अयोगानाम्=अयोगियोंके।

अर्थ-पहला पृथकवितर्कवीचार शुक्ल ध्यान मन वचन और काय तीनों योगवालोंके, दूसरा एकत्ववितर्कअवीचार किसी एक योगवालोंके, तीसरा सूक्ष्मक्रिया ऽ प्रतिपाति केवल काययोगवालोंके और चौथा व्युपरतक्रियाऽ निवर्ति शुक्ल ध्यान अयोगकेवलियोंके होता है।

पहले दो शुक्ल ध्यानों का विशेष वर्णन

एकाश्रये सवितर्क वीचारे पूर्वे ॥४१॥

शब्दार्थ-एकाश्रये=एक (श्रुतकेवली)के आश्रयमें अर्थात् श्रुतकेवलीके। सवितर्क=वितर्क श्रुतज्ञान सहित। वीचारे=पलटनमें। पूर्वे=पहले दो।

अर्थ-पहले दो—पृथक्त्ववितर्कवीचार और एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान एक आश्रय-श्रुत केवलीके आश्रयहोते हैं अर्थात् श्रुतकेवलीके होते है और यह वितर्क-श्रुतज्ञान तथा वीचार-पलटन सहित होते हैं।

दूसरे शुक्लध्यान की विशेषता

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थ—(किन्तु) दूसरा अर्थात् एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान वीचार-पलटन रहित [मणि के दीपक की ज्योति के समान अचल] होता है।

'वितर्क' शब्द के अर्थ

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

अर्थ—'वितर्क' शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है अर्थात् श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं।

दोहा—प्रथम शुक्ल एकाश्रय, सवितर्क अरु सवीचार।
दूजा भी एकाश्रय, सवितर्क अरु अवीचार ॥२८॥
'वितर्क' सो श्रुत ज्ञान है, ऽरु तर्क विशेष प्रकार।
अर्थ व्यंजन संक्रांति अरु, योग संक्राति वीचार ॥२९॥

'विचार शब्द के अर्थ

वीचारो ऽर्थ व्यजन योग संक्रांतिः ॥४४॥

शब्दार्थ-अर्थ—द्रव्य गुण पर्यायमें व्यवस्थित किसी एक दृष्टिसे रहित समग्र अनुभवनीय जो वस्तु है वह 'अर्थ' है, यही परम भूतार्थ है, इसके अतिरिक्त जोभी दृष्टि है वह सब अंश है। अर्थ के समक्ष द्रव्य विशेष है, द्रव्य के समक्ष गुण विशेष है, गुणके आगे पर्याय विशेष है। 'अर्थ' कभी भी विशेष रूप न हुआ, न है और न कभी होगा ही। 'द्रव्य' अभेद सामन्य है वह भी अनुभव=अर्थ के समक्ष विशेष है अर्थात् वह अभेदपनसे तो भेद किया ही गया है। व्यंजन=शब्द, वचन। संक्रातिः=पलटन।

अर्थ-अर्थ [अनुभव] की पलटन, व्यंजन [श्रुतके एक शब्द वचनसे दूसरे शब्द व वचन के ग्रहण रूप ध्यान] की पलटन और योगों [मन वचन काय] को पलटन को 'वीचार कहते हैं।

निर्जरा का क्रम

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोह क्षपक क्षीण मोह जिनाःक्रमशोऽसंख्येय गुण निर्जराः॥४५॥

शब्दार्थ—विरत=प्रमत्त तथा अप्रमत्त विरत। अनंत नियोजकअनतानुबंधी की विसंयोजना करनेवालाअर्थात् अनंतानुबंधीचौकड़ी के द्रव्य को अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन और नोकषायरूपकरकेअनंतानुबंधीकाअभाव करनेवाला।दर्शनमोहक्षपक=दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियों का क्षय—नाश करनेवाला। उपशक=उपशमश्रेणी चढ चारित्रमोहकी प्रकृतियों का उपशम करनेवाला। उपशांत मोह=चारित्रमोहका उपशम करचुकने वाला ११ वें गुणस्थानवर्ती साधु।क्षपक=क्षायिकश्रेणी चढ चारित्रमोहकीप्रकृतियोंको क्षय करनेवाला।क्षीणमोह=१२ वें गुणस्थानवर्ती चारित्रमोहकी पूर्णरूपेण क्षय करचुकने वाला। जिन=१३ वें १४ वें गुण स्थानवर्ती केवलीभगवान।

दोहा—सम्यग्दृष्टि श्रावक ऽ विरत, नंत वियोजन हार।
क्षायकदृष्टी उपशमक, शांतमोस क्षपकार ॥३०॥
क्षीण मोह अरु केवली; ये सब दस क्रमवार।
असंख्यातगुण निर्जरा, करत समय प्रति सार ॥३१॥

अर्थ—१ चौथे गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि २ पाँचवेंगुण स्थानवाले देशविरत श्रावक ३ छठे सातवें गुणस्थानवाले महाव्रती विरतसाधु ४अनंतानुबंधीकी विसंयोजना करने वाले ५ दर्शनमोह क्षपक ६ उपशमक ७उपशांतमोह ८ क्षपक ९ क्षीणमोह और १० तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवानके क्रमसे कर्मोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

विशेष—सब कर्मोंका सर्वथा क्षय 'मोक्ष' और उनका अंशतः क्षय 'निर्जरा' है। आठवें अध्याय सू. २३ के विशेषमें बता आए हैं कि निर्जरा १ सविपाक और २ अविपाक दो प्रकार की होती है। सविपाक निर्जरा तो सभी संसारी जीवोंके सदा काल होती है किंतु अविपाक निर्जरा करणलब्धि प्राप्त सातिशय मिथ्यादृष्टिसे होनीआरम्भहोती है। मोक्षऔर अविपाकनिर्जराके स्वरूपपर ध्यान देनेसे पता चलता है कि संवरपूर्वक(अविपाक)निर्जरा मोक्षका पूर्वगामी अंग है। प्रस्तुत सूत्रमें इसी अविपाक निर्जराके क्रमका वर्णन है।

सातिशय मिथ्यादृष्टिसे असंख्यातगुणी निर्जरा चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के,उससे असंख्यातगुणी पांचवें गुणस्थानवर्ती देशविरतके इत्यादि···प्रति समय होती रहती है

सूत्रमें मोक्षसम्मुख आत्माओंको सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे लेकर मोक्ष प्राप्ति तक मोटेरूपसे दस विभागोंमें बांटा गया है। इनमें पहलेपहले विभागकी अपेक्षा अगलेअगले विभागमें भावों की विशेष विशुद्धि होती जाती है। भावों—परिणामोंकी जितनीअधिक विशुद्धि होगी कर्मनिर्जराभी उतनीही विशेष होगी।अतःपहलेपहले विभागमें जितनी कर्मनिर्जराहैअगलेभाग में उससे असंख्यात गुणी निर्जरा बन जाती है। इसप्रकार बढतेबढते अंतमें निर्जराका प्रमाण सबसे अधिक अयोगि केवलीके होता है।

निर्ग्रन्थ साधु के प्रकार

पुलाकबकुश कुशील निर्ग्रंथ स्नातका निर्ग्रंथाः ॥४५॥

शब्दार्थ निर्ग्रंथ—करणानुयोग (निश्चय) दृष्टिसे—वह मुनि जिसमें अंतरंग बहिरंग राग द्वेषकी गाँठ बिल्कुल न रहे,चरणानुयोगदृष्टिसे—जो बहिरंग परिग्रह त्यागकर निश्चयदृष्टि का साधक हो, सामान्यदृष्टिसे व्यवहार तथा निश्चय दोनों दृष्टिका जोड़ रूप।

अर्थ—निर्ग्रंथ साधु ५ प्रकारके है—१ पुलाक २ बकुश३कुशील४निर्ग्रन्थ और५स्नातक

विशेष—'निर्ग्रंथ' का करणानुयोग दृष्टिसे अर्थ उस विशेष आत्मासे है कि जिसमें राग द्वेषकी ग्रंथि—गांठ बिल्कुल न रहे, इसका चरणानुयोग दृष्टिसे अर्थ उस आत्मासे है कि

दोहा—पुलाक बकुश कुशील अरु, स्नातक निर्ग्रंथ।
ये पन मुनि के भेद हैं, भाषे जिन-निर्ग्रंथ ॥३२॥

जो बहिरंग परिग्रह त्यागकर करणानुयोग दृष्टिका निर्ग्रंथ बनने के लिए साधना करता हो सूत्रमेंवर्णित५भेदोंमेंसे पहले तीन चरणानुयोगके और शेष दोकरणानुयोगके निर्ग्रंथ हैं। इनका अलग अलग स्वरूप निम्न प्रकार है–

१ पुलाक–उत्तरगुणोंकी भावनासे रहित किसी काल क्षेत्रमें मूलगुणोंमें विराधनासे अल्प विशुद्धिके धारक सम्यग्दृष्टि निः परिग्रही पुलाकसाधु होते हैं।

२ बकुश–उत्तरगुणोंकी विराधना सहित मूलगुणोंको पूर्णतया पालतेहुए पीछी कमंडलु आदिकी सुन्दरतामें रागी बकुशसाधु हैं, यह दोप्रकारहैं- १ उपकरणबकुश २ देहबकुश।

३ कुशील–इनके भी दो भेद है १ प्रतिसेवनाकुशील २ कषायकुशील–

१ प्रतिसेवनाकुशील साधु–शरीर, पीछी, कमडलु, पुस्तक आदिमें किंचित् रागी, मूल उत्तर गुणों सहित, परंतु उत्तरगुणोंमें कुछ विराधनावाले होते हैं।

२ कषायकुशील साधु-संज्वलनकषायके मंद उदयमें जिनके प्रमादका व्यक्त उदय नहीं है वे कषायकुशील हैं।

४ निर्ग्रंथ साधु –११ वें १२ गुणस्थानवर्ती साधु निर्ग्रंथ कहलाते है।

५ स्नातक–दोनों प्रकार (सयोगी अयोगी) के केवली स्नातक हैं।

पुलाक आदि साधुओं का संयम श्रुत आदि की अपेक्षा वर्णन

संयम श्रुत प्रतिसेवनातीर्थ लिंगलेश्योपपाद स्थान विकल्पतःसाध्याः॥४७॥

शब्दार्थ–प्रतिसेवना=विराधना।उपपाद=आगेका जन्म।स्थान विशुद्धतासे संयमकीतरतमता

अर्थ–१ संयम २ श्रुत ३ प्रतिसेवना ४ तीर्थ ५ लिंग ६ लेश्या ७ उपपाद और ८ स्थान इन आठ विकल्पों से पुलाक आदि मुनियों का विशेष व्याख्यान है।

विशेष–सूत्र ४६ में जो पांच निर्ग्रंथों का वर्णन किया है उनका विशेष स्वरूप जाननेके लिये यहां आठ बातों को लेकर प्रत्येक बात के पांच निर्ग्रंथों के साथ संबंध पर विचार किया गया है–

१ संयम–पुलाक,बकुश,प्रतिसेवना कुशील के सामायिक, छेदोपस्थापना दो संयम,कषाय कुशील के सामायिक, छेदोपस्थापना, परीहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय चार; और निर्ग्रंथ तथा स्नातकों के एक यथाख्यात संयम होता है।

दोहा–संयम श्रुत प्रतिसेवना, लिंग लेश्या उपपाद।
तीर्थ स्थान विकल्प से, भेद मुनिन में साध॥२३॥

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र, अध्याय ९ के ब्रह्मचारी 'सिंह'–कृत दोहे समाप्त।

२ श्रुत—उत्कृष्टता से-पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना कुशील १०पूर्व के ज्ञाता और कषाय कुशील तथा निर्ग्रंथ १४ पूर्व के ज्ञाता; जघन्यता से-पुलाक के ९ वें प्रत्याख्यान पूर्व के आचार वस्तु-अधिकार का ज्ञान, और बकुश, कुशील निर्ग्रंथों के ९ वेंप्रत्याख्यान पूर्व में वर्णित अष्ट प्रवचनमात्रिका (५समिति+३गुप्ति) का ज्ञान होता है ।स्नातक श्रुतज्ञान से रहित अर्थात् केवल ज्ञानी होते हैं ।

३ प्रतिसेवना (विराधना)—पुलाक मुनि के पांच महाव्रतों में से अन्य की प्रेरणा या बलात से किसी एक की विराधना हो सकती है । बकुश में उपकरण-बकुश के नाना प्रकार के उपकरणों की इच्छासे तथा देह-बकुश के देह—संस्कार की इच्छासे संयम की विराधना हो जाती है । प्रतिसेवनाकुशील के उत्तर गुणों में से किसी की विराधना बन जाती है । कषाय कुशील निर्ग्रंथ और स्नातकोंके संयम मेंविराधना नहीं होती ।

४ तीर्थ [शासन] समस्त तीर्थंकरोंकेतीर्थ-शासनमें यह पांचों प्रकार के मुनि होते हैं ।

५ लिंग—दो प्रकार है १ द्रव्यलिंग २ भावलिंग ' वैसे तो पांचों ही प्रकार के मुनि भावलिंगी होते हैं परन्तु बाह्य आचरण की अपेक्षा कोई अनशन आदि तपकरते, कोई उपदेश,कोई अध्ययन,ध्यान में लीन होते,किन्ही को दूषण लगता किन्ही को नहीं इत्यादि अनेक भेद रूप है ।

६ लेश्या=पुलाक के पीत पद्म शुक्ल तीन, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंके छहों,कषायकुशीलके अंतिम चार अर्थात् कापोत पीतपद्म शुक्ल किन्तु सूक्ष्मसांपराय १०वें गुणस्थानवर्ती कषाय कुशीलके केवल शुक्ल, निर्ग्रंथ तथा १३ वें गुणस्थानवर्ती स्नातकों के शुक्ल; १४ वें गुणस्थानवाले अयोगी स्नातक लेश्या रहित होते हैं ।

प्रश्न—आगम में ६टे ७ वें गुणस्थानों में तीन अंतिम पीत पद्म शुक्ल लेश्या कही हैं फिर बकुश और प्रतिसेवना कुशीलको भाव लिंगीभी मानतेहुए उनमें छहों लेश्या कैसे ?

उत्तर—वास्तव में सू० ४६,४७ का विधान चरणानुयोग की मुख्यता से है और इनमें मुनि संबंधी बाह्य आचरणकी अपेक्षा पुलाक आदि का वर्णन है । अतः जिन बकुश और प्रतिसेवना कुशीलों के छहों लेश्या होती हैं उनको चरणानुयोग की अपेक्षाही भावलिंगी जानना, करणानुयोग की अपेक्षा नहीं !

प्रश्न-मुनि अवस्थामें जघन्य-कृष्ण नील कापोत तीन लेश्या कैसे ?

उत्तर—उपकरण शरीर आदि में आसक्ति होनेसे आर्त्तध्यानके होनेपर उनके कदाचित इनलेश्याओं का भी सद्भाव पाया जा सकता है ।

७ उपपाद—पुलाकका जन्म १२ वें स्वर्ग के उत्कृष्ट १८ सागर आयुवाले देवोंतक है, बकुश, प्रतिसेवना कुशीलोंका जन्म २२ सागर आयुवाले १६ वें स्वर्गतकके देवोंमें होता है, कषायकुशील और ११ वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रंथोंका जन्म सर्वार्थसिद्धितक है । इन सबका

जघन्य उपपाद सौधर्म प्रथम स्वर्गमें २ सागर आयुवालों मेंहै। स्नातकोंको निर्वाणहीहोताहै।

८ स्थान—संयमलब्धि के स्थान १ कषाय—निमित्तक २ योगनिमित्तक दो प्रकार है।

कषाय के निमित्त से संयमके असंख्यात लब्धिस्थान हैं। सबसे कम संयमके लब्धिस्थान पुलाकके, उससे अधिक बकुशके, उससे अधिक प्रतिसेवना कुशीलके उससे अधिक कषाय कुशाल के होते हैं। उससे विशेष अधिक संयमके अकषाय [योगनिमित्तक] स्थान निर्ग्रंथ के हैं, उससे अनंतगुणे संयमस्थान स्नातक के होते हैं।

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्षशास्त्र, अध्याय ६ की कविवर ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन 'सिंह' बी० ए०, सी० टी, साहित्यालंकार-कृत कौमुदी समाप्त।

अंत मंगल

दोहा—सम्यग्दर्शन ज्ञान युत, साधें शुद्ध चरित्र।
नामों साधु परमेष्ठी, करके मनहि पवित्र ॥६॥

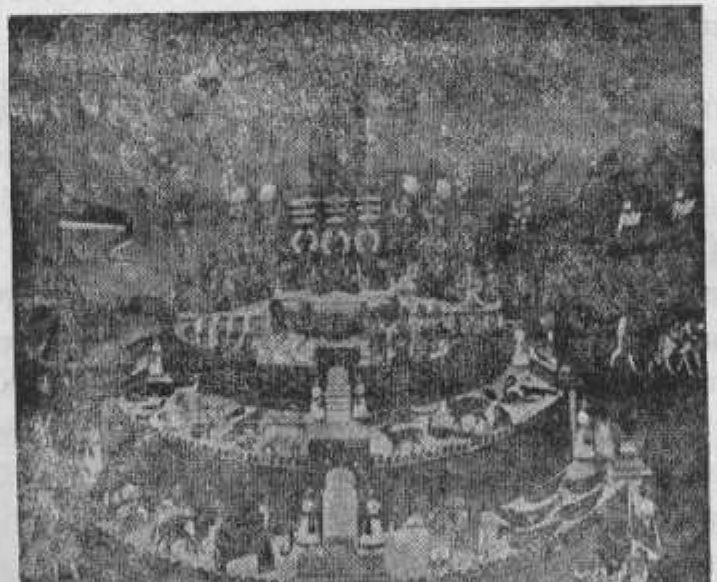

चित्र समोशरण

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

अध्याय १०

मंगलाचरण

दोहा—मोह कर्म करि नष्ट पुनि, शेष घातिया नास।
केवल पा केवलि बनै, नमों जोड़ कर तास॥

मोक्ष तत्व

मोक्ष संवर-निर्जरा पूर्वक ही होती है। निर्जरा की पूर्णता होनेपर जीव परम निश्चल निर्वाण पदमें स्थिर होजाता है। जीवकी इस दशाका नाम मोक्ष है। इस दशामें जीव के समस्त कार्यों की सिद्धि हो जाने से मुक्तजीव 'सिद्ध' कहलाते हैं।

स्नातक [१३ वें १४ वें [गुणस्थानवर्ती] केवली भगवान का उल्लेख अध्याय ९ में आया है किन्तु वहां केवलज्ञान का वर्णन नहीं है। केवलज्ञानकी प्राप्ति ही भावमोक्ष है। और इस भावमोक्ष द्वारा ही द्रव्यमोक्ष होतो है (प्रवचनसार गा. ८४ जयसेनाचार्य कृत टीका)। अतः इस अध्यायमें पहले भाव मोक्ष रूप केवलज्ञानका और फिर द्रव्यमोक्षका निरूपण किया गया है।

केवलज्ञान की उत्पति का कारण

मोहक्षयात्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्चकेवलम् ॥१॥

शब्दार्थ-मोहक्षयात=मोह के नाश से।

अर्थ-मोहनीयकर्मका नाश होने के पश्चात क्षीणकषाय नामके १२ वें गुणस्थानके प्राप्त होने पर ज्ञानावरण दर्शनावरणऔर अंतराय कर्मों का युगपत्क्षयहोनेसे (आत्मा-जीवको) केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष—चार घातिया कर्मों की [२८ मोहनीय की+५ ज्ञानावरणीय की+९ दर्शन आवरणीय की+५ अंतरायकी] संपूर्ण ४७ प्रकृतियोंको और इनके साथ नरकतिर्यंचदेव आयुकी ३तथा नामकर्म की १३ [१ साधारण २ आतप ३ उद्योत ४ एकेंद्रिय ५ द्वीन्द्रिय ६ तेइंद्रिय ७ चौइंद्रिय जातिकर्म ८ नरकगति ९ नरकगत्यानुपूर्वी १० तिर्यंचगति ११ तिर्यंच-गत्यानुपूर्वी १२ स्थावर १३ सूक्ष्म] इस प्रकार कुल ६३ प्रकृतियों का नाश करके जीव-आत्मा केवलज्ञानको प्राप्त कर परमभट्टारक अरहंत भगवान-जीवन्मुक्त हो जाता है।

नोट-यहां नाश तो ६० प्रकृतियोंका ही होता है, तीन आयुकर्म प्रकृतियोंका पहलेसे ही सत्तामें न होने के कारण नाश कह दिया है।

अरहंतों-केवलज्ञानियों-जीवन्मुक्तोंमें चार घातियाकर्मों के नाशसे अनंतचतुष्टयरूप चार विशेषगुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है-मोहनीयके नाश से अनंतसुखरूप सम्यक्त्व,ज्ञानावरणीय के नाशसे अनंतज्ञान, दर्शनावरणीय के नाशसे अनंतदर्शन और अंतराय केनाशसे अनंतवीर्य। इन अथवा अनंत अन्य अंतरंग गुणोंके विकासरूप तो सब केवली—जीवन्मुक्त समान ही होते हैं फिरभी उनमें बाह्य निमित्तों-कारणों की अपेक्षा भेद हो जाते हैं। अतः आगममें केवली दस प्रकार के कहे हैं—

[क] तीन प्रकार के तीर्थंकर केवली—

१ पांच कल्याणकवाले-३४अतिशय, ८प्रातिहार्य तथा अनंत चतुष्टय सहित, समवशरण में धर्मोपदेश की विशाल योजना,

२ तीन कल्याणकवाले-२५ अतिशय [१ जन्मकावज्रवृषभनाराच संहनन+१०केवलज्ञान के+१४देवकृत],८प्रातिहार्य तथा अनंतचतुष्टय सहित,समवशरणमें धर्मोपदेशकी विशालयोजना

३ दो कल्याणकवाले-तीन कल्याणकवालों के समान ही २५ अतिशय आदि सहित।

(ख] ४ सातिशयकेवली—जिनके तीर्थंकर प्रकृति न हो, २५ अतिशय-दो तीन कल्याणक वाले तीर्थंकरके समान, गंधकुटीमें महान धर्मोपदेश परन्तु तीर्थंकरोंसे कम, सिंहासनमें कमलके४अंगुल ऊपर अंतरीक्ष,प्रभामंडल, छत्र, दिव्यध्वनि यह चार प्रातिहार्य और चार अनंतचतुष्टय,

दोहा—मोह कर्म कर नष्ट पुन, शेष घातिया नास।
केवल पा केवलि बनें, नमों जोड कर तास ॥१॥

(ग) ५ सामान्य केवली-गंधकुटी हो, परंतु विहार और उपदेश साधारण हों,जन्मका एक वज्रवृषभनाराचसंहनन और केवलज्ञानके १० अतिशय, ऊपरके समान चार प्रातिहार्य और अनंतचतुष्टय,

(घ) ६ उपसर्ग केवली—जिनके उपसर्ग अवस्थामें केवलज्ञान होकर विहार व उपदेश हों जैसे देशभूषण, कुलभूषण, पार्श्वनाथ,

७ अंतकृत केवली-जिनको उपसर्ग अवस्थामें केवलज्ञान उपजतेही लघुअंतर्मुहूर्तमें मोक्ष प्राप्त होजावे, ऐसे अंतकृतकेवली प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ-शासन कालमें नाना प्रकार दारुण उपसर्गको सहन कर अतिशयों_विशेषोंको प्राप्त कर दस दस होते हैं (ध.१ पत्र १०२)।

(ङ.) ८ मूक केवली-केवलज्ञान होनेपर जिनकी वाणी नहीं खिरती।

(च) ९अनुबद्ध केवली=वे केवली होते हैं जिनकोलगातार एकके मोक्ष होने के बाद दूसरे फिर तीसरे आदिको केवलज्ञान प्राप्त होता रहता है जैसे महावीर भगवानको मोक्ष होते ही गौतम-इन्द्रभूति गणधरको इन्द्रभूतके मोक्ष जातेही सुधर्माचार्य-लोहार्य को और सुधर्मा चार्यके मोक्ष जातेही जंबूस्वामीको केवलज्ञान हुआ,

(छ) १० सतत् केवली-जो सतत्-हमेशा किसी समयही केवली होजाय, किसीके मोक्ष जानेका अथवा और कोई प्रतिबंध न हो,जैसे उद्दायन,जीवंधर और अंतिम केवली श्रीधर।

अनंतदर्शन अनंतज्ञान अनंतवीर्य अनंतसुखरूप अनंतचतुष्टयकी अपेक्षा सभी केवली समान होते हैं। चारों घातिया कर्मोंके क्षयसे सबमें ही एकसा अनंतदर्शन अनंत ज्ञान अनंतवीर्य अनंतसुख आदिका विकास होता है, किसीमें कुछभी न्यूनाधिक नहीं होता। यही जीवकी-आत्माकी 'अरहंत' दशा है जो जीव मात्रका और विशेष करके मनुष्य मात्रका आदर्शरूप ध्येय है। यही साध्य है। साधक आत्मा प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है फिर चारित्र को धारण करता हुआ क्रमशः दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकी शेष प्रकृतियोंको क्षयकरके बारहवें गुणस्थानके अंतिम समयमें दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अंतरायकी सब प्रकृतियोंको समूल नष्ट कर डालता है और १३ वें गुणस्थानवर्ती अरहंत_केवली जीवन्मुक्त बन जाता है।

चौंतीस अतिशय_विशेष बातें

(क.) पांच कल्याणकवाले तीर्थंकरोंके जन्मके १० अतिशय-

१ मलमूत्रादि रहित निर्मल शरीर, २ पसीनेरहित शरीर ३ अतुल बल

३ दूध समान उज्वल रुधिर, ४ वज्रवृषभनाराच संहनन,

५ समचतुरस्र संस्थान, ६ अद्भुतरूप,

७ महा सुगंधित शरीर, ८ शरीर में १००८ शुभ लक्षण,

९ अतुल बल १० महा मिष्ट सर्व हितकारी वचन।

(ख) केवल ज्ञान के १० अतिशय–

१ निर्निमेष-निश्चल शांत सुन्दर लोचन, २ नख–केशका न बधना,

३ भूखप्यासका अभाव, ४ जरा-बुढापेका अभाव, ५ अपार कांति,

६ एकही मुख महामनोहार चतुर्मुख भासे ७छायाका अभाव, ८सर्व विद्या विषे प्रवीणता

९ गगन गमन १० दोसौ योजनमें चारों ओर दुर्भिक्ष,

(ग) देवकृत १४ अतिशय-

१ सर्वार्ध_मागधीभाषा, २ सबके-विरोधी प्राणियोंतकके परस्पर मित्रता, ३छहों ऋतुओं को वनस्पतियोंका एकदम फूलना फलना ४ निर्मल पृथ्वी, ५ पवन अनुयोगामिनी अर्थात् पवनका अनुकूल पीछेपीछे चलना, ६ विहार समय सब जीवोंको सुख, ७ पवनकुमार देवोंका एकएक योजन पृथ्वीको कंटक पाषाण आदि रहित करना ८ मेघकुमार देवोंका शब्द करते हुए सुगंधित जलकी वर्षा करना, ९ देवोंका जिनेंद्रके चरण कमलोंको पदपद पर सात सात कमलों द्वारा पूजना, १० पृथ्वीपर सब अन्नोंका स्वतः एकदम फलना, ११ निर्मल आकाश, १२ समवशरणमें रात दिनका भेद न रहना, १३देवी देवताओंके सबको धर्म श्रवणार्थ बुलाने के शब्द होते रहना, १४ एक हजार आरा वाले सूर्य की दीप्तिसे अधिक ज्योतिवाले धर्म चक्रका भगवानके आगेआगे चलना।

आठ प्रातिहार्य

१ स्वर्ण सिंहसनमें कमल के चार अंगुल ऊपर अंतरीक्ष २ अशोकवृक्ष ३ तीन छत्र ४ चौंहठ चमर ५ प्रभामंडल ६ दिव्यध्वनि ७ दुंदुभि शब्द ८ पुष्प वर्षा।

अनंत चतुष्टय

१ अनंत दर्शन २ अनंत ज्ञान ३ अनंत वीर्य ४ अनंत सुख।

मोक्ष का कारण और लक्षण

बंध हेत्व भाव निर्जरा भ्यां कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

शब्दार्थ—कृत्स्न–संपूर्ण, सब। विप्र–पूर्णरूपेण, सर्वथा, अत्यंत।

अर्थ-बंधके कारण (मिथ्यात्व आदि) के अभावसे नए कर्मोंका अभाव और (पूर्वकर्मों की) निर्जरा हो जानेसेसमस्त कर्मोंका अत्यंत-सर्वथा अभाव होजाना मोक्ष है।

दोहा–बंध हेतु नहि रहत अरु, होय निर्जरा कर्म।
सर्व अभाव सब कर्म को, मोक्ष कहो या शर्म ॥२॥

विशेष-प्रत्येककर्म स्थिति पूर्ण होनेपर(अधिकसे अधिक मोहनीयकर्म की ७० कोड़ाकोड़ी सागर) क्षय होतोहीहै किंतुकर्मका फिर बंधना संभवहोअथवाउसभांतिका कोईकर्मशेष होवोऐसी दशामें कर्मका अत्यंत-सर्वथा अभाव नहीं कहा जासकता। सर्वथा अभावका तात्पर्यपहहै किनवीन कर्म बांधनेकी योग्यता न रहे और पहले बंधेहुए सबकर्म क्षय होजावें। मोक्षदशा कर्मोंके सर्वथा अभावके बिना कदापि होनहीं सकती । इसी लिए कर्मके सर्वथा अभावके कारण बतलाए हैं, वे दो हैं १ बंध-हेतुओंका अभाव २ (पूर्व कर्मोंकी) निर्जरा । बंधहेतुओं (मिथ्यात्व आदि पांच जो अध्याय ८ सू. १ में बता आए हैं) का संवरद्वारा अभाव हो नवीन कर्म बँधने रुक जाते हैं और तप ध्यानादि द्वारा निर्जरासे पहले बँधे हुए कर्मोंका अभाव होजाता है ।

मोहनीयकर्मके सर्वथा अभावसे पूर्ण वीतरागता-अनंतसुख (साताकी सहेली है अकेली उदासीनता), ज्ञानावरणीयके आत्यंतिक क्षयसे सर्वज्ञता-अनंतज्ञान, दर्शनावरणीय के अत्यंत अभावसे अनंतदर्शन और अंतरायकर्म के सर्वथानाशसे अनंतवीर्य प्रकट हो जाता है। ऐसा होने पर भी वेदनीय आदि चार अघातिया कर्म बहुत हलके रूपमें शेष रहते हैं जिससे अभी मोक्ष नहीं होता । इसलिए इन शेष रहे हुए कर्मोंका क्षय भी आवश्यक है । जब इनकाभी सर्वथा क्षय-अभाव हो जाता है तब कहीं जन्म मरणका चक्र बन्द होता है और यही मोक्षहै, सिद्ध अवस्था है । इस प्रकार सिद्धों के भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म सब प्रकारके सब कर्मोंका पूर्णतया क्षय हो जाता है ।और जीव तो कर्मों का सतत् बन्ध करते ही हैं परन्तु सयोगकेवली भगवानभी योगके रहनेसे कर्म का-एक सातावेदनीयका बन्ध करते हैं । योग का अभाव हो जानेसे अयोग केवलीके कर्मबंधन कापूरा अभाव होता है [तत्वार्थ सार अधि०८पृ०३८८]

अयोगकेवली१४वें गुणस्थानका अ इ उ ऋ लृ उच्चारण मात्र काल है । इस इतनेसेकाल में अनंत समय होते हैं । इस कालके अंतिम समयसे पहले समयमें ७२ प्रकृतियों[५शरीर+५बन्धन+५संघात+६संस्थान३अंगोपांग+६संहनन+५वर्ण+५ रस+२गंध+८स्पर्श=५०+अस्थिर+शुभ+अशुभ+सुस्वर दुःस्वर+देवगति+देवगत्यानुपूर्वी+प्रशस्त विहायोगति+अप्रशस्तविहायोगति+दुर्भग+निर्माण+अयशस्कीर्ति+अनादेय+प्रत्येक+अपर्याप्तअगुरुलघु+उपघात+परघात+उच्छ्वास यह७०सब नामकर्मकी+वेदनीयकी दोनोंमें सेअनुदयरूप१+नीचगोत्र=७२]काक्षय होता है, अंतिम समय में तीर्थंकरोंकी १३ (वेदनीय१ +मनुष्यायु१+१ उच्चगोत्र+नामकर्म की १०—मनुष्यगति १+ मनुष्यगत्यानुपूर्वी१+पचेंद्रियजाति १+सुभग१+त्रस१+बादर१+पर्याप्त१+आदेय१+यशःकीर्ति १+तीर्थंकरप्रकृति१)औरअन्यकेवलियोंकी तीर्थंकर प्रकृतिके अतिरिक्त १२का क्षय होता है। इस पर से ज्ञात होता है कि अघातिया कर्मोंका सर्वथा क्षयअंतिमसमय में एकसाथ होता है । ऐसा होतेही जीव सिद्ध हो जाता है ।

वैसे तो सिद्धों में अनंतगुण होते हैं और वे सब सिद्धों में समान होते हैं, किसी में भी कोई गुण किसी प्रकार न्यूनाधिक नहीं होता फिर भी उनमें विशेष आठ गुण बताए हैं जो आठों कर्मोंके क्षयसे उन—सिद्धोंमें प्रकट हो आते है, अनंतचतुष्टयरूप चार तो जैसा कि ऊपर बताया जा चुकाहै चार घातियाकर्मोंके सर्वथा क्षयसे और चारअघातिया कर्मोंकेअत्यंत अभावसे- नामकर्मके सर्वथा क्षयसे १क्षायिक सूक्ष्मत्व,आयुकर्मकेअत्यंतक्षयसे क्षायिक अवगाहनत्व,गोत्र कर्मके पूर्णरूपेण क्षयसे ३क्षायिक अगुरुलघुत्व,औरवेदनीयकर्मके पूरे क्षयसे४ क्षायिकअव्याबाध ।

कर्मों के अत्यंत अभाव के साथ और किस—किस का अभाव ?

औपशमिकादि भव्यत्वानांच ॥३॥

अर्थ—(मुक्तजीवों-सिद्धों के) सब औपशमिक भावोंका, सबक्षायिक भावोंका, सब क्षयोपशमिक भावोंका, सब औदयिक भावोंका और पारिणामिक भावोंमें से भव्यत्वभावका सर्वथा अभाव होजाता है ।

विशेष—अध्याय २ सू. १ में जीवके १ औपशमिक २ क्षायिक ३ क्षयोपशमिक—मिश्र ४ औदयिक और ५ परिणामिकभाव यह पांच निज-आत्माके ही भाव बताए हैं । इनमें से पहले चार भाव निमित्त (कर्मोंके निमित्त) की अपेक्षासे होते है । सिद्धोंमें कर्मोंका निमित्त न रहनेसे उनमें इन चारों भावोंका अभाव होजाता है फिरभी उनके अनंतदर्शन आदि गुणों को उपचारसे क्षायिकभाव कह दिया जाता है क्योंकि जो गुण प्रत्येक जीवमें शक्तिकी अपेक्षा त्रिकाल विद्यमान हैं वही कर्मोंके सर्वथा क्षयसे प्रकट होजाते है । पारिणामिकभाव १ भव्यत्व २ अभव्यत्व ३ जीवत्व तीन प्रकारके हैं। सम्यक्त्व के प्रकट करने की योग्यताका नाम भव्यत्व है,जबजीवको सम्यक्त्वहो चुकताहै तोउसके प्रकटकरनेकी योग्यताका प्रश्नही नहीं रहता।अभव्य में सम्यक्त्व प्रकट करनेकी योग्यताका अभाव होनेसे उसे सिद्धत्व कभी प्राप्त होही नहीं सकता अर्थात् सिद्ध होनेवाले जीवोंमें अभव्यत्व पहलेसे ही नहींहोता ।अतः सिद्धोंमेंभव्यत्व तथाअभव्यत्व नहीं होता,बस पारिणामिक भावोंमेंसे केवल जीवत्व-चेतनत्वरह जाता है । इसपरसे सिद्ध हुआ कि सिद्धोंमें से औपशमिक, क्षायिक,क्षयोपशमिक (मिश्र), औदयिक और भव्यत्व भावों का अभाव होजाता है ।

मुक्तजीवमें अवशेष भाव

अन्यत्र केवलसम्यक्त्व ज्ञान दर्शन सिद्धत्वे भ्यः ॥४॥

शब्दार्थ—अन्यत्र=अतिरिक्त ।

दोहा-उपशम आदिक भाव अरु, भव्य भाव भी दूर ।
केवल समकित ज्ञान सिद्ध, दर्शन केवल पूर ॥३॥

अर्थ–मुक्तजीवके) केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवल सिद्धत्व इन चार भावोंके अतिरिक्त अन्य सब भावोंका अभाव होता है।

विशेष–कर्मोंकी भांत और कर्मोंके कार्यभूत शरीरादिकोंकी भांत औपशमिक आदि भावोंका तथा भव्यत्वभाव का अभाव होजाने पर मोक्ष अवस्थामें १ सिद्धत्व २ सम्यग्दर्शन ३ केवलज्ञान ४ केवलदर्शन यह सर्वथा शुद्ध स्वभाव रह जाते है। यदि कुछ भी शेष न रहे तो मोक्षके समय आत्माका अभावहो जायगा (तत्वार्थ सार अधिकार ८ पृ. ३८६)। सिद्ध–मुक्त जीवोंमें केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसिद्धत्व यह चार भाव-गुण अवशेष रहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं नहीं है कि उनमें अन्य गुण नहीं होते। इन चारोंके सहभावी अनत सुख;अनंतवीर्य;अनंतलाभ आद अनतगुणसिद्धोंमे होते है। यह सब अनंत गुणभी एक जीवत्व–चेतनत्व गुणके सहभावी–साथसाथ रहनेवाले है।

सब कर्मो के सर्वथाक्षय होनेपर मुक्त जीवकी अवस्था

तदनंतरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥५॥

शब्दार्थ–तदनंतर=तत्+अनंतर=उससे बिना अंतरपड़े, परंत,उसीसमय। ऊर्ध्वं=ऊपरको।आलोकांतात्=लोककेअंतक।

अर्थ–तदनंदर अर्थात् समस्त कर्मोका सर्वथा क्षय होते ही तुरन्त उसी समयवह मुक्तजीव ऊपरकी ओरलोककेअंततक जाता है।

विशेष-नामआदि सब शेषअघातियाकर्मोंकापूर्ण-क्षय,ऊर्ध्वगमन और लोकांत-प्राप्ति यह तीनोंकार्य एकसमयमें ही सम्पन्नहोतेहैं।

सर्वार्थसिद्धि विमानसे १२ योजन ऊपर ८ योजन मोटी १ राजू पूर्व–पश्चिम और ७ राजू उत्तर-दक्षिण ईषत् प्राग्भार नामकी आठवीं पृथ्वी है जिसके अंतिम ऊपरीभाग में बीचों बीच मनुष्यलोक प्रमाण ४५ लाख योजन समतल अर्द्ध गोलाकार सिद्ध शिला है।

आठवीं पृथ्वी ईषत् प्राग्भारके ऊपर २ कोस, १ कोस और १५७५ धनुषके क्रमसे तीन वातवलय हैं। अंतिम० वातवलयके १ धनुससे कुछ अधिक की मोटाई और ४५ला। योजनमें को अपनीअपनी अंतिम देहसे कुछ न्यून आकारके खड्गासन वा पद्मासन सिद्ध विराजमान है जिन सबके सिर एक समधरातलमें हैं, और वे सब अधर अतरीक्षमें स्थितहैं।

सर्वार्थ सिद्धि

दोहा–ऊपर को लोकांत तक मुक्त जीव पुनि जात।
धर्मः द्रव्य अभाव से आगे गमन रुकात ॥७॥

ऊर्ध्वगमन के कारण

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बंधच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

शब्दार्थ-पूर्वप्रयोगात्=पहले गमनके संस्कार से । असंगत्वात्=संग, संबन्ध या संयोगके न रहनेसे । बंधच्छेदात्=बन्धनके टूट जानेसे । गतिपरिणामात्=गति [ऊर्ध्वगमन]स्वभाव से ।

अर्थ-मुक्तजीव का ऊर्ध्वगमन चार कारणोंसे होता है १ पूर्वप्रयोगसे-गमन के कारणका अभाव होनेपर भी पूर्वगमन अभ्यासके संस्कारसे २संग, संबंध या संयोगके न रहनेसे३सब तीनों प्रकारके-द्रव्यकर्म,भावकर्म,नोकर्मका बन्धन टूटजानेसे और४जीवकाऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे ।

विशेष-समस्त कर्मोंका सर्वथा क्षय होते ही तुरन्त उसी समय मुक्तजीव गति-गमन करता है स्थिर नहीं रहता, गति सीधी, ऊंची और लोक के अंततक होती है । यहां आशंका होती है कि मुक्त-अमूर्त जीव कर्म अथवा शरीरादि पौगद्लिक पदार्थों की सहायता के बिना गति कैसे कर सकता है?औरयदि करता ही है तो ऊर्ध्वगमन ही क्यों?अधो-गमन अथवा तिर्छे गमन क्योंनहीं? इन दोनों शंकाओंका समाधान ही यहांइस सूत्रमें किया है-

पहली आशंका के समाधान स्वरूप कहते हैं कि गमन के कारणका अभाव होने पर भी जीव पूर्व गमन-अभ्यास के संस्कार से गमन करता है । अगले सूत्रमें इसीका दृष्टांत दिया है कि जैसे कुम्हारके डंडे द्वारा घुमाया हुआ चाक डंडे और हाथके हटा लेनेके बाद भी पहले मिले हुए वेगके बलसे कुछ देरतक और भी घूमता रहता हैं वैसेही कर्ममुक्त जीवभी पूर्व कर्मसे प्राप्त आवेशके निमित्त से गमन करता है-

उसके ऊपरको गमन करनेमें तीन कारण हैं-

१ संबंध या संयोगके न रहनेसे जैसे अनेक लेपों सहित तुंबी पानी में डूबी रहती है किंतु लेपोंके हटते ही वह पानीके ऊपरआजाती है, इसीप्रकार जीव जबतक अन्यसे संग-संबंधवाला बना रहता है तब तक संसार में डूबा रहता हैं किंतु वह असंगी-संबंधरहित होतेही संसार-लोकके शिखर पर जा विराजता है ।

२ बंधन छेदनेसे-जैसे कोश(फली)में रहताहुआ एरंड बीज फली के टूटतेही चटककर ऊपरको उठता है वैसेही जीवभी कर्म-बंधनके दूर होते ही ऊर्ध्वगमन कर जाता है,

३ ऊर्ध्वगमन स्वभावसे- पुद्गल गुरुलघु गुणके कारण बंधन छूटते ही नीचे गिरते हैं जैसे पेड़से फल, पत्ता । इसी प्रकार बंधन छूटतेही आत्मा भी नीचे गिरना चाहिए, परन्तु आत्मामें गुरुत्व गुण नहीं है इसलिए कर्म बंधन छूटनेपर वह नीचे नहीं गिरता-जीव स्वभाव से ही ऊर्ध्वगतिशील है, जैसे अग्नि, दीपक आदिकी शिखाका स्वभाव हवाके लगभग अभाव में ऊपरको जाना है और वह ऊपरको ही जाती है वैसेही जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमन होनेसे मुक्तजीवभी ऊर्ध्वगमन ही करता है ।

इन चार हेतुओं के दृष्टांत

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरंडबीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥

शब्दार्थ—आविद्ध=घुमायेहुए । कुलाल=कुम्हार । चक्रवत्=चाकके समान । व्यपगतलेप आलाबुवत=व्यपगत-पृथक हो गया है, लेप—मिट्टी का लेप, आलाबु=तुम्बीफल, तु बा तैरने का वत्—समान=पृथक हो गया है मिट्टी का लेप जिससे ऐसे तुंबे के समान। एरंडबीजवत्=एरंड बीज के समान।

अर्थ-इस सूत्रमें ऊपरके चारों हेतुओं को स्पष्ट किया है—१ पूर्व प्रयोगसे-कुम्हार द्वारा घुमाये हुए चाकके समान, २ असंग होनेसे-मीट्टीका लेप दूरहुए तुंबे के समान; ३ [कर्म] बंधन टूटनेसे-एरंड बीजके समान और ४ ऊर्ध्वगमन स्वभाव से-आग (दीपक) की शिखा-लौके समान मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

विशेष—पूर्व प्रयोग हेतु तथा दृष्टांत सामान्य गमनका है और शेष तीनहेतु तथा दृष्टांत ऊर्ध्वगमन के हैं। इनकी विशेष व्याख्या ऊपर सूत्र ६ के विशेष में हो आ गई है।

मुक्तजीवके अलोकाकाशमें न जानेका हेतु

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

शब्दार्थ—धर्मास्तिकाय=असंख्यायत प्रदेशी अखंड धर्मद्रव्य । अभावात्=अभाव होनेसे,

अर्थ-अलोकाकाशमें धर्मास्तिकाय [जो जीव और पुगद्लको गमनमें सहकारी है] नहीं है अतः वहां पर गमन नहीं हो सकता इसीलिए मुक्तजीव अलोकाकाशमें नहीं जाता, वह ऊपर को गमन करताहुआ लोक के अंततक ही जाता है।

विशेष-किसी कार्यके होनेमें कारण अवश्य होताहै। कारण दो प्रकार१ उपादान पदार्थ के कार्य होने की अपनी स्वयकी शक्तिजैसे मिट्टीसे घड़ेके बननेमेंमिट्टी स्वयं २निमित्त-पदार्थसे बाह्य अन्य सामग्री जो उस कार्यरूप होनेमें सहायक हो,जैसे मिट्टीसे घड़ा बननेमें मिट्टी से अलग कुम्हार, चाक, दंड, चीवर आदि अन्य सामग्री।

कारणके और प्रकारसे दूसरे दो भेद किये हैं १ समर्थकारण—प्रतिबंधक का अभाव होने पर उपादान निमित्त रूप दोनों प्रकारकी सहकारी समस्त सामग्री, समर्थ कारणके होनेपर उसी समय तुरंत ही कार्यकी उत्पत्ति नियम से होती है२असमर्थ कारण-उपादान निमित्तरूप भिन्न भिन्न प्रत्येक सामग्री, अथवा कोई एक, दो आदि कम सामग्री।

दोहा—पूर्व प्रयोग असंग अरु, बंधनछेद स्वभाव।
ऊर्ध्व गमन चउ हेतु हैं, मुक्त जीव में पाव ॥५॥

मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन करने में अपनी ऊर्ध्वगमन स्वभावरूप स्वपंकी शक्ति तो उपादान कारण और धर्मद्रव्य निमित्त कारण है। जहांतक मुक्तजोव को ऊर्ध्वगमन करने में यह दोनों प्रकार की सहकारी समस्त सामग्री मिलती है वहीं तक उसका ऊपरकाजाना संभव है। धर्मद्रव्य लोकके अततक ही है आगे है नहीं। अतः आगे अर्थात् अलोकाकाशमें धर्मद्रव्यके नहोनेसे वहांपर मुक्तजीवका गमन भी नहीं होता।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि सिद्ध जीव बिना किसी आधार-सहारेके ऊपरही कैसे रहते है नीचे क्यों नहीं आजाते? समाधान इस प्रकार है कि जीव में एक अगुरुलघु नामका गुण है जो गोत्र कर्म का नाश होते ही पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है, यह क्षायिक अगुरुलघुत्व गुणही सिद्ध जीवको एक स्थानपर अचल अडिग स्थिर रखता है। हां यदि सिद्ध स्वरूप सर्वथा गुरु-भारी ही होतातो वह लोहेकेगोलेके सदशनीचेनीचेकोपड़ताओरयदि सर्वथा लघु-हलकाही होता तो आककी रूई के समान इधर उधर उड़ता ही फिरता, किंतु ऐसा है नहीं। सिद्धोंका अगुरुलघु गुण पूर्ण विकसित हो चुका है अतः वह न नीचे ही गिरते और न इधर उधर ही होते है (बृहतद्रव्य संग्रह)

जैसा कि इसी अध्यायके सूत्र २ के विशेषमें बताआए हैं कि सिद्धोंमें अनंत गुण होते और वे सब सिद्धों में समान पाये जाते हैं किसी में किसी प्रकारभी न्यूनाधिक नहीं होते अतः सब सिद्ध इस अर्थात् गुणदृष्टि से तथा असंख्यात प्रदेशों की अपेक्षा तो एक समान हैं फिर भी बाह्य आकार आदि की अपेक्षा तथा भूतकालकी अपेक्षा उनमें भी भेद पाए जाते है और वे निम्न प्रकार है—

सिद्धों में भेद

क्षेत्रकालगतिलिंग तीर्थ चारित्र प्रत्येकबुद्ध बोधित ज्ञानावगाहनांतर संख्या अल्पबहुत्वत: साध्याः ॥९॥

शब्दार्थ-प्रत्येक बोधित=प्रति+एक=प्रत्येक स्वयं, बोधित=ज्ञानी हुए हुए अर्थात् बिना किसीके उपदेशके स्वयं ज्ञान प्राप्त करनेवाले। बुद्ध बोधित=(दूसरे) बुद्ध-ज्ञानीसे बोध कराये हुए। साध्याः=साधने योग्य हैं।

अर्थ-(सिद्धोंमें) १ क्षेत्र२काल३गति४लिंग ५ तीर्थ६चारित्र ७ प्रत्येक बोधित बुद्ध बोधित ८ ज्ञान ९ अवगाहना १० अंतर ११ संख्या और १२ अल्पबहुत्व इन बारह कारणोंकी अपेक्षा से भेद साधने योग्य हैं।

विशेष-सिद्धोंको विशेषरूपसे जाननेके लिए यहां १२ बातें बताई है। इन में से प्रत्येक बातपर विचार करना है। अनंतगुणोंकी दृष्टिसे तथा असंख्यात प्रदेशोंकी अपेक्षा सिद्धोंमें

दोहा-प्रदेश ज्ञान सम सिद्ध सब, भेद कला गित ज्ञान।
क्षेत्र लिंग अवगाहना, तीर्थ आदि से जान॥७॥

कोई भेद नहीं फिरभी उपर सिद्धोंमें जो भेद कहे है वह वर्तमान(ऋजुसूत्रनय)तथा भूतनयकी दृष्टिसे बाह्य निमित्तोंके कारणसे है-

१ क्षेत्र-स्थान-जगह-ऋजुसूत्र (वर्तमान) नयकी अपेक्षा सभी सिद्धोंके सिद्ध होनेका स्थान एकही सिद्ध क्षेत्र अर्थात् आत्मप्रदेश अथवा आकाशप्रदेश है। भूतनय की दृष्टिसे उनके सिद्ध होनेका स्थान एक नही है-

(क) जन्मकी अपेक्षा १५ कर्मभूमि क्षेत्रसे सिद्ध,

(ख) उपसर्गमें हरणकी अपेक्षा-मनुष्यक्षेत्रमें कहींसे सिद्ध।

२ काल-ऋजुसूत्र (वर्तमान) नयकी अपेक्षा-एक समयमें सिद्ध। भूतनयकी दृष्टिसे-(क) जन्मअपेक्षा-तीसरेकालके अंतमें अथवा चतुर्थकालमेंउत्पन्न होनेवाले जीव सिद्ध होते हैं तीसरे कालके अतमें उत्पन्न होनेवाले जीव तीसरेकालमें भी सिद्ध होते हैं और चौथे में भी चौथेकालके उत्पन्न चौथे मेंभी और पांचवें मेंभी सिद्ध होते हैं।

(ख) उपसर्गमें हरणकी अपेक्षा-सब कालों में सिद्ध होते है!

३ गति-ऋजुसुत्र (वर्तमान) नयकी अपेक्षासिद्ध गतिमें ही सिद्ध होतेहैं। भूतनैगमनयकी अपेक्षा (क) अनंतरगति अर्थात् बिना अंतरकी-जिससे सिद्ध हुए है वह गति मनुष्य गतिही है

(ख) एकांतरगति-मोक्ष होनेवाली मनुष्यगतिसे पहली गति-वह चारों ही गति है अर्थात जीव चारों गतियोंसे ही मनुष्य गति प्राप्तकर सिद्ध होते है।

४ लिंग-ऋजुसूत्रनयसे-अलिंग-अवेदही सिद्ध होते हैं। भूतनयसे भाववेदकी अपेक्षा-तीनों वेदोंसे, द्रव्यवेदकी अपेक्षा-पुंवेद ही सिद्ध होते हैं, निर्ग्रंथता सग्रंथताकी अपेक्षा-वर्तमान निर्ग्रंथतासे ही, भूतनय-सग्रंथतासे।

५ तीर्थ-ऋजुसुत्र (वर्तमान) नयसे-तीर्थविकल्प रहित। भूतनयसे-[क] तीर्थंकर होकर [ख] सामान्य केवली होकर [ग] किसी तीर्थंकरके काल में, यह दो प्रकार (१) तीर्थंकरके विद्यमान होतेहुए (२) तीर्थंकर के मोक्ष चले जानेपर।

६ चारित्र-ऋजु सूत्रनयसे-चारित्र विकल्प रहित अर्थात् सिद्ध होने वाले न तो चारित्री ही होते है और न अचारित्रीही। भूतदृष्टिसे-यदि अनतर वाले अंतिम समय को लें तब तो यथाख्यात चारित्रीही सिद्धहोते है, यदि उससे पहले समयको लें तो तीन, चार अथवा पांच चारित्रोंसे सिद्ध होते हैं-सामायिक, सूक्ष्म सांपराय, यथाख्यात यह तीन अथवा छेदोपस्थापना, सूक्ष्म-सांपराय, यथाख्यात यह तीन, सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात यह चार, एवं कोई परिहारविशुद्धि समेत पांचों चारित्रवाले सिद्ध होते हैं।

७ प्रत्येकबोधित और बुद्धबोधित—वर्तमान अपेक्षा-दोनों विकल्पों से रहित केवली

दोहा—फेरे चाक कुलालवत, तुंब अलेप उतरात।
रंड बीज शिख अनलवत, चउदृष्टांत कहात ॥८॥

ज्ञानसे सिद्ध। भूतदृष्टिसे-कोई तो प्रत्येकबोधित अर्थात् तीर्थंकरकी तरह स्वयं बोधको प्राप्त हो और बुद्धबोधित अर्थात् दूसरोंके उपदेशसे बोधको प्राप्त हो सिद्ध होते हैं।

८ ज्ञान-वर्तमान अपेक्षा—केवलज्ञानसे। भूत अपेक्षा-कोई मतिश्रुत दो ज्ञान (केवल ज्ञान पूर्वक), कोई मतिश्रुतअवधि अथवा मतिश्रुत मनः पर्यय तीन ज्ञान (केवलज्ञानपूर्वक) और कोई मति श्रुत अवधि मनः पर्यय चारोंसे (केवलज्ञानपूर्वक) सिद्ध होते हैं।

९ अवगाहना-वर्तमान-अपनी अपनी अंतिम शरीर अवगाहनासे किंचित् कम। भूत-शरीर प्रमाण [क] उत्कृष्ट-५२५ धनुष [ख] जघन्य ३½ हाथ [ग] मध्यम्-अनेक भेदरूप।

१० अंतर-वर्तमान (ऋजुनय)की अपेक्षा-अंतर तथा निरंतरके विकल्प से रहित अपने समयमें सिद्ध। भूतनयकी अपेक्षा—अंतरका वर्णन दोप्रकार है-

१ सांतर—एक सिद्ध होने के पश्चात् दूसरे सिद्ध होनेतक जोसमय लगता है वह अंतर है, वह जघन्यता से १ समय, और उत्कृष्टता से ६ महीने है।

२ निरतर—अर्थात् क्रमवार एकके बाद लगते ही दूसरे समय में-कम से कम निरंतर दो ही समयका बनता है इसलिये जघन्य निरंतर दो समय तक सिद्ध हों, उत्कृष्ट निरंतर आठ समय तक सिद्ध हों-आठ समय पश्चात् अन्तर अवश्य हीहोगा,मध्यम निरतर के तीन, चार, पांच, छः, सात समयतक पांच भेद है।

११ संख्या—ऋजुसूत्र नय से-पारम्पारिक संख्या के विकल्प से रहित। भूतनयसे-जघन्यसे-एक समय में एक जीवसिद्ध होता है, उत्कृष्टतासे-एक समय में १०८ जीव सिद्ध होते है और मध्यमसे अनेक अर्थात् १०६ (एक समयमें २, ३, ४, आदि १०७ तक)।

१२ अल्पबहुत्व-क्षेत्रकाल आदि उपरोक्त ११ भेदोंकी अपेक्षाजो हीनाधिकता है उसेही अल्पबहुत्व कहते हैं।

वर्तमान—[ऋजुनय] की अपेक्षा सिद्धों में कोई भेद नहीं है। भूतनयकी अपेक्षासंहरण और जन्मकी अपेक्षा क्षेत्रसिद्ध दो प्रकार—संहरणसिद्ध—अल्प, जन्मसि२ संख्यात गुणे। क्षेत्र विभाग से दो प्रकार १ दिशा ऊंचे, नीचे, दाएं,बाएं-इनमें सबसे कम ऊंचे (आकाश) से, उससे संख्यात गुणे नीचे (गुफा, खान आदि) से,उससे संख्यात दाएं बाएं से। २द्वीप समुद्र सबसे कम समुद्रसे,उससे संख्यात गुणे द्वीपोंसे-यह कथन सामान्यसेहै। विशेषसे.सबसेकम लवण-

दोहा—स्वर व्यंजन पद संधि अरु, अर्थ टूट सब दोह।
पढ़ें शुद्ध करि क्षमें मुहि, श्रुत दधि कों न विमोह॥
दोहे दस अध्याय यह, पढ़ें सुनें नर जोय।
त्वरित फल उपवास दस, क्रम शिव पावै सोय॥

श्रीनदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र, अध्याय १० के कविवर ब्रह्म मुक्तियार सिंह जैन 'सिंह' कृत दोहे समाप्त॥

समुद्रसे, उससे संख्यात गुणे कालोदधिसे, उससे संख्यात गुणे जंबू द्वीपसे, उससे संख्यात गुणे धातकी द्वीपसे और उससे असंख्यात गुणे पुष्करवर द्वीपमेंसे।

इसी प्रकार काल गति आदिमें अल्प बहुत्व जानना।

ग्रन्थकारका अपना लघुत्व प्रदर्शन, क्षमा याचना

अक्षर मात्र पद स्वर हीनं व्यंजन संधि विवर्जित रेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे ॥

अर्थ-शास्त्ररूपी समुद्रमें कौन गोते नहीं खाता-किससे भूल नहींहो जाती ! ? यदि इस ग्रन्थमें कहींपर अक्षर, मात्रा, पद, स्वर, व्यंजन, रेफ आदिकी त्रुटि रह गई हो तो संत पुरुष मुझे क्षमा करें।

माहात्म्य

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनि पुंगवैः ॥

अर्थ-इस दस अध्यायवाले तत्वार्थ शास्त्रको भावपूर्वक पढनेसे एक उपवासके करनेका फल होता है—ऐसा बड़े बड़े मुनियोंने कहा है।

श्रीमदुमास्वामि रचित मोक्ष शास्त्र, अध्याय१०की ब्रह्मचारी मास्टर मुक्तियार सिंह जैन मुक्तयानंद 'सिंह' बी. ए. सी. टी. साहित्यालंकार—कृत कौमुदी समाप्त।

अंत मंगल

दोहा—सिद्ध अनंत अनिंद्रिय, अनुपम आतम सुख-पूर।
नम अनवद्य जिनेंद्र को, दुनय-तिमिर-हर सूर ॥१०॥

कौमुदी का रचना काल

द्वै अठ चउ दो वीर अरु, फागुण पंद्रस श्वेत।
रची कौमुदी अज्ञ 'सिंह', आतम अनुभव हेतु ॥

कौमुदी व दोहेकार की प्रशस्ति

(निज समाचार)

दोहा—प्रणमि हुकम, भूषण गुरू, कुंदकुंद आम्नाय।
रचौं प्रशस्ति आज मैं, सिद्धन शीश नवाय ॥१॥
शुक्ल अष्ट विक्रम अहगन, तीन पांच नौ एक।
शनि दिन जनम्यो नौ बजे, गांव बावली नेक ॥२॥

यू. पी. मेरठ बागपत,—में यह सुन्दर धाम।
मनसा मुन्शी लाल हैं, मात तात मम नाम ॥३॥
अग्रवाल कुल जैन में, बीसा संगल गोत।
प्रपोत माईदयाल का, खुशीराम का पोत ॥४॥
राजकीय स्कूल्स में, पेशा शिक्षण सार।
पुत्री मैनासुन्दरी, ता सुत धनेंद्रकुमार ॥५॥
पेन्शन पा अब रहत मैं, नगरमुज़फ्फर माहि।
ब्रह्मचर्य व्रत पालता, रत स्वाध्याय रहाहि ॥६॥
मुक्तियार सिंह नाम मम, बनों मुक्ति का यार।
हौं बी. ए. सी. टी. तथा, साहित्यालंकार ॥७॥

मुक्तयानंद 'सिंह' जैन

सोमवार, फागुण शुक्ला १५ वि.स.२०१२
२६—२—१९५६

भेंट

मोक्षशास्त्र कौमुदी की यह प्रति मेरी नानी श्रीमती बुगली देवी जैन, धर्म पत्नी श्री ब्रह्म, मास्टर मुक्तियार सिंह जैन 'सिंह' मुक्तयानंद ने लिखवाकर प्रसिद्ध तीर्थ हस्तिनापुर के श्री शांतिनाथ दिगंबर जैन मंदिर में भेंट की।

दिनांक ६८ अब्रूपुरा:
२३—९—१९५७

धनेंद्र कुमार जैन,
कक्षा ९ क,
राजकीय उच्चतर माध्यमिक पाठशाला,
मुज़फ्फरनगर

झालरापाटन सिटी.
JHALRAPATAN CITY